संस्कृत-काव्यशास्त्र में प्रतिपादित रस-दोष

(डी०फिल्० उपाधि हेतु शोध-प्रबन्ध)
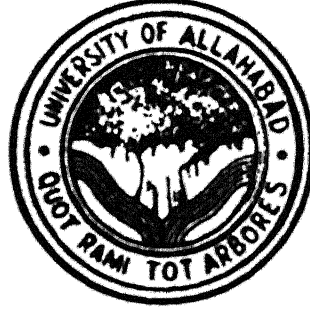
निर्देशक

डॉ० रूद्रकान्त मिश्र

रीडर (संस्कृत-विभाग)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

अनुसन्धात्री

निरूपमा उपाध्याय

एम०ए० (संस्कृत)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

जून 2000

आमुख

आमुख

रसो वै सः से परमेश्वर की सत्ता का आभास कराया गया है। शोध–प्रबन्ध को प्रस्तुत करते समय मैं सर्वप्रथम उस रस स्वरूप परमेश्वर की वन्दना करती हूँ जिसकी इच्छा के बिना कोई कार्य सम्भव नही है। परमेश्वर की प्रेरणा ने ही देववाणी सस्कृत के प्रति मेरे हृदय मे आकर्षण उत्पन्न किया तथा इस परिष्कृत वाणी मे शोध की प्रवृत्ति जागृत की। अत परमशक्तिमान् परमेश्वर का स्मरण करती हुई मैं इस शोध–प्रबन्ध को प्रस्तुत कर रही हूँ। ईश्वर के साथ ही मैं परमवन्दनीय गुरूजनो प्रणाम करती हूँ, प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध जिनके आशीर्वाद का प्रतिफल है।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के विद्वद्वरेण्य, सत्यनिष्ठ, सूक्ष्म अन्वेषक **डॉ० रूद्रकान्त मिश्र** (रीडर, इ० वि०, इलाहाबाद) महोदय के कुशल निर्देशन मे मुझे शोध करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। गुरूजी के स्नेहपूर्ण निर्देशन एव परीक्षण से प्रस्तुत शोध प्रबन्ध पूर्ण ही नहीं हुआ वरन् परिष्कृत भी हो सका है। भविष्य मे भी इसी प्रकार स्नेह पूर्ण व्यवहार तथा आशीर्वाद की कामना करती हुई मैं गुरू चरणो की वन्दना करती हूँ। इसके अतिरिक्त मुझ अकिचन के पास और है ही क्या !!

'काव्य में रस तत्त्व' को सर्वोच्च स्थान पर अधिष्ठित किया गया है। काव्य के अन्य गुण, अलकार आदि तत्त्वो को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से रस से सम्बद्ध करने का प्रयास किया गया। 'काव्य' को 'जीवित' व्यक्ति का रूप प्रदान करके 'रस' को काव्य की आत्मा माना गया। 'गुण' को शौर्यादि के समान ही काव्यात्मा रस का साक्षात् उत्कर्षक तथा 'अलकार' को अग स्थानीय आभूषणो के समान परम्परया रस का शोभावर्धक माना गया। जब काव्य को एक जीवित व्यक्ति के रूप मे कल्पित किया गया तो व्यक्ति के काणत्व आदि दोषों के समान काव्यात्मा के अपकर्षक तत्त्वों पर भी विचार करना अपरिहार्य था। इन दोषों मे भी उन दोषो का अन्वेषण किया गया जो साक्षात् रूप से काव्यात्मा रस के अपकर्षक हैं। इस अन्वेषण के परिणाम रूप मे **रस–दोष** का सज्ञान हुआ। दोष तो यूँ ही त्याज्य होते हैं उनमे भी 'रस' रूप काव्यात्मा के साक्षात् अपकर्षक तत्त्वों की परमहेयता निःसन्दिग्ध है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का विषय–**संस्कृत काव्य–शास्त्र में प्रतिपादित रस–दोष** है। रस–दोषो की परम हेयता का ज्ञान होने पर सस्कृत साहित्य का अध्ययन करने वाला ऐसा कौन जिज्ञासु होगा जो इस विषय पर गहन चिन्तन के लिए उद्यत न होगा। **इलाहाबाद विश्वविद्यालय** के विद्वान् अधिकारियो द्वारा जब उपर्युक्त विषय पर शोध का दायित्व मुझे सौंपा गया तो मैं अत्यधिक प्रसन्न हुई ऐसा प्रतीत हुआ मानों चिर अभिलषित विषय पर शोध करने का सुअवसर मुझे प्राप्त हो गया है। इसके पूर्व इस विषय पर कहीं–कहीं प्रासगिक रूप से अत्यल्पमात्रा मे आलोचको द्वारा किये गये कार्य से इस विषय मे रूचि और बढ गयी क्योकि एक सर्वथा नवीन विषय पर गहन चिन्तन का दायित्व मुझे दिया गया था, जिसके लिए कोई भी जिज्ञासु शोध अनुसधाता आतुर होता है।

सस्कृत काव्य–शास्त्र से सम्बन्ध होने के कारण प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध मे सस्कृतेतर भाषाओं विशेषत पाश्चात्य भाषाओ के काव्य–शास्त्रो मे प्रतिपादित रस–दोषो की समीक्षा को ध्येय नहीं बनाया गया। यद्यपि सस्कृत काव्य शास्त्र मे विवेचित रस–दोषो के अतिरिक्त अन्य रस–दोषो की भी कल्पना असम्भव नहीं थी, तथापि शोध विषय की परिधि मे रहते हुए मात्र सस्कृत काव्य–शास्त्र मे विवेचित या उद्घाटित रस–दोषो की अवधारणा का तुलनात्मक आकलन यहॉ किया गया है। चूकि गुण, रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति तथा अलकार रूप काव्य-घटकों का काव्यात्मा रस से साक्षात् या परम्परया सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास आचार्यों ने किया है। अत उल्लिखित काव्य-घटको के अनुचित प्रयोग से रस–दोष उत्पन्न होना असम्भावित नहीं है। इस तथ्य पर विचार करके गुण आदि काव्य घटको मे साक्षात् तथा परम्परया सम्भावित रस–दोषो का सूक्ष्म अन्वेषण किया गया है। यह विचार सर्वथा नवीन है अत इस पर विद्वद् जनो की उदार दृष्टि की अपेक्षा रखती हूँ। मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि विद्वद्जन इस पर विचार करेंगे और प्रमादवश की गयी त्रुटियो को

क्षमा करेगे।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे सस्कृत भाषा के समस्त काव्य ग्रन्थो मे प्राप्त होने वाले रस–दोषो का विवेचन नहीं किया गया है। काव्यशास्त्रकारों द्वारा रस–दोषो के स्पष्टीकरण के लिए उदाहृत तथा प्रत्युदाहृत काव्य ग्रन्थो तथा छन्दो पर ही यथा सम्भव अपेक्षित विचार किया गया है। इस प्रकार शोध प्रबन्ध मे सस्कृत काव्य शास्त्र के प्रमुख आचार्यों द्वारा प्रस्तुत की गयी रस–दोष विषयक अवधारणा को लक्ष्य बनाया गया है। प्रासगिक रूप से काव्य शास्त्र के अन्य तथ्यो पर भी विचार किया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे **सात अध्याय** है। **प्रथम अध्याय** मे काव्य–शास्त्र का उद्‌भव, विकास, नामकरण, उपयोगिता, स्रोत, उत्पत्ति, काव्यशास्त्रकार तथा काव्य–शास्त्र के सम्प्रदायों पर विचार करते हुए, प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का औचित्य निरूपित करते हुए, काव्य के प्रयोजन, हेतु, स्वरूप, वैशिष्ट्य, भेद आदि पर विचार करते हुए, काव्य घटक रस, गुण, रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति तथा दोष का उल्लेख किया गया है। **द्वितीय अध्याय** मे दोष का स्वरूप विकास एव विभाजन तथा दोष–परिहार की प्रासंगिकता का निरूपण किया गया है। **तृतीय अध्याय** में रस से सम्बद्ध विषयों का विवेचन है। यहा काव्य में रस के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए रस स्वरूप पर विचार किया गया है। इसी अध्याय में भाव, भावाभास आदि के स्वरूप, विभाव आदि का स्वरूप, रस–भेद, मूल रस एव एक रसवाद तथा विरूद्ध रस एव उनके परिहार का निरूपण किया है। **चतुर्थ अध्याय** मे रस–दोष के स्वरूप, स्रोत, विकास एव विभाजन का प्रतिपादन सक्षेप में किया गया है। **पंचम अध्याय** में कवि तथा सहृदयगत रस–दोषों के स्वरूप आदि पर विचार करते हुए इनके परिहार की भी चर्चा की गयी है। **षष्ठ अध्याय** गुणादिगत रस–दोषों के विवेचन से सम्बद्ध है। इस अध्याय में गुण, रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति तथा अलकार के स्वरूप भेद आदि का निरूपण करते हुए इनसे सम्बन्धित रस–दोषों पर विचार किया गया है तथा उनके परिहार का भी विवेचन किया गया है। **सप्तम अध्याय** उपसहार रूप है। यहाँ काव्य में रस के महत्त्व का निर्धारण करके रस–दोषों की हेयता तथा कवि, सहृदय एवं गुणादिगत दोषों पर सारगर्भित रूप से विचार किया गया है।

बाल्यावस्था से ही पूर्व जन्म के सस्कार वश सस्कृत भाषा के प्रति एक विचित्र सा आकर्षण था। पाठ्य–विषयों में सस्कृत के चयन का कारण यह सस्कार ही था। इसके साथ ही गुरूजनों के सानिध्य व प्रेरणा ने भी सस्कृत भाषा के प्रति प्रेम को दृढता प्रदान की। कमश यह प्रेम घनीभूत होता रहा।
बारहवीं कक्षा में ही सस्कृत साहित्य के प्रति जिज्ञासा प्रारम्भ हो गयी थी जिसका श्रेय पूर्णतया **कु० मालती चतुर्वेदी** (सस्कृत प्रवक्ता, आर्यकन्या इण्टर कालेज, मीरजापुर) महोदया को जाता है। जिनका सस्कृत–साहित्य सम्बन्धी ज्ञान मुझे सर्वदा सस्कृत पढने की प्रेरणा देता रहा। सस्कृत में कुछ विशेष करने की अभिलाषा हृदय में धारण करके मैंने स्नातक में सस्कृत विषय को चुना। यहा भी **डॉ० अमिता कोहली** (रीडर, क० मा० आ० क० म० वि०, मीरजापुर) महोदया से निरन्तर सस्कृत अध्ययन की प्रेरणा प्राप्त होती रही है। इसी समय अचानक मेरी सहपाठिनी कु० वन्दना पाण्डेय ने अपने पिता **डॉ० बैजनाथ पाण्डेय** (रीडर, क० ब० स्ना० म० वि०, मीरजापुर) महोदय से मेरा परिचय कराया। पाण्डेय महोदय का स्नेहपूर्ण निर्बाध निर्देशन मुझे स्नातकोत्तर कक्षाओ तक प्राप्त होता रहा। परन्तु स्नातक कक्षाओ में ही आपके निर्देशन तथा सस्कृत अध्ययन की प्रेरणा ने मेरी सस्कृत में विशेष कार्य करने की इच्छा को विकसित करने में अत्यन्त सहयोग दिया। इसलिए मैं सदैव उनकी ऋणी रहूंगी।

स्नातकोत्तर कक्षाओ में पाण्डेय सर के अतिरिक्त **डॉ० रामजी उपाध्याय**, (अवकाश प्राप्त प्राचार्य क०ब०स्ना०म०वि०, मीरजापुर) **डॉ० रामचन्द्र देव** (विभागाध्यक्ष सस्कृत, क० ब० स्ना० म० वि०, मीरजापुर) तथा काव्य शास्त्र के विशिष्ट ज्ञाता **डॉ० किशोरी शरण त्रिपाठी** (अवकाश प्राप्त रीडर, क०ब०स्ना०सा०म० वि०, मी०) महोदय का कुशल निर्देशन प्राप्त हुआ।

पितृतुल्य, गुरूजी **श्री युत् [illegible] त्रिपाठी** महोदय की कृपा दृष्टि का वर्णन करने में मेरी लेखनी सक्षम नहीं है। अध्ययन काल में ही उनका विशिष्ट सहयोग मुझे प्राप्त होता रहा जिससे काव्य–शास्त्र

टिल क्षेत्र मे प्रवेश करने मे मुझे विशेष कठिनाई नहीं हुई। गुरूजी का काव्य–शास्त्र–ज्ञान सुप्रसिद्ध है।

इलाहाबाद आने की समस्या थी अतः कुछ समय तक शोधकार्य अवरूद्ध सा रहा। इलाहाबाद आने पर शोध–कार्य को गति प्राप्त हुई। जो अनवरत चलती रही क्योकि यहा स्नेह परिपूर्ण **श्रीयुत् रूद्रकान्त मिश्र** महोदय का कुशल निर्देशन प्राप्त होता रहा।

शोध कार्य के मध्य मे दैववशात् **डॉ० शेषनारायण त्रिपाठी** (प्रवक्ता, जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान, पौड़ी गढ़वाल) महोदय से भेंट हुई । अद्यावधि शोध सम्बद्ध सम्पूर्ण कार्यो मे आपका अत्यधिक सहयोग निरन्तर प्राप्त होता रहा है। किबहुना, आप द्वारा प्रदत्त परामर्श, हार्दिक सहयोग तथा मानसिक सम्बल के सहारे ही यह शोधकार्य अन्तिम चरण तक पहुच सका है। किन शब्दो मे मैं आपका आभार प्रकट करू!! मैं स्पष्ट अनुभव कर रही हू कि कहीं–कहीं शब्द हृदयगत भावों की अभिव्यक्ति में पूर्णत समर्थ नहीं होते।

शोध कार्य मे **डॉ० कमलाशकर पाण्डेय** (रीडर, गो० बि० स्ना० म० वि० मीरजापुर) महोदय का सहयोग भी विस्मृत नहीं किया जा सकता आपने प्रारम्भ से ही शोध–कार्य में मेरी सहायता की है। अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी यथावसर मेरा मार्ग निर्देशन भी किया है। मैं **डॉ० अरविन्द मिश्र** (प्रवक्ता, गो० बि० स्ना० म० वि०, मी०) को भी उनके सहयोग के लिए धन्यवाद देती हूँ।

भगिनी तुल्या **डॉ० नीता पाण्डेय** (प्रवक्ता, जे० सी० क० इ० कॉ०, मीरजापुर) ने शोध कार्य के प्रारम्भिक काल से अन्त तक मेरा सहयोग किया है और सदैव मुझे प्रोत्साहित किया है। मैं हृदय से आपका आभार प्रकट करती हूँ। **श्री अतुल त्रिपाठी** व **श्री अनिल त्रिपाठी** ने भी पुस्तकों की प्राप्ति आदि कार्यों में मेरी बहुत सहायता की है। इन्हें भी मैं आर्शीवाद सहित धन्यवाद देती हूँ।

इलाहाबाद में साहू तथा श्रीवास्तव परिवार के सदस्यों का भावनात्मक सहयोग सदैव मुझे सम्बल प्रदान करता रहा। साहू परिवार मे **डॉ० वन्दना साहू** ने भी शोध कार्य के प्रारम्भ मे पुस्तकों की प्राप्ति आदि कार्यों मे मेरी अत्यधिक सहायता की है। इन दोनो परिवारो का स्नेहपूर्ण सहयोग विस्मृत करने योग्य नहीं है!!

शोध कार्य के लिए मैं **राजकीय पुस्तकालय, मीरजापुर, लाला लाजपत राय स्मारक पुस्तकालय, नारघाट, मीरजापुर, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग** के साथ **गंगा नाथ झा पुस्तकालय** तथा **इलाहाबाद विश्वविद्यालय** के **पुस्तकालय** की विशेष ऋणी हूँ जहाँ सकलित पुस्तको से मेरा शोध कार्य पूर्ण हुआ। मैं सम्बद्ध अधिकारियो तथा कर्मचारियों को उनके पूर्ण सहयोग के लिए बारम्बार धन्यवाद देती हूँ।

पारिवारिक सहयोग के बिना कोई कार्य पूर्ण नही हो सकता। शोध कार्य के समय मुझे सदैव इसका अनुभव होता रहा है। परिवार के प्रत्येक सदस्य का हार्दिक सहयोग ही था, जिससे यह गुरूतर कार्य पूर्ण हो सका। पिता के सहयोग के बिना सम्भवत मेरा टकणादि का कार्य पूर्ण ही न हो पाता इसके अतिरिक्त पिता ने यथा सम्भव शोध कार्य में सदैव मेरी सहायता की है।

शोध कार्य समय साध्य होता है। इसमें निर्देशन आदि के अतिरिक्त अनेक अन्य भी कार्य समाविष्ट होते हैं। अत इन कार्यों में या निर्देशन आदि कार्यों मे भी जिसने मेरी किञ्चित् सहायता की है, मैं उन सभी के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ।

यथासम्भव शुद्ध और सुन्दर टंकण के लिए मै भ्राता द्वय **श्री संजय मालवीय** तथा **श्री धनंजय मालवीय** के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ, विशेषत मैं अनुज तुल्य **श्री धनजय मालवीय** को धन्यवाद देती हूँ, जिन्होंने अत्यन्त परिश्रम से यह कार्य पूर्ण किया।

विनयावनत होकर मैं यह शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर रही हूँ। मुझे आशा ही नहीं विश्वास है कि विद्वद्जन इसमे हुई त्रुटियों को क्षमा करेंगे। यदि प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध संस्कृत अध्येताओ का काव्यात्मा रस के विघातक रस–दोषों के अध्ययन के प्रति किञ्चित् भी ध्यान आकर्षित करता है तो मैं अपना प्रयास सफल समझूगी।

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

संकेताक्षर

अ०	–	अध्याय
अ० भा	–	अभिनव भारती
अष्टा०	–	अष्टाधायी
आ०	–	आनन
ई०	–	ईस्वी
औ० वि० च०	–	औचित्य विचार चर्चा
ऋ०	–	ऋग्वेद
काव्या०	–	काव्यालकार
का० सा० सं०	–	काव्यालकार –सार– संग्रह
का० सू०	–	काव्यालकार–सूत्र
का० प्र०	–	काव्य– प्रकाश
तृ०	–	तृतीय
द्वि०	–	द्वितीय
ध्वन्या०	–	ध्वन्यालोक
ना०शा०	–	नाट्य–शास्त्र
पृ०	–	पृष्ठ
पा० टि०	–	पाद टिप्पणी
प्र०	–	प्रथम
र०ग०	–	रस– गंगाधर
व० जी०	–	वक्रोक्ति–जीवित
वि० पु०	–	विष्णु–पुराण
स० क०	–	सरस्वती कण्ठाभरण
सा०द०	–	साहित्य–दर्पण
स० का० शा०	–	सस्कृत काव्य–शास्त्र
सं०	–	सख्या, सस्करण
स०	–	सम्पादक, सम्वत्

प्रथम अध्याय: [illegible]

काव्य -शास्त्र का उद्भव एवं विकास

काव्य-शास्त्र का नामकरण

काव्य-शास्त्र की उपयोगिता

काव्य-शास्त्र का स्रोत

काव्य-शास्त्र की प्रकृति

काव्य-शास्त्रकार

काव्य-शास्त्र के सम्प्रदाय

प्रस्तुत शोध का औचित्य

काव्य प्रयोजन

काव्य हेतु

काव्य वैशिष्ट्य

काव्य भेद

काव्य घटक

काव्य–शास्त्र का उद्‌भव एवं विकास

भरतमुनि से **विश्वेश्वर पण्डित** तक लगभग दो हजार वर्षों के मध्य काव्य–शास्त्र का इतिहास फैला हुआ है। यद्यपि काव्य–शास्त्रीय तत्त्व वैदिक साहित्य मे भी प्राप्त होते हैं तथापि काव्य–शास्त्र का व्यवस्थित और शास्त्रीय निरूपण **आचार्य भामह** के ग्रन्थ **काव्यालङ्कार** मे प्राप्त होता है।

आचार्य भामह से पूर्व काव्य–शास्त्र पर लिखे गये ग्रन्थो में **भरतमुनि** कृत **नाट्य–शास्त्र** ही उपलब्ध है। **अग्निपुराण** को अर्वाचीन समालोचक प्राचीन ग्रन्थ नहीं मानते हैं।[1]

काव्य–शास्त्र का विकास वस्तुत **भामह** के समय अर्थात् सातवीं शती से प्रारम्भ हुआ। **आचार्य भामह** से लेकर **आचार्य आनन्दवर्धन** के पूर्व तक अर्थात् सातवीं शती से नवीं शती तक काव्य–शास्त्र पर मौलिक ग्रन्थो की रचना के साथ ही इन ग्रन्थो पर टीकाये भी लिखी गयीं। इसी काल खण्ड में एक ओर जहाँ **अलङ्कार सम्प्रदाय** के **भामह, दण्डी, उद्‌भट, रूद्रट** आदि आचार्य हुए वहीं दूसरी ओर **रस सम्प्रदाय** के **लोल्लट** आदि तथा **रीति सम्प्रदाय** के **वामन** जैसे आचार्य भी आविर्भूत हुए हैं। इसीलिए इस काल को **रचनात्मक काल** कहा जाता है।

आचार्य आनन्दवर्धन से लेकर **आचार्य मम्मट** के पूर्व तक का समय काव्य–शास्त्र के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस काल–खण्ड में **आचार्य आनन्दवर्धन** ने 'ध्वनि' को काव्यात्मा रूप मे स्थापित किया है। **आचार्य अभिनव गुप्त** ने **नाट्यशास्त्र** पर **अभिनव भारती** तथा **ध्वन्यालोक** पर **ध्वन्यालोकलोचन** नामक टीका लिखकर काव्य–शास्त्र को महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। **आचार्य अभिनवगुप्त** की इन टीकाओं से रस की स्पष्ट तथा सर्वमान्य व्याख्या उपस्थित हुई। इन्होंने **आचार्य आनन्दवर्धन** द्वारा स्थापित ध्वनि मत का तर्कपूर्ण तथा दृढ़ समर्थन किया है। **वक्रोक्ति सम्प्रदाय** के उद्‌भावक **आचार्य कुन्तक** तथा ध्वनिमत का आमूल खण्डन करने वाले **आचार्य महिम भट्ट** भी इसी कालावधि मे उत्पन्न हुए। इन आचार्यों के अतिरिक्त **रूद्रभट्ट**, [illegible], **धनिक** तथा **धनञ्जय** भी इस काल के उल्लेखनीय आचार्य हैं।

ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरादर्ध से लेकर अट्‌ठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक का समय **आचार्य मम्मट, क्षेमेन्द्र, विश्वनाथ** तथा [illegible] जैसे काव्य–शास्त्रकारों से सम्पन्न है।

आचार्य मम्मट से लेकर आचार्य विश्वेश्वर पण्डित तक काव्य के प्राय. सभी तत्त्वों का विवेचन हुआ है। इस काल मे सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये है। प्राचीन आचार्यों के मन्तव्यों पर विस्तृत, विचारपूर्ण, तर्कपूर्ण तथा विवेचनात्मक व्याख्या ही इस काल के ग्रन्थों का मुख्य विषय रहा । कुछ आचार्यों ने मौलिक चिन्तन पर आधृत ग्रन्थ तथा कवि शिक्षा से सम्बद्ध ग्रन्थ भी लिखे हैं।

मम्मट के परवर्ती आचार्यों में **आचार्य क्षेमेन्द्र, रूय्यक, जयदेव रूपगोस्वामी, विश्वनाथ, जगन्नाथ, भानुदत्त** तथा **आचार्य विश्वेश्वर** का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

काव्यशास्त्र का नामकरण

काव्य–तत्त्व–विवेचक ग्रन्थों को अनेक नामों से अभिहित किया गया है। इन ग्रन्थों को 'शास्त्र' कहा गया। अत प्रकृत स्थल पर काव्य–शास्त्र के विभिन्न नामकरण तथा इन ग्रन्थो के लिए 'शास्त्र' शब्द के प्रयोग पर विचार द्रष्टव्य है।

- क्रियाकल्प
- अलङ्कार शास्त्र
- सौन्दर्यशास्त्र
- साहित्यशास्त्र
- काव्यशास्त्र

---

1 द्रष्टव्य – एस० के० डे०, ए हिस्ट्री ऑफ सस्कृत पोयटिक्स

किया कल्प नाम सम्भवत सबसे प्राचीन है। **रामायण** के 'उत्तरकाण्ड' मे इसका प्रयोग प्राप्त होता है।[1] **वात्स्यायन** के **कामसूत्र** मे ६४ कलाओ मे इसकी गणना की गई है।[2] वस्तुत **रामायण** मे **कियाकल्प** का प्रयोग काव्यसौन्दर्य की परख करने वाले ग्रन्थ के लिए किया गया है। **आचार्य दण्डी** ने भी इसी अर्थ मे 'कियाविधि' शब्द का प्रयोग किया है।[3]

आधुनिक समालोचक **पी०वी० काणे** ने इसका प्रबल विरोध किया है। उनके अनुसार **रामायण** का 'उत्तर काण्ड' उसी का भाग है या प्रक्षिप्ताश है, यह अभी भी सन्दिग्ध है। इसके साथ ही **कामसूत्र** मे 'क्रियाकल्प' शब्द का प्रयोग काव्यरचना प्रकिया के अर्थ मे हुआ है। प्राचीन शास्त्रो मे 'किया' पद का प्रयोग सस्कार, प्रकिया आदि अर्थ मे रहा होगा। उन्होने स्पष्टत कहा है कि काव्यशास्त्र का नाम प्राचीन युग मे कियाकल्प था, इसका कोई दृढ आधार नहीं है।[4]

डॉ० वी० राघवन् का विचार है कि **भामह** और **दण्डी** से पूर्ण इस शास्त्र का नाम **कियाक**[illegible]' प्रसिद्ध था। किन्तु यह प्रचलित नहीं रहा तथा इसका प्रयोग भी सन्दिग्ध ही रहा है।[5]

अलङ्कार शास्त्र सम्भवत काव्य की समालोचक विद्या के लिए सर्वप्रथम 'अलङ्कार–शास्त्र' नाम प्रचलित हुआ। प्राचीन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों के नाम अलङ्कार शास्त्र पर ही रखे हैं।[6] इन ग्रन्थों में अलङ्कार' शब्द अपने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। काव्य में शोभाकारी धर्म को अलङ्कार कहा गया है।[7] यद्यपि प्राचीन आचार्यो ने अपने ग्रन्थ का नाम अलकार शास्त्र नहीं रखा है तथापि इनके ग्रन्थो के नाम अलङ्कार शब्द पर ही आधृत थे। इनमें से अधिकतर आचार्यों ने अलङ्कारों की मुख्य रूप से विवेचना की है। गौण रूप से काव्य के अन्य तत्त्वों का भी निरूपण किया गया है। इसे देखकर ही **विद्यानाथ** प्रणीत **प्रतापरूद्रयशो**[illegible]**षण** के टीकाकार [illegible] ने कहा है। यद्यपि यह शास्त्र रस, अलङ्कार आदि अनेक विषयों से सम्बन्धित है तथापि इसे 'छत्रिन्याय' से अलङ्कार–शास्त्र कहा जाता है।[8] तात्पर्य यह है 'अलङ्कार–शास्त्र' को प्रधानत अलङ्कार तथा गौणत रस, ध्वनि, गुण, रीति आदि का निरूपक शास्त्र माना गया है। अत 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय के आधार पर इसे अलङ्कार शास्त्र कहा जा सकता है।

सौन्दर्य शास्त्र काव्य की विवेचना करने वाले ग्रन्थ को 'सौन्दर्य–शास्त्र' भी कहा गया है। काव्य में आनन्द प्रदान करने वाला तत्त्व सौन्दर्य ही है। इसके अभाव में काव्य मे अलङ्कारत्व और रसत्व नहीं

---

१ *कियाकल्पविदश्चैव तथा काव्य विदो जनान्।।*

–रामायण, उत्तरकाण्ड – ६४/७।

२ *अभ्यासप्रयोज्यांश्च चातुःषष्टिकान् योगान् कन्या र*[illegible]*यसेत् सम्पाठ्य मानसी काव्य किया, अभिधान कोष........ ...छन्दोज्ञानम्, कियाकल्पः छलितकयोगः।*

–वात्स्यायन, कामसूत्र, १/३/१४।

३ *वाचा विचित्रमार्गाणा निबबन्धुः कियाविधिम्।*

–दण्डी, काव्यादर्श १/६।

४ *पी०वी० काणे, सस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास, पृ० ४२४–४२६।*

५. *डॉ० वी० राघवन्, समकान्सेप्ट्स ऑफ अलङ्कारशास्त्र, पृ० २६४–२६७।*

६ *भामह (छठी शती) काव्यालङ्कार, उद्‌भट (आठवींशती) अलङ्कार सार सङ्ग्रह, वामन (आठवीं शती) काव्यालङ्कार, सूत्र, रूद्रट (नवी शती) काव्यालङ्कार।*

७ क) *काव्य ग्राह्यमलङ्कारात्।*

–वामन, का० अ० सूत्र, १/१/१।

ख) *काव्य शोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते ।*

–दण्डी, काव्यादर्श २/१।

८. *प्र० रू० य० भू० की मल्लिनाथ कृत टीका पृ० ३।*

रहता। **दण्डी, वामन, अभिनव गुप्त, भोज, अप्पयदीक्षित** आदि आचार्यों ने काव्य मे सौन्दर्य की अनिवार्यता को स्वीकार किया है। यह नाम प्रचलित नहीं हुआ।

साहित्य–शास्त्र काव्य तत्व के विवेचक ग्रन्थ को **आचार्य राजशेखर** ने साहित्य–विद्या कहा है।[1] **राजशेखर** का समय नवम शताब्दी माना जाता है। 'सहित' शब्द का प्रयोग **आचार्य भामह** ने भी किया है। इन्होने शब्द तथा अर्थ के साहित्य को काव्य माना है।[2]

दसवीं शती में **आचार्य कुन्तक** ने 'साहित्य' पद की व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होंने शब्द तथा अर्थ की विशेष मनोहारिणी स्थिति को साहित्य माना है।[3] उल्लेखनीय है **आचार्य राजशेखर** ने साहित्य–विद्या को परिभाषित करते हुए उसमें शब्द तथा अर्थ के सहभाव को स्वीकार किया है।[4]

शब्द और अर्थ के सहभाव के साथ ही सम्पूर्ण वाङ्मय के लिए भी 'साहित्य' शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। **प्रतीहारेन्दुराज** ने अपने गुरू **मु लभट्ट** को 'साहित्य–मुरारे' कहा है तथा उन्हे तर्क मीमासा, व्याकरण आदि सभी का ज्ञाता कहा है। चौदहवीं शती में **आचार्य विश्वनाथ** ने अपने ग्रन्थ का नाम **साहित्य–दर्पण** रखा है। साहित्य दर्पण में काव्य–शास्त्रीय तथा नाट्य शास्त्रीय तत्त्वो का निरूपण किया गया है।

'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि गत्यर्थक 'हि धातु से सम् उपसर्ग लगाकर 'सम्–सम्यक् हिनोति जानाति' इस अर्थ में 'क्त' प्रत्यय लगाकर 'समो हित सतयो' इस वार्तिक से सम् के मकार का लोप करने पर 'सहित' शब्द निष्पन्न होता हैं जिसका अर्थ है ज्ञानवान्। 'सहित' शब्द में भावार्थक ष्यञ् प्रत्यय लगाने पर 'साहित्य' शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार सहित का भाव ही साहित्य है। 'सहित' पद का अर्थ ज्ञानवान् है। फलत 'साहित्य' शब्द का व्यापक अर्थ वाङ्मयनिष्ठ सञ्चित ज्ञान कोश है। सम्भवत इसी अर्थ में काव्य तत्वों के विवेचक ग्रन्थ को साहित्य–शास्त्र कहा गया है।

काव्य–शास्त्र काव्य की समालोचना के लिए यह सर्वाधिक प्रचलित नाम है **काव्य शास्त्र** शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग **आचार्य भोजराज** (११वींशती का प्रारम्भ) ने किया है। इन्होने लोक–व्यवहार के लिए विधि–निषेधपरक ग्रन्थो के लिए 'काव्य–शास्त्र' का प्रयोग किया है।[5]

'काव्य'शब्द में काव्य ग्रन्थों के साथ ही रस अलङ्कार रीति आदि काव्य–तत्त्वों तथा काव्यशास्त्रीय विवेचनाओं का भी समावेश हो जाता है। इससे 'काव्य' शब्द अतिव्यापक है। काव्य शास्त्रीय तत्त्वो का

---

१ पञ्चमी साहित्य विद्या इति यायावर्य।
स च चतसृणामपि विद्याना निष्यन्द।।
—राजशेखर, काव्य–मीमांसा, पृ० ४।

२ शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।
—भामह, काव्यालङ्कार,।

३. साहित्यमनयो शोभाशालिता प्रति क्वाप्यसौ।
अ नानातिरिक्त मनोहारिण्यवस्थितिः।।
—कुन्तक , वक्रोक्तिजीवित, १/१७।

४ शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्य–विद्या।
—राजशेखर, का० मी०, पृ० ५।

५ काव्यंशास्त्रेतिहासौ च काव्य शास्त्रेतथैव च ।
काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदपिष्ड्विधम्।।
—भोज, स० क० आ०, २/३६।

निरूपण करने वाले ग्रन्थो के लिए **आचार्य भामह** तथा **दण्डी** ने काव्य शब्द का प्रयोग किया है।[1] काव्य की सम्यक समीक्षा करने वाले तथा काव्य तत्त्वो का निरूपण करने वाले ग्रन्थो के लिए काव्य–शास्त्र नाम समीचीन है। काव्य मे अलकारो का स्थान गौण होने के कारण तथा सौन्दर्य और साहित्य शब्द का व्यापक अर्थो मे प्रयोग होने के कारण अलङ्कार शास्त्र, सौन्दर्य–शास्त्र या साहित्यशास्त्र आदि नाम काव्य–शास्त्र इस नाम की अपेक्षा महत्त्वहीन हो जाते है।

काव्य–तत्त्वो के विवेचक ग्रन्थों के लिए 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग किस अर्थ मे किया गया है। प्रस्तुत प्रकरण में इस पर विचार करना प्रासगिक है।

सामान्यत 'शासनात् शास्त्रम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार विधि–निषेधपरक होने के कारण वेद, पुराण व्याकरण आदि को शास्त्र कहा गया है। वेदान्त दर्शन मे ब्रह्म विधि प्रतिषेधया प्रवृत्ति निवृत्ति का विषय नहीं है। अत उसका प्रतिपादन 'शास्त्र' मे कैसे हो सकता है। इस 'शका' के निवारण के लिए 'शास्त्र' पद की 'शसनात् शास्त्रम्' अर्थात् गूढ तत्वो का 'शर्सन' या 'प्रतिपादन' करने वाले ग्रन्थ शास्त्र है यह व्युत्पत्ति की गयी।

आचार्य भोजराज ने लोक व्यवहार के लिए विधि–निषेधपरक ग्रन्थो के लिए काव्य–शास्त्र **शब्द** का प्रयोग किया है। इन्होंने 'शासनात् शास्त्रम्' इस व्युत्पत्ति के आधार पर जिस प्रकार वेद आदि शास्त्र हैं उसी प्रकार काव्यतत्त्व विवेचक ग्रन्थ भी दोषादि काव्य–सौन्दर्य विघातक तत्त्वो के हान व अलङ्कारादि के उपादान का ज्ञान कराने के कारण विधि–निषेध परक ग्रन्थों के समान ही शास्त्र हैं। ऐसा विचार करके **काव्य–शास्त्र** पद को ग्रहण किया किन्तु यह समीचीन नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से काव्य व वेदादि का उद्देश्य समान हो जाने से काव्य मात्र उपदेशपरक ग्रन्थ हो जायेंगे जबकि काव्य का बहुजन मान्य प्रयोजन सद्य परनिर्वृति अर्थात् रसास्वादन है।[2]

प्राचीन काल से ही काव्य तत्त्वों की परख करने वाले ग्रन्थों को शास्त्र कहा गया। **आचार्य दण्डी** ने **भरत, भामह** आदि पूर्वाचार्यों के ग्रन्थ को[3] तथा **आचार्य वामन** ने स्वय अपने ग्रन्थ को 'शास्त्र' पद से अभिहित किया है।[4]

इस प्रकार 'शसनात् शास्त्रम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ही काव्य–शास्त्र शब्द का प्रयोग किया गया है, यह कहना उचित है। जिसमें काव्य सम्बद्ध तत्त्वों का विवेचन हो वह 'काव्य शास्त्र' है।

---

१ क) *अवलोक्य मतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधियाच काव्यलक्ष्म।*
–भामह, काव्यालंकार ।

ख) *यथासामर्थ्यमस्माभिः क्रियते काव्यलक्षणम्।*
–दण्डी, काव्यादर्श १/२।

२ *यद् विधौ च निषेधे च व्युत्पत्तेरेव कारणम्।*
तदध्येय विदुस्तेन लोक यात्रा प्रर्वतते।।
काव्य शास्त्रेतिहासौ च काव्य–शास्त्रे तथैव च।
काव्येतिहास शास्त्रेति[illegible] षड् विधम्।।
–भोजराज, सरस्वती कण्ठाभरण २/१३८,१३६।

३. *पू[illegible] संहृत्य [illegible] च।*
यथा सामर्थ्यमस्माभिः क्रियते काव्यलक्षणम्।।
–दण्डी, काव्यादर्शः १/२।

शास्त्रतस्ते।
ते [illegible] हानादाने। शास्त्रादस्मात्।
शास्त्रतो हि ज्ञात्वा दोषाञ्जह्याद् गुणालङ्काराञ्चाददीत्।
–वामन, काव्यालङ्कार सूत्राणि १/१/४।

काव्य-शास्त्र की उपयोगिता

काव्य के पूर्ण अनुशीलन तथा रसास्वादन के लिए काव्य–शास्त्र का अध्ययन अत्यन्त उपयोगी है। काव्य-शास्त्र से काव्य–रचना मे तथा काव्या स्वाद मे पूर्णता प्राप्त होती है। यह काव्यो मे स्थित दोष ज्ञान के लिए भी उपयोगी है। काव्य–शास्त्र के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए **आचार्य राजशेखर** ने इसे **सत्तम वेदाग** तथा **आन्विक्षिकी** (तर्क) **त्रयी वार्ता** एव **दण्ड नीति** इन चार विद्याओं का सार होने के कारण पॉचवी विद्या माना है।[1]

• काव्य शास्त्रीय ग्रन्थो के अध्ययन से काव्य के विभिन्न अगो का समुचित ज्ञान हो जाता है। जिससे कवि या सहृदय काव्य मे सशोधन, परिवर्धन तथा परिस्करण भी कर सकते हैं। **आचार्य रूद्रट** ने भी लिखा है कि काव्य शास्त्र के अनुशीलन से काव्यकर्त्ता की बुद्धि व्यापक दृष्टिकोण वाली हो जाती है।[2] **आचार्य दण्डी** ने भी काव्य शास्त्र के महत्त्व का निरूपण किया है। उनका विचार है कि काव्य–शास्त्र के अध्ययन से रहित व्यक्ति अन्धे व्यक्ति के समान है। वह गुण तथा दोष का विवेक नहीं कर सकता है।[3]

वस्तुत. काव्य शास्त्र के परिशीलन से ही काव्य मे प्रयुक्त होने वाले शब्दो का भी वास्तविक ज्ञान हो जाता है। यथा 'जघन काची' तथा 'कर्णावतस' दोनो मे पुनरूक्ति होने के कारण 'पुनरूक्त' अर्थ दोष है। यहॉ महाकवियो द्वारा प्रयुक्त होने के कारण प्रथम उदाहरण दुष्ट है। परन्तु द्वितीय उदाहरण मे 'कर्ण' शब्द सप्रयोजन प्रयुक्त होने के कारण दोषयुक्त नहीं है। यह विवेक काव्य–शास्त्र ही प्रदान कर सकता है। इसीलिए कवि तथा सहृदय को अपयश से बचने के लिए काव्य–शास्त्र का अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

इस प्रकार काव्य–तत्त्वों के मूल्याकन तथा पूर्ण अनुशीलन के साथ ही रसानुभूति पूर्ण काव्यो के चयन के लिए भी काव्य–शास्त्र बहुत उपयोगी है।, यह स्पष्ट हो जाता है।

काव्य-शास्त्र का स्रोत

भारतीय मान्यता एव विश्वास के अनुसार समस्त पौरस्त्य विद्याओ के उद्‌भव का मूल स्रोत वैदिक वाङ्मय को ही माना जाता है। सस्कृत काव्य–शास्त्र भी इसका अपवाद नहीं हो सकता। वास्तव में सस्कृत काव्य–शास्त्र का स्रोत **वेद–वेदांग** से लेकर **रामायण**, **महाभारत**, **पुराण** आदि में सर्वत्र किसी न किसी रूप में उपलब्ध होता हुआ दृष्टिगत होता है।

वैदिक वाङ्मय के अनुशीलन से स्पष्टत ज्ञात होता है कि वेदों मे काव्यशास्त्रीय मान्यता के अनुरूप कवि, काव्य, रस, अलकार आदि की चर्चायें स्पष्टत उपलब्ध होती हैं। **ऋग्वेद** के **वृहस्पति–सूक्त**

१– *शिक्षाकल्पोव्याकरण निरूक्त छन्दोविचिति ज्योतिषञ्च षड्गानि इत्याचार्य.।*
उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तमङ्गमितियायावरीय ।
पञ्चमी साहित्य विद्या इति [illegible]:।
साहित्य चतसृणामपि विद्याना निष्यन्द.।।
–[illegible], काव्य–मीमासा १/२ ।

२– *अस्यहि पौर्वापर्य पर्यालोच्याचिरेण निपुणस्य।*
काव्यमलङ्कर्तुमलङ्कर्तुरुदारा मतिर्भवति।
–रूद्रट, काव्यालङ्कार, १/३ ।

३– *गुण[illegible]: कथ विभजते जनः।*
किमन्धस्याधिकारोऽस्ति रूपभेदोपलब्धिषु।।
–दण्डिन्, काव्यादर्श, १/८ ।

मे **देवगुरू वृहस्पति** को कवियो का कवि अथवा कवियो का नेता कहा गया है[1] **अथर्ववेद** मे कवि को ब्रहम के समकक्ष बताकर उसकी काव्य–सृष्टि को अजर–अमर भी बताया गया है[2] **ऋग्वेद** मे काव्य के कारण कवि को रसस्वरूप (आनन्दस्वरूप) बताकर काव्य, कवि व रस का जो समीकरण प्रस्तुत किया गया है[3] उसे परवर्ती काव्य और रस–सिद्धान्त के लिए एक प्रामाणिक आधार कहा जा सकता है। **ऋग्वेद** मे शृगार आदि रसो के स्थायी भावो का भी यत्र–तत्र उल्लेख मिलता है।[4] इसके अतिरिक्त **उषः–सूक्त** मे शृगार रस की **मण्डूक–सूक्त** मे हास्यरस की, **अक्षसूत्र** मे करूण रस की, **रूद्र–सूक्त, इन्द्र–सूक्त, पुरूष–सूक्त** आदि मे अद्भुत रस की स्थिति स्पष्टत देखी जा सकती है।[5] **ऋग्वेद** मे अलकार के लिए 'अरकृत' और 'अरकृति' शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है।[6] ऋग्वेद मे ऐसे अनेक मन्त्र हैं जिनमे एकाधिक अलकार एक साथ देखे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'[7] मन्त्र मे पक्षिद्वय विषयी के द्वारा जीवात्मा और परमात्मा रूप विषय का निगरण होने से रूपकातिशयोक्ति अलकार है। तो दोनो पक्षो मे से एक (आत्मा) के भोक्तृत्व रूप गुणाधिक्य का वर्णन होने से व्यतिरेक अलकार भी है। इसके अतिरिक्त पक्षिद्वय रूप अप्रस्तुत के वर्णन से जीवात्मा तथा परमात्मा रूप प्रस्तुत का बोध होने से अप्रस्तुत प्रशसा अलकार भी हो सकता है। इसी प्रकार अनुप्रास यमक, श्लेष, उपमा, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा विरोधाभास आदि अलकारों के व्यावहारिक प्रयोग भी **ऋग्वेद** मे मिलते हैं।[8] **ऋग्वेद** मे धारा, मार्ग,

---

१. *गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपश्रवस्तमम्।*
जेष्ठराज ब्रहमण ब्रह्मणस्पत आ न शृण्वन्नूतिभि सीद सादनम्।
–ऋग्वेद, २/२३/१।

२. *पश्य देवश्य काव्य न ममार न जीर्यति।*
–अथर्ववेद, १०/८/३२।

३ *धनञ्जय पवते कृत्व्यो रसो विप्र कवि काव्येन।*
–ऋग्वेद, ६/८४/५।

४ *द्रष्टव्य ऋ० १/१००/७ मे करूण शब्द का उल्लेख, १०/३/१, १०/६१/१ इत्यादि में रौद्र शब्द, का उल्लेख १/३०/५, १/८१/२ आदि मे शौर्योपेत (उत्साहयुक्त) अर्थ मे वीर शब्द का उल्लेख, १/१००/१७ मे भयानक शब्द का प्रयोग १/१८/६, १/६४/१२ इत्यादि मे अद्भुत रस का संकेत।*

५ *द्रष्टव्य ऋ० १०/१२४ उष सूक्त, ७/१०३ (मण्डक–सूक्त) १०/३४ (अक्ष–सूक्त) २/३३ (रूद्र–सूक्त) २/१२ (इन्द्र–सूक्त) १०/१२६ सृष्टि–सूक्त अथवा नासदीय–सूक्त) १०/६० (पुरूष–सूक्त) इत्यादि।*

६ *वायवा याहि दर्शते सोमा अरकृता। ऋ० १/२/१।*
का तो अस्त्यरकृति सूक्तै। ऋ० ७/२६/३।

७ *द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।*
तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।
–ऋ० १/६४/२०।

८. *'सो चिन्नु न मराति नो वयं मरामरे' इत्यादि (अनुप्रास)*
–ऋ० १/१६/१०।
'कंकतो न ककतो' इत्यादि (यमक) १/१६/१।
'स्वसुजरि शृणोतु न' इत्यादि (श्लेष) ऋ० ६/५५/५।

गति आदि अर्थों मे रीति शब्द का भी प्रयोग मिलता हैं।[1] **अथर्ववेद** मे लोक–प्रचलित अर्थ मे **ध्वनि** का[2] कुटिलता के अर्थ मे वक्र तथा वक्रा शब्दो का भी प्रयोग प्राप्त होता है।[3] जिनमे काव्य–शास्त्रीय ध्वनि वक्रोक्ति, रीति आदि के स्रोत देखे जा सकते हैं। दोषो की हेयता का सकेत भी हमे ऋग्वेद मे प्राप्त होता है। यहाँ इन्द्र के शत्रु की मृध्रवाच कहकर निन्दा की गयी है।[4]

वेदागो मे **निरूक्त** एव **व्याकरण** के अन्तर्गत काव्य–शास्त्रका स्वरूप सापेक्षिक दृष्टि से कुक्ष विकसित रूप मे उपलब्ध होता है। **महर्षि यास्क** ने वैदिक 'अरकृत' शब्द के पर्याय के रूप मे अलकृत शब्द का स्पष्टत प्रयोग किया है।[5] **यास्क** ने **निरूक्त** मे पूर्ववर्ती **आचार्य गार्ग** के द्वारा अभिमत उपमा को लक्षित करते हुए इसके कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा एव लुप्तोपमा पाँच भेदो का सोदाहरण वर्णन किया है।[6] इसके अतिरिक्त आठ अन्य उपमा–वाचक शब्दों के साथ कुल बारह उपमा वाचक शब्दो की सूची तृतीय अध्याय मे एक साथ दी है।[7]

महर्षि पाणिनि ने भी **अष्टाध्यायी** में उपमान उपमिति, सामान्य वचन आदि काव्य–शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग, श्रोती एव आर्थीउपमाओ के भेद का कारण तथा 'मयूरव्यसक' समास मे रूपकालकार का उल्लेख किया है।[8] **महाभाष्यकार पतञ्जलि** भी उपमान, उपमेय, उपमिति सामान्य वचन आदि की स्पष्टत विवेचना करते हुए देखे जाते है।[9]

पतञ्जलि, भर्तृहरि आदि वैयाकरणों ने न केवल अभिधा अपितु, लक्षणा शब्दशक्ति का भी स्पष्टत उल्लेख किया हैं महाभाष्यकार ने स्पष्टतः बताया है कि भिन्न मे अभिन्नता का ज्ञानअतद् मे तद का ज्ञान अथवा अन्य मे अन्य के धर्मों का आरोप चार प्रकार से हो सकता है।[10] तात्स्थ्य, ताद्धार्म्य, तत्सामीप्य और चौथा तत्साहचर्य। यही नहीं इनमें से प्रत्येक निमित्त से होती वाली लक्षणा का सोदाहरण विवेचन भी

---

१ क) 'महीवरीति: शवसासरत् पृथके', ऋ० २/२८/४।
ख) वातेवाजुर्या नद्येव रीति: ऋ० २/३६/५।
२. अन्तरे में रभसी घोषो अस्तु पृथक्ते ध्वनयोयन्तु शोभनम्।।
—अथर्ववेद, ५/२०/७।
३. अय यो वक्रो विपरूर्व्यङ्ग्यो मुखानि वक्रा वाजिना कृणोषि। वही ७/५८/४।
४. दनो विश इन्द्र मृध्रवाचः। ऋ०, ५/२६/१०।
यो वाचा विवाचो मृध्रवाचः। तदेव, १०/२३/५।
५ सो अरंकृता अलङ्कृता
—यास्क, निरूक्त, १०/१/२।
६ क) अथात उपमा यदेतत्तत्सदृशमिति गार्ग्य।.. . . ज्यायासम् वही, ३/३/१४।
ख) यथेति कर्मोपमा। .. .. भूतोपमा। .... रूपोपमा।.....
वदिति सिद्धोपमा। .... अथ लुप्तोपमान्यथोपमानीत्याचक्षते।
—'वही, ३/३/१५–३/४/१८ तक।
७ द्रष्टव्य यास्क, निरूक्त, ३/३/१३।
८ क) उपमानानि सामान्यवचनै (अष्टा० २/१/५५) उपमानाच्च (अष्टा० ५/४/१३७)।
उपमानादाचारे (अष्टा० ३/१/१० उपमानादप्राणिषु (अष्टा० ५/४/९७)।
ख) तत्र तस्येव (अष्टा० ५/१/१६)
ग) तेन तुल्यं किया चेद्वतिः (अष्टा० ५/१/११५
घ) मयूव्यंसकादयश्च (अष्टा० २/१/७२)।
१०. द्रष्टव्य—उपमानानि सामान्यवचनैः (अष्टा० २/१/५५) पर पातञ्जलमहाभाष्य

किया है।[१] **भर्तृहरि** ने भी उल्लेख किया हैं अर्थ–प्रकरण आदि निमित्तो के बिना शब्द के श्रवण मात्र से जिस अर्थ का बोध होता है। वह तो मुख्यार्थ है तथा अर्थ–प्रकरण आदि रूप प्रयत्न से मुख्यार्थ बाध आदि के अनन्तर जिस अर्थ का बोध होता है। वह गौणार्थ [२] यही नहीं **भर्तृहरि** ने मुख्या तथा गौणी वृत्तियो का स्पष्टत उल्लेख किया है। [३] जो आगे चलकर अभिधा व लक्षणा के समकक्ष मानी जाती है। यह भी अवधेय है कि **पतञ्जलि** आदि वैयाकरणो के स्फोट सिद्धान्त मे ध्वनि सिद्धान्त का बीज स्पष्टत उपलब्ध होता है। जिसे **आनन्दवर्धन** उनके व्याख्याता **अभिनवगुप्त** तथा **मम्मटादि** आचार्य सहर्ष स्वीकार करते है।[४] **निरुक्त** मे निर्दिष्ट 'मत्रहीनो स्वरतो वर्णतो वा' छन्द मे दोष से उत्पन्न अनिष्ट तथा दोष–परिहार का सकेत प्राप्त होता है। **पाणिनि शिक्षा** में भी शुद्ध उच्चारण के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है।[५] इस प्रकार **वेद** और **वेदाग** मे काव्य–शास्त्र का स्रोत स्पष्टत निरन्तर विकसित रूप में उपलब्ध होता हुआ दृष्टिगत होता है।

वेद और **वेदाग** के पश्चात् **रामायण, महाभारत** तथा **पुराणों** में भी काव्य–शास्त्र का स्रोत उत्तरोत्तर विकसित रूप में प्राप्त होता है। **रामायण** और **महाभारत** में अलकार और शृगार आदि रसों का स्पष्ट उल्लेख

---

१. *सविस्तार द्रष्टव्य महाभाष्य ४/१/४८।*

२. *श्रुतिमात्रेण यत्रास्य तादर्थ्यमवसीयते।*
त मुख्यमर्थं मन्यन्ते गौण यत्नोपपादितम्।
–भर्तृहरि, वाक्य–प्रदीप, २/२७८।

३ *वाटपरिक्षेपेऽस्य मुख्या वृत्तिः। पुरुषादिषु तु गौणी।*
–महाभाष्य, त्रिपादी, पृ० १३८।

४ क) *प्रथमे हि विद्वासो वैयाकरणा· व्याकरण·लत्वात्सर्वविद्यानाम्। ते श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति।*
आनन्द वर्धन, ध्वन्या० १/१३ की वृत्ति

ख) *द्रष्टव्य– अभिनवगुप्त, ध्वन्या० १/१३ की वृत्ति पर लोचन टीका*

ग) *बुधैर्वैयाकरणै· प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जक शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहार· कृतः। ततस्तन्मतोनुसारिभिरन्यैरपि न्यग्[illegible] व्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य।*
मम्मट, का० प्र० १/४ की वृत्ति

५.क) *मन्त्रहीनो स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।*
स वाग्वज्रो यजमान हिनस्ति यथेन्द्रशत्रु स्वरतोऽपराधात्।।
–निरुक्त।

ख) *एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या नाव्यक्ता न चपीडिता·।*
सम्यक्–वर्णः प्रयोगेण ब्रहमलोकेमहियते।।
सुतीर्थादागत व्यक्तं स्वाम्नातं सु[illegible]।
सुस्वरेण सुवक्त्रेण प्रयुक्तं ब्रहम राजते।।
– पाणिर्ण्न शिक्षा।

प्राप्त होता है।[1] ध्वनिकार **आनन्दवर्धन** ने ब्रहर्षि **वाल्मीकि** प्रणीत **रामायण** का अगी रस करूण तथा **वेदव्यास** प्रणीत **महाभारत** का अगी रस शान्त बताया है।[2] ध्वनिकार **आनन्दवर्धन** ने ध्वनि व्यवहार का प्रारम्भिक रूप भी इन्हीं दोनो महाप्रबन्ध मे स्वीकार किया है तथा अविवक्षित और विवक्षित[illegible] वाच्य दोनो ध्वनि–भेदो के उदाहरण भी इन्हीं से उद्धृत किये है।[3] इस प्रकार रस,अलकार,ध्वनि आदि काव्य शास्त्रीय तत्त्वों का प्रयोग उत्तरोत्तर **रामायण** तथा **महाभारत** में मिलने लगता है। पुराणो में **श्रीमद्भागववत पुराण रस**, अलंकार आदि समस्त काव्य–तत्त्वो के व्यावहारिक प्रयोग का आकर ही है। जिसमे ऐसा कोई रस नहीं जिसका सफल निरूपण न मिलता हो[4] सक्षेपत काव्य–शास्त्र के विकास मे **रामायण** तथा **महाभारत की** अपेक्षा **श्रीमद्भागवत्** का योगदान किसी भी दृष्टि से कम नहीं कहा जा सकता।

अग्निपुराण के ३३७–३४७ अध्यायों के अन्तर्गत श्रव्यकाव्य तथा दृश्य काव्य से सम्बन्धित रस, गुण, अलकार, रीति, नाट्य–सन्धि, अर्थ–प्रकृति आदि का विस्तृत किन्तु सकलनात्मक विवेचन प्राप्त होता है।[5] रचनाकाल की दृष्टि से **अग्निपुराण** को कतिपय विद्वान् **रामायण** तथा **महाभारत** के पश्चात् तथा **भरतमुनि** से पूर्व मानते हैं।

आचार्य महेश्वर विद्याभूषण, एम० एम० दत्त आदि ऐसे विद्वान् है। इसके विपरीत **आचार्य बलदेव उपाध्याय** इसका रचना काल सप्तम से नवम ईस्वी शती के मध्य, **डॉ० एस के० डे०** नवीं शती के उत्तरार्ध तथा **डॉ० पी० वी काणे, आनन्द वर्धन** (ई० नवी शताब्दी का उत्तरार्ध) एवं **भोज** (ग्यारहवीं शती का पूर्वार्ध) के बाद मानते हैं।

---

१. क) कृत्वालङ्कारमात्मनः। रामायण, २/४०/१३।
ख) समलङ्चकु ....महाभारत, मौसल, ७०/१६।
—अलङ्कृता वही, ७०/६।
अलङ्काराश्छत्रञ्च .. .. वही ३/३
ग) रसैः शृङ्गार करूणहास्यवीरभयानकैः।
रौद्रादिभिश्च संयुक्तं काव्यमेतदगायताम्।
—रामायण, १/४/६।

२. रामायणे हि करूणो रसः स्वयमादिकविना सूचितः .... महाभारतेऽशास्त्र ....शान्तो रसः मुख्यतया विवक्षा विषयत्वेन सूचितः।
—आनन्द वर्धन, ध्वन्या० ४/५ की वृत्ति।

३ अथ च रामायण महाभारत प्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दोमनसि लभता प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यत
—आनन्द वर्धन, ध्वन्या० १/१ की वृत्ति।

४. द्रष्टव्य, श्री मद्भागवत्
क) ३/२३–२४, ८/१२, ६/२० इत्यादि में शृङ्गार।
१/७, ६१५, १०/१ इत्यादि मे करूण, ४/२–५ इत्यादि में रौद्र,।
३/१७ १६, ४/५, ६/१० इत्यादि में वीर, ५/२६ इत्यादि मे वीभत्स, ६/१३, १०/४ इत्यादि में भयानक २/१, ५, ६ इत्यादि में अद्भुत, ३/२७, ४/१२, २२ इत्यादि में शान्त आदि
ख) दृष्टव्य श्रीमद्भागवत् १०/४७/१४ में अन्योक्ति, १०/६७/३६ में अतिशयोक्ति, ११/१२/२१–२३ में रूपक आदि अलंकार

५. द्रष्टव्य, श्रीरामलाल वर्मा द्वारा सम्पादित 'अग्निपुराण का काव्य शास्त्रीय भाग', प्रथम संस्करण, नेशलन पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९५६।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण के तृतीय काण्ड में चौदह से इकतीस अध्यायो के अन्तर्गत श्रव्य एव दृश्य काव्य विषयक काव्यशास्त्रीय विषयो का सकलनात्मक निरूपण उपलब्ध होता है।[1] इनमे १४ १५, १६, ३० एव ३१ अध्याय काव्य–शास्त्र की दृष्टि से विशेष महत्त्व पूर्ण हे। चौदहवे अध्याय मे अनुप्रास, रूपक, यमक, व्यतिरेक, श्लेष, अर्थान्तरन्यास, उपन्यास, विभावना, स्वभावोक्ति, यथासख्य, विरोध, निन्दास्तुति, निदर्शन एव अनन्वय आदि अलकारो का निरूपण है। पन्द्रहवे अध्याय मे शास्त्र और इतिहास से काव्य का अन्तर, महाकाव्य का लक्षण आदि का उल्लेख है। सोलहवे अध्याय मे प्रहेलिकाओ का सत्रह से उन्तीस अध्यायो मे नाट्य सम्बन्धी तत्त्वो तीसवे अध्याय मे शृगार आदि नौ रसो तथा इकतीस मे निर्वेद सहित उन्चास भावो का वर्णन है। **डाॅ पी० वी काणे, डॉ० एस० के० डे, धर्मेन्द्र कुमार गुप्त** आदि अधिकाश विद्वान् **विष्णुधर्मोत्तर** पुराण का रचना काल **नाट्य शास्त्र** के बाद किन्तु **म**[illegible]**कविभाट्ट** आदि से पूर्व चौथी तथा पॉचवीं शती के मध्य स्वीकार किया है।

इस प्रकार शास्त्रीय दृष्टि से सस्कृत काव्य–शास्त्र का प्रारम्भिक विवेचन **आचार्य भरत के नाट्य–शास्त्र** में आनुषगिक रूप से प्राप्त होने लगता है। परन्तु काव्य–शास्त्र मे स्वतन्त्र विकास की परम्परा **भामह, दण्डी, उद्भट** आदि से ही प्रारम्भ होती है। और **पण्डितराज जगन्नाथ** तक अविराम रूप से प्रवाहित होती रही है। यही नहीं आज भी किसी न किसी रूप में इसकी धारा सतत गतिमान् है। अतएव कहना न होगा कि सस्कृत काव्य–शास्त्र का स्वतन्त्र विकास इन्हीं दो सहस्राब्दियो में हुआ है। जिसके फलस्वरूप रस–सम्प्रदाय, अलकार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय औचित्य सम्प्रदायों की उपलब्धि हुई है।

काव्य-शास्त्र की उत्पत्ति

काव्य शास्त्र की उत्पत्ति के विषय में **आचार्य भरतमुनि** तथा **आचार्य राजशेखर** ने अपना विचार प्रस्तुत किया है। **आचार्य भरत** ने सम्भावना व्यक्त की है कि प्राचीन काल मे वेदो के अध्ययन तथा अध्यापन का अधिकार मात्र ब्राह्मणों को था। अत क्षत्रिय आदि वर्णों के लिए एक सार्ववर्णिक वेद की आवश्यकता पडी। इसी उद्देश्य से ब्रहमा ने 'नाट्य वेद' की रचना की। इसी प्रकार काव्य की विवेचना के लिए एक अतिरिक्त वेदाङ्ग 'अलङ्कार शास्त्र' की रचना हुई। यह वेदाङ्ग या अलङ्कार शास्त्र वेदार्थ का उपपादक होने के कारण **सप्तम अङ्ग** या **शास्त्र** बना।

आचार्य राजशेखर का विचार कुछ पृथक् है। **काव्यमीमांसा** में काव्य–शास्त्र के उद्गम के विषय में वे लिखते है। कि श्री **कण्ठ शिव** ने **ब्रह्मा, वैकुण्ठ** आदि अपने चौसठ शिष्यों को काव्य–विद्या का उपदेश दिया था। उन ब्रहमा ने अपने मानस–जन्मा शिष्यों को इस विद्या का उपदेश दिया। इन शिष्यों में सरस्वती का पुत्र **काव्य–पुरूष** सबसे वन्दनीय था। प्रजा के हित की कामना से प्रेरित होकर प्रजापति ने इसी सर्वज्ञ काव्य–पुरूष को काव्य–विद्या के प्रवर्तन के लिए नियुक्त किया। **काव्य–पुरूष** ने अट्ठारह अधिकरणों में इस विद्या को लिखकर अपने अट्ठारह शिष्यों को पढाया। इन शिष्यों में **सहस्राक्ष(इन्द्र)** को [illegible], **उक्ति गर्भ** को औक्तिक, **सुवर्ण नाभ** को रीति–निर्णय, **प्रचेता** को आनुप्रासिक (अनुप्रास विजय), **यम** को **यमक**, **चित्राङ्गद** को चित्र, **शेष** को शब्दश्लेष, **पुलस्त्य** को वास्तव (स्वभावोक्ति), **औपकायन** को औपम्य (उपमा–विषय) **पाराशर** को अतिशय, **उतथ्य** को अर्थश्लेष, **कुबेर** को उभयालङ्कार, **कामदेव** को विनोद विषय, **भरतमुनि** को रूपक निरूपण, **नन्दिकेश्वर** को रस–विषय, **धिषण** को दोष–विषय, **उपमन्यु** को गुण–उपपादन तथा **कुचुमार** को औपनिषदिक–विषय की शिक्षा दी। इसके पश्चात् इन सभी ने पृथक्–पृथक् शास्त्रों की रचना की।[2]

इस निरूपण से स्पष्ट होता है कि काव्य के अनुशीलन तथा काव्य में स्थित गुण, दोष, अलङ्कार, रस आदि काव्य–तत्त्वों की स्थिति के पूर्ण ज्ञान के लिए काव्य–शास्त्र की उत्पत्ति हुई।

1. *द्रष्टव्य– विष्णुधर्मोत्तरपुराण, व्यंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९१२।*
2. *राजशेखर काव्य मीमांसा, प्रथम अधिकरण।*

काव्य शास्त्रकार

भरतमुनि से **विश्वेश्वर** तक अनेक आचार्यों ने काव्य–शास्त्र के विकास मे अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। उनमे प्रमुख काव्य–शास्त्रकारो तथा उनके ग्रन्थ पर सङ्क्षेप मे विचार द्रष्टव्य है।

उपलब्ध ग्रन्थ के आधार पर **आचार्य भरतमुनि** को आद्याचार्य माना जाता है। यद्यपि इनके ग्रन्थ **नाट्य–शास्त्र** में काव्य–शास्त्रीय तत्त्वो का प्रधानत विवेचन नहीं है। अपितु, नाट्य–तत्वों के अङ्गरूप मे उनको निरूपित किया गया है, तथापि काव्य–शास्त्रीय तत्त्वों के विवेचन का मूलाधार होने के कारण इसे प्रथम काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ होने का गौरव प्राप्त है।

• **नाट्य–शास्त्र** का रचना–काल विवादित है। प्राय विद्वान् इसे २०० ईसा पूर्व से ३०० ईसा पूर्व के मध्य की रचना मानते हैं। **अश्वघोष** के 'सारिपुत्र प्रकरण' नामक नाटक पर **नाट्य शास्त्र** का प्रभाव स्वीकार किया गया है।[1] [illegible] का समय ईसापूर्व प्रथम शताब्दी है। यद्यपि **कालिदास** ने स्पष्टत **भरतमुनि** का नामोल्लेख किया है।[2] किन्तु उनका समय भी निर्विवादित नहीं है।

वर्तमान काल में उपलब्ध **नाट्यशास्त्र** में ६००० श्लोक हैं। अत इसे 'षटसाहस्त्री सहिता' भी कहते हैं। इसके षष्ठ अध्याय में रस–सूत्र, विभावादि से रस की निष्पत्ति, रसों के वर्ण तथा देवता, सप्तम अध्याय में स्थायी भाव, विभाव, सञ्चारी भाव तथा अनुभावों का वर्णन इसके पश्चात् षोडश अध्याय में छन्दों तथा सत्रहवें अध्याय में उपमा, रूपक, यमक तथा दीपक इन चार अलङ्कारों का निरूपण, दस दोषों तथा दस काव्य–गुणों इसके साथ ही काव्य के छत्तीस लक्षणों का भी वर्णन किया गया है। **नाट्य शास्त्र** के तीन अंश है– १. गद्य भाग २. सूत्र–विवरणकारिका ३ अन्यश्लोक।

भरतमुनि ने रस को काव्य के प्रमुख तत्त्व के रूप में प्रतिपादित किया। इनका रस–सूत्र[3] काव्यशास्त्र की विवेचना का प्रमुख विषय रहा है। पूर्णत साहित्य–शास्त्र पर आधृत सत्रहवें अध्याय के विषय में **डा० एस० के० डे**[4] ने लिखा है कि इसमें यदि काव्य–शास्त्र का एक सिद्धान्त नहीं है तो एक विकसित मत अवश्य परिलक्षित होता है। इन्होंने प्रसंवश रस अलङ्कार आदि का निरूपण किया। अत **वामन** झलकीकार[5] इन्हें नाट्याचार्य ही मानते है काव्यशास्त्रकार नहीं। रस–निरूपक उत्तरवर्ती साहित्य–शास्त्र के लिए **नाट्य–शास्त्र** उपजीव्य है। स्वतन्त्रत रूप से अलंकार–शास्त्र पर आधृत प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ के रचयिता **आचार्य भामह** हैं। अलङ्कार शास्त्र का शास्त्रीय तार्किक व वैज्ञानिक रूप से प्रतिपादन करने वाले ये प्रथम आचार्य हैं। परवर्ती आचार्यों ने **भामह** को प्राचीन तथा प्रामाणिक अलङ्कार–शास्त्रकार के रूप में उल्लिखित किया है। **रूय्यक**[6] **अभिनव**[7] [illegible] आदि आचार्यों ने नामोल्लेख करते हुए इन्हें चिरन्तन आचार्य माना है।

---

1. *कीथ, सिलवानेवी , श्रीहरप्रसाद शास्त्री*
2. *मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः।*
   ललिताभिनय तमद्य भर्ता मरूता द्रष्टुमनाः सलोकपालः।
   –कालिदास, कुमार सम्भवम् २/१८।
3. *विभावानुभावसञ्चारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।*
   –भरतमुनि, ना० शा० ६/३१ के पश्चात् गद्य भाग।
4. *संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, खण्ड दो, पृ० १।*
5. *अपि च नाट्य सूत्र कृदेवभरतः प्रसङ्गात्रसादि विषयकाण्यपि सूत्राण्येव प्रणिनायनत्वङ्कार [illegible]। [illegible] तस्य प्रसिद्धिः।*
   –वामन [illegible], बालबोधिनी प्रस्तावना, प्रघट्ट–६।
6. *भामहोद्भट प्रभृतयश्चिरन्तनालङ्काराः इति।*
   –रूय्यक अलङ्कार सर्वस्वकी प्रस्तावना से
7. *भामहादिभिरलङ्कारलक्षणकारैः*
   –ध्वन्यालोक, २/२१ पर अभिनव गुप्त कृत लोचन टीका।

भामह का समय छठीं शती का पूर्वार्द्ध माना जाता है। **भामहाचार्य** की उपलब्ध काव्यशास्त्रीय रचना **काव्यालङ्कार** है। इसमे अलङ्कार–शास्त्र स्वतन्त्र रूप में दिखाई पडता है। छ परिच्छेदो वाले इस ग्रन्थ मे प्रथम परिच्छेद मे काव्य–शरीर, द्वितीय तथा तृतीय परिच्छेद मे अलड्कार, चतुर्थ मे दोष, पञ्चम मे नयाय–निर्णय तथा षष्ठ परिच्छेद मे शब्द–शुद्धि का विवेचन है।

भामह सर्वप्रथम अलङ्कार–शास्त्र का व्यवस्थित तथा स्वतन्त्र विवेचन करने वाले आचार्य हैं। यदि **भरतमुनि** को नाट्याचार्य कहा जाता है तो **भामह** आदि काव्यशास्त्राचार्य हैं। इन्होने काव्य शास्त्र के विषयो –काव्य–स्वरूप, गुण, दोष, अलड्कार तथा वक्रोक्ति का निरूपण किया है। शब्दार्थ युगल के सांमञ्जस्य को काव्य माना।[1] **भरत** कृत दस काव्य–गुणो का माधुर्य ओज तथा प्रसाद मे अन्तर्भाव किया। दोष निरूपण मे अलड्कार दोषो का भी प्रतिपादन किया । 'वक्रोक्ति' को अलङ्कारो के बीज के रूप मे स्वीकार करके काव्य में उसके महत्त्व का प्रतिपादन किया।[2] परवर्ती आचार्यों ने यद्यपि उसी रूप मे काव्य–तत्त्वों को ग्रहण नहीं किया तथापि **भामह** का उल्लेख सम्मान के साथ किया।

अलङ्कार–शास्त्र पर स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना करने वाले आचार्यों मे **आचार्य भामह** के पश्चात् काव्यादर्शकार **आचार्य दण्डी** की गणना की जाती है। काव्यादर्श मे काव्य के दशगुणो के लिए वैदर्भ तथा गौड दो मार्गों का उल्लेख **आचार्य दण्डी** ने किया है। वैदर्भ मार्ग (रीति) का निरूपण करने के कारण इन्हे रीति–उद्भावक आचार्य भी माना जा सकता है।**दण्डी** को सातवीं शती के उत्तरार्ध या आठवीं शती के पूर्वार्ध का माना जा सकता है।

साहित्य शास्त्र पर लिख गया **आचार्य दण्डी** का ग्रन्थ काव्यादर्श हैं इसमें प्रथम परिच्छेद में काव्य–लक्षण तथा काव्य के गद्य पद्य और मिश्र तीन भेदों का निरूपण किया है। इन्होंने कथा व आख्यायिका में भेद नहीं माना। काव्य के दस गुण व वैदर्भ व गौड मार्गों का निरूपण किया। द्वितीय परिच्छेद मे अलङ्कार का सामान्य लक्षण तथा पैतीस अलङ्कारों के लक्षण व उदाहरण दिये हैं। तृतीय परिच्छेद में यमक अलङ्कार का विस्तार से वर्णन किया तथा चित्र बन्ध के गोमुत्रिकादि भेदो का भी वर्णन किया। इसी परिच्छेद मे दस काव्य–दोषो का भी निरूपण किया गया है।[3]

आचार्य दण्डी काव्य में रस के महत्त्व को स्वीकार करते हैं[4] किन्तु उसे रसवत् अलङ्कार मे अन्तर्भुक्त मानते हैं। गुण, मार्ग (रीति) आदि का निरूपण करते हुए इन्होंने अलङ्कार को ही सर्वाधिक महत्त्व पूर्ण माना। **दण्डी** का काव्य–भेद तथा काव्यमार्गीय सिद्धान्तों का निरूपण मौलिक है।

अलङ्कारों के निरूपण मे **उद्भट** का महत्वपूर्ण स्थान है। इनके परवर्ती आचार्यों ने इनके मतो का विरोध करते हुए भी आदर के साथ इनका उल्लेख किया है।

---

१. *शब्दार्थौ सहितं काव्यम्।*
—भामह काव्यालड्कार १/१६।

२ *सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।*
यत्नोऽस्यां कविना कार्य कोऽलड्कारोऽनया विना।।
— भामह काव्या० २/८५।

३. *प्रोफेसर रङ्गाचार्य द्वारा प्रकाशित सस्करण मे तृतीय परिच्छेद के दोष–निरूपण को पृथक् करके चतुर्थ परिक्ष्छेद बताया गया है। किन्तु अधिकांशतः प्रकाशनो में तीन परिच्छेद ही है।*

४. क) *येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रता ।*
—दण्डी, काव्यादर्शः १/५१।

ख) *रसवत् रस पेशलम् ।*
—दण्डी काव्यादर्शः— २/२७५।

कल्हण कृत **राजतरङ्गिणी** में **उद्भट** को राजा जयापीड को सभा के सभापति रूप मे उल्लिखित किया गया है। जयापीड का समय ७७९–८१३ ई० था। अत यही काल उद्भट का भी सिद्ध होता है। अलङ्कार–शास्त्र पर **उद्भट** की दो कृतियॉ हैं। **अलङ्कार–सार–सङ्ग्रह** तथा **भामह विवरण**। वर्तमान समय में मात्र **अलङ्कार–सार सङ्ग्रह** ही प्राप्त है। इन्होने **नाट्यशास्त्र** पर भी टीका लिखी थी, किन्तु वह भी अप्राप्त है।

अलङ्कार-सार-सङ्ग्रह छ वर्गों मे विभक्त है। इसमें उन्यासी कारिकायें हैं। जिनमें इकतालीस अलङ्कारो का निरूपण है। **उद्भट** पर **भामह** के अलङ्कार विवेचन का बहुत प्रभाव है। किन्तु इन्होंने पूर्णतया उनका अनुकरण नहीं किया है।

आचार्य उद्भट ने रस को रसवद् अलङ्कार में अन्तर्भुक्त माना है। यद्यपि इन्होंने रस को उतना महत्त्व नहीं दिया किन्तु रस की अभिव्यक्ति को स्पष्ट करने का प्रयास किया। इन्होंने स्थायी, सञ्चारी, विभाव, अनुभाव तथा स्वशब्द के द्वारा रस की अभिव्यक्ति को स्वीकार करते हुए उसे रसवद् अलङ्कार माना।**दण्डी** ने भी रस को रसवत् अलङ्कार में अन्तर्भुक्त माना था।

काव्य–शास्त्र में 'रीतिरात्मा काव्यस्य' लिखकर एक मौलिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करके एक नवीन मार्ग की उद्भावना करने के कारण **आचार्य वामन** का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

कल्हण की **राजतरङ्गिणी** में इन्हें राजा जयापीड का मंत्री बताया गया है।[1] इस प्रकार ये **उद्भट** के समकालीन थे। **उद्भट** जयापीड की सभा के सभापति थे परन्तु दोनों ने एक दूसरे के सिद्धान्तों का उल्लेख नहीं किया है। **राजशेखर** 'नवीं शताब्दी' तथा **आनन्दवर्धन** [2] (८५० ई०) ने इनके रीति सम्प्रदाय का उल्लेख किया हैं इसके अतिरिक्त इन्होंने ग्रन्थ में भवभूति (७००–७५० ई०) के **उत्तर- चरित** का एक श्लोक उद्धृत किया है।[3] इससे स्पष्ट होता है कि इनका समय लगभग ८०० ईस्वी स्वीकार किया जा सकता है।

वामन का एकमात्र ग्रन्थ **काव्यालङ्कार** सूत्र है। यह सूत्र–शैली में लिखा गया हैं इसके तीन भाग –सूत्र, वृत्ति तथा उदाहरण हैं। इन्होंने सर्व प्रथम सूत्र–शैली का प्रयोग किया। सूत्रों की वृत्ति भी स्वय लिखी [4] इस ग्रन्थ में पॉंच अधिकरण हैं। प्रत्येक अधिकरण में पॉच अध्याय हैं। इन अधिकरण को इन्होंने विशेष नाम दिये हैं। यथा प्रथम अधिकरण 'शरीर अधिकरण' है। इसमें काव्य की परिभाषा, अग, प्रयोजन, काव्यात्मारीति, काव्य–हेतु आदि का विवेचन है। द्वितीय अधिकरण 'दोष दर्शन', तृतीय–गुण–विवेचन, चतुर्थ–आलङ्कारिक अधिकरण तथा पञ्चम 'प्रायोगिक अधिकरण' हैं। इस अधिकरण में कवि परम्पराओं की विवेचना की गयी है तथा शब्दों के प्रयोगों की विशेष विवेचना की गयी है।

आचार्य वामन काव्य के आत्मतत्त्व पर विचार करने वाले सम्भवत प्रथम आचार्य हैं। इन्होंने गुण व अलङ्कार में भेद प्रदर्शित करते हुए गुण को नित्य माना। रीति निरूपण में भी वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली ये तीन भेद किये। जबकि **दण्डी** ने दो मार्ग वैदर्भ व गौड ही बताये थे। उपमा को मुख्य अलङ्कार मानकर

१. *मनोरथः शङ्खदत्तश्चटकः सन्धिमान तथा।*
बभूवु कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः ।।
–कल्हण, राजतरङ्गिणी, ४/४९७।

२. *अस्फुटस्फुरित काव्य तत्त्वमेतद्यथोदितम्।*
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुरीतयः सम्प्रवर्तिता ।।
–आनन्द वर्धन, ध्वन्यालोक ३४७।

३ • *इयं गेहे लक्ष्मीरियम .. . .. . विरहः।*
–भवभूति, उत्तरराम चरितम् १३८।

४. *प्रणम्य परमं ज्यौतिर्वामनेन कविप्रिया।*
काव्यालङ्कार सूत्राणा स्वेषां वृत्तिर्विधीयते।
–वामन काव्यालङ्कारसूत्र–अधिकरणश्लोक।

अन्य को उसका प्रपञ्च बताया। इसके साथ ही अन्तिम अधिकरण मे शब्द शुद्धि का निरूपण सर्वथा मौलिक है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय हैं कि 'रस तत्त्व' का प्रतिपादन करके भी इन्होंने इसे महत्त्व पूर्ण नहीं माना तथा कान्ति नामक अर्थगुण में इसे अन्तर्भुक्त माना।

आचार्य रूद्रट अलङ्कार–शास्त्र के इतिहास मे **भामह** आदि पूर्ववर्ती आचार्यो की अपेक्षा अलङ्कारो का वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन करने वाले आचार्य हैं। ये वस्तुत अलकार–सिद्धान्त के समर्थक हैं। वाह्यसाक्ष्यों के आधार पर इनका समय नवीं शताब्दी माना जाता है। **राजशेखर** (९२० ई०) ने **काव्यमीमांसा** में वक्रोक्ति के सम्बन्ध में **रूद्रट** के मत का उल्लेख किया है।[1] **आचार्य आनन्दवर्धन** सम्भवत इनके समकालिक है। क्योकि, **रूद्रट आनन्दवर्धन** से प्रभावित नहीं हैं तथा **आनन्दवर्धन** ने इनका उल्लेख नहीं किया है।

अलङ्कार–शास्त्र पर इनकी एक मात्र रचना '**काव्यालङ्कार**' उपलब्ध होती है। इसमें सोलह अध्याय है। यह आर्याछन्द में लिखा गया। इन्होंने काव्य के प्रयोजन, हेतु, कवि महिमा तथा वृत्ति के आधार पर 'पाञ्चाली', 'लाटी' तथा 'गौडी' तीन ससमासा व एक असमासा 'वैदर्भी रीति' का वर्णन किया हैं। अलङ्कारों का विस्तृत व वैज्ञानिक विवेचन करने के साथ ही पदगत तथा वाक्यगत दोषों का निरूपण करते हुए बारह से पन्द्रह अध्याय तक रस निरूपण किया है। काव्य मे रस की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया है। किन्तु काव्य–सौन्दर्य के लिए अलङ्कारों को ही अधिक महत्त्व दिया है।
अलङ्कारों के विशद निरूपण के साथ ही रस का स्वतन्त्र रूप से निरूपण वस्तुतः **रूद्रट** को साहित्य शास्त्र में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करता है। इन्होंने रीति के भी चार भेद गौडी, लाटी, पाञ्चाली तथा वैदर्भी बताये किन्तु, इनके ग्रन्थ में गुणों का विवेचन न होना आश्चर्य जनक है। इनके भाव अलङ्कार को परवर्ती **ध्वनिवादी** आचार्यों ने 'ध्वनि' में अन्तर्भुक्त माना है। नौ रसों के विवेचन के साथ ही इन्होंने सर्वथा नवीन दसवे 'प्रेयान्' नामक रस का भी निरूपण किया हैं।

प्राचीन आचार्य **अग्निपुराण** को प्रथम काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ स्वीकार करते हैं। किन्तु प्रमाणों द्वारा सिद्ध हो चुका है कि यह बहुत बाद की रचना है।[1] तथापि प्रस्तुत स्थल पर अग्नि पुराण पर विचार करना समीचीन है।**अग्निपुराण** के ३३७ से ३४७ तक के ग्यारह अध्यायों में काव्यशास्त्र से सम्बद्ध सामग्री का सङ्कलन है। भारतीय व पाश्चात्य समालोचकों ने इसे 'विश्वकोष' कहा है। इसमें धर्म, संस्कृति, औषधि विज्ञान, ज्योतिष् आदि शास्त्रों से सम्बन्धित सामग्री भी दी गयी है।[1]

अग्निपुराण के रचयिता अग्नि है। ऐसा उल्लेख इस ग्रन्थ में ही प्राप्त होता है। आधुनिक समालोचक इसका खण्डन करते हैं। उनके अनुसार भिन्न–भिन्न समयों पर भिन्न–भिन्न लेखकों ने इसे लिखा व संकलित किया तथा अन्तिम रूप से सङ्कलन सम्पादन **महर्षि व्यास** ने किया।

अग्निपुराण के समय के विषय में प्राचीन व अर्वाचीन आचार्यो के मत में भिन्नता है। प्राचीन आचार्य इसे **भरत** से भी पूर्व की रचना मानते हैं। जबकि अर्वाचीन समालोचकों के मत में यह **भोज** के भी पश्चात् की रचना है।[2]

---

१. *काकुवक्रोक्तिर्नाम शब्दालङ्कारोऽयम् इति। रूद्रट।*
–राजशेखर, काव्य मीमासा ३/३१।

२. क) *पी० वी० काणे, संस्कृत काव्य–शास्त्र का इतिहास, पृ० ८१–८२।*
ख) *आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ५१।*
ग) *विण्टरनिट्ज, ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर (प्रथम भाग) पृ० ५६६।*

२. *एस. के. डे. , हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स – पृ० २५४।*

प्रस्तुत प्रसड्ग में उल्लेखनीय है कि ध्वनिकार ने अपने ग्रन्थमे इसका उल्लेख नहीं किया है। **आचार्य विश्वनाथ** (१४वीं शती) मे सर्वप्रथम इसे प्रमाण रूप मे प्रस्तुत किया। इससे स्पष्ट होता है। कि ध्वनिकार के समय तक या तो यह ग्रन्थ रचा ही नहीं गया था और यदि प्रणीत हो चुका था तो प्रचलित नहीं था।

पी०वी० काणे महोदय ने भी लिखा है कि **मम्मट** ने **विष्णु पुराण** का उल्लेख किया किन्तु **अग्निपुराण** का नहीं । इसके अतिरिक्त **आनन्द वर्धन**, **अभिनव गुप्त** तथा **भामह** व **दण्डी** ने भी इसका उल्लेख नहीं किया। अत· **अग्निपुराण भरत, भामह, दण्डी, आनन्दवर्धन** व **भोज** के भी बाद की रचना है और यह अलड्कार शास्त्र का प्रथम ग्रन्थ भी नही है।[1]
काव्यादशकार **दण्डी** का समय लगभग सातवी 'सदी' माना जाता है तथा **आचार्य भोज** का समय ग्यारहवीं सदी का मध्यभाग माना जाता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि **अग्निपुराण** का रचना–काल सातवीं शताब्दी के पश्चात् तथा ग्यारहवीं शताब्दी के पहले सम्भवत· नवीं शताब्दी या उसके पश्चात् का होगा [2] **हाजरा** महोदय भी **अग्नि पुराण** को नवीं शताब्दी की रचना स्वीकार करते हैं।[3]

अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग प्राचीन सिद्धान्तों का सड्कलन मात्र है उल्लेखनीय है कि **अग्निपुराण** के काव्यशास्त्रीय अंश में कही–कहीं काव्य–तत्त्वों का सूक्ष्मता से निरूपण किया गया है। जिससे यह कहना समीचीन है कि इस अंश का सड्कलन कर्ता [illegible] का गम्भीर विद्वान् था।[4] **अग्निपुराण** के काव्यशास्त्रीय अंश का उपजीव्य **भामह** व **दण्डी** के ग्रन्थों को माना जा सकता है।[5] **अग्निपुराण** मे काव्य, नाट्य रस, रीति, अलड्कार, गुण तथा दोषों पर विचार किया गया है।
ध्वनि–सिद्धान्त की उद्भावना व प्रतिष्ठा करने वाले **आचार्य आनन्द वर्धन** काव्य–शास्त्र के इतिहास मे अतिमहत्त्वपूर्ण आचार्य हैं। ध्वनि–सिद्धान्त के आधार पर इन्होंने काव्य–शास्त्र के प्राय सभी तत्त्वों का गम्भीरतम चिन्तन किया। इन्होंने प्राचीन आचार्यों के मत की गम्भीर तर्कसड्गत समालोचना के पश्चात् अपने मत को प्रस्तुत करके समालोचना के नवीन मार्ग को उद्घाटित किया।

आचार्य [illegible] कवि, समालोचक तथा दार्शनिक थे। ये अवन्ति वर्मा के राज्य काल मे हुए थे। ऐसा **कल्हण** की **राजतरङ्गिणी** से स्पष्ट होता है।[6] इस काल मे इन्होने प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी। इस प्रकार इनका काल नवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध निर्धारित होता हैं। साहित्यशास्त्र पर इनकी प्रसिद्ध रचना **ध्वन्यालोक** है। इसमें चार उद्योत है। प्रथम में ध्वनि की स्थापना, द्वितीय में अविवक्षित (लक्षणामूला) तथा विवक्षित (अभिधामूला) वाच्य ध्वनि के भेदोपभेदों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। रसध्वनि के निरूपण में ही इन्होंने गुण के तीन भेद, अलड्कार व गुण का भेद भी स्पष्ट किया। रस व रसवद् अलड्कार के अन्तर को भी स्पष्ट किया। तृतीय उद्योत में व्यंग्यार्थ व व्यञ्जक के भेद से ध्वनि के भेद संघटना की व्यञ्जकता, रस बन्ध औचित्य, रसाभिव्यक्ति के विरोध का परिहार, वृत्ति, गुणीभूत तथा चित्र [illegible] निरूपण किया गया। चतुर्थ उद्योत में कवि अपनी प्रतिभा से ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य के प्रयोग के द्वारा कविता मे अपूर्व चत्कार उत्पन्न कर सकता है, इसका निरूपण किया गया है।

---

१. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स पृ० १–१०।

२. क) पी० वी० काणे, हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स पृ०–६।
ख) बलदेव उपाध्याय, पुराण –विमर्श पृ०–५५२।
ग रामशंकर भट्टाचार्य अग्निपुराण विषयानुक्रमणी पृ०–१३।

३ पुराणिक रेकार्ड्स पृ०–१३८।

४. बलदेव उपाध्याय, अ० पु० प्राक्कथम, पृ०– ३६।

५. काणे– साहित्य दर्पण, प्रस्तावना, पृ०– ५।

६ मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धन।
प्रथां [illegible]गत् साम्राज्ये[illegible] ।।
–कल्हण, राजतरङ्गिणी ५/३४।

ध्वन्यालोक के तीन भाग हैं– सूत्र वृत्ति तथा उदाहरण इसमे सूत्र तथा वृत्तिकार **आनन्दवर्धन** ही है। उदाहरण कुछ उनके ही ग्रन्थो के है कुछ अन्यत्र से लिए गये हैं।

आचार्य आनन्द वर्धन ने सर्वप्रथम रसोके विरोध- अविरोध प्रकरण मे रसदोषो का उल्लेख किया। काव्य के अन्य तत्त्वो – अलङ्कार, गुण रीति, वृत्ति आदि का भी भलीभाति प्रतिपादन किया। पूर्ववर्ती आचार्यो की परम्परागत अलड्कार निरूपण आदि शैली से पृथक् नवीन शैली मे अपने ग्रन्थ की रचना की।

भरत–रस–सूत्र के व्याख्याकार तथा ध्वनि सिद्धान्त के विरोधी **आचार्य भट्टनायक** का काव्य–शास्त्र के इतिहास मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। रस–निष्पत्ति तथा ध्वनि सिद्धान्त के खण्डन मे इन्होने सर्वथा नवीन दृष्टिकोण को प्रतिपादित किया है।

इन्होने ध्वनिकार के मत का खण्डन किया है तथा **आचार्य अभिनव गुप्त** ने इनके मत का खण्डन किया है। इससे ये ध्वनिकार **आनन्दवर्धन** के परवर्ती व **अभिनव गुप्त** के पूर्ववर्ती हैं, यह निर्धारित होता है। इस प्रकार इनका समय दशवीं शती का मध्य माना जा सकता है। इनके एक मात्र ग्रन्थ **'हृदय दर्पण'** का उल्लेख परवर्ती काव्य–शास्त्रकारो ने किया है। यह ग्रन्थ अप्राप्त है। ग्यारहवीं शताब्दी के **महिमभट्ट** जो ध्वनि–विरोधी आचार्य हैं, उन्हे भी यह ग्रन्थ प्राप्त नहीं हो सका था।[१] इन्होने रसानुभूति के लिए दो नवीन व्यापारो भावकत्व व भोजकत्व तथा साधारणीकरण की कल्पना की है। इनके अनुसार अभिधाव्यापार के द्वारा काव्य का सामान्य अर्थ उपस्थित होता है, भावकत्व व्यापार के द्वारा साधारणीकरण होता है तथा भोजकत्व व्यापार सामाजिक को रसानुभूति कराता है। इनका मत 'भुक्तिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है।[२] इन्होंने व्यञ्जना व्यापार का खण्डन किया है।

रसानुभूति में साधारणीकरण तथा सामाजिक की रसानुभूति का निरूपण करने के कारण परवर्ती आचार्यों ने उन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। यद्यपि परवर्ती **अभिनव गुप्त** आदि ने इनके मत का खण्डन किया है तथापि पूर्वोक्त साधारणीकरण तथा सामाजिक की रसानुभूति का प्रतिपादन इनकी काव्य–शास्त्र को महत्त्वपूर्ण देन है।

काव्य–शास्त्र में काव्य–पुरूष का निरूपण करने वाले **आचार्य राजशेखर** ने पूर्ववर्ती आचार्यों से सर्वथा भिन्न ग्रन्थ की रचना की है। इन्होने साहित्य–शास्त्र की स्वतत्र विवेचना नहीं की है। कवि के लिए उपयोगी प्राय सम्पूर्ण तत्त्वों का प्रतिपादन इन्होने किया है।

आचार्य राजशेखर कन्नौज के प्रतिहार वंशी राजा महेन्द्रपाल व महिपाल के गुरू थे। इन राजाओं का समय क्रमश ९०३ ई० तथा ९१७ ई० माना जाता है।[१] **राजशेखर** ने **आनन्दवर्धन** का उल्लेख किया है। इनका समय नवीं शती का उत्तरार्ध है। इस आधार पर भी राजशेखर का समय दसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। काव्य–शास्त्र विषयक इनका ग्रन्थ **काव्य–मीमांसा** है। इसके १८ अधिकरण थे। किन्तु, वर्तमान समय मे मात्र प्रथम अधिकरण 'कविरहस्य'[२] ही प्राप्त है। इसमें अट्ठारह अध्याय हैं। प्रथम 'शास्त्र सङ्गह' नामक अध्याय मे शास्त्रकार ने प्रतिपादित किया है कि शिव ने ब्रह्मा को काव्य का उपदेश दिया व ब्रह्मा ने अपने

---

१ *सहसा यशोऽभिसर्त्तुं समुद्यताऽदृष्टदर्पणामम धी।*
स्वालङ्कारविकल्पप्रकल्पने वेत्ति कथमिवावद्यम्।।
दर्पण. हृदयदर्पणाख्यो ध्वनि ध्वसग्रन्थोऽपि।
–महिमभट्ट, व्यक्ति विवेक।

२ *द्रष्टव्य विस्तृत विवेचन प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, अध्याय तीन, पृ०*

१ *सियोदोनीशिलालेख के आधार पर।*
–अलङ्कार शास्त्र–का इतिहास, श्री कृष्ण कुमार पृष्ठ १५०।

२. समाप्तमिदंप्रथमाधिकरण कविरहस्य नाम काव्यमीमांसायाम्।
–राजशेखर, काव्यमीमासा के अन्त में।

शिष्यो को ब्रह्मा के शिष्यो मे एक शिष्य **काव्य–पुरूष** था। उसने अट्ठारह शिष्यो को अट्ठारह विषय पढाये। प्रत्येक शिष्य ने अपने विषय पर ग्रन्थ लिखे उन्हे यायावरीय राजशेखर ने एक ही ग्रन्थ मे सङ्क्षेप मे लिख दिया। द्वितीय अध्याय 'शास्त्र निर्देश' है। इसमे वाङ्मय का भेदादिकरके अलङ्कार शास्त्र को सातवॉ वेदाङ्ग बताया गया है। विद्याओ की सङ्ख्या तथा सूत्र, भाष्य आदि शब्दो के लक्षण भी इस अध्याय मे बताये गये हैं। तृतीय अध्याय मे काव्य पुरूष की उत्पत्ति, विवाह, भ्रमण, उससे वृत्ति, प्रवृत्ति आदि की उत्पत्ति आदि का वर्णन है। इसका नाम –'काव्य पुरूषोत्पत्ति' है, चतुर्थ अध्याय 'शिष्य प्रतिभ' है। इसमे शिष्य के भेद आदि के निर्देश के साथ ही 'शक्ति' को काव्य–रचना का हेतु बताया गया है। इसी प्रकार अपने वर्ण्य विषय के आधार पर अध्यायो का नामकरण किया गया है। वस्तुत यह ग्रन्थ कवियो के लिए अति उपयोगी है। इसमे कवियो को किस प्रकार काव्य–रचना की जानी चाहिए इसका विशद विवेचन है। उल्लेखनीय है कि इसमे काव्य–शास्त्रीय तत्त्वो के अतिरिक्त भौगोलिक–विवरण भी दिया गया है यहॉ तक कि ऋतुओ पवनो, पुष्पों आदि के विषय मे भी बताया गया है कि इनके अनुसार कवि को काव्य रचना करनी चाहिए।

यह ग्रन्थ गद्य मे लिखा गया है। कहीं कहीं उदाहरण आदि श्लोक रूप मे हैं। इसमे अलङ्कार, गुण, दोष, रस आदि का निरूपण नहीं है। सम्भवत इन्होने अन्य अधिकरणो मे इसका निरूपण किया होगा जो इस समय अप्राप्त हैं। इसे काव्य रचना का व्यावहारिक ज्ञान कराने वाला आलोचनात्मक ग्रन्थ कहा जा सकता है। अलङ्कार–शास्त्र के इतिहास की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ उपयोगी है। यद्यपि **काव्य-मीमांसा** के सम्पूर्ण अधिकरणों के प्राप्त होने पर ही **आचार्य राजशेखर** के सिद्धान्त को निर्देश किया जा सकता है। तथापि उपलब्ध प्रथम अधिकरण के आधार पर इन्हे कवि शिक्षा–परक ग्रन्थ का प्रवर्तक माना जा सकता है।

'नाट्य–शास्त्र' तथा **'ध्वन्यालोक'** पर [illegible] टीका लिखने वाले **आचार्य अभिनव गुप्त** का काव्य–शास्त्र में अद्वितीय स्थान है। इन टीकाओं की विशेषता इसी से ज्ञात होती है कि इन्हे मौलिक ग्रन्थो की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया जाता है।

इनका समय विवादित नहीं है क्योंकि इन्होने अपनी कुछ रचनाओं में रचना–काल लिखा है। **'ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविवृत्ति विमर्शिनी'** मे उसकी रचना का समय ४११५ कलि वर्ष तथा १० लौकिक वर्ष (१०१४ ई०) दिया गया है। 'भैरवस्तव' मे रचना–काल ६८ लौकिक वर्ष (९९२–९९३ ई०) लिखा है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी लिखा है कि उन्होंने साहित्य का अध्ययन **अभिनव गुप्त** से किया था। **क्षेमेन्द्र** का समय ग्यारहवीं शती का पूर्वार्ध है। इस प्रकार अन्त· तथा वाह्य साक्ष्यों के आधार पर इनका समय दसवीं शती का उत्तरार्ध निश्चित होता है।

आचार्य अभिनव गुप्त ने काव्य–शास्त्र पर स्वतन्त्र रचना न करके टीकाए ही लिखी। काव्यशास्त्र पर इनके तीन ग्रन्थ है।– **'ध्वन्यालोकलोचन' 'अभिनव भारती'** तथा **'काव्यकौतुक** विवरण'। इसमें **काव्य–कौतुक विवरण' अभिनव गुप्त** के **गुरूभट्ट तौत** की **काव्यकौतुक'** नामक रचना की टीका है। यह अनुपलब्ध है किन्तु इसका उल्लेख **'ध्वन्यालोक लोचन'** तथा **'अभिनव भारती'** में किया गया है।

'ध्वन्यालोकलोचन' आचार्य आनन्द वर्धन की रचना **'ध्वन्यालोक'** पर लिखी गयी टीका है। इसमे **आनन्द वर्धन** के मत की प्रस्थापना की गयी। ध्वनि के विषय में विस्तार पूर्वक विचार करने के साथ ही इसमें ध्वनि–विरोधी आचार्यों के मत का दृढतापूर्वक खण्डन किया गया है। 'अभिनवभारती' **नाट्यशास्त्र** पर लिखी यी टीका है। यह पूर्णरूप में वर्तमान समय मे प्राप्त नहीं है। इसमें 'नाट्य–शास्त्र' की सूक्ष्मता व मौलिकता से व्याख्या की गयी है। रस–निष्पत्ति के व्याख्याकारों के विचार को इसमे प्रस्तुत करके उनकी परीक्षा भी की गयी है। **भरत** के रस–सूत्र की व्याख्या का आधार यही टीका है।

आचार्य अभिनव गुप्त के मत का परवर्ती काव्यशास्त्रकारो ने समर्थन किया है। इन्होने **आनन्द वर्धन** के मत को दृढ आधार पर स्थापित किया इनका महत्त्व इसी से ज्ञात हो जाता है कि **'ध्वन्यालोक'** व **'नाट्य–शास्त्र'** का अध्ययन 'लोचन' व 'भारती' के बिना अपूर्ण है।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के सस्थापक के रूप मे **आचार्य कुन्तक** का काव्य–शास्त्र के इतिहास मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका समय दसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है। इन्होने ध्वनिकार **आनन्दवर्धन** (८५० ई०) का खण्डन किया है तथा **आचार्य महिमभट्ट** (ग्यारहवी शती) ने स्पष्टत इनका नामोल्लेख किया। यह भी उल्लेखनीय है कि **आचार्य अभिनव गुप्त** तथा **कुन्तक** ने एक दूसरे के मत या नाम का उल्लेख नहीं किया है। इस आधार पर इन्हे समकालीन माना जाता है।[1]

'वक्रोक्ति जीवितम्' आचार्यकुन्तक की एकमात्र रचना है। इसमे कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण तीन भाग है। इसमे चार उन्मेष है। इसमे प्रथम उन्मेष मे अलकार–अलकार्य, काव्य व साहित्य का लक्षण, प्रतिपाद्य विषय वक्रोक्ति का लक्षण व भेद, वैचित्य के गुण, भेद, औचित्य तथा सौभाग्य का निरूपण है। द्वितीय उन्मेष मे वक्रोक्ति के तीन भेदो – [illegible] वक्रता, पदपूर्वार्द्धवक्रता तथा प्रत्यय वक्रता का वर्णन किया गया है। तृतीय उन्मेष मे वाक्य वक्रता की विवेचना तथा अलङ्कारों का अन्तर्भाव प्रतिपादित किया गया है। इन्होने वाक्यवक्रता मे अलकारो को अन्तर्भुक्त माना है।[2] चतुर्थ उन्मेष मे प्रकरण तथा प्रबन्ध वक्रता को निरूपित किया गया है। वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानते हुए इन्होने रस, अलङ्कार तथा ध्वनि को इसी में अन्तर्भावित किया।

ध्वनि–सिद्धान्त का खण्डन करने के उद्देश्य से ही ग्रन्थ की रचना करने वाले **आचार्य महिमभट्ट** काव्य–शास्त्रकारो मे अपना पृथक् स्थान रखते हैं। इनका काल ग्यारहवीं शती माना जाता है। ये **कुन्तक** (दशवीं शती का उत्तरार्द्ध) के परवर्ती तथा रूय्यक (१२वीं शती का मध्य) के पूववर्ती हैं।[3] **रूय्यक** ने **'व्यक्ति विवेक'** की टीका लिखी है।

साहित्य शास्त्र पर इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ **'व्यक्ति–विवेक'** है। इसमें तीन विमर्श हैं। प्रथम में ध्वनि के लक्षण दोषो का निदर्शन किया है। अभिधाशक्ति का [illegible] करते हुए व्यङ्ग्यार्थ को अनुमेय बताया है। द्वितीय विमर्श में अनौचित्य को काव्य का मुख्य दोष मानकर उसके अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग दो भेद किये हैं। अन्तरङ्ग अनौचित्य में रस–दोषों का समावेश किया जा सकता है। तृतीय विमर्श में ध्वनि के चालीस उदाहरणों का अनुमान मे अन्तर्भाव प्रतिपादित किया गया है।

आचार्य महिमभट्ट का दोष–विवेचन मौलिक है। इन्होंने अर्थ व शब्द के आधार पर दोषों का भेद किया। इनका दोष–विवेचन वैज्ञानिक व मौलिक है। यद्यपि परवर्ती आचार्यो ने इनके मत का खण्डन किया हैं। किन्तु इनकी विद्वता, मौलिकता तथा सूक्ष्मदृष्टि को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

धाराधिपति **भोजराज** एक विद्वान् कवि, समालोचक तथा विविध विज्ञानों के ज्ञाता थे। ये कवियों के आश्रय दाता रूप मे भी प्रसिद्ध हैं। इनका समय ग्यारहवीं शती का उत्तरार्द्ध माना जाता है। **परिमल** कवि कृत 'नवसाहसाङ्कचरितम्' मे भोज का काल १०१० से १०५५ ईस्वी तक बताया गया हैं।स्वयं **भोजराज** ने अपने ज्योतिष् विषयक ग्रन्थ 'राजमृगाङ्क' का रचनाकाल ९६४ शक संवत् (१०४२–१०४३ ईसवी) लिखा है।

अलङ्कार शास्त्र पर इनकी दो रचनायें प्राप्त होती है। सरस्वती कण्ठाभरण व शृगार–प्रकाश। सरस्वती कण्ठाभरणम् मे पॉच परिच्छेद है। प्रथम परिच्छेद में काव्य का लक्षण व प्रयोजन दोष, गुण तथा अलङ्कारो व साहित्य के छ भेद बताये गये हैं। तृतीय परिच्छेद मे अर्थालङ्कारों की विवेचना है। चतुर्थ मे उभयाङ्कारों का प्रतिपादन किया गया है तथा पञ्चम में रस का निरूपण किया गया। इसी परिच्छेद मे भाव, नायिका–नायक भेद, सन्धियो तथा वृत्तियों का भी निरूपण किया है।

---

1. *पी० वी० काणे, सस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास*
2. *वाक्यस्य वक्रभावो-न्योविद्यते यः सहस्रधा।*
   यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोप्यन्तर्भविष्यति।।
   –कुन्तक, वक्रोक्ति जीवितम् १/२०।
3. *बलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्य शास्त्र, प्रथम खण्ड–पृ० ८८ द्वितीय सस्करण।*

यह ग्रन्थ प्राचीन आचार्यों के मतो को एकत्रित करके उन्हें समन्वित करता हैं। इसमे ग्रन्थकार ने २४ शब्द व २४ अर्थ गुण तथा छ प्रकार की रीतियो वैदर्भी पाञ्चाली, गौडिया, आवन्तिका, लाटीया तथा मागधी का निरूपण कर इन्हे शब्दालङ्कार माना । इस प्रकार एक नवीन मत को प्रस्तुत किया।

शृगार–प्रकाश एक वृहद् ग्रन्थ है। इसमे ३६ अध्याय हैं। प्रथम से छ तक व्याकरण सम्बद्ध हैं। सातवे व आठवे मे विभिन्न शक्तियों का निरूपण है। नवे प्रकाश में दोषो के त्याग व गुणो के ग्रहण का दसवे मे अलङ्कारो का तथा ग्यारहवे प्रकाश से पच्चीसवे प्रकाश तक रस, अनुभाव आदि का निरूपण है। इन्होंने शृगार रस का ही मात्र निरूपण किया और धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष रूप से शृंगार के चार भेद किये। छब्बीसवा प्रकाश अप्राप्त है। सत्ताइसवें तथा अट्ठाइसवे मे दूत–सन्देश आदि का वर्णन तीस से छत्तीस प्रकाश तक प्रवासोपवर्णन, करूण रस विनिर्णय, सयोग का स्वरूप व भेद प्रतिपादित है।

भोजराज ने रस पर विस्तृत विचार किया किन्तु इन्होंने अलङ्कार आदि के समान रस को भी काव्य–शोभावर्द्धक माना है।[1] **शृगार–प्रकाश** मे दोषो के त्याग व गुणों के ग्रहण कर गम्भीरता से विचार किया गया हैं।

औचित्य मार्ग की प्रतिष्ठा के कारण **आचार्य क्षेमेन्द्र** का नाम काव्य–शास्त्र के इतिहास मे प्रसिद्ध है। इन्होंने अपनी रचनाओं में अपने वश तथा समकालीन राजाओ आदि का वर्णन किया है। इन्होंने समकालीन दो राजाओ **अनन्त** (१०२८ ईसवी से १०६३ ई० तक) तथा **कलश** (१०६३ ईसवी से १०८९ ईस्वी तक) का उल्लेख किया है। इन्होंने **आचार्य अभिनव गुप्त** से साहित्य का अध्ययन किया था। इनका समय ग्यारहवीं शती के पूर्वादर्ध से ग्यारहवीं शती के उत्तरादर्ध तक माना जा सकता है।

काव्य–शास्त्र पर इनकी तीन पुस्तकें हैं। **औचित्यविचार र्चा, [illegible]भरण** तथा **[illegible]तिलक**। **औचित्यविचारचर्चा** में १६ कारिकायें हैं। इसकी वृत्ति भी **आचार्य क्षेमेन्द्र** ने ही लिखी है। इसमें औचित्य को रस सिद्ध काव्य का प्राण कहा गया हैं। इसमें औचित्य के २७ क्षेत्रों का निरूपण किया गया है। इसके साथ ही इसके भेदो व प्रभेदो की भी व्याख्या की गयी हैं।

कवि[illegible]ण ग्रन्थ कविशिक्षा पर आधृत है। इसमें ५५ कारिकायें हैं। **सुवृत तिलक** में छन्दों का वर्णन है इसे औचित्य विचार चर्चा ग्रन्थ का पूरक ग्रन्थ कहा जा सकता है।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य की आत्मा रूप में स्थापित करके औचित्य सम्प्रदाय की स्थापना की। पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी औचित्य के महत्त्व को स्वीकार किया था।[2] किन्तु आत्मा रूप में इसकी स्थिति का समर्थन पूर्ववर्ती व परवर्ती किसी आचार्य ने नहीं किया है।

पूर्ववर्ती प्रायः सम्पूर्ण काव्य–शास्त्रकारों के मत का सङ्ग्रह करके, उनकी स्पष्ट व तर्क–सङ्गत आलोचना तथा समर्थन करके अपना मत प्रस्तुत करने, सारगर्भित व सङ्क्षेप में लक्षणादि का निरूपण करने तथा विषय–[illegible] की नवीन शैली की उद्भावना करने के कारण **आचार्य मम्मट** का काव्य–शास्त्रकारों में अपूर्व तथा विशिष्ट स्थान है।

आचार्य मम्मट ने धाराधिपति **भोजराज** का नामोल्लेख किया है।[3] इनका समय १०१० ईस्वी से १०५५

---

१. *तत्र [illegible]रान् इत्यनेन श्लेषोपमादिवत् [illegible]णरसतदाभासप्रशमादीनप्युपगृहणाति।*
—भोजदेव, सरस्वती कण्ठाभरण, काव्यमाला सीरीज न० ६४ पृ० ७०३।

२ *अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।*
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्यौपनिषत्परा।।
—आनन्द वर्धन, ध्वन्यालोक— ३/१४ की वृत्ति।

२ *भोजनृपतेस्तत्यागलीलायितम्।*
—द्रष्टव्य, मम्मट, काव्यप्रकाश, १०/३०५ उदा०।

ईस्वी तक माना जाता है। अत .... इनके पूर्ववर्ती हैं। **माणिक्यच..** ने ११६० ईस्वी मे काव्य–प्रकाश की सकेत नामक टीका लिखी थी।[१] इस प्रकार ये **मम्मट** के परवर्ती है। अत निर्विवाद रूप से **मम्मट** का समय ग्यारहवीं शती का उत्तरादर्ध सिद्ध होता है।

काव्य–प्रकाश इनकी प्रसिद्ध काव्य–शास्त्रीय रचना है। यहा यह उल्लेखनीय है कि **आचार्य मम्मट** ने परिकर अलङ्कार पर्यन्त ही 'काव्य–प्रकाश' की रचना की है। इसके पश्चात् का शेषाश **आचार्य अल्लट** ने पूर्ण किया है, यह सर्वमान्य मत है। **आचार्य अल्लट** राजानक जयानक के पुत्र थे। उन्होने **रत्नाकर** कवि प्रणीत **हर विजय** काव्य पर विषम पदोद्योत नामक टिप्पणी लिखी थी।[२]

काव्यप्रकाश के कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण तीन भाग है। दस उल्लास हैं। काव्य लक्षण[३] के आधार पर ही दसों उल्लासों में सभी विषयों का प्रतिपादन किया गया है। प्रथम में काव्य के प्रयोजन, हेतु, लक्षण तथा भेदों का निरूपण है। द्वितीय उल्लास में शब्दशक्तियो अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना, उसके वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक तीन प्रकार के शब्द भेदों एवं वाच्य लक्ष्य व व्यग्य तीनों अर्थों का निरूपण है। तृतीय उल्लास में व्यञ्जनाशक्ति के आर्थी व्यञ्जना भेद का विवेचन है। चतुर्थ उल्लास में ध्वनि–काव्य के भेद बताये गये हैं। इसी उल्लास में ध्वनिकाव्यके भेदों के अन्तर्गत रस ध्वनि, वस्तु ध्वनि तथा अलङ्कार ध्वनि का विवेचन है। यहाँ ध्वनि के अन्य तीन भेदों –शब्दशक्तिउक्त, अर्थशवितउक्त तथा उभय शक्तिउक्त का भी विवेचन है पञ्चम उल्लास में गुणी भूत व्यङ्ग्य काव्य के भेद, प्रतीयमान अर्थ की व्यञ्जना वृत्ति द्वारा प्रतीति तथा व्यञ्जना वृत्ति का खण्डन करने वालों का सतर्क खण्डन किया गया है। षष्ठ उल्लास में अधम काव्य के भेदों का निरूपण है। सप्तम उल्लास में दोष–निरूपण है। इसमें दोष के नित्य व अनित्य भेदों का निरूपण भी किया गया है। पद, पदांश, वाक्य, अर्थ तथा रस इन पाँच वर्गों में दोषों का निरूपण किया गया। इस उल्लास में दोष परिहार का भी विस्तृत विवेचन है। अष्टम उल्लास में गुण–विवेचन है। इसमें अलङ्कार व गुण में अन्तर स्पष्ट किया गया है। तीन गुणों माधुर्य, ओज तथा प्रसाद में पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिपादित गुणों का अन्तर्भाव भी किया गया। नवम उल्लास में श..लङ्कारा तथा दसवे उल्लास में अर्थालङ्कारों का वर्णन है।

काव्य–प्रकाश काव्य–शास्त्र पर लिखा गया उत्कृष्ट, पूर्ण व प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। परवर्ती काव्य–शास्त्रकारों पर **मम्मट** का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। इन्होंने काव्य के प्रत्येक तत्त्व का सूक्ष्म विवेचन किया है। **आचार्य मम्मट** ने ध्वनि की पुन स्थापना की है। इन्होंने ही रस दोषों को अर्थ–दोषों से पृथक् रूप मे निरूपित किया है। दोष के स्वरूप, भेद तथा रस–दोषों का स्पष्ट विवेचन करने वाले ये प्रथम आचार्य हैं।

अलङ्कारों का व्यापक रूप से निरूपण करने वाले **आचार्य रूय्यक** उत्तरवर्ती ...शास्त्रकारा के लिए प्रेरणा स्रोत बने रहे।

आचार्य रूय्यक का समय बारहवीं शताब्दी का पूर्वादर्ध माना जाता है। **मङ्ख कवि** ने **'श्रीकण्ठचरित-'** काव्य के अन्तिम सर्ग में इन्हे गुरू के रूप में उल्लिखित किया है। **मङ्ख** कश्मीर नरेश जयसिह के आश्रित थे। जयसिंह का शासन काल ११२८–११४८ ईस्वी है।

आचार्य रूय्यक के काव्य–शास्त्रीय ग्रन्थ–**अलङ्कार सर्वस्व, काव्य–प्रकाश सङ्केत, व्यक्ति विवेक–विचार** है। **अल ..ार सर्वस्व** में बयासी अलङ्कारों का विशद निरूपण है। पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का समन्वय करने के साथ ही मौलिकता इसमें पायी जाती है। **आचार्य रूय्यक** का अलङ्कार वर्गीकरण विशिष्ट हैं।

---

१. *रसवक्त्रग्रहाधीशवत्सरे (१२२६ विकमी, ११६० ईस्वी) मासिमाधवे।*
काव्ये काव्यप्रकाशस्य सङ्केतोऽयं समर्थितः। माणिक्य चन्द्र, सङ्केत।

२. *म. म. काणे १०५०–११०० ई०*

३. *तददोषौ शब्दार्थौ स..णावनलङ्कृती पुनः क्वापि।*
–मम्मट, काव्य प्रकाश, १/४।

यद्यपि इन्होंने शब्द व अर्थ दो रूप मे ही चित्र काव्य का विभाजन किया किन्तु अलङ्कारो के कम तथा प्रतिपादन शैली से इनके विशिष्ट वर्गीकरण का ज्ञान होता है। **आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी जी** ने इसे अपनी व्याख्या में प्रस्तुत किया है।[1] **आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी** ने अलकार सर्वस्व को परवर्ती अनुवीक्षा तथा समीक्षा हेतु परवर्ती आचार्यों के लिए मेरूदण्ड सदृश माना है।

आचार्य रूय्यक ने भूमिका मे पूर्ववर्ती आचार्य काव्य में किस तत्त्व को प्रधान या आत्मा रूप मे स्वीकार करते है। इसका उल्लेख करके अन्त में **ध्वनिकार** के मत में अपनी सहमति प्रस्तुत की है। पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्यात्मा सम्बद्ध विचार को प्रस्तुत करने के कारण इन्हे सम्प्रदायवाद का उद्‌भावक आचार्य माना जाता हैं

विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सरल शैली में काव्य–तत्त्वों की विवेचना करने के कारण **आचार्य जयदेव** काव्य–शास्त्र के क्षेत्र मे प्रसिद्ध है। वाहय साक्ष्यों के आधार पर **आचार्य जयदेव** का समय १२०० ईस्वी तथा १३०० ईस्वी **के मध्य** निर्धारित किया जाता है। इन्होंने **आचार्य मम्मट** के काव्य लक्षण के अनलङ्कृती[2] शब्द का खण्डन किया तथा **आचार्य विश्वनाथ** ने इनके **'अनर्घराघव'** नाटक के श्लोक को साहित्य दर्पण में उद्‌धृत किया।[3] **इससे ये मम्मट** (ग्यारहवीं शती का उत्तराद्‌र्ध) के परवर्ती तथा **विश्वनाथ** (१३००–१३८४ ईस्वी) के पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं।

च- ।लाक इनका प्रसिद्ध काव्य–शास्त्रीय ग्रन्थ है। इसमें दस मयूख हैं। प्रथम मयूख में काव्य की परिभाषा हेतु तथा रूढ, यौगिक व योग रूढ तीन प्रकारों का विवेचन है। द्वितीय में दोष, तृतीय मे लक्षण नामक काव्यङ्ग का निरूपण, चतुर्थ में गुण, पंचम में अलङ्कार, षष्ठ में रस, भाव रीति तथा वृत्तियाँ, सप्तम में व्यञ्जना वृत्ति व ध्वनि–भेद, अष्टम मयूख मे गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के भेद तथा नवम व दशम मयूख में कमशः लक्षणा व अभिधा का निरूपण हैं। इनका 'अलङ्कार–निरूपण' विशिष्ट है। अनुष्टुप् छन्द के पूर्वाद्‌र्ध में लक्षण तथा उत्तराद्‌र्ध में उदाहरण देने के के कारण विद्यार्थियों के लिए लक्षण व उदाहरण को स्मरण करने की सुविधा होती है। इसी विशेषता के कारण इनका ग्रन्थ विद्यार्थियों व काव्य– [illegible] **दोनों में लिए लोकप्रिय है।**

स्वरचित उदाहरणों के कारण आचार्य विद्याधर काव्य [illegible] **में प्रसिद्ध हैं। आचार्य विद्याधर ने उत्कल नरेश नरसिंह की स्तुति रूप में ही उदाहरणों की रचना की है। किन्तु उत्कल में केसरी नरसिंह तथा प्रताप नरसिंह नामक दो राजा थे। इन्होंने स्पष्टत. इनका नामोल्लेख नहीं किया है। इन दोनों राजाओं का समय कमशः १२८२–१३०७ ईस्वी तथा १३०७–१३२७ ईस्वी तक था। यदि विद्याधर को इनके मध्यकलीन का माना जाय तो उनका समय तेरहवीं का उत्तरार्ध व चौदहवीं का पूर्वाद्‌र्ध होता है। इन्होंने 'नैषधीयचरितम्' के रचयिता श्री हर्ष का भी उल्लेख किया है।** इनका काल १२ वीं शती का उत्तराद्‌र्ध है।
काव्य–शास्त्र पर इनकी रचना [illegible] **हैं इसमें आठ उन्मेष हैं। प्रथम में काव्य–हेतु व स्वरूप, द्वितीय में** तीन प्रकार के शब्द, अर्थ व शब्द शक्तियों का विवेचन है, तृतीय में ध्वनि का स्वरूप व भेद, चतुर्थ में गुण[illegible], पंचम में तीन गुणों तथा तीन रीतियों– वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली का निरूपण है। षष्ठ उन्मेष मे दोष, सप्तम में श- ।लङ्कारा तथा अष्टम उन्मेष मे अर्थालङ्कारों का निरूपण किया गया है।

---

1. *अलङ्कार सर्वस्वम् की हिन्दी व्याख्या भूमिका पृ० सं० ४६–४८ पर्यन्त*
2. *अङ्गीकरोति य. काव्य शब्दार्थ[illegible]कृती।*
   असौ न मन्यते कस्माद[illegible]नलंकृती।।
   —जयदेव, चन्द्रालोकः।
3. *कदली कदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकर।*
   भुवंत्रयेऽपिविभर्ति तुलामिदमुरूयुगं न चमूरूदृशः।।
   —विश्वनाथ, साहित्य–दर्पण ४/३का उदा०।

भक्ति रस को श्रेष्ठ रस के रूप में प्रतिपादित करने वाले **आचार्य रूप गोस्वामी** हैं इन्होने अपनी रचनाओ में रचना काल निर्देशित किया है। इस आधार पर तथा ये चैतन्य महाप्रभु के साक्षात् शिष्य थे। इस आधार पर भी इनका समय पन्द्रहवीं शती का अन्त व सोलहवीं शती का प्रारम्भ माना जाता हैं साहित्य शास्त्र पर इनकी तीन रचनाये है। **नाटकचन्द्रिका, भक्तिरसा- त सिन्धु** तथा **उज्जवल नीलमणि। नाटक चन्द्रिका** मे नाट्य तत्त्वों के साथ रस का भी निरूपण है। इसमें इन्होने साहित्य दर्पण को **नाट्य शास्त्र** के मत का विरोधी माना है।[1] भक्ति **रसामृतसिंधु** ग्रन्थ भक्ति रस का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करता है। इसके चार विभाग हैं—पूर्व, पश्चिम, उत्तर व दक्षिण। प्रथम विभाग 'पूर्व' में भक्ति का सामान्य स्वरूप और लक्षण आदि हैं दक्षिण विभाग में विभाव, अनुभाव, सचारीभाव, सात्विक भाव तथा स्थायीभाव का निरूपण है। 'पश्चिम' विभाग में भक्ति के विशेष भेदों शान्त, प्रीत, प्रेम तथा वात्सल्य भक्ति रस का निरूपण किया गया है। 'उत्तर' विभाग में भक्ति के अतिरिक्त अन्य रसों हास्य, अद्भुत, करूण, वीर रौद्र, बीभत्स तथा भयानक रसो का वर्णन तथा रसों के विरोधाविरोध आदि का विवेचन है।

उज्ज्वल नाल- णि ग्रन्थ **भक्तिरसामृतसिन्धु** ग्रन्थ का ही पूरक ग्रन्थ है।इसमे मधुर शृगार का विवेचन है। इनके अनुसार भक्ति रस का स्थायी भाव 'मधुर रति' है इस ग्रन्थ में नायक—नायिकाओं के भेद का भी निरूपण है।

आचार्य रूप गोस्वामी ने 'भक्तिरस सिद्धान्त' की उद्भावना की । यह भक्ति रस शृगार रस का ही एक रूप है किन्तु **रूप** [illegible] ने भक्ति रस को श्रेष्ठ रस के रूप में प्रतिस्थापित करने का प्रयास कर एक नवीन सिद्धान्त की कल्पना की। उत्तरवर्ती काल में यह सिद्धान्त प्रचलित नहीं रहा।

[illegible] तत्वों तथा नाट्य—विषयक सामग्री को एक ही ग्रन्थ में [illegible] में प्रस्तुत करने वाले काव्यशास्त्रका के रूप **आचार्य विश्वनाथ** ने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की है।

आचार्य विश्वनाथ ने सा[illegible] पण में **अला[illegible] दान खिलजी** का नामोल्लेख किया है—[2]

अला[illegible] दान का शासन काल १२९६ से १३१६ ईस्वी तक था। **विश्वनाथ कविराज** को इनके उत्तरवर्ती काल का होना चाहिए। इसके अतिरिक्त साहित्य दर्पण की एक हस्तलिखित (पाण्डुलिपि) जन्मू से प्राप्त हुई है। जिसका समय १३८४ ईस्वी है। इन दोनों आधारों पर **आचार्य विश्वनाथ** का समय १३०० ईस्वी के पश्चात् तथा १३८४ ईस्वी के पूर्व अर्थात् चौदहवीं शती पूर्वार्ध निर्धारित होता है।

इनके काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ **'साहित्य—दर्पण** तथा **काव्य—प्रकाश** की **'काव्य—प्रकाश दर्पण** नामक टीका है इनमें **साहित्य—दर्पण** इनकी प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय कृति है।

साहित्य दर्पण ग्रन्थ के कारिका वृत्ति व उदाहरण तीन भाग हैं। इसमें दस परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में धर्म, अर्थ काम व मोक्ष ये चार काव्य के प्रयोजन बताये गये हैं। इसी परिच्छेद में मम्मटादि प्राचीन आचार्यों के काव्य—लक्षण का खण्डन करके काव्य—लक्षण दिया गया है तथा दोष, गुण, अलकार व रीति का वाक्य के साथ सम्बन्ध बताया गया है। द्वितीय परिच्छेद में पद का लक्षण व शब्द शक्तियों का विस्तृत विवेचन है। तृतीय में रस—निष्पत्ति, नायक—नायिका का भेद उनके सहायकों गुणों, अलंकारों आदि का विशद निरूपण करने के पश्चात् अनुभावादि रस के अङ्गों भेदों तथा भाव, रसाभास आदि की भी विवेचना की गयी हैं। चतुर्थ

---

१ *वीक्ष्य भरतमुनिशास्त्रं रसपूर्व[illegible]चाकर[illegible]चरमणायम्।*
लक्षणमतिसङ्क्षेपा- विलिख्यते नाटकस्येदम्।।
नातीव सङ्गत्वाद् भरतमुनेर्मत विरोधाच्च।
साहित्यदर्पणीया न गृहीता प्रकिया प्रायः।।
—रूप गोस्वामी, नाटकचन्द्रिका १/१—२।

२ *'सन्धौसर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः।*
अल्लावदीन नृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः।।
—विश्वनाथ, साहित्य—दर्पण: ४/१४।

परिच्छेद मे काव्य के ध्वनि तथा गुणीभूतव्यड्ग्य भेदो का निरूपण तथा चित्रकाव्य मे काव्यत्व का खण्डन किया है। पञ्चम परिच्छेद मे व्यञ्जना वृत्ति की स्थापना की गयी है। इसमे ध्वनि सिद्धान्त विरोधी मतो का खण्डन किया गया है। षष्ठ परिच्क्षेद नाट्य–तत्व विषयक है। सप्तम मे दोष, अष्टम मे गुण, नवम मे रीति तथा दशवे परिच्छेद मे अलकारो की काव्योपयोगिता बताते हुए लक्षण व उदाहरण प्रस्तुत किये गया है।

आचार्य विश्वनाथ ने यद्यपि **आचार्य मम्मट**, **रूय्यक** व दशरूपककार का आश्रय अपने ग्रन्थ के निरूपण में लिया है तथापि इनकी कतिपय मौलिक उद्भावनाये भी **साहित्य–दर्पण** मे प्राप्त होती है। इन्होने काव्य के भेदो मे चित्र काव्य को नहीं रखा। इनके अनुसार चित्र काव्य मे काव्यत्व नहीं होता। रसना वृत्ति की कल्पना भी मौलिक हैं व्यञ्जनावृत्ति जब रस को अभिव्यक्त करती हैं तो 'रसना वृत्ति' कही जाती हैं।

मम्मट के उत्तरवर्ती काल मे विद्वतापूर्ण, तर्कपूर्ण विशिष्ट शैली मे काव्य–शास्त्रीय तत्त्वो की सूक्ष्म–विवेचना करने वाले **आचार्य** पण्डितराज **जगन्नाथ** हैं। इनके आश्रय–दाता **शाहजहा** के कारण इनका समय सुनिश्चित ही है। इनका समय सत्रहवीं शताब्दी माना जाता है। इनका काव्यशास्त्र पर लिखा गया ग्रन्थ **रस–गङ्गाधर** है। इसके मात्र दो आनन ही उपलब्ध हैं। इन्होंने प्रथम आनन मे अन्य सभी पूर्वाचार्यों के काव्य–लक्षणो का खण्डन करके अपना काव्य लक्षण प्रस्तुत किया है। इसी आनन मे रस के भेद, गुणों का स्वरूप, काव्य के उत्तमोत्तम, उत्तम मध्यम तथा अधम चार भेद, भाव , व्यभिचारी भाव तथा रसाभासादि का निरूपण है। द्वितीय आनन में ध्वनि के भेदों का निरूपण अभिधा तथा लक्षणा शब्द शक्तियों का निरूपण तथा अलंकारो का निरूपण किया है। उपमा से उत्तर अलङ्कार तक का विवेचन करके के पश्चात् ग्रन्थ समाप्त हो गया हैं।

रसगङ्गाधर काव्य–शास्त्र पर लिखा गया एक उत्कृष्ट श्रेणी का ग्रन्थ हैं **पण्डितराज जगन्नाथ** ने कहीं मौलिक सिद्धान्त प्रस्तुत किये, कहीं पूर्ववर्ती आचार्यों के मत का खण्डन व संशोधन करके अपने मत को प्रस्तुत किया और कहीं उन तथ्यों पर विचार किया जिनका पूर्ववर्ती आचार्यों ने सूक्ष्म विवेचन नहीं किया था। इन्होने काव्य के चार भेद करते हुए शब्द चित्र व अर्थचित्र की पृथक्–पृथक् काव्य–भेदों में गणना की । अर्थचित्र को मध्यम व शब्द चित्र को अधम काव्य भेद माना है। काव्य में गुणों को रस मात्र का धर्म न मानकर शब्द अर्थ, रचना व रस इन सभी का धर्म माना। पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्य–लक्षणों का खण्डन करके काव्य–लक्षण प्रस्तुत किया है। रस–प्रकरण में रसों की सख्या नौ ही क्यों है? संयोग व विप्रलम्भ शृंगार के विभाजन का आधार क्या है? पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा अस्पष्टतया अविवेचित इन विषयों की विवेचना करते हुए स्थायीभाव को स्थायी भाव क्यों कहते है? इस विषय पर भी विचार किया है। इस प्रकरण में ही **मम्मट** द्वारा उल्लिखित **लोल्लट** आदि चार रस–सूत्र व्याख्याकारों के अतिरिक्त अन्य व्याख्याकारों के मत को भी 'पण्डितराज ने प्रस्तुत किया है। ग्रन्थ की रचना भी एक विशिष्ट शैली में की गयी है। इसमें सर्वप्रथम लक्षण तदुपरान्त स्वरचित [1] उदाहरण व विशद व्याख्या और अन्त में उस विषय पर पूर्ववर्ती आचार्यों का मत उद्धृत कर उसकी समीक्षा की है। इन्होंने नैयायिक शैली के अनुसार आचार्यों के मत का खण्डन या समर्थन किया है। **वामन झलकीकार** इसे दोष मानते हैं। जबकि उन्होंने 'रसगङ्गाधर' को अर्वाचीन होते हुए भी एक उत्कृष्ट ग्रन्थ कहा है।[2] रसगङ्गाधर में पूर्वाचार्यों के मत की स्पष्ट व्याख्या की गयी है।

---

१ *निर्माय नूतन मुदाहरणानुरूप काव्यंमयाऽत्रनिहित न परस्यकिञ्चित्।*
किं सेव्यते सुमनसापिगन्धःकस्तूरिकाजननशक्तिभृत मृगेण
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर प्रस्तावना श्लोक।

२ *जगन्नाथस्य नवीनोऽपिरसगङ्गाधरः उत्कृष्टः।*
केवलमेको दोषः यदनेकत्र नैयायिक समयानुसारितकणदूषणभूषणादिकरणमिति।
—वामन झलकीकार, बोलबोधिनी, पृष्ठ—२०।

आचार्य भानुदत्त ने रस से सम्बद्ध ग्रन्थ की रचना की। इनसे मध्यभारत की साहित्यिक प्रवृत्तियो का प्रारम्भ हुआ ऐसा माना जा सकता है।[1]

इनका समय चौदहवीं शताब्दी माना जाता है। **रस मञ्जरी** मे इन्होंने अपने पिता का नाम **गणेश्वर** व निवास विदेहभू (मिथिला) बताया हैं।[2] **विवाद रत्नाकर** नाम ग्रन्थ के लेखक **चण्डेश्वर** ने भी जिन्होने १३१५ ईस्वी में अपना तुलादान कराया था, अपने पिता का नाम गणेश्वर बताया है। **रसमञ्जरी** में **शृंगार तिलक** (११वीं शती) तथा **दशरूपक** (१० वीं शती) का उल्लेख है। **गोपाल आचार्य** ने रस मञ्जरी पर 'विकास' नामक टीका १४२८ ईस्वी मे लिखी। इस आधार पर इनका समय १४ वी शती मानना ही समीचीन है।

काव्य–शास्त्र सम्बद्ध ग्रन्थ **रसमञ्जरी, रसतरङ्गिणी** तथा **अलङ्कार तिलक** हैं। **अलङ्कार तिलक** मे काव्य के भेद, गुण, अलङ्कार आदि का निरूपण हैं। **रस मञ्जरी** इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। **रसमञ्जरी** मे मुख्यत नायक–नायिका के भेदो का निरूपण है। इसमें भी नायिका–भेद का विस्तृत विवेचन हैं। इसके अतिरिक्त सात्विक भावो, शृगार के दो भेद व विप्रलम्भ की अवस्थाओं का निरूपण है।

रसतरङ्गिणी भी रस पर ही आधृत रचना है। इसमें आठ तरङ्ग हैं। रस के अङ्ग तथा भेदो का निरूपण है। इसके अतिरिक्त रस–विरोध व रस से रस की उत्पत्ति का भी वर्णन है।

रस–विषयक प्राय सम्पूर्ण तत्त्वों का इन्होंने पर्याप्त निरूपण अपने ग्रन्थ में किया है। इससे इनके ग्रन्थ उत्तरवर्ती काल में लोकप्रिय रहे।

काव्य–शास्त्रकारों के इतिहास में **विश्वेश्वर पण्डित** अन्तिम आचार्य माने जाते हैं।
इनका समय १८ वीं शताब्दी का प्रारम्भिक भाग माना जाता है। सम्भवत ये **नागेश भट्ट** के गुरू **हरिदीक्षित** के समकालीन रहे होगे।

इनके काव्य–शास्त्र –विषयक ग्रन्थ–**अलङ्कार कौस्तुभ अलङ्कार मुक्तावली अलङ्कार प्रदीप, रसचन्द्रिका** तथा **कवीन्द्र कण्ठाभरण** हैं। प्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ **अलङ्कार कौस्तुभ** है। इसमें काव्य शास्त्र के तत्त्वों रस, गुण आदि की विशद विवेचना है। इसमे नव्यन्याय के सिद्धान्तों के आधार पर विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ में **अप्पय दीक्षित** व **पण्डितराज** के मतों का तर्कसङ्गत व विचारपूर्ण खण्डन किया गया है। इसे स्वयं ग्रन्थकार ने 'नानापक्ष विभावन कुतुक' अर्थात् अनेक मतों का विवेचक कहा है।[3]

इस प्रकार काव्य– शास्त्रकारों की कृतियों का अवलोकन करने से स्पष्ट होता है कि सभी आचार्यों ने काव्य–शास्त्र के विकास में अपना योगदान दिया हैं काव्य–सिद्धान्त की आलोचना के विविध तत्त्वों की मीमासा सभी आचार्यों ने अपने–अपने दृष्टिकोण से की है। काव्य में प्रधान तत्त्व अर्थात् काव्यात्मा का अन्वेषण स्पष्ट रूप से **आचार्य वामन** से लेकर **आचार्य क्षेमेन्द्र** तक चलता रहा। दोषों का निरूपण **आचार्य भरतमुनि** से प्रारम्भ होकर **आचार्य** [illegible] **पण्डित** तक होता रहा है।

---

१. काव्य प्रकाश की हिन्दी टीका पृ० ८६ टीकाकार–विश्वेश्वर पण्डित

२ तातो यस्य गणेश्वर कविकु[illegible] ।
देशो यस्य विदेहभूः सरित्कल्लोलकीमारिता।
–भानुदत्त, [illegible], अन्तिम श्लोक।

३ नानापक्षविभावन कुतुकमलङ्कार कौस्तुभं कृत्वा।
सुखबोधाय शिशूनां क्रियते मुक्तावली तेषाम्।
–विश्वेश्वर पण्डित, अलङ्कार मुक्तावली कारिका–२

काव्य-शास्त्र के सम्प्रदाय

काव्य के आत्मतत्त्व के विषय मे आचार्यों का मत वैभिन्य देखकर सम्पूर्ण काव्यशास्त्र को कई सम्प्रदायो मे विभाजित किया गया है। प्राय सभी काव्य शास्त्रकारो का मत इन्हीं सम्प्रदायो मे अन्तर्भुक्त हो जाता है। ये सम्प्रदाय हैं –

- रस–सम्प्रदाय
- अलकार सम्प्रदाय
- रीति–सम्प्रदाय
- ध्वनि–सम्प्रदाय
- वकोक्ति–सम्प्रदाय
- औचित्य–सम्प्रदाय

रस सम्प्रदाय– **भरत मुनि** को इस सम्प्रदाय का संस्थापक आचार्य माना जाता है। **आचार्य राजशेखर** ने **'काव्य मीमांसा** में **भरत** के पूर्व **'नन्दिकेश्वर'** को रस का प्रतिष्ठापक कहा है[1] किन्तु, इनका ग्रन्थ उपलब्ध न होने के कारण **भरतमुनि** को ही इस सम्प्रदाय का आदि प्रवर्तक माना जाता है। उस समय नाट्य व काव्य पर्याय रूप में प्रयुक्त होते थे। मुख्यत नाट्य ही समीक्षा का विषय था। **भरत मुनि** ने 'रस' को ही प्रेक्षकों की प्रवृत्ति का नियोजक माना।[2]

उनका प्रसिद्ध रस सूत्र – **'विभावानुभावसंचारीसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'** रस–सिद्धान्त का आधार है। **भरत मुनि** ने छठें अध्याय में 'रस' व सातवें अध्याय में भावों का निरूपण किया। इनके रस–सिद्धान्त के व्याख्याकार के रूप में [illegible], [illegible], **भट्टनायक, अभिनव गुप्त** आदि आचार्य प्रसिद्ध हैं।

भामह उद्भट आदि ने 'रस' को नाट्य के लिए ही उपयोगी माना। सम्भवतः उनके समय तक नाट्य व काव्य में भेद माना जाने लगा था।

अलङ्.कार सम्प्रदाय– कालकमानुसार रस–सम्प्रदाय के पश्चात् अलङ्.कार सम्प्रदाय आता है। **आचार्य भामह** इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। अपने ग्रन्थ **काव्यालङ्.कार** में यद्यपि इन्होंने अलङ्.कारों को काव्यात्मा नहीं कहा है किन्तु अलङ्.कारों के विशद निरूपण से इन्हें इस सम्प्रदाय का आदि प्रवर्तक माना जाता है। **भामह** ने काव्य में अलङ्.कारो को मुख्य रअडगी स्वीकार करके रस आदि को उसके अङ्.ग रूप में (उपकार के रूप में) सिद्ध किया है।[3] उनका विचार है कि जिस प्रकार कामिनी का मुख बिना भूषण के शोभायमान नहीं होता उसी प्रकार सरस काव्य की शोभा भी अलङ्.कारों से होती है।

भामह के समान **दण्डी** तथा उद्भट ने भी अलङ्.कारों को काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। **दण्डी** ने **काव्यादर्श** से अलङ्.कार सम्प्रदाय की शोभा वृद्धि की है तो उद्भट ने मात्र अलङ्.कारो का निरूपण करके इस प्रस्थान का पोषण किया है। यह ध्यातव्य है कि **दण्डी** और **उद्भट** ने रस के महत्त्व को पहचाना

---

१ *रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः।*
– राजशेखर, काव्य–मीमांसा, प्रथम अधिकरण।

२ *न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।*
– भरतमुनि, नाट्य–शास्त्र। ६/३१ के पश्चात्।

३. *न कान्तमपि निर्भूष विभाति वनितामुखम्।*
–भामह, काव्यालङ्.कार, १/३

था किन्तु उन्होने अलड़्कार निरूपण को ही महत्त्व प्रदान किया है तथा काव्य के शोभावर्धक सम्पूर्ण तत्त्वो को अलड़्कार मे ही अन्तर्भुक्त मान लिया है। नाट्य अलड़्कारो का अन्तर्भाव भी काव्य अलड़्कारो मे ही किया है।

इस मत के अनुयायी परवर्ती आचार्य भी काव्य मे रस की सत्ता स्वीकार करते हुए भी अलड़्.कार को ही महत्त्व देते हैं। अलड़्.कारवादी व **आचार्य जयदेव आचार्य मम्मट** के 'अनलड़्कृती पुन क्वापि' का खण्डन करते हुए लिखते हैं कि जो अलड़्कार से रहित शब्दार्थ को काव्य मानते हैं वे अग्नि को अनुष्ण क्यो नहीं मान लेते?[1]

रीति सम्प्रदाय- **आचार्य वामन** ने सम्भवत सर्वप्रथम काव्यात्मा का अन्वेषण किया। इन्होने 'रीति' को काव्यात्मा मानकर 'रीति प्रस्थान' को जन्म दिया। यद्यपि 'रीति' का सर्वप्रथम निरूपण **आचार्य वामन** ने नहीं किया है तथापि 'रीति' को काव्यात्मा पद देने वाले ये प्रथम आचार्य हैं।[2] इसीलिए इन्हे 'रीति सम्प्रदाय' का सस्थापक आचार्य माना जाता है।

'रीति' को अन्य विद्वानों ने वृत्ति, प्रवृत्ति, वर्त्म (मार्ग) आदि कहा है। **आचार्य राजशेखर** के अनुसार पहले **सुवर्णनाभ** नामक आचार्य ने रीति विषयक ग्रन्थ की रचना की थी किन्तु **नन्दिकेश्वर** की भाति इनका ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं है।[3]

सर्वप्रथम अलड़्.कार और गुणों का विभेद करने वाले **आचार्य वामन** ने अलड़्.कारों की अपेक्षा गुणो को महत्त्व दिया है। इन्होंने गुणों को काव्य शोभा के सम्पादक नित्य धर्म माना है।[4] रीति का स्वरूप गुणो पर आधृत है। 'विशिष्ट पद-रचना' ही रीति है तथा माधुर्यादि गुणों से युक्त होना ही इस रचना का वैशिष्ट्य है।[5] इससे गुण तथा रीति का घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह व्यक्त होता है।

आनन्दवर्धन की पद सड़्घटना भी रीति का ही एक परिष्कृत रूप है जो रस आदि को व्यक्त करती है।[6]

राजशेखर ने 'वचनविन्यास कम' को तथा **भोजराज** ने कविगमन मार्ग को 'रीति' कहा है। **विश्वनाथ** ने 'रीति' का विशद विवेचन करते हुए **आनन्दवर्धन** का अनुकरण करके इसे रस से सम्बद्ध किया।[7]

इस प्रकार काव्यशास्त्रकारों ने एक महत्वपूर्ण तत्त्व के रूप में रीति को ग्रहण किया है।

---

१. *अड़्.गीकरोति य' काव्यं शब्दार्थावनलड़्.कृती।*
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलड़्कृति।।
—जयदेव, चन्द्रालोक, १/८।

२ *रीतिरात्मा काव्यस्य।*
—वामन, काव्यालड़्.कार सूत्र। १/२/६

३ *रीतिनिर्णय सुवर्णनाभः।*
—[illegible], काव्य—मीमासा, स० पृ. ३।

४ *काव्य शोभाया' कर्त्तारो धर्माः गुणा। तदतिशय हेतवस्त्वलड़्कारा'।*
—वामन, का०अ०सू०, १/२।

५. *विशिष्ट पद रचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा।*
—वामन, का०अ०सू०, १/२/७—८।

६. *व्यनक्ति या रसादीन्*
—आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, ३/५।

७ *रीतिरड़्.गसंस्था विशेषवत् उपकर्त्री रसादीनाम्।*
—[illegible], साहित्य—दर्पण, ६/१।

ध्वनि सम्प्रदाय– यह सम्प्रदाय सभी सम्प्रदायो मे सबसे प्रबल व महत्वपूर्ण है। इसके सस्थापक **आनन्दवर्धनाचार्य** हैं। इन्होने ध्वनि को सर्वप्रथम काव्य की आत्मा रूप मे स्वीकार किया। अपने ग्रन्थ के आरम्भ मे ही इन्होने लिखा है कि 'काव्य की आत्मा ध्वनि है यह पहले ही विद्वान् काव्य तत्त्वज्ञो द्वारा कहा जा चुका है।[1] तात्पर्य यह कि पूर्वाचार्यो ने भी ध्वनि को काव्यात्मा के रूप मे स्वीकार किया था।

'ध्वनि' को परिभाषित करते हुए **आनन्दवर्धन** ने कहा है कि शब्द व अर्थ दोनो ही जब अपनी समस्त विशेषताओ को गौण बनाते हुए किसी अर्थ–विशेष की अभिव्यक्ति करते हैं तो उस समुदाय को जिसमे शब्द, वाच्यार्थ, व्यग्य और व्यञ्जना व्यापार सम्मिलित है, ध्वनि कहा जाता है।[2]

साहित्याचार्य, वैयाकरण, नैयायिक, वेदान्ती, मीमासक सभी ने अपने ग्रन्थ में इनका विरोध किया है। व्यक्ति विवेककार **आचार्य महिमभट्ट** ने तो अपने ग्रन्थ का प्रयोजन–ध्वनि का अनुमान मे अन्तर्भाव करना ही बताया है।[3]

किन्तु **आचार्य मम्मट** ने प्रबल युक्तियों से सभी मतों का खण्डन करके ध्वनि सिद्धान्त को पुन. स्थापित किया। इसलिए उन्हे 'ध्वनि प्रतिष्ठापक परमाचार्य' कहा जाता है। ध्वनिवादी आचार्यों में **अभिनव गुप्त** का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन आचार्यों ने गुण, अलङ्कार आदि के महत्त्व को प्रतिपादित करके उन्हें ध्वनि के उत्कर्षक रूप मे स्वीकार किया।

व·ाोक्ति सम्प्रदाय– **आचार्य कुन्तक** वक्रोक्ति सम्प्रदाय के उद्भावक आचार्य माने जाते हैं। यद्यपि **भामह**[4] आदि सभी आचार्यों ने वक्रोक्ति को महत्व दिया है तथापि **कुन्तक** के समान किसी ने वक्रोक्ति को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व अर्थात् काव्यात्मा के रूप में निरूपित नहीं किया है। उनके अनुसार शास्त्र तथा लोक व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले शब्द–अर्थ की रचना से भिन्न मार्ग का अवलम्बन ही काव्य में विचित्रता उत्पन्न करके सौन्दर्य का आधान करता है।[5] यह विचित्रता ही 'वक्रोक्ति' कहलाती है। यही वक्रोक्ति काव्य का प्राण है, क्योंकि इसके बिना काव्य में काव्यत्व नहीं हो सकता है।

आचार्य कुन्तक के पूर्व तथा परवर्ती आचार्यों ने वक्रोक्ति को एक अलङ्कार मात्र माना है। इसका समर्थन अन्य आचार्यों ने नहीं किया है।

भामह ने वक्रोक्ति को समस्त अलङ्कारों की जीवन-दायिनी बताते हुए कहा है कि 'वक्र' अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग काव्य का अलङ्कार होता है।[6] उल्लेखनीय है कि **आचार्य दण्डी** ने वक्रोक्ति तथा

---

१. 'यत्रार्थ. शब्दो वातमथमपसजनीकृ·ाार्थों।
व्यङ्क्तः काव्य–विशेष, स ध्वनिरीति सूरिभि. कथितः।।
—आचार्य ३ाान्दवर्धन, ध्वन्यालोकः १/३।

२. अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वने प्रकाशयितुम्।
व्यक्ति विवेकं कुरूते प्रणम्य महिमापरां वाचम्।।
—आ० महिम भट्ट, व्यक्ति विवेक १/१।

३ *काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः।*
—आनन्द वर्धन, ध्वन्यालोकः १/१।

४ *सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।*
यत्नो ऽस्या कविना कायः को ऽलङ्कारोऽनया विना।।
—भामह, काव्या०, २/८५।

५. *वक्रोक्तिः – प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्राभिधा।*
—कुन्तक, वक्रोक्ति जीवित, १/१ की वृत्ति।

६. *वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः।*
—भामह, काव्या० १/३६।

स्वभावोक्ति के आधार पर वाङ्मय को दो भागो में विभाजित किया है। वक्रोक्ति के इस महत्व को देखकर ही सम्भवत **कुन्तक** ने उसे काव्यात्मा पद पर प्रतिष्ठित किया है। किन्तु यह सम्प्रदाय **कुन्तक** तक ही सीमित रहा है। परवर्ती आचार्यों ने वक्रोक्ति को अलङ्कार रूप में ही ग्रहण किया है।

औचित्य सम्प्रदाय- **आचार्य क्षेमेन्द्र** ने 'औचित्य' को काव्य का 'जीवित' अर्थात् 'प्राण' माना है। उनका विचार है कि गुण तो गुण है, अलङ्कार तो अलङ्कार ही है परन्तु, रस सिद्ध काव्य की आत्मा 'औचित्य' है।[1]

औचित्य सिद्धान्त काव्याङ्गों को परिष्कृत व उपादेय बनाने का कारण है। **आचार्य क्षेमेन्द्र** ने सभी काव्याङ्गो के औचित्यपूर्वक प्रयोग को महत्त्व दिया है। उनके अनुसार उचित प्रयोग के द्वारा ही काव्याङ्गो को उन–उन नामों से अभिहित किया जाता है।[2] **आचार्य क्षेमेन्द्र** ने 'उचित' के भाव को औचित्य कहा है।[3] काव्य को उपादेय बनाना ही उनके अनुसार औचित्य है।

विचारणीय है कि काव्य में 'रस' की प्रधानता स्वीकार करते हुए भी वे 'औचित्य' को काव्य का प्राण मानते हैं। सभी आचार्यों ने काव्य मे औचित्य के महत्व को स्वीकार किया है[4] किन्तु परवर्ती आचार्यों ने इस सम्प्रदाय का समर्थन नहीं किया। अतः यह सम्प्रदाय भी **क्षेमेन्द्र** तक ही सीमित होकर रह गया।

---

१. *अलङ्कारास्त्व लङ्काराः गुणा एव गुणाः सदा।*
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिर काव्यस्य जीवितम्।।
–क्षेमेन्द्र, औचित्य विचार चर्चा, कारिका –५।

२ *उचित स्थान विन्यासाद् अलङ्कृतिरलङ्कृतिः।*
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणाः गुणाः।
–क्षेमेन्द्र, औ०वि०चा०, कारिका –६।

३ *उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य तत्।*
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्य प्रचक्षते।।
–क्षेमेन्द्र, औ०वि०च०, कारिका– ७।

४. *अनौचित्यादृते नान्यदरसभङ्गस्य कारणम्।*
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।।
–आनन्द वर्धन, ध्वन्यालोक, ३/१४ की वृत्ति।

प्रस्तुत शोध का औचित्य

काव्य–शास्त्र के प्रमुख तत्त्वो रस, अलकार, गुण रीति, ध्वनि वक्रोक्ति आदि के साथ–साथ शब्द शक्ति, वृत्ति प्रवृत्ति आदि मे से प्रत्येक पर अधिकारी विद्वानो के द्वारा अनेक मानक शोध–प्रबन्ध प्रस्तुत किये गये हैं और निरन्तर किये जा रहे हैं। चूँकि किसी काव्य की रचना मे उसकी सफलता काव्यात्मा रस के सम्यक् परिपाक पर निर्भर होती हैं और यह तभी सम्भव है जब उस काव्य मे आद्योपान्त अगी रस के साथ–साथ अपेक्षित स्थलों पर अगभूत रसों का भी सर्वथा निर्दुष्ट अथवा दोष रहित निर्वाह किया जाय। ऐसी स्थिति मे आवश्यक है कि रचनाकार रसादि काव्य–घटकों के साथ ही रस–दोष से भी सर्वथा सैद्धान्तिक और [illegible] रूप से सुपरिचित हो। परन्तु अभी तक रस–दोष विषय पर ऐसा कोई प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, जिसमें एक साथ समस्त रस तथा समस्त रस–दोषो का साकल्येन वर्णन हो जिसका अध्ययन कर रचनाकार अपनी काव्य–रचना में आद्योपान्त रसो का निर्दुष्ट निर्वाह कर सके । इस प्रकार चिरप्रतिक्षित समय से ऐसे अनुसधान की आवश्यकता की अनुभूति होती रही जिससे उक्त समस्याओ का समाधान हो सके। यही कारण है ख्यातनामा **लाहाबाद विश्वविद्यालय** के विद्वान् अधिकारियों के द्वारा **संस्कृत काव्य–शास्त्र में प्रतिपा ित रस–दोष** शीर्षक पर अनुसधान करने का दायित्व विश्वास के साथ मुझे सौंपा गया। जिससे प्रस्तुत शोध का औचित्य स्वतःसिद्ध है। किन्तु प्रस्तुत शीर्षक पर सविस्तर विचार करने से पूर्व यह आवश्यक है कि इसकी पृष्ठभूमि के रूप में काव्य प्रयोजन, काव्य–हेतु, काव्य–स्वरूप, काव्य वैशिष्ट्य, काव्य–भेद के साथ–साथ रस गुण अलंकार, रीति वृत्ति, प्रवृत्ति, दोष इन काव्य–घटकों पर भी दृष्टिपात कर लिया जाय। अत अग्रिम पृष्ठों में इन पर विचार किया जायेगा।

काव्य का प्रयोजन

कार्य के प्रति मनुष्य की प्रवृत्ति किसी प्रयोजन के कारण ही होती है। कहा भी गया है कि 'प्रयोजनमनुदिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' तात्पर्य यह कि प्रयोजन का ज्ञान हुए बिना किसी कार्य के प्रति विद्वान् व्यक्ति की तो प्रवृत्ति होती ही नहीं, मूर्ख व्यक्ति भी प्रवृत्त नहीं होता । अत काव्य की रचना या अध्ययन के प्रति कवि या सहृदय क्यों प्रवृत्त हो? उसकी प्रवृत्ति का प्रयोजन क्या है? यह सर्वप्रथम विचारणीय है।

भरतमुनि ने नाट्य या काव्य को सभी मनुष्यों के कर्मों का आश्रयभूत हितकारी उपदेशक, धैर्य, मनोविनोद तथा सुखादि को प्रदान करने वाला, दुखी प्राणियो को विश्रान्ति देने वाला, धर्म यश व आयु को बढाने वाला हित तथा बुद्धि को बढाने वाला तथा लोक व्यवहार का ज्ञान कराने वाला बताया है।[1] इस प्रकार **भरतमुनि** ने काव्य–प्रयोजनो पर विस्तृत रूप से विचार किया है। यह कहा जा सकता है कि इनका सुख आदि प्रदान करने तथा दुखी, पीडित शोक सन्तप्त को विश्रान्ति प्रदान करने रूप प्रयोजन ही परवर्ती काल मे रसानुभूति से उत्पन्न आनन्द कहा गया है।

आचार्य भामह ने **भरतमुनि** की अपेक्षा सङ्क्षेप में प्रयोजनों को प्रतिपादित करने का प्रयास किया है। इन्होंने चतुर्वर्ग कलाओं में कुशलता यश तथा प्रीति को काव्य का प्रयोजन माना है।[2] **आचार्य भरतमुनि** द्वारा प्रतिपादित काव्य–प्रयोजनों को इन प्रयोजनों में ही अन्तर्भावित माना है। ऐसा कहा जा सकता है। **आचार्य भामह** ने इन प्रयोजनों में कीर्ति को सर्वोत्कृष्ट माना है क्योंकि उन्होंने इसकी विशेषत· व्याख्या की है।[3] परवर्ती आचार्यों ने भी कीर्ति को महत्त्वपूर्ण प्रयोजन के रूप में प्रस्तुत किया है।

---

१ *उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्म संश्रयम्।*
हितोपदेशजनन धृतिक्रीडासुखादिकृत।।
दुखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजनन काले नाट्यमेतद् भविष्यति।।
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिं वर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति।।
—भरतमुनि, ना० शा०, १/११३—११५।

२. *धर्मार्थ काममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।*
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधु काव्य [illegible]।।
—भामह, काव्यालङ्कार १/२।

३. *उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम्।*
आस्त एवं [illegible] कान्तं काव्यमयं वपु·।।
रूणद्धिरोदसी चास्य यावत् कीर्तिरनश्वरी।
तावत् [illegible]स्ते सुकृती वैकुण्ठं परम्।।
अतोऽभिवाञ्छता कीर्तिं स्थेयसीमाभुव· स्थिते·।
यत्नो विदितवेद्यन विधेय· काव्य—लक्षण·।।
—तदेव, काव्यालङ्कार १/६—८।

आचार्य दण्डी ने यश-प्राप्ति तथा विद्वानो के मध्य सम्मान को काव्य रचना का प्रयोजन माना है।[1] **आचार्य दण्डी** ने काव्य को कल्पान्तकारी तथा लोकरञ्जक माना है।[2]

इस प्रकार प्रकारान्तर से इन्होने काव्य रचना से प्राप्त होने वाले यश को पारलौकिक फल प्रदान करने वाला माना है। 'लोकरञ्जक' पद के द्वारा सहृदय के आह्लाद को ग्रहण किया जा सकता है। जो परवर्ती काल मे प्रधान प्रयोजन माना गया है।

आचार्य वामन ने कीर्ति व प्रीति को काव्य का प्रयोजन माना है।[3] प्रीति को ऐहिक तथा कीर्ति को पारलौकिक प्रयोजन कहा है। **भामह** के समान इन्होने भी 'कीर्ति' की व्याख्या की है।[4] 'कीर्ति' को स्वर्गफल माना है। अत कीर्ति की प्राप्ति तथा अकीर्ति से बचने के लिए कवि को प्रयास करना चाहिए। यहा उल्लेखनीय है कि 'प्रीति' को ऐहिक प्रयोजन मानना तो समीचीन है किन्तु उससे रसास्वादन को ग्रहण नहीं किया जा सकता क्योकि प्रीति का क्षेत्र अतिव्यापक है। जबकि रसास्वादन काव्य तक ही सीमित है। **काव्यालङ्कारसूत्र** के टीकाकार ने 'प्रीति' को आह्लाद तथा इष्टप्राप्ति और अनिष्ट निवारण से जोडकर काव्य को साक्षात् एव परम्परया ऐहिक प्रीति का कारण माना है। इस प्रकार काव्य दृष्ट या ऐहिक प्रयोजनीय है ऐसा कहा है।[5] **भोज** ने भी 'कीर्ति' व 'प्रीति' को ही काव्य का प्रयोजन बतायाहै।[6]

आचार्य आनन्दवर्धन ने यद्यपि पृथक् रूप से काव्य के प्रयोजनों पर विचार नहीं किया है। किन्तु <u>ध्वन्यालोक मे सहृदय हृदयाहलाद को काव्य–प्रयोजन के रूप मे ग्रहण किया गया है।[7] परवर्ती आचार्य **कुन्तक**</u>

---

१ *तदस्ततन्द्रैरनिश सरस्वती श्रमादुपास्याखलुकीर्तिमीप्सुभि ।*
कृशे कवित्वेऽपिजनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते।।
–दण्डी, काव्यादर्श १/१०५।

२ *सर्वत्र भिन्नवृतान्तैरुपेत लोकरञ्जनम्।*
काव्य कल्पान्तरस्थापि जायेत सदलङ्कृति ।।
–दण्डी, काव्यादर्श, १/१६।

३ *काव्य सद् दृष्टाऽदृष्टार्थ प्रीतिकीर्ति हेतुत्वात्।*
–वामन काव्यालङ्कार सूत्र १/१/५।

४ *प्रतिष्ठा काव्य बन्धस्य यशस· सरणि विदु ।*
अकीर्तिवर्तिनीं त्वेव कुकवित्व विडम्बनाम्।।
कीर्ति [illegible] विपश्चित ।
अकीर्ति तु निरालोकनरकोद्देश दूतिकाम्।।
तस्मात् कीर्ति[illegible]ति च निबर्हितुम्।
काव्यालङ्कार सूत्रार्थ प्रसाद्य कविपुङ्गवे ।।
–वामन काव्यालङ्कारसूत्र १/१/५ की वृत्ति।

५ *अत्र प्रीतिशब्देन श्रवणसमनन्तरमेव सहृदय हृदयेसुजायमाना या रसास्वादलक्षणा, या चपुनरिष्टप्राप्तिरनिष्टपरिहार निबन्धना। सेयमुभयविधा प्रीतिर्विवक्षिता।*
–गोपेन्द्र त्रिपुरहरभूपाल, काव्यालङ्कार सूत्र १/१/५ पर की कामधेनु टीका।

६ *निर्दोष गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्*
रसान्वित कवि· कुर्वन् कीर्तिप्रीतिचविन्दति।
–भोजराज सरस्वतीकण्ठाभरण १/२।

७ क) *तेन ब्रुमः सहृदय मन प्रीतये तत्स्वरूपम् ।*
–आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक १/१।

ख) *सहृदय [illegible]दयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्।*
–वही, ध्वन्यालोक १/१ की वृत्ति।

तथा **मम्मट** ने इसे ही प्रधान प्रयोजन माना है।

आचार्य कुन्तक ने पूर्वाचार्यों के मत को समन्वित करके विस्तृत रूप से काव्य प्रयोजनो को निरूपित किया है। इन्होने काव्य का प्रयोजन धर्म यशप्राप्ति व्यवहार ज्ञान, कुलीन व्यक्तियो का आनन्द प्राप्ति तथा चतुर्वर्ग से प्राप्त फलो से भी उत्कृष्ट काव्यामृत रस का आस्वादन माना है। इनके द्वारा भी काव्यज्ञो को रसानुभूति कराने को ही काव्य का प्रमुख प्रयोजन स्वीकार किया है।[1] पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा चतुर्वर्ग को प्रयोजन मानने की प्रकारान्तर से गौणता प्रतिपादित की है।

• यह विचारणीय है कि **आचार्य कुन्तक** से पूर्व आचार्यों ने चतुर्वर्ग, 'कीर्ति' तथा 'प्रीति' को काव्य का प्रयोजन माना है किन्तु, **आचार्य कुन्तक** ने चतुर्वर्ग की गौणता प्रतिपादित की है तथा 'कीर्ति' व 'प्रीति' को अन्तर्भावित रूप दे दिया है। तात्पर्य यह कि धर्मादि मे 'कीर्ति' को तथा सहृदयाह्लाद कारक मे 'प्रीति' का अन्तर्भाव माना जा सकता है। 'कीर्ति' को **कुन्तक** के परवर्ती **मम्मट** ने भी काव्य प्रयोजन मे उल्लिखित किया है।

आचार्य मम्मट ने पूर्वाचार्यों के काव्य–प्रयोजनो मे से उपादेय प्रयोजनो को ग्रहण करके सर्वोत्कृष्ट प्रयोजन को भी निर्देशित किया है। इन्होने प्रत्येक प्रयोजन की स्पष्ट व्याख्या की है। इनके अनुसार यश, अर्थ, व्यवहार ज्ञान, अनिष्ट का विनाश, रसानुभूति तथा कान्ता के समान उपदेश काव्य के प्रयोजन है।[2] इन्होने विशेषतः 'सद्य परनिर्वृति' तथा 'कान्तासम्मिततयोपदेश' की व्याख्या की है। जिसमे 'सद्य परनिर्वृति' को सभी प्रयोजनो से श्रेष्ठतथा तत्काल ही रसास्वाद से उत्पन्न और अन्य वेद्यवस्तुओ के ज्ञान से रहित आनन्द कहा है।[3]

मम्मट ने उपदेश की तीन शैलियों को प्रतिपादित करके काव्य की उपदेश–शैली को उत्कृष्ट रूप मे प्रदर्शित किया है। वेद, शास्त्र, इतिहास तथा पुराण भी व्यक्ति को कर्तव्य व अकर्तव्य का ज्ञान कराते हैं। वेद आदि शास्त्रो के उपदेश स्वामी के समान शब्द प्रधान (आज्ञार्थक) होते हैं। इतिहास–पुराण के उपदेश अर्थ व तात्पर्य से युक्त मित्र के वाक्य के समान होते हैं। इन दोनों से विलक्षण काव्य में शब्द तथा अर्थ को गौण कर देने वाला रस का अङ्ग भूत व्यञ्जना व्यापार होता है। काव्य प्रिया के समान स[illegible]पूर्वक अर्थात् रसमग्न करके अभिमुख करके कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य का उपदेश देता है।

---

1. *धर्मादि साधनोपाय सुकुमार क्रमोदित।*
   काव्यबन्धोऽभिजाताना हृदयाह्लादकारक.।
   व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यव्यवहारिभिः।
   सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते।।
   चतुर्वर्ग फ[illegible]ास्वादमप्यातिकम्य तद्विदाम्।
   काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारी वितन्यते।।
   —कुन्तक, [illegible], १/३–५।
2. *काव्यशसेऽ[illegible]र्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।*
   सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।।
   —मम्मट, काव्य प्रकाश १/२।
3. *सकल प्रयोजन मौलिभूतसमनन्तरमेव रसास्वादन समुद्भूत विगलितवेद्यान्तरमानन्द, प्रभुसम्मित शब्द प्रधान वेदादिशास्त्रेभ्य.,*
   सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेनरसाङ्गभूत व्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत्काव्यं [illegible]कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामदिबद्वर्तितव्यं न रावणाादि वदित्युपदेश च।
   —मम्मट, काव्य–प्रकाश १/२ की वृत्ति।

आचार्य मम्मट ने सर्वथा मौलिक विचार प्रस्तुत किया है। इन्होने इन प्रयोजनो में से कतिपय विशेष रूप से कविनिष्ठ तथा कतिपय विशेष रूप से सहृदयनिष्ठ होते है ऐसा सङ्केत दिया है।[1] पूर्वाचार्यों ने प्रयोजनों के ऐसे विभाजन का स्पष्ट सङ्केत नहीं दिया। उल्लेखनीय है कि **आचार्य भरत** ने दुख, श्रम तथा शोक से पीडित तपस्वियो के लिए काव्य के विश्रान्तिदायक होता है ऐसा कहकर काव्यानन्द को सहृदय से जोडने का प्रयत्न किया है। **भामह, दण्डी, वामन** तथा **भोजराज** ने भी प्रयोजन को कवि निष्ठ ही माना है। **आचार्य आनन्दवर्धन** तथा **कुन्तक** ने रसानुभूति को सहृदयगत बताया है। किन्तु **मम्मट** के समान कवि एव सहृदयगत विभाजन का कोई स्पष्ट सङ्केत इन आचार्यो ने भी नहीं दिया है।

आचार्य मम्मट प्रतिपादित प्रयोजनो मे से यश, अर्थ तथा शिवेतरक्षति को कविनिष्ठ तथा व्यवहारज्ञान उपदेश और सद्य परनिर्वृति को सहृदय निष्ठ माना जा सकता है। उल्लेखनीय है कि इन प्रयोजनों में से कुछ प्रयोजन कवि तथा सहृदय दोनों से सम्बद्ध हो सकते हैं। किन्तु विशेषतः साक्षात् रूप से जिनका परस्पर सम्बन्ध हो उन्हे कवि या सहृदयनिष्ठ कहना उचित है। तात्पर्य यह कि यश की प्राप्ति सहृदय को भी हो सकती है किन्तु, विशेषतः यश कविनिष्ठ ही है।

आचार्य विश्वनाथ ने चतुर्वर्ग से प्राप्त फल की प्राप्तिको काव्य–प्रयोजन स्वीकार किया है।[2] इस प्रकार इन्होंने पूर्ववर्ती **भामह** तथा **वामन** आदि आचार्यों का ही अनुकरण किया है। इस प्रसङ्ग में इन्होंने यह अवश्य प्रतिपादित किया है कि चतुर्वर्ग की प्राप्ति काव्य द्वारा किस प्रकार होती है। इन्होंने कहा कि ईश्वर की स्तुतिपरक काव्य–रचना के द्वारा धर्म की प्राप्ति होती है। 'एक शब्द· सुप्रयुक्त· सम्यक् ज्ञातः स्वर्गलोके कामधुग्भवति' यह वेद वाक्य भी इसे प्रमाणित करता है। काव्य सेधन की प्राप्ति प्रसिद्ध ही है। धन से काम की प्राप्ति होती है। धर्म से प्राप्त फल की प्रति अनासक्ति ही मोक्ष का कारण है। काव्य में मोक्ष प्राप्ति के लिए उपयोगी वाक्य होते हैं। जो निष्काम कर्म की प्रेरणा देते हैं। इस प्रकार काव्य से सरलतापूर्वक चतुर्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है। इसलिए विद्वान् व्यक्ति के लिए भी काव्य उपयोगी होता है। वेद, शास्त्र आदि के द्वारा कष्टपूर्वक चतुर्वर्ग की प्राप्ति होती है।[3]

इन्होंने प्रारम्भ में ही कहा है कि रामादि के समान आचरण करना चाहिए रावणादि के समान नहीं इस प्रकार कर्तव्य तथा अकर्तव्य का ज्ञान कराकर कर्तव्य के प्रति प्रवृत्ति व अकर्तव्य के प्रति निवृत्ति कराने के कारण काव्य द्वारा चतुर्वर्ग की प्राप्ति है। यह प्रसिद्ध भी है। ज्ञातव्य है कि **आचार्य मम्मट** ने काव्य के प्रयोजन में कान्ता के समान उपदेशों को भी ग्रहण किया है। **आचार्य विश्वनाथ** काव्य के उपदेश परक होने को भी

---

१ *यथायोगंकवेः सहृदयस्य च करोति।*

—मम्मट, का० प्र०, १/२ की वृत्ति।

२. *चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।*
काव्यादेवयतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते।।

—विश्वनाथ साहित्य दर्पण १/२।

३ *किञ्च काव्याद्धर्मप्राप्तिर्भगवन्नारायणचरणाविन्दस्तवादिना,*
'एक शब्दः सुप्रयुक्त सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति' इत्यादि वेद वाक्येभ्यश्च सुप्रसिद्धदैव।
अथप्राप्तिश्चप्रत्यक्षसिद्धा। काम प्राप्तिश्चार्थद्वारैव। मोक्षप्राप्तिश्चैतज्जन्यधर्मफलाननुसंधानात्,
मोक्षोपयोगिवाक्ये व्युत्पत्याधायकत्वाच्च।
चतुर्वर्गप्राप्तिर्हिवेदशास्त्रेभ्यो नारसतया खादेवपरिणतबुद्धीनामेव जायते। परमानन्दसदोहजनकतया
सुखादेवसुकुमारबुद्धीनामपिपुनःकाव्यादेव।

—विश्वनाथ, साहित्य दर्पण १/२ की वृत्ति।

चतुर्वर्ग की प्राप्ति का ही साधन मानते हैं।[1] इस प्रकार इन्होंने कोई नवीन विचार इस प्रसङ्ग में प्रस्तुत नहीं किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रयोजनो पर विस्तृत रूप से विचार नही किया है। इन्होने कीर्ति, परम आह्लाद, गुरू, राजा तथा देवता की प्रसन्नता आदि को काव्य का प्रयोजन माना है। **पण्डित राज जगन्नाथ** ने एक प्रकार से **मम्मट** के प्रयोजनो में अपनी सहमति प्रदान की है, यह कहा जा सकता है।

इस प्रकार प्राय सभी काव्यशास्त्रकारो ने काव्य की प्रयोजनीयता का प्रतिपादन किया है।**भरत** से लेकर [illegible] **जगन्नाथ** तक अनेक प्रयोजनो का निरूपण आचार्यों ने किया है। इनमें **आचार्य मम्मट** के द्वारा प्रतिपादित काव्य–प्रयोजनो पर विचार करने से ज्ञात होता है।इन्होंने पूर्वाचार्यों के द्वारा निरूपित प्रयोजनो को समन्वित करके सारगर्भित शैली में अपने काव्य–प्रयोजनों को प्रस्तुत किया है। **आचार्य मम्मट** ने छ काव्य–प्रयोजन बताये हैं। यश प्राप्ति, अर्थ प्राप्ति, व्यवहार ज्ञान, अनिष्ट निवारण, रसानुभूति द्वारा उत्पन्न आनन्द तथा उपदेश। प्राय सभी आचार्यो ने यश प्राप्ति को काव्य का प्रमुख प्रयोजन माना है। **भामह** तथा **वामन** ने इसकी विस्तृत व्याख्या भी की है। **आचार्य कुन्तक** तथा **आचार्य मम्मट** ने '[illegible]' को मौलिभूत प्रयोजन माना है।ध्वनिकार ने भी बारम्बार सहृदयों के हृदय को आनन्दित करने को ही काव्य का प्रयोजन माना है।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि **भामह, वामन, भोज** आदि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित 'प्रीति' रूप प्रयोजन का रसानुभूति से प्राप्त आनन्द में अन्तर्भाव करना समीचीन नहीं है। 'प्रीति' को इहलौकिक प्रयोजन कहा गया है। इससे 'प्रीति' का क्षेत्र व्यापक है। 'प्रीति' के द्वारा ससार में प्राप्त होने वाले सभी सुखो का ग्रहण होता है,जबकि रसानन्द का क्षेत्र काव्य–अध्ययन काल तक ही सीमित है। अत काव्यानन्द में 'प्रीति' का समावेश नहीं किया जा सकता है।

भरत, कुन्तक, मम्मट तथा **विश्वनाथ** आदि आचार्यों ने काव्य को कर्त्तव्य व अकर्त्तव्य का ज्ञान कराने वाला अर्थात् उपदेशक माना है। अन्य उपदेशक ग्रन्थ वेद, शास्त्र, इतिहास, पुराण आदि कडवी औषधि के समान तथा कष्टदायी है। जबकि काव्य मीठी औषधि के समान तथा सुखपूर्वक हितकारी उपदेश देने वाला है। **आचार्य मम्मट** ने काव्य को कान्ता के समान उपदेशक बताकर काव्य की सरसता का भी [illegible] किया है।

काव्य – हेतु

काव्य प्रयोजन पर विचार करने के पश्चात् उस कारण या हेतु पर विचार अपेक्षित है जिससे कवि मे काव्य रचना करने की क्षमता उत्पन्न होती है। यहां प्रमुख काव्य शास्त्रकारों का काव्य–हेतु सम्बद्ध विचार द्रष्टव्य है–

भरतमुनि ने स्पष्टतः काव्य हेतुओं का निर्देशन नहीं दिया है। सर्वप्रथम **भामह** ने इस दिशा मे स्पष्ट निर्देश दिया है। **आचार्य भामह** ने –प्रतिभा' को काव्य का प्रधान हेतु माना है।[2] इनके अनुसार काव्य में उत्कृष्टता के लिए काव्यज्ञ को शब्द, छन्द, अभिधान शब्दशक्ति, बोध, पौराणिक कथा, इतिहास वृत्त का ज्ञान, लोकव्यवहार युक्ति बोध, दर्शनशास्त्र, कलाओं का ज्ञान, काव्यज्ञ की उपासना, पूर्व रचित ग्रन्थों का अध्ययन

---

१. *चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्हिकाव्यतो 'रामादिवत्प्रवर्तितव्य न रावणादिवत्' इत्यादि कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेशद्वारेण सुप्रतीतैव।*
–विश्वनाथ, सा०द० १/२ की वृत्ति।

२. *काव्यं तु जायते जातु कस्य चित्प्रतिभावतः।*
–भामह, काव्या० १/५।

व अनुशीलन करना चाहिए।[1] इस प्रकार इन्होने 'प्रतिभा' को प्रमुख तथा शब्द, छन्द आदि को सहायक हेतु के रूप मे माना है। परवर्ती काल मे काव्य–शास्त्रकारो ने 'प्रतिभा' को प्रमुख काव्य–हेतु के रूप मे प्रस्तुत किया है। जो काव्य–शास्त्रकारो के काव्य–हेतु विवेचन मे स्पष्ट किया जायेगा।

आचार्य दण्डी ने **भामह** के मत का परिष्कार करते हुए स्वाभाविक प्रतिभा, प्रचुर अध्ययन तथा अभियोग या अभ्यास को काव्य का हेतु कहा है।[2] **दण्डी** की यह समन्वयात्मक दृष्टि परवर्ती काव्य–शास्त्र

शास्त्रकारो के लिए बहुत सहायक हुई परवर्ती आचार्यों में भी प्रकारान्तर से इन तीन हेतुओ का निरूपण किया है। 'कारण' मे प्रयुक्त एकवचन इन तीनों का सम्मिलित रूप से कारण होना सिद्ध करता है। किन्तु **दण्डी** नें इस विषय मे कोई सङ्केत नहीं दिया है।

आचार्य दण्डी ने यह भी कहा है कि यदि नैसर्गिक प्रतिभा न हो तब भी अध्ययन एव अभ्यास के द्वारा काव्य की रचना हो सकती है।[3] इस प्रकार इन्होने काव्य–रचना मे नैसर्गिक प्रतिभा की अनिवार्यता का एक प्रकार से खण्डन ही किया है।

आचार्य वामन ने **भामह** तथा **दण्डी** के मत का समन्वय करके काव्य–हेतु निरूपित किया है।[4] लोक–विद्या तथा प्रकीर्ण को परिभाषित करते हुए **आचार्य दण्डी** कहते हैं कि **लोक** व्यवहार का ज्ञान होना ही लोक है, शब्द, स्मृति, अभिधान, क्रोश, छन्द–सौन्दर्य, कला, कामशास्त्र दण्डनीति आदि का ज्ञान होना **विद्या** है तथा लक्ष्यज्ञत्व, अभियोग, वृद्धसेवा, अवेक्षण, प्रतिभान तथा अवधान **प्रकीर्ण** है।[5] **इसमें प्रकीर्ण में ग्रहण किये गये गुणों या विशेषताओं में से लक्षज्ञत्व, अभियोग, अवेक्षण तथा अवधान की भी इन्होंने व्याख्या की है।[6] आचार्य दण्डी के अनुसार काव्य का परिचय प्राप्त करना 'लक्षज्ञत्व' है।, काव्य–रचना का अभ्यास 'अभियोग' है।, विविध शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करके उन्हें ग्रहण करना तथा उदाहरण देना 'अवेक्षण' है और चित्त की एकाग्रता ही 'अवधान' है।**

---

1. *[illegible]नार्थाइतिहासाश्रया कथाः।*
   लोकोयुक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्यज्ञैरमी।।
   शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तदविदुपासनाम्।
   विलोक्यान्यप्रबन्धाश्च कार्यः काव्यक्रियादरः।।
   –भामह काव्यालङ्कार १/६–१०।
2. *नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।*
   अमन्दश्चाभियोऽस्याः कारण काव्य सम्पदः।।
   –दण्डी काव्यादर्शः १/१०३।
3. *न विद्यते यद्यपि पूर्व वासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्[illegible]तम्।*
   श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्।
   –दण्डी, काव्यादर्श–१/१०४।
4. *लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि*
   –वामन, काव्या०–सूत्र १/३/१।
5. *लोक वृत्तं लोकः। शब्द–स्मृति–अभिधान–कोश–छन्दो विचिति–कला–कामशास्त्र दण्डनीति पूर्ण विद्या। लक्ष्यज्ञत्वमभियोगोवृद्धसेवावेक्षणं प्रतिभानमवधानञ्च प्रकीर्णम्।*
   –वामन, काव्याङ्कार सूत्र, १/३/२,३,११।
6. *तत्र काव्य–परिचयो लक्ष्यत्वम्। काव्यबन्धोद्यमोऽभियोगः।*
   पदाधानोद्धरणमवेक्षणम। चित्तैकाग्र्यमवधानम्।
   –तदेव, १/३/१२,१३,१५,१७।

आचार्य वामन ने एक विकसित मत प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इनका काव्य के हेतुओ का विवेचन पर्याप्त सारगर्भित है। काव्य के प्रत्येक हेतु की स्पष्ट व्याख्या भी इनकी विशिष्टता है। जिसे परवर्ती आचार्यो ने स्वीकार किया है।

आचार्य रूद्रट ने पूर्ववर्ती आचार्यो के विवेचन का परिशीलन करके शक्ति व्युत्पत्ति तथा 'अभ्यास' को सम्मिलित रूप से काव्य का हेतु स्वीकार किया है।[1] इन्होने 'त्रितयमिद 'कहकर काव्य हेतुओ की सख्या भी निर्धारित करने का प्रयास किया है। **भामह** ने 'प्रतिभा' को विशेष महत्त्व दिया है। **दण्डी** ने प्रतिभा के महत्त्व को 'कुछ कम करते हुए' प्रतिभा' के अभाव मे भी 'व्युत्पत्ति 'व 'अभ्यास 'के द्वारा काव्य की उत्पत्ति मानी है। **आचार्य वामन** ने 'व्युत्पत्ति को विद्या मे तथा प्रतिभा व अभ्यास को प्रकीर्ण मे अन्तर्भावित किया है। परवर्ती **आचार्य मम्मट** ने 'शक्ति 'व्युत्पत्ति' तथा 'अभ्यास को मुख्य हेतु माना हैं।

यहाँ उल्लेखनीय है कि **आचार्य वामन** ने 'सार' अर्थात् गुणो के ग्रहण एव 'असार' अर्थात् दोषो के परिहार के लिए शक्ति व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को आवश्यक बताया। इस प्रकार इन्होने उत्कृष्ट काव्य की रचना के लिए इन तीनो कारणो को महत्त्वपूर्ण माना है। परवर्ती **मम्मट** ने भी उत्कृष्ट काव्य रचना के लिए इन तीनो हेतुओ को समुदित रूप से काव्य का हेतु स्वीकार किया है। जो आगे विवेचित किया जायेगा।

आनन्द वर्धननेपृथक् रूप से काव्य–हेतुओ का विवेचन नहीं किया है। **ध्वनिकार** के अनुसार 'प्रतिभा' 'व्युत्पत्ति 'काव्य रचना के हेतु हैं। इसमे इन्होने भी 'प्रतिभा' को विशेष महत्त्व प्रदान किया है। इनका कथन है कि अव्युत्पत्ति से उत्पन्न दोष प्रतिभा से ढक जाते है। किन्तु प्रतिभा के अभाव के कारण उत्पन्न दोष तत्काल प्रकट हो जाते हैं।[3] तात्पर्य यह कि कवि मे प्रतिभा होना अनिवार्य है। यदि कवि मे प्रतिभा है तो काव्य के रमणीय अर्थों की कभी न्यूनता नहीं। प्रतिभा से कवि पूर्ववर्णित काव्य को भी नवीन रूप मे प्रकट कर सकता है।[4]

आचार्य मम्मट ने शक्ति,निपुणता तथा अभ्यास को काव्य का हेतु माना है।[1] निपुणता या व्युत्पति मे ही इन्होने **वामन** प्रतिपादित लोक तथा विद्या रूप हेतुओ को समाहित कर लिया है। इनके काव्य–हेतु विवेचन पर **आचार्य दण्डी** तथा **रूद्रट** का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। इन्होने भी **भामह आनन्दवर्धन**

---

१ *त्रितयमिद व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यास ।*
–रूद्रट, काव्यालङ्कार १/१४।

२ *अव्युत्पत्ति कृतो दोष शक्त्या सव्रियते कवे ।*
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झटित्येवावभासते।।
–आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक ३/६ की वृत्ति।

३ *न काव्यार्थ विरामोऽस्ति यदिस्यात्प्रतिभागुण ।।*
–आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक ४/६।

४ *शक्ति निर्पुणता लोक शास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्।*
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।।
–मम्मट, काव्य प्रकाश १/३।

तथा **राजशेखर** [1] की भाति प्रतिभा को प्रधान हेतु माना है। इनका विचार है कि यदि प्रतिभा न हो तो कवि काव्य – रचना ही नहीं कर सकता यदि काव्य की उत्पत्ति हो जाती है तो काव्य समादृत नहीं होता है।[2] इसलिए काव्य की रचना के लिए कवि मे प्रतिभा होना अनिवार्य है।

शक्ति, व्युत्पत्ति व अभ्यास को ही प्रकारान्तर से **भामह, दण्डी, रूद्रट** एव **वामन** ने भी काव्य हेतु माना है। **दण्डी** ने कारण तथा **रूद्रट** ने 'त्रितयमिद 'लिखकर इन तीनो को सम्मिलित रूप से काव्य का हेतु स्वीकार किया है किन्तु, पूर्वाचार्यों ने इस विषय मे कोई विशेष विवेचन नहीं किया है। **आचार्य मम्मट** की दृष्टि इस ओर गयी और उन्होने वृत्ति मे 'हेतु न हेतव' लिखकर स्पष्टत इन तीनो को समुदित रूप मे ही काव्य निर्माण व उसकी उत्कृष्टता का कारण बताया है।[3] जिस प्रकार दण्डचक आदि एक साथ घट के निर्माण मे कारण होते है। उसी प्रकार ये तीनो भी काव्य हेतु हैं। अरणि, तृण एव सूर्यकान्त मणि ये तीनो अग्नि उत्पत्ति का कारण होते हैं। ये पृथक्–पृथक् रूप से भी अग्नि को उत्पन्न कर सकते हैं किन्तु दण्ड, चक आदि पृथक् रहकर घट की उत्पत्ति नहीं कर सकते है। उसी प्रकार प्रतिभा, व्युत्पत्ति व अभ्यास परस्पर साकाक्ष रहकर ही काव्य की रचना के हेतु होते है।[4] पृथक्–पृथक् रूप से नहीं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रतिभा को काव्य–रचना का एक मात्र हेतु माना है।[5] प्रतिभा उत्पत्ति के दो कारणो का उल्लेख किया है। प्रथम हेतु–देवता या महापुरूष की प्रसन्नता से उत्पन्न अदृष्ट तथा द्वितीय हेतु–विलक्षण व्युत्पत्ति तथा अभ्यास।[6] इस प्रकार इन्होंने प्रतिभा को जन्मजात न मानकर अर्जित किया जाना वाला गुण माना है।

आचार्य वामन के अनुसार प्रतिभा के अभाव में व्युत्पत्ति तथा अभ्यास के द्वारा भी काव्य–रचना हो सकती है। इस प्रकार **आचार्य वामन** ने काव्य रचना के दो हेतु माने हैं। जन्मजात प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति व अभ्यास। **आचार्य जगन्नाथ** ने प्रतिभा के ही दो हेतु माने हैं। तात्पर्य यह कि **आचार्य वामन** एव **आचार्य जगन्नाथ** के हेतु निरूपण में अन्तर अवश्य है किन्तु **पण्डितराज जगन्नाथ** के काव्य–हेतु सम्बद्ध विवेचन पर **आचार्य वामन** का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। **आचार्य मम्मट** ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को समुदित रूप से काव्य हेतु माना है। इनका विवेचन विशद है तथा एक नवीन विचार धारा को उत्पन्न करने वाला है।

---

१ क) भामह, काव्या० १/५।
ख) आनन्द वर्धन, ध्वन्या० ४/६।
ग) सा केवलं काव्ये हेतुरिति यायावरीयः।
–राजशेखर, काव्य–मीमांसा, ६/११।

२ या विना काव्य न प्रसरेत् प्रसृत वा उपहसनीय स्यात्।
–मम्मट, काव्य–प्रकाश, १/३ की वृत्ति।

३ त्रयः समुदिता न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणसमुल्लासे च हेतुः न हेतव।
–मम्मट, काव्य प्रकाशः– १/३ की वृत्ति।

४ समुदिताः दण्ड चकादिन्यायेन परस्परसापेक्षाः।
व्यस्ताः तृणारणिमणिन्यायेन प्रत्येक कार्य जनकाः।
–वामन झलकीकार, बाल बोधिनी– पृ०–१३।

५ तस्य (काव्यस्य) च कारण कविगता केवला प्रतिभा।
–जगन्नाथ, रसगङ्गाधर प्र०आ० प्र०–८।

६ तस्याश्च हेतुः क्वचिद्देवतामहापुरूषदिजन्यमदृष्टम्।
क्वचिच्च विलक्षण व्युत्पत्ति काव्य करणाभ्यौ।।
–जगन्नाथ, रस गङ्गाधर, प्र०आ० पृ०–८।

इस प्रकार काव्य–शास्त्रकारो द्वारा विवेचित काव्य–हेतु का अध्ययन करने पर यह कहा जा सकता है कि काव्यशास्त्रकारो ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति व अभ्यास को ही स्पष्ट रूप से अथवा प्रकारान्तर से काव्य–हेतु स्वीकार किया है। इनमें भी प्रतिभा को प्रमुख या प्रधान हेतु माना गया है। **आचार्य मम्मट** तथा **पण्डितराज जगन्नाथ** ने इस विषय पर गम्भीरता व सूक्ष्मता से विचार किया है। **आचार्य मम्मट** ने पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य–हेतु को स्वीकार करते हुए हेतुओं के समन्वय पर विशेष बल दिया है। **पण्डितराज जगन्नाथ** ने 'प्रतिभा' को काव्य का एकमात्र हेतु मानकर व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को प्रतिभा का हेतु कहा है। इन्होने प्रतिभा को अर्जित हेतु माना है। इससे काव्यशास्त्रकारों के काव्य–हेतु विवेचन में मत वैभिन्य दिखाई पडता है। किन्तु काव्य–रचना के लिए प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास तीनो अनिवार्य हैं यह निर्विवादित है।

यहां प्रतिभा व्युत्पत्ति तथा अभ्यास के स्वरूप पर विचार करना प्रासङ्गिक है। आचार्यों द्वारा इन हेतुओ के स्वरूप का विवेचन द्रष्टव्य है।–

प्रतिभा– **वामन**[1] तथा **मम्मट**[2] ने प्रतिभा को जन्मजात तथा **जगन्नाथ**[3] में अर्जित सस्कार माना है। इन दोनो मतो का समन्वय **कुन्तक**[4] के मत मे परिलक्षित होता है। **आचार्य कुन्तक** प्रतिभा के विकास में पूर्वजन्म एवं वर्तमान दोनों संस्कारों का योगदान मानते हैं। **पण्डितराज जगन्नाथ** ने भी पूर्वजन्म के सस्कारो को कवि का आन्तरिक गुण माना है।

आचार्य रूद्रट ने कहा है कि मन एकाग्र होने पर प्रतिभा के द्वारा अनेक अर्थों का विस्फुरण होता है तथा सुन्दर पद स्वय प्रकट होते है। **आचार्य मम्मट** ने प्रतिभा को कवित्व का बीज तथा एक संस्कार–विशेष माना है। **मम्मट** का विचार है कि प्रतिभा के अभाव में पहले तो काव्य–रचना हो ही नहीं सकती और यदि हो भी जाती है तो विद्वानों के बीच समादृत नहीं होती।[5]

व्युत्पत्ति– लोक व्यवहार का ज्ञान, विभिन्न शास्त्रों तथा महाकवियों के काव्यों के अध्ययन से उत्पन्न ज्ञान ही व्युत्पत्ति है। **भामह**[6] तथा **वामन**[7] ने कवि को काव्य–रचना से पूर्व शब्दशास्त्र छन्दशास्त्र, इतिहास, दर्शन, कला आदि का पूर्ण अनुशीलन करने के लिए कहा है। **आचार्य मम्मट** ने व्युत्पत्ति को निपुणता कहा है तथा लोक, शास्त्र, काव्य आदि के अवेक्षण से उत्पन्न माना है।[8]

---

१. *जन्मान्तर संस्कारापेक्षिणी सहजा।*
–वामन, काव्या० सू० १/३/१६।

२. *शक्तिः कवित्व बीजरूपः सस्कार–विशेषः।*
–मम्मट, काव्य–प्रकाश, १/३ की वृत्ति।

३. *कवेः वर्णना निपुणस्य योऽन्तर्गतोऽनादिप्राक्तनसंस्कार प्रतिभानमयः।*
– जगन्नाथ, र० ग०, प्र० आ० पृष्ठ ८–९।

४. *प्राक्तनाद्यतनसस्कार परिपाक प्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः।*
– कुन्तक, वक्रोक्तिजीवित, १/२८ वृत्ति।

५. *शक्तिः कवित्वबीज रूपः सस्कार विशेषः यां विना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृत वा उपहसनीयं स्यात्।*
–मम्मट, काव्य–प्रकाश, १/३ की वृत्ति।

६ *भामह, काव्यालङ्कार १/९–१०।*

७. *वामन, काव्यालंङ्कारसूत्र १/३/२–३, ११।*

८. *निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।*
–मम्मट, काव्यप्रकाश, १/३।

आचार्य मम्मट ने 'लोक' का अभिप्राय स्थावर तथा जङ्गमात्मक लोक–वृत्त का विमर्श बताया है।[1] तात्पर्य यह कि कवि को सभी प्रकार के प्राणियो के व्यवहार का ज्ञान होना चाहिए। इस प्रकार कवि को लोक व्यवहार, शास्त्र, काव्य इतिहास आदि की पर्यालोचना करनी चाहिए जिससे इन सब का सम्यक् ज्ञान हो सके।

अभ्यास– 'प्रतिभा' व 'व्युत्पत्ति' के पश्चात् काव्य की रचना तथा काव्य की आलोचना के प्रति बारम्बार प्रवृत्ति होना काव्य की उत्कृष्टता के लिए आवश्यक है। **आचार्य वामन** ने काव्य–रचना के लिए वृद्ध सेवा की अनिवार्यता प्रतिपादित की है। **आचार्य मम्मट** ने भी काव्यज्ञ अर्थात् काव्य की रचना व आलोचना में निपुण व्यक्ति के निर्देशन में बारम्बार काव्य रचना एव काव्यसमालोचना करने को अभ्यास कहा है।[2] तात्पर्य यह है कि प्रतिभाशाली कवि शास्त्र आदि का अध्ययन करके काव्यज्ञ से निर्देश या शिक्षा प्राप्त करके बार–बार काव्य का निर्माण करता है। इससे वह शब्द आदि की योजना में कुशल हो जाता है। उत्तरोत्तर उसके काव्य में उत्कर्ष आता जाता है। **आचार्य भामह** ने भी कहा है कि काव्यज्ञ की उपासना से काव्य समादर प्राप्त करता है।[3]

काव्य–स्वरूप

'कवि' तथा 'काव्य' शब्द का प्रयोग वैदिक काल से ही प्राप्त होता रहा है। वेदो मे कवि को 'परिभू' 'मनीषी' तथा 'स्वयंभू' कहा गया है। देवों तथा ऋषियों के लिए भी कवि तथा काव्यों का ज्ञाता आदि विशेषण प्रयुक्त हुए है।[4] इसी प्रकार विष्णुपुराण में काव्य के महत्त्व को [illegible] करते हुए उसे विष्णु का शरीर कहा गया है।[5]

'कवि' शब्द कु शब्दे धातु में इ प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है। 'कवि' पद से 'गुणवचन ब्राह्मणादिभ्य कर्मणिच' सूत्र से कर्म तथा भाव अर्थ में ष्यञ् (य) प्रत्यय करने पर 'काव्य' पद की निष्पत्ति हुई है। इस प्रकार 'कवे कर्म काव्यम्' अर्थात् कवि का रचना रूप कर्म ही काव्य है, यह तात्पर्य हुआ।

---

१. *लोकस्य स्थावर जङ्गमात्मकस्य लोकवृत्तस्य, शास्त्राणा छन्दो व्याकरणाभिधानकोशकला[illegible]रगखड्गादि लक्षण ग्रन्थानाम् काव्याना महाकविसम्बन्धिनाम्, आदि ग्र[illegible]सादीनाञ्च विमर्शनाद् व्युत्पत्ति ।।*
–तदेव, १/३ की वृत्ति।

२. *काव्यं कर्तुं विचारयितु च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणेयोजने च पौनः पुन्येन प्रवृत्तिरिति।*
– मम्मट, काव्यप्रकाश १/३ की वृत्ति।

३ *शब्दाभिधेय विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम्।*
वि[illegible]च कार्यः काव्य समादरः ।।
–भामह, काव्यालङ्कार १/१०।

४ क) *अग्निर्विश्वानि काव्यानि विद्वान्।*
–ऋग्वेद ३/१/१८।

ख) *देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।*
–अथर्ववेद १०८/३२।

५ *काव्यालापश्च ये केचिद् गीतकान्यखिलानि च।*
शब्दमूर्तिधरस्यैतद् वपुर्विष्णोर्महात्मनः ।।
–वि० पु० २२/८५।

आचार्य मम्मट ने मुखादि को कमलरूप मे वर्णित करने वाले चमत्कार–युक्त कथनो मे निपुण कवियो के असाधारण वर्णनात्मक कर्म को काव्य कहा है।[1]

काव्य–शास्त्रो मे काव्य के स्वरूप का विवेचन प्रमुख विषय रहा है। यहाँ प्रमुख काव्य–शास्त्रकारो का काव्य–स्वरूप–विवेचन द्रष्टव्य है।

आचार्य भामह को काव्य का लक्षण करने वाला प्रथम आचार्य माना जा सकता है। इन्होंने शब्द तथा अर्थ के साहित्य को काव्य कहा है।[2] शब्द तथा अर्थ के सहभाव और सम्मिश्रण मे ही काव्य का स्वरूप निहित है, **आचार्य भामह** ने यह निर्धारित किया है। जो परवर्ती काल में मान्य हुआ। शब्द तथा अर्थ का विशेष साहित्य या सहभाव की परवर्ती काल में विवेचना का विषय रहा है।

आचार्य भामह का काव्यलक्षण सङ्क्षिप्त है, किन्तु काव्य के अतिरिक्त व्याकरण आदि ग्रन्थों में भी घटित होता है। अत इसमें अतिव्याप्ति दोष है।

आचार्य दण्डी ने 'शब्दार्थौ' तथा 'सहितौ' को ग्रहण नहीं किया है। इन्होंने ऐसे पद समूह को काव्य कहा है जो अभिलषित अर्थ से सुशोभित हो।[3] काव्य लक्षण मे आये 'इष्टार्थ' पद का अर्थ रसादि के सन्निवेश से मनोहर अर्थ तथा 'व्यवच्छिन्ना' पद का अर्थ चमत्कार विशेष को उत्पन्न करने वाला कहा है।[4] इस प्रकार **आचार्य दण्डी** के काव्य–लक्षण में रस तथा चमत्कार दोनों का सन्निवेश हुआ है। इन्होने पदसमूह को काव्य माना है। **आचार्य दण्डी** ने अर्थ तथा पद–समूह दोनों की विशेषता प्रतिपादित करने का प्रयास किया है।

आचार्य वामन ने काव्य–स्वरूप पर व्यापक दृष्टि डाली है। काव्य को सौन्दर्ययुक्त करने के लिए काव्य में गुणों तथा [illegible] का ग्रहण तथा दोषों के त्याग को इन्होंने स्वीकार किया है।[5] काव्य के आत्मतत्त्व पर भी उन्होंने ही सर्वप्रथम विचार किया है।[6] यह बात और है कि परवर्ती काल में काव्यत्व स्वीकार करते हुए काव्य में सौन्दर्य या विशेष चमत्कार का उल्लेख भी **आचार्य वामन** ने किया है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इन्होंने गुणों को अलङ्कारों से अधिक महत्त्व दिया है।

आचार्य आनन्द वर्धन ने काव्य–स्वरूप निरूपित करने के लिए पृथक् रूप से कुछ नहीं लिखा है। किन्तु इनके द्वारा **ध्वन्यालोक** में यत्र–तत्र प्रतिपादित विचारों के आधार पर काव्य का स्वरूप निर्धारित किया जा सकता है। इन्होंने काव्य में रस को अङ्गी तथा शब्द और अर्थ को अङ्ग माना है। गुणों को अङ्गी रूप

---

१ *यत्काव्य लोकोत्तरवर्णनानिपुण कविकर्म:।*
—मम्मट, का० प्र० १/२ की वृत्ति।

२. *शब्दार्थौ सहितौकाव्यम्।*
—भामह, काव्यालङ्कार: १/१६।

३. *शरीरं तावदिष्टार्थ [illegible] पदावली।*
— दण्डी, [illegible] १/१०।

४ *इष्टा: मनोहरारसाद्यनुगतत्वेन हृद्यायेऽर्था वाच्यादिभेदेन त्रिप्रकारा:*
तै व्यवच्छिन्ना मण्डिता चमत्कार [illegible] नामावली
—दण्डी, काव्यादर्श १/१० पर नृसिहदेव शास्त्रीकृत टीका, पृ०सं०-७१।

५. *काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्।। सौन्दर्यमलङ्कार:।।*
सदा[illegible] हानदानोभ्याम्।।
—वामन, काव्यालङ्कार १/१/१–३।

६. *काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कार संस्कृतयो: शब्दार्थयो वर्तते।*
—तदेव, १/१/३ की वृत्ति।

रस पर आश्रित माना है।[1] इनका यह विवेचन काव्य–शास्त्रकारो के विवेचन का आधार बना है तथा काव्य मे सभी काव्य–तत्वो की स्थिति का स्पष्ट रूप से निर्धारण करने मे सहायक हुआ है।

आचार्य राजशेखर का काव्य–स्वरूप निरूपण मे कोई विशेष योगदान तो नहीं है किन्तु इनके द्वारा प्रतिपादित 'काव्य–पुरूष' की कल्पना उल्लेखनीय है। इन्होने काव्य की एक पुरूष रूप मे कल्पना की है। जिसमें 'शब्दार्थ' काव्य रूपी पुरूष का शरीर है, 'रस' आत्मा है अनुप्रासादि अलङ्कार आभूषण है, माधुर्य, ओज आदि गुण है।[2] यह चित्र या रूपक प्रस्तुत करना इनकी मौलिक उपलब्धि है। इसके पूर्व **आचार्य आनन्द वर्धन** ने रस, गुण आदि की काव्यगत स्थिति का निरूण्ण कर दिया था।

आचार्य कुन्तक ने व्यवस्थित काव्य–लक्षण प्रस्तुत किया है। इन्होने काव्य–लक्षण मे अलङ्कार, गुण तथा रस के साथ ही आह्लादकता तथा वक्रोक्ति से उत्पन्न चमत्कार का भी समावेश किया है।[3] शब्द तथा अर्थ के सहभाव या साहित्य की विशद विवेचना प्रस्तुत करके **भामह** के काव्य स्वरूप के 'सहितौ' पद की स्पष्ट व्याख्या करने का प्रयत्न किया हैं।[4] इन्होने अलङ्कारो को स्वरूपाधायक मानते हुए काव्य मे उनकी अनिवार्य स्थिति पर बल दिया है।[5] इस प्रकार **आचार्य आनन्दवर्धन** द्वारा प्रतिपादित विचार का एक प्रकार से खण्डन किया है। अलङ्कारों को **आनन्द वर्धन** ने शोभावर्धक ही माना है स्वरूप–विधायक नहीं। **कुन्तक** के अनुसार वक्रोक्ति ही एकमात्र अलङ्कार है। शब्द तथा अर्थ अलङ्कार्य है। **आचार्य कुन्तक** ने काव्य–स्वरूप में [illegible] का निरूपण नहीं किया है।

पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रकारों के मत का समन्वित रूप **आचार्य भोजराज** के काव्य–स्वरूपनिरूपण में दिखाई पडता है। **आचार्य कुन्तक** ने सहृदयों को प्राप्त होने वाली आह्लादकता का समावेश काव्य–लक्षण में किया था वहीं इन्होंने कवि के लिए 'कीर्ति' व 'प्रीति' अर्थात् आनन्द का सन्निवेश काव्य–लक्षण में किया है।[6]

आचार्य मम्मट ने पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्य–लक्षण विषयक मान्यताओं का सम्यक् अनुशीलन करके अपना काव्य–लक्षण प्रस्तुत किया है।[7] इन्होंने शब्दार्थौ, सगुणौ, अदोषौ पदों को तो ग्रहण किया ही है। इसके

---

१ *तमर्थमवलम्बते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।*
अङ्गाश्रित[illegible] मन्तव्या कटकादिवत्।।
–आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक २/६।

२ *शब्दार्थौ ते शरीर ......सम. प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वीचासि। ...*
रस आत्मा....... अनुप्रासोपमादयश्च [illegible]।
–राजशेखर, काव्य मीमांसा, तृतीय अध्याय, पृ०–३।

३ *शब्दार्थौ स[illegible]तौवक्रकविव्यापारशालिनी।*
बन्धेव्यवस्थितौकाव्य त[illegible]दाह्लादकारिणी।।
–कुन्तक, व० जी० १/७।

४. *साहित्यमनयोः [illegible]तां प्रति क्वाप्यसौ।*
अन्यूनातिरिक्तत्वं मनोहारिण्यवस्थितिः ।।
–तदेव, १/१७।

५. *तदुपायतया तत्त्वं सालङ्कारस्य काव्यता।*
–तदेव, १/६।

६ *अदोषंगुणवत् काव्यमलङ्कारैरलङ्कृ[illegible]म्।*
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिच विन्दति।।
–भोजराज, स० क०१/२

७ *तददोषौशब्दार्थौसगुणावनलङ्कृतीपुनःक्वापि।*
–मम्मट का०प्र० १/४।

साथ ही 'अनलङ्कृती पुन क्वापि' लिखकर पूर्ववर्ती आचार्यों की इस भ्रान्ति का भी बडी विनम्रता के साथ खण्डन किया है कि अलङ्कार काव्य मे स्वरूपाधायक तत्त्व है।

मम्मट के अनुसार काव्य मे रस की प्रधानता होने पर स्फुट अलङ्कार न होने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती है।[1] इससे यह भी स्पष्ट होता है कि अलङ्कारो की काव्य मे अविचल स्थिति नहीं होती है। वस्तुत यदि अलङ्कारों से काव्य की शोभा वृद्धि होती है तो उनका महत्त्व है। यदि उनसे काव्य की शोभावृद्धि नहीं होती तो उनका महत्त्व नहीं है। गुणो की काव्य मे अविचल स्थिति है। गुण अङ्गीभूत रस के धर्म है। काव्य–लक्षण मे 'सगुणौ' पद से काव्य में रसयुक्तता व्यञ्जित होती है। इस प्रकार रस का अभिधान न करके इन्होने रस की अलौकिकता तथा अवाच्यता का प्रतिपादन भी कर दिया है। 'सगुणौ' आदि मेंप्रयुक्त द्विवचन शब्द व अर्थ के अलौकिक साहित्य को प्रकट करता है।

भामह आदि आचार्यों ने अलङ्कारों को काव्य में सर्वाधिक महत्त्व दिया है। **आचार्य मम्मट** ने काव्य में रस को प्रधान तत्त्व के रूप मे प्रतिपादित किया है। **आचार्य मम्मट** ने उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है कि स्फुट अलङ्कार न होने पर भी यदि काव्य में रस प्रधान रूप से अभिव्यक्त हो रहा है तो काव्यत्व की हानि नहीं होगी। 'य कौमारहर' [2] इस उदाहरण में स्फुट रूप से कोई अलङ्कार नहीं है किन्तु विप्रलम्भ शृंगार की स्फुटतया प्रतीति होती है। इसलिए यह उत्तम काव्य का उदाहरण है।

आचार्य विश्वनाथ ने 'रसात्मक वाक्य'[3] को काव्य कहा है। पूर्वाचार्यों ने भी रस को काव्य के प्रधानतत्त्व के रूप में वर्णित किया है। उसी आधार पर **आचार्य विश्वनाथ** रस को काव्य का जीवनाधायक मानते हैं।[4] इस प्रसङ्ग में इन्होंने आनन्दवर्धन व्यक्ति विवेक तथा ध्वन्यालोक के वाक्यों को उद्धृत करके अपने कथन की पुष्टि की है। जिस वाक्य में रस नहीं है वह काव्य नहीं है।[5] जैसे 'देवदत्तो ग्राम याति' इस वाक्य में नौकर द्वारा अनुकरण रूप व्यङ्ग्यार्थ उपस्थित होता है किन्तु इस वाक्य में कोई रस न होने से यह काव्य नहीं है। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यातव्य है कि काव्य का उद्देश्य रसास्वादन द्वारा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का उपदेश देना है। यह इस वाक्य से ज्ञात नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि व्यङ्ग्यार्थ उपस्थित करने वाला

---

१. *क्वापीत्यनेनैतदाह यत्सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्तु स्फुटालङ्कार विरहेऽपि न काव्यत्व हानिः।*
–तदेव १/४ की वृत्ति।

२. *यः कौमारहरः स एव हिवरस्ता एव चैत्रक्षपा*
स्ते चोन्मीलित मालती सुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापार लीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरूतले चेतः समुत्कण्ठते।।
–मम्मट का० प्र० उदा० १।

३. *वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।*
–विश्वनाथ सा०द० १/३।

४ *रस एवात्मासाररूपतया जीवनाधायकायस्य,तेनविनातस्यकाव्यत्वाऽभावस्य प्रतिपादितत्वात्।*
–तदेव, १/३ की वृत्ति

५ क) *[illegible]नेऽपि रस एवात्र जीवितम् – [illegible]*
ख) *का[illegible]त्मनि संज्ञिनि, रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः। महिमभट्ट, व्यक्तिविवेक*
ग) *नहि कवेरितिवृत्तमात्र निर्वाहिणात्मपदलाभः, इतिहासादेरेतत्सिद्धेः।*
–आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक।
घ) *देवदत्तो ग्राम याति इतिवाक्ये तद्भृत्यस्य तदनुसरण रूपव्यङ्ग्यावगतेऽपि काव्यत्वं स्यात्। अस्त्विति चेत् ? रसवत् एवं [illegible]काकारात्।*
–विश्वनाथ, सा० द० १/३ की वृत्ति।

कोई भी वाक्य काव्य नहीं हो सकता है। काव्यत्व के लिए वाक्य का रसयुक्तत्व अनिवार्य है।

आचार्य विश्वनाथ ने काव्य–लक्षण प्रस्तुत करने से पहले पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रकारों के काव्य–लक्षण–विषयक मत का खण्डन किया है। इसमें **आचार्य मम्मट** के मत का विशेषत विस्तारपूर्वक खण्डन किया है। उल्लेख्य है कि **आचार्य मम्मट** के टीकाकारो ने **विश्वनाथ** के मत का विचारपूर्ण खण्डन करके **मम्मट** के मत को पुन स्थापित कर दिया है। परन्तु **मम्मट** के काव्य–लक्षण के प्रत्येक पद का विश्लेषण करके उनका खण्डन प्रस्तुत करना **आचार्य विश्वनाथ** की सूक्ष्म, विचारपूर्ण तार्किक दृष्टि का परिचायक है।

आचार्य जगन्नाथ के अनुसार'रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य' है। रमणीयता को उन्होने लोकोत्तर आह्लाद जनक ज्ञान माना है।[1] यहाँ अर्थ से अभिधेय, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य तीनों अर्थों का ग्रहण होता है। जिस अर्थ से लोकोत्तर आह्लाद की प्राप्ति हो उस अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा जायेगा। यह लोकोत्तर आह्लादगत चमत्कार है। जो अनुभव साक्षिक एक जाति विशेष है। 'अनुभव साक्षिक' का तात्पर्य है कि इसकी अनुभूति मे सहृदय का ज्ञान ही प्रमाण है।

पण्डितराज का विचार है कि लोकोत्तर आह्लाद को उत्पन्न करने वाली रमणीयता का कारण एक भावना विशेष है। यह भावना सहृदय द्वारा विशेष अर्थ के प्रतिपादक शब्दों के बारम्बार अनुसधान करने से उत्पन्न होने वाला अनुभव है।[2] इसी से सहृदय को अलौकिक आनन्द का अनुभव होता है। जिस अर्थ–विशेष का पुन पुन अनुसधान करने से सहृदय को अलौकिक आनन्द का अनुभव होता है उस अर्थ–विशेष का प्रतिपादक शब्द काव्य है।

इस प्रकार **आचार्य जगन्नाथ** ने काव्य का सामान्य लक्षण प्रस्तुत करने के पश्चात् 'परिष्कृत' तथा 'फलित' लक्षण भी प्रस्तुत किया है।

परिष्कृत लक्षण में इन्होंने सामान्य लक्षण को और भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है। जिस अर्थ से चमत्कार या अलौकिक आनन्द की प्राप्ति हो उस अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य है। इसी प्रकार चमत्कारजनक भावना को उत्पन्न करने वाले अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य है।[3]

फलित लक्षण में चमत्कार को काव्य का प्रधान तत्त्व प्रतिपादित किया है। यह स्मरणीय है कि 'चमत्कार' 'रमणीय' के पर्याय रूप में ग्रहीत है। रमणीय अर्थ को प्रतिपादित करने वाला शब्द ही काव्य है। यह काव्य का फलित लक्षण है।[4]

इस प्रकार काव्य का सामान्य, परिष्कृत तथा फलित लक्षण प्रस्तुत करके **आचार्य जगन्नाथ** ने सर्वथा नवीन शैली का प्रयोग किया है। यद्यपि मूल रूप से इनके लक्षण में कोई नवीनता नहीं है किन्तु प्रतिपादित

---

1 *रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दःकाव्यम्।*
रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनक ज्ञान गोचरता।
लोकोत्तरत्व चाह्लागतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जाति विशेषः।
–जगन्नाथ, र० गं०, प्र० आ०, पृ०–४।

२. *कारण च तदवच्छिन्ने भावना विशेषः पुनः पुनरनुसंधानात्म।*
–जगन्नाथ, रस गंगाधर, पृष्ठ–४।

३. *इत्थं च चमत्कार जनक भावना विषयार्थ प्रतिपादक शब्दत्वंयत्प्रति*
पादितार्थ विषयक भावनात्वंचमत्कारजनकतावच्छेदकतत्वम्।
–जगन्नाथ, र०गं०, पृ०–५।

४. *एवं विशिष्टजनकतावच्छेदकार्थ प्रतिपादकता संसर्गेण च मत्कारत्वमव वा काव्यत्वमितिफलितम्।*
–तदेव, पृष्ठ–५।

करने की शैली मौलिक है। काव्य मे चमत्कार तथा रमणीयता को पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी निरूपित किया है।[3] इसके अतिरिक्त जिस अनुसधान रूप भावना का उल्लेख इन्होंने किया है, उसे ही अभ्यास रूप हेतु कहा गया है। सहृदय को भी काव्य–अनुशीलन का अभ्यासी कहा गया है।

आचार्य विश्वनाथ के समान इन्होंने पूर्वाचार्यों **आचार्य मम्मट** तथा **आचार्य विश्वनाथ** के काव्य लक्षण का खण्डन किया है। इन्होने भी विशेष रूप से **आचार्य मम्मट** के काव्य–लक्षण का खण्डन किया है। **आचार्य मम्मट** के 'शब्दार्थों' पद को तथा विश्वनाथ के 'रसात्मक' पद को **आचार्य जगन्नाथ** ने समीचीन नहीं माना है। उल्लेखनीय है कि **आचार्य विश्वनाथ** शब्द में काव्यत्व स्वीकार करते हैं।

आचार्य जगन्नाथ के पश्चात् काव्य'–स्वरूप पर किसी काव्यशास्त्रकार ने मौलिक तथा उल्लेखनीय तथ्य प्रस्तुत नहीं किया है। **आचार्य विश्वेश्वर** ने नव्य न्याय शैली में काव्य–लक्षण पर विचार किया है।

प्रस्तुत स्थल मे यह उल्लिखित करना प्रासङ्गिक है कि कतिपय आचार्यों ने काव्य–लक्षण तो प्रस्तुत नहीं किया है। परन्तु, उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों से काव्य–विषयक विचार का ज्ञान होता है। यथा **भरतमुनि** ने रस को महत्त्व देकर काव्य में रस के प्रधानभूत महत्त्व को व्यक्त किया है।

इस प्रकार काव्य–लक्षण पर काव्य– शास्त्रकारों के विचार का परिशीलन करने पर ज्ञात होता है कि काव्य के स्वरूप पर विचार **भामह** से ही प्रारम्भ हो गया था। जो **आचार्य विश्वेश्वर** तक अनवरत चलता रहा है। **आचार्य भामह** की दृष्टि काव्य के शरीर स्थानीय शब्दार्थ पर गयी है शब्द तथा अर्थ के साहित्य को प्रतिपादित **करके आचार्य भामह** ने परवर्ती काव्य शास्त्रकारों को एक मौलिक चिन्तन की दिशा प्रदान की है।

काव्य में आह्लादकता का निवेश **करके आचार्य दण्डी** ने **वामन** को काव्य के आत्मतत्त्व का अनुसंधान करने के लिए प्रेरित किया । काव्य–स्वरूप में महत्त्वपूर्ण तत्त्व गुण को काव्यात्मा 'रीति' से सम्बद्ध करके काव्य में गुण की अचल सत्ता को भी व्यक्त किया है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य में रस तत्त्व को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हुए गुण तथा अलङ्कार की काव्यगत स्थिति को भी स्पष्ट किया हैं इनके पश्चात् काव्य–स्वरूप निरूपण को व्यापक दृष्टि प्राप्त हुई जिसका प्रभाव **आचार्य कुन्तक** के काव्य–लक्षण में देखा जा सकता है।

विचारणीय है कि **आचार्य भोज** ने सर्वप्रथम काव्य स्वरूप में दोषों की हेयता को ग्रहण किया है। **आचार्य वामन** ने सौन्दर्य की व्याख्या करते हुए दोषों के त्याग व गुणों के ग्रहण की चर्चा की थी परन्तु काव्य–लक्षण में 'अदोष' पद का स्पष्ट उल्लेख **भोज** ने किया है।

आचार्य मम्मट ने परिमार्जित काव्य–लक्षण प्रस्तुत किया है। काव्य में रस तत्त्व की व्यञ्जना करते हुए इन्होंने गुण तथा अलङ्कारों की काव्यगत स्थिति को व्यक्त किया है। 'अनलङ्कृती पुन.क्वापि' कहकर अलङ्कारों की अपेक्षा गुण के महत्त्वको प्रतिपादित किया हैं।शब्द तथा अर्थ दोनो को समुदित रूप से काव्य स्वीकार किया हैं।

मम्मट के पश्चात् **विश्वनाथ** तथा **जगन्नाथ** ने काव्य के प्रधान–तत्त्व के आधार पर काव्य'–लक्षण प्रस्तुत किया है। इन दोनों आचार्यों का लक्षण संक्षिप्त तथा सारगर्भित है। परन्तु इससे काव्य–स्वरूप का पूर्ण रूप स्पष्ट नहीं होता है।

विवेचनीय है कि काव्य–स्वरूप में दोषों की हेयता या त्याग का विचार **भरत** से ही प्रारम्भ हो गया था जिसे **आचार्य आनन्दवर्धन** ने व्यवस्थित रूप प्रदान किया तथा **भोज**, **मम्मट** आदि आचार्यों ने परिपुष्टि प्रदान की है।

---

३. *येषांकाव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूर्तेमनोमुकुरे वर्णनीयंभवनयाभ्यताते स्वहृदयसवादभाजः सहृदयाः।*

—आनन्द वर्धन, ध्व० १, प्र०उ०, पृ० ३८–३९ (लोचना सहित, का० मा० सीरीज़)

काव्य में रस को प्रधान तत्त्व माना गया है। यह धारणा **भरत** से प्रारम्भ हुई जिसे **आनन्दवर्धन** ने दृढता प्रदान की तथा **मम्मट, विश्वनाथ** आदि आचार्यों ने पूर्णतः स्थापित कर दिया।

काव्य का वैशिष्ट्य

काव्य रूपीससार का निर्माण कवि के द्वारा होता है। कवि अपनी इच्छानुसार इस काव्य–ससार में परिवर्तन तथा परिवर्धन करता रहता है।[1] यह काव्य सृष्टि आद्यन्त रहित है। **आचार्य मम्मट** ने 'काव्य की विशेषता प्रतिपादित करने के लिए 'काव्य' को ब्रहमा की सृष्टि से भी विलक्षण बताया है। इन्होने 'काव्य' में ब्रहमा की सृष्टि की अपेक्षा चार विशेषताओं का उल्लेख किया है। कवि–कृति नियति कृत नियमो से रहित, केवल आ ... य, अनन्यपरतन्त्र तथा नव रसो से रूचिर है।[2]

काव्य की प्रथम विशेषता **नियतिकृतनियमों से रहित** है। 'नियति' शब्द के दो अर्थ यहाँ लिये जा सकते हैं; प्रकृति तथा देव या भाग्य। प्रकृति नियमों से बधी है। यहाँ सूर्योदय तथा सूर्यास्त भी नियत है तथा पुष्प–विशेष से सुगन्ध–विशेष ही उत्पन्न होती है। इसी प्रकार श्रेष्ठ कर्मों के द्वारा मनुष्य का [illegible] होता है और वह मरणोपरान्त मोक्ष को या स्वर्गलोक को प्राप्त करता है। किन्तु काव्य में सुन्दरी का मुख या कोई सत्कर्म भी सुगन्ध को उत्पन्न कर सकता है तथा सशरीर भी स्वर्ग की प्राप्ति सम्मव है।[3] इसलिए कवि की रचना विलक्षण है।

कवि सृष्टि की द्वितीय विशेषता उसका **केवल आनन्द स्वरूप** होना है। काव्य से सदैव आह्लाद की ही प्राप्ति होती है। काव्य का प्रयोजन ही आहलादकता है। इसमें करूण, भयानक, वीभत्सादि रस भी विलक्षण आनन्द का ही अनुभव कराते हैं। दुखादि का नहीं।[4] जबकि ब्रहमा की सृष्टि सुख, दुख तथा मोह स्वभाव वाली है।

कवि की सृष्टि केवल कवि की प्रतिभा के आधीन है। इसके अतिरिक्त वह किसी अन्य के अधीन नहीं है। अनन्य परतन्त्राम् द्वारा यह प्रकट किया गया है। यहां 'परतन्त्र' शब्द का अर्थ अधीन है।[5] इससे ज्ञात होता है कि काव्य समवायी असमवायी तथा निमित्त इन तीनो कारणों के अधीन नहीं है।

कवि सृष्टि की चौथी विशेषता [illegible] है। ब्रह्मा की सृष्टि में मधुर, अम्ल, कटु, कषाय, लवण तथा तिक्त ये छः रस है। ये सभी रूचिकर भी नहीं है। जबकि 'काव्य में शृंगार ,करूण आदि नौ रसों को

---

१. *अपारे काव्य संसारे कविरेकः प्रजापति।। यथास्मैरोचते विश्वं तथैव परिवर्तते।।*

२. *नियति कृत नियम रहितां ह्लादैकमयीमनन्य पर तन्त्राम्।*
नव रसरूचिरा निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति।।
—मम्मट ,काव्य प्रकाश, १/१।

३. *स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनी। अस्या [illegible] रसा न्यक्करोतितरां [illegible] धाम्।*
—मम्मट, का० प्र०,उदाहरण–३४६।

४. *करूणादापि रसे जायतेयत् पर सुखम्।*
—विश्वनाथ, सा०द० ३/४।

५. *परतन्त्र पराधीनपरवान्नाथ वानपि। अधीनो निघ्न आयत्तो ऽस्वच्छन्दो गृह्यकोऽप्यसे।।*
—अमरकोश।

अभिव्यक्त करने वाले विभावादि होते हैं। जिससे सहृदय को आनन्द की ही प्राप्ति होती है। ये सभी आनन्दप्रद होने के कारण मनोहर ही होते है।[1]

कवि की सृष्टि ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा उत्कृष्ट है। **विल्हण** ने काव्य को अमृततुल्य कहा है।[2] **कुन्तक** ने भी शास्त्र को कटु औषधि व काव्य को आनन्ददायी अमृत कहा है।[3] **आचार्य विश्वनाथ** ने भी वेद शास्त्र को कटु औषधि तथा काव्य को श्वेत खाड के समान मधुर बताया है।[4]

वेद–शास्त्र, पुराण, इतिहास तथा लोक व्यवहार मे भी रसयुक्त या चमत्कार युक्त शब्दार्थ का प्रयोग होता है किन्तु इन्हे काव्या नहीं कहा जा सकता। काव्य का मुख्य प्रयोजन परम आनन्द है। जो रस के आस्वादन से सहृदय के हृदय में उत्पन्न होने वाला है। काव्यानन्द की अनुभूति के समय अन्य किसी वस्तु का ज्ञान नहीं रहता। यह आनन्द वेद, शास्त्र आदि के द्वारा सम्भव नहीं है। वेद, शास्त्र आदि मे प्रतिपादित तथ्यो तथा लोक व्यवहार के घटनाओं का ही वर्णन काव्य में किया जाता है। किन्तु, इसका इस प्रकार चमत्कारपूर्ण वर्णन किया जाता है; कि यह वेद, शास्त्र आदि से विलक्षण हो जाता है।

काव्य के भेद

काव्य शास्त्र के आचार्यों ने भिन्न विशेषताओं के आधार पर काव्य का वर्गीकरण या भेद किया है। काव्य के सम्यक् ज्ञान के लिए इन भेदो पर एक विहंगम दृष्टिपात प्रसगानुकूल है।

भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में काव्य भेदों में केवल दृश्यकाव्यों की गणना की है। यद्यपि वाचिक अभिनय में शब्द के प्रयोग आदि का विवेचन **नाट्यशास्त्र** में किया गया है।[5] **भरतमुनि** के पश्चात् **भामह** ने व्यापक दृष्टि अपनायी है। इन्होंने गद्य–पद्य रूप में काव्य के भेद किये हैं। उनके ये भेद वृत्तबन्ध तथा अवृत्तबन्ध के अनुसार किये गये हैं। इन भेदों के अतिरिक्त **भामह** ने भाषा, विषय तथा स्वरूप के आधार पर भी काव्य भेद किये है।[6] **आचार्य रूद्रट** ने इनके भाषा के आधार पर किये गये भेद का अनुकरण करके

---

१ *सकलप्रयोजनमौलिभूतंसमनन्तरमेव रसास्वादन-*
समुद्भूत विगलितवेद्यान्तरमान- म्।।
—मम्मट, काव्य प्रकाश, १/२ की वृत्ति से।

२ *साहित्य पयोनिधिमन्थनोत्थं काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्र'। विल्हण, विक्रमांकदेवचरित*

३ *कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम्।*
आह्लाद्यामृतवत् काव्यमविवेकगदापहम्।।
—कुन्तक, वक्रोक्ति जीवितम्, १/७ की वृत्ति।

४. *ननु तर्हि परिणतबुद्धिभिः सत्सु वेद शास्त्रेषु किमिति काव्ये यत्नः करणीय इत्यपि न वक्तव्यम्।*
कटुकौषधशमनीयस्य रोगस्य सितशर्करोपशमनीयत्वे कस्य वा रोगिणः सितशर्करा प्रवृतिः साधीयसी न स्यात्।।
—विश्वनाथ, सा०द० १/२ की वृत्ति।

५ *वाचियत्नस् कर्तव्यो नाट्यस्येयं तनुः स्मृता।*
अङ्गनैपथ्य तत्त्वानि वाक्यार्थ व्यञ्जयन्ति हि।।
—भरतमुनि, ना०शा०, १५/२।

६. *शब्दार्थौसहितौ काव्य गद्य पद्यं च तद्द्विधा।*
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा।
—भामह, काव्यालङ्कार, पृ० ६,१०।

काव्य–भेदो का निरूपण किया है।[1] **भामह** का भेद–निरूपण **भरतमुनि** की अपेक्षा विचार पूर्ण तथा स्पष्ट है। अभिनयार्थ भेद मे इन्होने नाटको का भी उल्लेख किया है।

आचार्य भामह के पश्चात् **आचार्य दण्डी** ने दृश्य काव्यो के लिए एक पृथक् भेद की कल्पना की है। **आचार्य दण्डी** ने काव्य के तीन भेद किये–गद्य पद्य तथा मिश्र[2] इन्होने मिश्र काव्य मे दृश्य काव्यो का अन्तर्भाव किया है।

आचार्य वामन ने काव्य–भेद–निरूपण मेसक्षिप्त व नवीन विचार प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इन्होने काव्य के दो ही भेद किये–गद्य तथा पद्य।[3] गद्य काव्य को प्रधान माना है। पुन गद्य पद्यमय काव्य के सम्मिलित रूप से दो भेद किये हैं– अनिबद्ध तथा निबद्ध।[4] इसमे निबद्ध काव्य के भेदो मे दशरूपक को श्रेष्ठ माना है[5] तथा आख्यायिका और महाकाव्य को दशरूपक का ही प्रपच माना है।[6] परवर्तीकाल में इनके भेद–विवेचन को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है।

आचार्य आनन्द वर्धन ने व्यग्यार्थ के आधार पर काव्य–भेदों का निरूपण किया है। इन्होने काव्य के तीन भेद–ध्वनि, गुणीभूत व्यग्य तथा चित्र काव्य किये है।[7] पूर्वाचार्य द्वारा निरूपित काव्य–भेदो का उल्लेख इन्होने किया है।[8] किन्तु उनका अनुकरण न करके सर्वथा नवीन विचार प्रस्तुत किया है।

आचार्य मम्मट ने **ध्वनिकार** का अनुकरण करते हुए काव्य–भेद में व्यग्यार्थ को ही आधार बनाया। इन्होंने उत्तम,मध्यम तथा अधम नामक तीन भेद किये।[9] जिसमें व्यग्यार्थ की प्रधानता होने पर उत्तम, गुणीभूत होने पर मध्यम तथा व्यग्यार्थ न होने पर अधम काव्य माना है।

---

१. *वाक्यं भवति द्वेधा गद्यं छन्दोगतञ्च भूयोऽपि।*
भाषाभेद निमित्तः षोढा भेदोऽस्य सम्भवति।।
–रूद्रट, काव्यालङ्कार, पृ० ३३।

२. *पद्यं गद्य च मिश्रञ्च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्।।*
–दण्डी, काव्यादर्श, १/११।

३. *काव्यगद्यं पद्य च।*
–वामन क्रा० सू०, १/३/२१।

४. *तदिदं गद्यपद्यरूपं काव्यमनिबद्धं निबद्धञ्च।*
–तदेव, १/३/२७, की वृत्ति।

५ *सन्दर्भेषु (प्रबन्धेषु) दशरूपकं श्रेयः।*
–तदेव, १/३/२०।

६. *दशरूपकस्यैव हीदं सर्वविलसितम्। यच्च कथाख्यायिके महाकाव्यमिति,*
–तदेव १/३/३२ की वृत्ति।

७ *गुण प्रधानाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैव व्यवस्थिते काव्येउभे ततोऽन्यद्यत् तच्चित्रमभिधीयते।*
–आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, ३/४२।

८ *यतः काव्यस्य प्रभेदामुक्तक संस्कृतप्राकृतापभ्रंशनिबद्धम् ...... ।*
–तदेव ३/७

९ *इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः*
अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्य तु मध्यमम्।
शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्।
–मम्मट, का० प्र० १/४ का उत्तरार्द्ध तथा ५।

आचार्य विश्वनाथ ने व्यग्यार्थ [1] तथा वाह्य स्वरूप [2] दोनो के आधार पर काव्य–भेदो का निरूपण किया है। इस प्रकार इन्होंने **भरत** आदि नाट्यशास्त्रीय तथा **आनन्दवर्धन** आदि काव्यशास्त्रीय आचार्यों के मत का समन्वय किया है। व्यग्यार्थ के आधार पर काव्य के दो भेद किये है– ध्वनि काव्य तथा गुणीभूत काव्य। चित्र काव्य मे व्यग्यार्थ न होने के कारण उसे काव्य की श्रेणी मे नहीं रखा है। वाह्य स्वरूप के आधार पर दृश्य व श्रव्य नामक भेद किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के चार भेद किये है– उत्तमोत्तम, उत्तम मध्यम तथा अधम।[3] इनमे व्यग्यार्थ का वैचित्र्य होने पर मध्यम तथा शब्द से वैचित्र्य होने पर अधम काव्य माना है। इस प्रकार इन्होने ध्वनिकाव्य या मम्मटोक्त उत्तम काव्य को उत्तमोत्तम कहा तथा अधम काव्य को दो भागो मे विभक्त करके मध्यम तथा अधम वर्ग में परिगणित किया है।

भरत से **पण्डितराज** तक काव्य–भेदों के विवेचन का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि **भरतमुनि** की दृष्टि काव्य भेदो में मात्र दृश्य काव्यों पर ही स्थिर रही है। यद्यपि इन्होंने वाचिक अभिनय का उल्लेख किया है। किन्तु काव्य–भेदो के प्रसंग में श्रव्य–काव्यों की गणना नहीं की है। **भामह** ने व्यापक रूप से काव्य–भेदों का प्रतिपादन किया है। **भामह** का अनुकरण करके **दण्डी, वामन, रूद्रट** तथा **विश्वनाथ** ने भी काव्य–भेदो का निरूपण किया है। काव्य–भेदों का परिष्कृत व वैज्ञानिक निरूपण करने का श्रेय **आनन्दवर्धन** को है। इन्होंने ही सर्वप्रथम काव्य के अन्तर्पक्ष का निरीक्षण किया तथा उसके आधार पर काव्य–भेद प्रस्तुत किये। **आचार्य आन· वधन** का काव्य–भेद निरूपण ही परवर्ती काल में काव्य–भेद निरूपण के आधार रूप में स्वीकृत हुआ। **आचार्य मम्मट** ने उत्तम, मध्यम तथा अधम कहकर काव्य की उपादेयता के कम का निर्धारण कर दिया। जिससे परवर्ती काल में **आचार्य मम्मट** का काव्य–भेद अपेक्षाकृत अधिक मान्य हुआ।

काव्य–भेदों के विवेचन से स्पष्ट होता है कि काव्य–भेदों का विभाजन वाह्यरूप तथा अन्तर्पक्ष अर्थात् अर्थ के आधार पर किया गया है। इन भेदों का निरूपण प्रस्तुत प्रसग में अपेक्षित है। अतः सक्षिप्त रूप में उनका विवेचन द्रष्टव्य है।

'वाह्य स्वरूप' के आधार पर काव्य के मुख्य रूप से दो भेद हैं– दृश्य तथा श्रव्य। 'दृश्य काव्य' को ही 'रूपक' भी कहा जाता है। यह पुन· दो प्रकार का होता है। रूपक तथा उपरूपक। रूपक के दस प्रकार होते हैं। जो इस प्रकार है– नाटक, प्रकरण, अंक, व्यायोग, भाण, समवकार, बीथी, प्रहसन, डिम तथा ईहामृग।[4] उपरूपक के अट्ठारह भेदों की गणना साहित्य–दर्पण[5] में की गयी है। **आचार्य विश्वनाथ** ने ही सर्वप्रथम रूपकों का दो विभाग रूपक तथा उपरूपक के रूप में किया है। श्रव्य काव्य के मुख्य तीन भेद प्रतिपादित किये गये हैं– गद्य, पद्य तथा गद्यपद्यमय **आचार्य दण्डी** ने 'मिश्र' काव्य की कल्पना की है तथा इसके अन्तर्गत नाटकों की गणना की है किन्तु यह मत मान्य नहीं रहा है। छन्द रहित काव्य–रचना को गद्य कहा गया है। इसके कथा तथा आख्ययिका रूप दो भेदों का निरूपण **आचार्य विश्वनाथ** ने किया है।

---

१ *काव्य ध्वनिर्गुणीभूत व्यङ्ग्यं चेति द्विधामतम्।*
– विश्वनाथ, सा० द०.४/१।

२. *दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधामतम्।*
–तदेव, ६/१।

३. *तच्चोत्तमोत्तमोत्तममध्यमाधमभेदाच्चतुर्धा।*
–जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, प्र० आ०, पृष्ठ –६।

४. क) *भरतमुनि नाट्य शास्त्र – १८/२–३ ।*
ख) *विश्वनाथ, साहित्य दर्पण ६/३।*

५. *विश्वनाथ साहित्य – दर्पण ६/४–६।*

पद्यकाव्य छन्दोबद्ध काव्य रचना को कहा जाता है। इसके दो भेद प्रधान रूप से माने जाते है– अनिबद्ध काव्य, प्रबन्ध काव्य। अनिबद्ध काव्य भेद मे मुक्तक, युग्मक, [illegible], कलापक तथा कुलक की गणना की गयी है। प्रबन्ध काव्य मे –महाकाव्य, खण्डकाव्य रूप भेद माने गये है।

व्यग्यार्थ के आधार पर **आचार्य आनन्द वर्धन** ने काव्य के ध्वनि, गुणीभूत तथा चित्र काव्य नामक तीन भेद किये जिन्हे **आचार्य मम्मट** ने कमश· उत्तम मध्यम तथा अधम या अवर काव्य कहा है। इसमे ध्वनि काव्य मे व्यग्यार्थ की प्रधानता रहती है। गुणीभूत काव्य म व्यग्यार्थ,वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण या अप्रधान रूप से स्थित रहता है।

आचार्य विश्वनाथ चित्रकाव्य को काव्य–भेद ही नहीं मानते हैं। इन्हेंने रस को काव्य मे प्रधान माना है। रस सर्वदाव्यग्य ही होता है। अत· व्यग्यार्थ न होने पर चित्र काव्य की गणना काव्य में नहीं मानी है। **मम्मट** के 'अव्यग' पद के विषय मे इन्होंने कहा है कि यदि इसका अर्थ व्यग्य का अभाव है तो 'अधम काव्य' ही नहीं है।

यदि इसका अर्थ ईषत् व्यग्य माना जाय तो ईषत् व्यग्य आस्वाद्य होगा या अनास्वाद्य। आस्वाद्य होने पर ध्वनि या गुणीभूत में ही उसका अन्तर्भव माना जायेगा तथा अनास्वाद्य होने पर वह काव्य ही नहीं होगा।[1] **आचार्य आनन्द वर्धन** ने चित्र काव्य को मुख्य काव्य न मानकर काव्य की अनुकृति माना है।[2] चित्र काव्य में व्यग्यार्थ होता है,किन्तु स्फुटरूप से उसकी प्रतीति नहीं होती। शब्द व अर्थ वैचित्र्य के कारण विशेष व्यंग्यार्थ प्रकट नहीं हो पाता। कवि इस प्रकार के काव्य की रचना करते समय शब्दालकार तथा अर्थालंकार की योजना में ही तल्लीन रहता है। रस–योजना में उसका ध्यान नहीं रहता। गुण के व्यञ्जक शब्द तथा शब्दालंकार और अर्थालकार की योजना चित्रकाव्य में रहती है। इसलिए सहृदय का ध्यान सर्वप्रथम अलंकारों पर ही जाता है। उसके पश्चात् अलंकृत होने वाले रस पर। इसलिए **मम्मट** ने इसे काव्य की श्रेणी में रखकर अवर या अधम कहा है। अधम काव्य में गुणीभूत व्यग्य के भेद 'अस्फुट' के समान व्यंग्यार्थ क्लिष्ट नहीं होता वरन् इसमें स्पष्ट रूप से या स्फुट तया प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति नहीं होती है। **ध्वनिकार आनन्दवर्धन** ने भी इसे मुख्य काव्य नहीं माना क्योंकि इसमें विशेष व्यग्यार्थ को प्रकाशित करने की क्षमता नहीं रहती है।[3] इसलिए उसे काव्य न मानता समीचीन नहीं है।

इस प्रकार विचार करने पर ज्ञात होता है कि **आचार्य आनन्द वर्धन** कृत काव्य–भेद सर्वथा वैज्ञानिक है। यही कारण है' कि परवर्ती काल में इन्हीं के काव्य–भेद के आधार पर काव्य [illegible] ने काव्य–भेद किये हैं। जिसमें [illegible] लाने के प्रयास में **आचार्य विश्वनाथ** तथा **जगन्नाथ** का काव्य–भेद निरूपण सर्वथा समीचीन नहीं रहा है। **आचार्य मम्मट** ने विचारपूर्ण ढंग से इसका निरूपण किया है। काव्य के वाहृय स्वरूप पर आधृत विभाजन अधिक मान्य नहीं हुआ। अन्त में यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि काव्य–भेद का आधार व्यग्यार्थ को मानकर काव्य–शास्त्रकारों ने अपनी तीक्ष्ण विवेचन शक्ति व वैज्ञानिक निरूपण शैली का परिचय दिया है।

---

१. *तन्न। यदि अव्यङ्ग्यत्वन व्यङ्ग्याभावस्तदा तस्य काव्यत्वमपिनास्ति इति प्रागेवोक्तम्। ईषद् व्यङ्ग्यत्वमितिचेत् किं नामेषद्व्यङ्ग्यत्वम्? आस्वाद्यव्यङ्ग्यत्वमनास्वाद्यव्यङ्ग्यत्वं वा? आद्ये प्राचीनभेदयोरेवान्तःपातः द्वितीयेत्व काव्यत्वम्।*
–विश्वनाथ, साहित्य–दर्पण ४/अन्तिम भाग।

२ *न तन्मुख्यंकाव्यम्। काव्यानुकारी ह्रसौ।*
–आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक: ३/४३ की वृत्ति।

३. *ततोऽन्यद् रसभावादितात्पर्यर[illegible]तं व्यङ्ग्यार्थ विशेष प्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्य [illegible]त्र्य मात्रा श्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं [illegible]भासते तच्चित्रम्।*
–आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक–३/४३ की वृत्ति

प्रस्तुत स्थल पर काव्य से सम्बद्ध तथ्यो का निरूपण करते हुए काव्य–घटको-रस, गुणादि का नाम सकीर्तन अपरिहार्य था।परन्तु जहा तक घटको पर विचार करने का प्रश्न है तो इनमे से रस पर प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के तृतीय अध्याय मे तथा गुण, अलकार, रीति, वृत्ति एव प्रवृत्ति का षष्ठ अध्याय मे यथावसर अपेक्षित विवेचन किया जायेगा। जिसे उक्त अध्यायो मे देखा जा सकता है। किन्तु रस–दोष पर सविस्तार विचार करने से पूर्व उसकी पृष्ठभूमि के रूप मे रसादि से पहले काव्य दोष पर विचार करना आवश्यक हैं, जिससे रस–दोष के स्वरूप को स्पष्ट करने में प्रसगोपान्त सौकार्य होगा। अतएव द्वितीय अध्याय मे काव्य–दोष पर विचार किया जायेगा।

द्वितीय अध्याय : दोष

दोष का स्वरूप

दोष-विकास तथा विभाजन

दोष-परिहार

दोष का स्वरूप

काव्यशास्त्रकार काव्य मे दोषो को त्याज्य या हेय मानते है। आचार्यो ने दोषों को कुपुत्र के समान निन्दनीय तथा श्वेतकुष्ठ के समान चारूत्व को नष्ट करने वाला माना है।[1] यह निर्देश भी किया है कि जहाँ तक हो सके कवियो को काव्य–रचना के समय दोषों से दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए। काव्य में दोष की हेयता को देखकर दोष–स्वरूप के प्रति जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। शोध विषय के परिपेक्ष्य मे भी दोष–स्वरूप पर विचार करना अपेक्षित है।

दोष–विवेचन **भरत मुनि** से ही प्रारम्भ हो गया है। **भरतमुनि** ने दोषो को गुणो का अभाव माना है। इस प्रकार इन्होने दोषो की स्वतन्त्र स्थिति मानी है। दोष–स्वरूप पर विशद विवेचन **नाट्य–शास्त्र** मे प्राप्त नहीं होता है। दस–दोषो का निरूपण करने के पश्चात् **भरत मुनि** कहा है कि इनके विपरीत गुण होते हैं।[2] इससे स्पष्ट होता है कि दोष तथा गुण परस्पर विपरीत स्थिति वाले हैं। दोषमुख से गुणो का निरूपण करने से यह भी माना जा सकता है कि **भरतमुनि** के अनुसार गुणो को ग्रहण करने की अपेक्षा दोषो का त्याग करना अधिक आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि काव्यरचना मे कवि यदि गुणो के उपादान के प्रति पर्याप्त सचेष्ट नहीं है तो कवि क्षम्य हो सकता है परन्तु यदि दोषो के त्याग के प्रति वह पूर्णत सचेष्ट नहीं है। तो कवि कदापि क्षम्य नहीं है। ध्यातव्य है कि काव्य पूर्णत दोष–रहित नहीं हो सकता है।[3] अतः काव्यास्वाद को अपकर्षित करने वाले दोष ही त्याज्य हैं। **भरतमुनि** ने दोष–सामान्य पर दृष्टि अवश्य डाली है किन्तु उनका यह निरूपण दोष के स्वरूप को स्पष्ट करने मे समर्थ नहीं है।

भामह का दोष–विवेचन **भरतमुनि** की अपेक्षा व्यापक है। **भामह** ने यद्यपि दोष–सामान्य का लक्षण प्रस्तुत नहीं किया है तथापि इनके अनुसार काव्य–दोषों से वक्रोक्ति का हनन होता है तथा काव्य–शोभा भी अपकर्षित होती है। दोषों के कारण अर्थ का बोध भी भलीभाँति नहीं हो पाता है।[4] इस आधार पर यह कहा जा सकता है। **भामह** के अनुसार काव्य–शोभा के विघातक तत्त्व दोष हैं। इनसे सावधान रहने का निर्देश भी **भामह** ने दिया है। **आचार्य भामह** ने दोषो को कुपुत्र के समान निन्दनीय बताया है।इन्होंने दृढ़ता पूर्वक कहा है कि एक भी दुष्ट पद काव्य मे प्रयुक्त नहीं होना चाहिए क्योकि एक भी दोषयुक्त पद काव्य को निन्दनीय बना देता है।[5] जिस प्रकार कुपुत्र से पूरा कुल निन्दित हो जाता है। उसी प्रकार दोष से युक्त काव्य काव्यज्ञों के द्वारा निन्दित होता है। **भामह** दोषों के सर्वथा त्याग की बात कहते हैं जबकि **भरतमुनि** ने कहा है कि काव्य सर्वथा दोष मुक्त नहीं हो सकता है। इससे स्पष्ट होता हैं कि **भामह** की अपेक्षा **भरतमुनि** दोषों की स्थिति के विषय मे व्यापक दृष्टि रखते हैं। परवर्ती आचार्यो ने भी स्वीकार किया है कि काव्य मे दोषों का सर्वथा अभाव नहीं हो सकता। यह मानना समीचीन भी है क्योंकि, काव्य में कोई न कोई दोष सम्भव हो ही सकता है। त्याज्यदोष वही हैं। जो काव्यास्वाद के विघातक हो।

---

1 *—भामह, काव्यालङ्कार १/६ तथा काव्यादर्श १/७।*

२. *एते दोषास्तु विज्ञेया· सूरिभिर्नाटकाश्रया*
एतएव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः।
—भरतमुनि, ना० शा० १७/६५।

३ *न च किञ्चिद् गुणहीन दोषैपरिवर्जित न वा किञ्चित्।*
त[illegible] दोषा नात्यर्थतो ग्राहया ।।
—तदेव १७/४७।

४. *—भामह काव्या० १/४७,४८,४६।*

५. *सर्वथा पदमप्येक न निगद्यमवद्यवत्।*
विलक्ष्मणा हि काव्येन—दु·सुतेनेव निन्द्यते।
—भामह, काव्या १/६

दण्डी का दोष–निरूपण **भामह** पर आधृत है। दोष सामान्य का निरूपण **दण्डी** ने भी नहीं किया है। दोषो से दूर रहने का निर्देश देते हुए **दण्डी** दोषो को श्वेत कुष्ठ के समान मानते हैं। उनके अनुसार जिसप्रकार सुन्दर स्त्री के शरीर पर स्थित श्वेत कुष्ठ का एक चिह्न उसके सम्पूर्ण सौन्दर्य को नष्ट कर देता है। उसी प्रकार एक अल्प दोष भी काव्य के काव्यत्व को अपकर्षित कर देता है।[1] **भामह** के समान व्यावहारिक दृष्टि से दोष की हेयता को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। रूपवती स्त्री के शरीर पर स्थित श्वेत कुष्ठ का एक अल्प अथवा छोटा सा चिह्न उसकी सुन्दरता को अपकर्षित कर देता है। सुन्दर स्त्री के प्रति आकर्षण स्वाभाविक होता है। किन्तु उसके शरीर पर श्वेत कुष्ठ का चिह्न होने पर एक साधारण व्यक्ति भी उसके प्रति आकर्षित नहीं होता। इसी प्रकार काव्य के प्रति सहृदय का आकर्षण स्वाभाविक रूप से होता है किन्तु काव्य मे यदि एक भी दोष उपस्थित हो जाता है। तो काव्य के प्रति काव्यज्ञ का आकर्षण तत्काल नष्ट हो जाता है। **भामह** के समान **दण्डी** को भी काव्य मे एक दोष भी क्षम्य नहीं है। **दण्डी** के पश्चात् **वामन** ने दोष–विवेचन किया है। इनका दोष–निरूपण पूर्ववर्ती आचार्यो की अपेक्षा वैज्ञानिक, सूक्ष्म तथा युक्तिपूर्ण है।

आचार्य वामन ने गुणो के विपर्यय को दोष माना है।[2] इनका यह दोष–स्वरूप **आचार्य भरतमुनि** के दोष–स्वरूप के विपरीत है। **भरत** ने दोषो के विपरीत स्थिति को गुण कहा है तथा **वामन** ने गुणो के विपरीत स्थिति को दोष कहा है। **भरत** का दोष–स्वरूप निरूपण दोष–मुख से गुणो का परिचय कराता है और **वामन** ने गुण–मुख से दोष का निरूपण किया है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि **भरत** ने दोषत्याग को प्रमुखता दी है जबकि **वामन** ने गुणोपादान को महत्ता प्रदान की है। **वामन** के दोष–स्वरूप–निरूपण से काव्य मे गुणो की स्थिति को दृढता प्राप्त होती है। किन्तु गुण–विपर्यय को दोष मानना समीचीन प्रतीत नहीं होता। गुणो का रस–धर्मत्व सिद्ध होने पर सरस काव्य मे उनकी स्थिति प्राय· निश्चित ही है। ऐसी स्थिति मे यदि गुण सदैव सरस काव्य मे स्थित ही रहेगे तो दोष का सदैव अभाव ही बना रहेगा। नीरस तथा वस्तु मात्र व्यङ्ग्य काव्य मे भी गुण वाचक वर्ण उपलब्ध होते ही हैं। अत गुण के विपर्यय रूप वाले दोषो की स्थिति मानना उचित नहीं होगा।

वामन द्वारा गुणो के विपर्यय को दोष मानने से यह भी स्पष्ट होता है कि **वामन** काव्य मे गुणो की स्वतत्र सत्ता मानते हैं। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि इनके अनुसार काव्य में दोषों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यहाँ ध्यातव्य है कि दोषों की स्वतत्र सत्ता न मानने का तात्पर्य दोषों का अभाव नहीं है वरन् गुणो का ग्रहण अथवा उपादान अपेक्षित है यह व्यक्त होता है। **वामन** का दोष–स्वरूप परवर्ती काव्यशास्त्रकारों के लिए महत्त्वपूर्ण रहा है क्योंकि इनका दोष–स्वरूप काव्य में गुणों की महत्त्वपूर्ण स्थिति का ज्ञान कराता है।

आचार्य **आनन्दवर्धन** आचार्य **वामन** के परवर्ती है। वामन ने दोष–सामान्य का लक्षण प्रस्तुत किया है तथा दोषो का वर्गीकरण भी किया है किन्तु **आनन्दवर्धन** ने दोष–विवेचन पर विशेष ध्यान नहीं दिया हैं। **आनन्दवर्धन** ने दोष–सामान्य का लक्षण प्रस्तुत नहीं किया है। इन्होने दोषो का व्यवस्थित निरूपण भी नहीं किया है। यत्र–यत्र दोषो का परिचय प्रस्तुत किया है। **ध्वन्यालोक** के तृतीय उद्योत मे कुछ अश तक दोष–निरूपण प्राप्त होता है। ध्वनिकार **आनन्दवर्धन** के लिए ध्वनि का निरूपण ही प्रधान लक्ष्य था। सम्भवत· इसीलिए ध्वनिकार ने दोष–निरूपण को विशेष महत्त्व नहीं दिया है।

ध्वनिकार **आनन्दवर्धन** ने अनौचित्य को रसभङ्ग का कारण स्वीकार किया है। इनके अनुसार रसभङ्ग का एक मात्र कारण अनौचित्य अर्थात् उचित सन्निवेश नहीं होना है। यदि काव्य मे प्रत्येक काव्य तत्त्वो का उचित रूप से निरूपण नहीं किया जाता है तो सहृदय रस का पूर्ण आनन्द प्राप्त नहीं कर पाता है। काव्य

१ *तदल्पमपि नोपेक्ष्य काव्ये दुष्ट कथञ्चन।*
स्याद्वपु· सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।।
–दण्डी, काव्यादर्श १/७।

२ *गुण विपर्ययात्मानो दोषा·।*
–वामन, का०अ०सू० २/१/१।

में प्रत्येक तथ्य का उचित रूप से निबन्धन रस की अभिव्यक्ति का प्रधान कारण है।

ध्वनिवादी **आनन्दवर्धन** ने प्रसङ्गवश कवि के आधार पर दोषो को दो भागो मे विभाजित किया है। उनका विचार है कि कवि की अव्युत्पत्ति तथा अशक्ति रूप से दोष दो प्रकार के होते हैं। इसमें भी **आनन्द वर्धन** ने अशक्तिकृत दोष को अव्युत्पत्ति कृत दोष की अपेक्षा अधिक हेय माना है।[1] इस विवेचन से ज्ञात होता है कि ध्वनिवादियो ने गुण–विपर्यय या गुणाभाव रूप मे दोषों को नहीं माना है अपितु दोषो को भावात्मक ही माना है।

आनन्द वर्धन ने दोषो को काव्यात्मा रस के विघातक रूप मे प्रस्तुत करने का सर्वप्रथम प्रयास किया है। **वामन** ने दोषों को गुण विपर्यय माना है। इससे उनका दोष–स्वरूप भी रस से किञ्चित् सम्बद्ध होता है किन्तु **वामन** ने काव्यात्मा के रूप में रस को स्वीकार नहीं किया है।

आनन्दवर्धन का दोष–निरूपण परवर्ती **महिमभट्ट** तथा **मम्मट** आदि आचार्यों के लिए दोष निरूपण को दृढ़ आधार है। **आनन्दवर्धन** ने रस–विरोधी तत्त्वों का उल्लेख किया है। जिसे **मम्मट** ने रस–दोषों में परिगणित किया है।[2] **महिमभट्ट** तथा **मम्मट** आदि आचार्यों का दोष सामान्य का स्वरूप भी ध्वनिकार के अनौचित्य विषयक विचार का अनुकरण करता है।

आनन्दवर्धन के पश्चात् **महिमभट्ट** ने दोष–विवेचन मे उल्लेखनीय कार्य किया है। इन्होंने दोष सामान्य का लक्षण प्रस्तुत करने के अतिरिक्त दोषों का वर्गीकरण भी विशेष रूप से किया है। दोष के लिए 'अनौचित्य' पद का प्रयोग किया है। विधे· विमर्शादि दोषों का वर्णन करते हुए इन्हे 'दोष' शब्द से सञ्ज्ञित किया है।[3]

महिम भट्ट ने दोष–निरूपण के प्रसङ्ग में **ध्वनिकार** का समर्थन करते हुए अनौचित्य को अभीष्ट रसादि प्रतीति मे विघ्न कारक माना है। **आचार्य महिम भट्ट** ने दोष–सामान्य का लक्षण प्रस्तुत किया है विवक्षित अथवा अभिलषित कि वा अभीप्सित रस, भाव इत्यादि की झटिति अर्थात् अविलम्बित प्रतीति ही सहृदय को अभीष्ट होती है। अभीष्ट रसादि का आस्वादन न होने से दोष उपस्थित हो जाता है।[4]

आचार्य आनन्द वर्धन के अनुसार रस से सम्बद्ध या रस–विषयक औचित्य ही रस की सम्यक् अर्थात् निर्दुष्ट प्रतीति का कारण है। इसके विपरीत रस से सम्बद्ध अनौचित्य रस के अनास्वादन का कारण है। **आनन्दवर्धन** तथा **महिमभट्ट** के दोष–विवेचन से यह पूर्णत· स्पष्ट होता है कि दोषगुण के विपर्यय रूप नहीं है। **वामन** में गुण के विपर्यय को दोष माना है। इसके अतिरिक्त दोष को रस के अपकर्षक रूप में उपस्थित करके [illegible] **महिमभट्ट** ने ध्वनि का विरोध करने के लिए ही अपने ग्रन्थ **व्यक्ति–विवेक** की रचना की है।[5] किन्तु **आचार्य महिमभट्ट** का दोष–सामान्य अर्थात् अनौचित्य सामान्य का लक्षण पूर्णतया [illegible] **आनन्दवर्धन** के दोष–विवेचन से प्रभावित है।

आचार्य भोजराज ने दोष का सामान्य लक्षण हेय कहकर किया। उनकी दृष्टि में जो काव्य में अभिमत

---

१ *द्विविधोहिदोष· कवेरव्युत्पत्तिकृत अशक्तिकृतश्च। तत्राव्युत्पत्तिकृतो दोषःशक्ति तिरस्कृतत्वादेव कदाचिन्न लक्ष्यते। यस्त्वशक्तिकृतो दोषः स· झटिति प्रतीयते।*
–आनन्द वर्धन, ध्वन्या० ३/६ आलोक वृत्ति।

२ *–आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३/१८, १६।*

३ *–महिमभट्ट, व्यक्ति–विवेक, द्वितीय विमर्श।*

४ *एतस्य च विवक्षितरसादि प्रतीति विघ्नविधायित्व नाम सामान्य लक्षणम्।*
–तदेव, द्वितीय विमर्श।

५ *–तदेब, १/१।*

प्रतीति में व्यवधान उपस्थित करने वाले विघ्न रूप तत्त्व हैं। वे त्याज्य या हेय तत्त्व ही दोष कहे जाते हैं।[1] **आचार्य वामन** ने गुण के विपर्यय को दोष कहा है। **आचार्य भोजराज** ने 'अरीतिमत्' नामक वाक्य दोष का उल्लेख किया है। जो श्लेष आदि गुणो की विपरीत स्थिति में होता है।

व्यक्तिविवेककार **महिमभट्ट** के पश्चात् **मम्मट** ने दोष सामान्य का लक्षण प्रस्तुत किया है। **महिमभट्ट** ने 'अनौचित्य' पद का प्रयोग किया था किन्तु **मम्मट** ने 'दोष' शब्द का ही प्रयोग किया है। जो समीचीन भी प्रतीत होता है क्योकि अनौचित्य शब्द पर्याप्त व्यापक है।

मम्मट के अनुसार रस काव्य का प्रधान या मुख्य तत्त्व है। उसके अपघातक या अपकर्षक तत्त्व ही दोष है। रस-बोध में अपेक्षित होने के कारण वाच्य भी मुख्य कहा जाता है किन्तु वाच्य के लिए मुख्य पद का प्रयोग गौण है। वस्तुत रस ही मुख्य तत्त्व है। रस तथा वाच्यार्थ दोनों के लिए शब्द, वर्ण, तथा रचना की उपयोगिता है क्योंकि विभावादि की प्रतीति मे शब्दादि ही साधन है। तात्पर्य यह है कि रस की अभिव्यक्ति के लिए विभाव, अनुभाव आदि का वर्णन अपेक्षित होता है। विभावादि का वर्णन शब्दादि के द्वारा ही होता है। इसलिए शब्द, वर्ण रचना में भी दोष उपस्थित होता है।[2]

मम्मट का दोष-सामान्य निरूपण विचारणीय है। इन्होंने काव्य-स्वरूप में सर्वप्रथम 'अदोषौ' विशेषण को ग्रहण किया। इससे काव्य में सर्वप्रथम दोषो का त्याग करना चाहिए यह व्यक्त होता है। दोष परम हेय तत्त्व हैं।

ध्यातव्य है कि **मम्मट** ने 'निर्दोषौ' पद का प्रयोग नहीं किया है। तात्पर्य यह है कि **मम्मट** को दोषो का पूर्ण अभाव स्वीकार नहीं है। अपितु रस के अपघातक दोष ही परम त्याज्य है।[3] **भरतमुनि** ने भी स्वीकार किया है कि काव्यपूर्णत दोष मुक्त नहीं हो सकता ।[4]

काव्य स्वरूप में 'अदोषौ' पद का प्रयोग करके **मम्मट** ने **भरतमुनि** का समर्थन तथा **भामह** और **आचार्य दण्डी** के मत से वैभिन्न प्रकट किया है। यह माना जा सकता है। स्मरणीय है कि **भामह** तथा **दण्डी** काव्य में एक भी दोष की स्थिति स्वीकार नहीं करते है।[5] वस्तुत काव्य में एक भी दोष न हो यह सम्भव नहीं है। अतः **भरतमुनि** का विचार ही [illegible] है। **मम्मट** ने इस सूक्ष्मता से ग्रहण किया है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि मम्मट ने ध्वनि काव्य का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है।[6] उसमें भी अविमृष्ट विधेयांश नामक दोष माना जाता है। किन्तु उससे काव्यत्व की हानि न होने के कारण उस स्थल में उसकी परम हेयता नहीं है।

---

१. *दोषाः पदानां वाक्याना वाक्यार्थानांच षोडशः।*
हेया काव्ये कवीन्द्रैर्य तानेवादौ प्रचक्ष्महे।।
—भोजदेव, स० क० १/३।

२. *[illegible]र्थहतिं दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः।*
उभयोपयोगिनः स्यु. शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः।।
हतिरपकर्षः। शब्दाद्या इत्याद्य ग्रहणाद् वर्णरचने।
—मम्मट, काव्य-प्रकाश ७/४९ कारिका तथा वृत्ति।

३. *—द्रष्टव्य, मम्मट, का० प्र० १/४।*

४. *—द्रष्टव्य, भरत मुनि, ना० शा०, १७/४७*

५. *—द्रष्टव्य भामह, काव्यालङ्कार १/६ तथा दण्डी, काव्यादर्श, १/७।*

६. *न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राऽप्यसौ तापस*
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं, जीवत्यहो रावणः।
धिग्धिक्छक्रजित प्रबोधि तवता किं कुम्भकर्णेन वा,
[illegible]लुण्ठन वृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः।।

दोष सामान्य का स्वरूप निरूपित करते हुए **मम्मट** ने काव्य के प्रत्येक भाग में स्थित रहने वाले दोषों का सकेत किया है। प्रत्येक भाग कहने का तात्पर्य यह है कि शब्द, वर्ण, वाक्य तथा अर्थ आदि मे दोष होते हैं। ऐसा कहने से यह भी ज्ञात होता है कि रस तथा निरस दोनों प्रकार के काव्यों में दोष हो सकते हैं। सरस काव्य में रस की अनपकृष्ट तथा अविलम्बित प्रतीति सहृदय को प्राधान्येन इष्ट होती है। अत सरस काव्य मे रस की झटिति प्रतीत के बाधक तत्त्व दोष हैं।

नीरस काव्यों मे जहाँ वस्तु तथा अलङ्कार ही वस्तुत वर्णित होते हैं। वहाँ अर्थ की चमत्कारिणी तथा शीघ्र प्रतीति ही सहृदय को इष्ट होती है। इसलिए इन स्थलों पर अर्थ की चमत्कारपूर्ण प्रतीति के विघातक तत्त्व ही दोष कहे जाते हैं। **मम्मट** ने मुख्यार्थ की हति करने वाले को दोष कहा तथा **काव्य प्रकाश** के टीकाकार **गोविन्द ठक्कुर** ने अपनी **प्रदीप** नाम्नी टीका में 'हति 'शब्द का अर्थ स्पष्ट किया है। प्रदीपकार के अनुसार दोष–सामान्य को प्रतिपादित करने वाली कारिका में स्थित 'हति' पद का अर्थ है 'उद्‌देश्य भूत प्रतीति का विघात।[1] उद्‌देश्यभूत प्रतीति' का तात्पर्य है सरस काव्य में रस की तथा नीरस काव्य में चमत्कार पूर्ण अर्थ की झटिति, अविलम्बित अथवा शीघ्र प्रतीति होना। 'हति' शब्द का अर्थ रस का विनाश या अनुत्पत्ति नहीं है क्योकि, दोषयुक्तकाव्य में भी रस का अनुभव होता है। 'हति' शब्द रसभाव आदि का अपकर्षण मात्र करता है। उनके उत्कर्ष को कम कर देता है।

मम्मट के दोष लक्षण में पूर्वाचार्यों के मत का सार समाहित होने के साथ ही मौलिकता भी विद्यमान है। काव्य के प्रत्येक अङ्ग का स्पर्श कर लेना **मम्मट** की अपनी विशिष्टता है।

स्मरणीय है कि प्रस्तुत स्थल में 'रस' पद से भाव, रसाभास आदि का भी ग्रहण होता है। इसी प्रकार रस रहित काव्य में वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य अर्थों के अपकर्षक दोष होते हैं।

सङ्क्षेप में **मम्मट** के दोष सामान्य विषयक मत को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है –दोष साक्षात् रूप से रस, भाव आदि का अपकर्षण करते हैं तथा परम्परया दो प्रकार से रसादि का अपकर्षण करते हैं प्रथम रूप से रसादि के उपकारक वाक्य आदि का अपकर्षण तथा द्वितीय रूप से रसादि तथा वाच्यादि के उपकारक पद, वाक्य, अर्थ रचना आदि का अपकर्षण।

मम्मट के पश्चात् प्रायः सभी [illegible] **ने आचार्य मम्मट के अनुसार ही दोष–स्वरूप निरूपित किया है। विश्वनाथ** ने दोषों को रस का अपकर्षक मानकर काव्य में उनकी स्थिति का निरूपण किया है।[3] **विश्वनाथ** का विचार है कि जिसप्रकार काणत्व तथा खञ्जत्व आदि दोष शरीर के द्वारा आत्मा को अपकृष्ट करते हैं। उसी प्रकार श्रुतिदुष्टादि तथा अपुष्टार्थत्वादि दोष क्रमश शब्द तथा अर्थ के माध्यम से काव्यात्मा रस को दूषित करते हैं। **साहित्य–दर्पणकार** ने दोषों की काव्यगत स्थिति को स्पष्ट करने के लिए पुन कहाकि मूर्खत्व आदि दोष साक्षात् रूप से आत्मा को अपकृष्ट करते हैं। उसी प्रकार व्यभिचारी आदि भाव स्वशब्दवाच्यता आदि के द्वारा साक्षात् रूप से काव्य के आत्मभूत रस का अपकर्षण करते हैं।

विश्वनाथ ने परम्परया तथा साक्षात् रूप से काव्यात्मा रस के अपकर्षक तत्त्वो का उल्लेख किया है। **महिमभट्ट** ने भी बहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग रूप में दोषों का विभाजन किया है। **विश्वनाथ** ने भी यहाँ रस–दोष तथा अन्य काव्य–दोषों को एक प्रकार से पृथक् कर दिया है।

'साहित्य–दर्पण' के सप्तम परिच्छेद में दोषो का विशद निरूपण करते हुए **विश्वनाथ** ने दोष–विषयक अपने विचार को स्वतन्त्र रूप से प्रस्तुत किया है।

---

१. *उद्‌देश्य प्रतीति [illegible]णोऽपकर्षो हति शब्दार्थः।*
–मम्मट, काव्य–प्रकाश ७/४६ पर प्रदीप टीका।

२ *दोषास्तस्यापकर्षका ।*
–विश्वनाथ, सा० द०, प्रथम परिच्छेद।

काव्य की रसात्मकता तीन प्रकार से बाधित होती है १. रसप्रतीति में विघ्न उपस्थित होना, २ रसास्वादन की उत्कृष्टता में बाधा तथा ३ रसानुभूति में विलम्ब होना। इन तीनों ही स्थितियों का मूल कारण दोष ही होते हैं। दूसरे शब्दों मे कहा जा सकता है कि रस की सम्यक् अनुभूति अथवा परिणिति में दोष बाधक या विघ्नकारी होते हैं। तात्पर्य यह है कि सहृदय को यदि रसानुभूति पूर्ण रूपेण नहीं होती तो उसका एकमात्र हेतु या कारण कि वा कारक काव्य में स्थित दोष ही होते हैं।

साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ का विचार है कि पद, पदाश आदि दोष परम्परया या परोक्षतः रस का ही अपकर्षण करते हैं। ये दोष काव्य की विक[illegible] के हेतु हैं। पद पदाशगतकहने का तात्पर्य यह नहीं हैं कि ये पद, पदांश तक ही सीमित रहते हैं। वस्तुत ये सम्पूर्ण वाक्यार्थ तथा रसानुभूति को प्रभावित करते हैं। अत इन दोषों को किसी अवयव विशेष तक सीमित करना समीचीन नहीं है।

आनन्दवर्धन ने दोषों की नित्यानित्य व्यवस्था का सङ्केत दिया है। उन्होंने कहा है-श्रुति दुष्ट आदि दोष ध्वन्यात्मक शृगार मे ही त्याज्य होते हैं।[1] इससे ज्ञात होता है कि अन्यस्थलों पर श्रुतिकटु दोष, दोष नहीं रहते है। वस्तुतः रौद्र तथा वीर आदिरसों में श्रुतिकटु दोष गुणत्व धारण कर लेता है। इस प्रकार श्रुतिदुष्ट या श्रुतिकटु दोष अनित्य हैं।

विश्वनाथ ने **आनन्दवर्धन** के उपर्युक्तमत से सहमति प्रकट की है। उन्होंने कहा है कि श्रुति दुष्ट दोष अनित्य दोष है। वे रौद्र तथा वीर रस में गुणत्व धारण कर लेते हैं किन्तु ध्वनि स्वरूप वाले शृंगार रस में वे अपना अस्तित्व या प्रभाव पूर्ण रूप से प्रकट करते हैं। तात्पर्य यह है कि दोष रस कर अपकर्षण करते ही है। यह भी विचारणीय है कतिपय स्थलों पर वे गुणत्व को प्राप्त कर लेते हैं।

विचारणीय है कि **विश्वनाथ** यह कहते हैं कि पद ,पदांश दोषों को किसी अवयव मात्र से सम्बद्ध करना उचित नहीं है, क्योंकि एक अश में रहने पर भी ये सम्पूर्ण काव्यार्थ या रसास्वादन में बाधक होते हैं इस प्रकार पद, पदाश दोष परम्परया रसापकर्षक होते हैं।

[illegible] के दोष विवेचन कर अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि इन्होंने पूर्णतया मम्मट के दोष–निरूपण का अनुकरण किया है।

मम्मट ने दोष–सामान्य के लक्षण में रस को मुख्यार्थ कहकर रस की प्रधानता को प्रकट किया है। वाच्य तथा शब्दादि से रस के परम्परया सम्बन्ध को प्रतिपादित करने में भी **आचार्य मम्मट** को सफलता प्राप्त हुई है। [illegible] के समान प्रायः सभी परवर्ती काव्यशास्त्रकारों ने **मम्मट** के अनुसार दोष सामान्य का निरूपण किया है। विशेष [illegible]ीय तथ्य परवर्ती आचार्यो में प्राप्त नहीं होता है।

इस प्रकार काव्य–शास्त्रकारों के दोष सम्बद्ध विचार तथा दोष–सामान्य के लक्षण का अनुशीलन करने पर स्पष्ट होता है कि काव्य में दोष हेय तत्त्व हैं। यह भी ध्यातव्य है कि काव्य को पूर्णतः दोष से रहित नहीं किया जा सकता है। यद्यपि दोष काव्यत्व की हानि करते हैं तथापि यदि उनसे रसास्वादन अपकर्षित नहीं होता तो उनके द्वारा काव्यत्व हानि भी नहीं होती । तात्पर्य यह है विवक्षित रस या चमत्कार पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति के बाधक दोष ही वस्तुत परम हेय या त्याज्य हैं।

---

१. *श्रुति दुष्टादयोदोषा अनित्या ये च दर्शिता।*
ध्वन्यात्मन्येव शृंगारे ते हेया इत्युदाहृता।।
–आनन्दवर्धन, ध्वन्या० २/११।

दोष-विकास तथा विभाजन

दोष सामान्य के स्वरूप पर विचार करने के उपरान्त दोष–विशेष पर एक विहगम दृष्टिपात प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के लिए नितान्त अपेक्षित है। शीर्षक के अन्तर्गत दोष–विशेष के स्वरूप में उल्लेखनीय विशिष्ट तथ्य, दोषो की सख्या,दोषों की सख्या–वृद्धि का आधार, दोषो का शब्द, अर्थ तथा रसगत रूप में विभाजन, दोषो का प्रत्यक्ष या परोक्ष अन्तर्भाव विवेचनीय है। यहॉ परवर्ती काव्यशास्त्रकारो पर पूर्ववर्ती आचार्यों के विवेचन के प्रभाव का उल्लेख भी अप्रासङ्गिक न होगा।

दोष–विशेष से सम्बद्ध सम्पूर्ण तथ्यों को सङ्कलित रूप मे प्रस्तुत करने से आचार्यों के दोष–विशेष निरूपण पर सम्यक् दृष्टिपात हो सकेगा इसीलिए इन तथ्यों को एक ही शीर्षक के अन्तर्गत विवेचित किया जा रहा है। जो द्रष्टव्य है–

काव्य–शास्त्रीय ग्रन्थों मे सर्वप्रथम **नाट्य–शास्त्र** में दोषों पर विचार किया गया है। **आचार्य भरत** ने दस दोषो का उल्लेख किया है। जो इस प्रकार हैं– गूढार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ न्यायादपेत, विषम, विसन्धि तथा शब्दच्युत[1] इन्होंने प्राय सभी दोषों का उदाहरण भी प्रस्तुत किया है।[2]

भरतमुनि ने यद्यपि 'दश काव्यदोषा' कहकर काव्य–दोषों की सख्या निर्धारित कर दी है, तथापि उनके अर्थहीन एव भिन्नार्थ नामक दोषों पर विचार करने से ज्ञात होता है। इन दोनों ही दोषों में दो–दो दोष समाहित है। अर्थहीन दोष के दो भाग हैं।[3] प्रथम असम्बद्ध या विरुद्ध अर्थ का समावेश तथा द्वितीय अपूर्ण या सावशेष अर्थ का ग्रहण। भिन्नार्थ 'दोष में भी एक असम्य या ग्राम्य अर्थ का ग्रहण तथा दूसरा विवक्षितार्थ के स्थान पर अविवक्षितार्थ का प्रयोग।[4] इस प्रकार **भरत** ने बारह दोषों का उल्लेख किया यह कहा जा सकता है।

दोष–विभाजन की ओर **भरत–मुनि** का ध्यान नहीं गया। **आचार्य अभिनव गुप्त** ने **भरत** निरूपित दोषो को नित्य तथा अनित्य रूप में विभाजित करने का प्रयास किया है।[5]

आचार्य अभिनव गुप्त ने गूढार्थ ' को पताकास्थानक में, 'अर्थान्तर' को अनुवाद में, अर्थहीन को हास्य में भिन्नार्थ को श्रोत्रिय आदि वक्ता के सामने एकार्थ को दूसरे को समझाने की स्थिति में तथा अभिप्लुतार्थ को उन्मादादि की दशा में अनित्य माना है।

भरत निरूपित दोषों को यदि शब्दगत आदि रूपों में विभाजित किया जाय तो गूढार्थ, एकार्थ एवं शब्दच्युत को पदगत दोष, अर्थान्तर विषम और विसन्धि को वाक्यगत तथा अर्थहीन, भिन्नार्थ अभिप्लुतार्थ व 'न्यायादपेत को अर्थगत दोष के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है।

न्यायादपेत, नामक दोष में देश, काल, कला आदि का अप्रामाणिक कथन होता है। यह दोष 'प्रकृति–विपर्यय' नामक रस–दोष से साम्य रखता है।

भरतमुनि के दोष–निरूपण का परवर्ती आचार्यों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। **भामह, दण्डी, रूद्रट भोज** तथा **मम्मट** पर भी **भरत** का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जिसका विवेचन यथास्थल किया जायेगा। परवर्ती काव्य–शास्त्रकारों ने **भरत** के कुछ दोषों को उसी रूप में तथा कुछ को किञ्चित् भिन्न रूप मे प्रस्तुत किया है।

---

१. *गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्।*
न्यायादपेत विषम विसन्धि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषा ।।
–भरत, नाट्य–शास्त्र, १७/८७।

२ *–तदेव, १७/८८–९४।*

३ *–१७/८८ एव ८९ का पूर्वार्द्ध।*

४ *–तदेव, १७/८९ एव ९०।*

५. *–द्रष्टव्य, अभिनवगुप्त, नाट्य शास्त्र के १७/९४ पर भारती टीका।*

भरतमुनि के पश्चात् **आचार्य भामह** ने दोषो का निरूपण किया है। इन्होंने अपेक्षाकृत विस्तारपूर्वक दोषों पर विचार किया है। **काव्यालङ्कार** में चार स्थलों पर दोषों का स्वतन्त्र रूप से निरूपण किया गया है। प्रथम परिच्छेद, द्वितीय परिच्छेद चतुर्थ तथा पञ्चम परिच्छेद में।

भामह ने प्रथम परिच्छेद में 'वक्रोक्ति' को वाणी का अलङ्कार मानते हुए उस वक्रता को नष्ट करने वाले कारकों के रूप में दोषो का निरूपण किया है। यहाँ **आचार्य भामह** ने छः दोषो का उल्लेख किया है। नेयार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्तिमत् तथा गूढशब्दाभिधान[1] प्रथम परिच्छेद में ही **भामह** ने वाणी के चार–दोषों को भी प्रतिपादित किया है। जो श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट तथा श्रुतिकष्ट है।[2] यहीं इन्होंने ग्राम्यपद 'गण्ड' का उल्लेख करते हुए इसके प्रयोग को भी दोष युक्त माना है।[3] इस आधार पर कहा जा सकता है कि **भामह** ने वाणीकृत पाँच दोष माने हैं।

प्रथम परिच्छेद में **आचार्य भामह** ने चार अन्य दोषों–अपुष्टार्थता वक्रोक्तिहीनता, ग्राम्यता तथा आकुलता का भी उल्लेख किया है।[4]

'काव्यालङ्कार' के द्वितीय परिच्छेद मेंउपमा दोषो का निरूपण है। जो हीनता, असम्भव, लिङ्गभेद, वचनभेद, विपर्यय, उपमान की अधिकता तथा उपमान की असदृश्यता हैं। ये दोष **आचार्य भामह** की मौलिक उद्भावना नहीं है। स्वय **भामह** ने इन दोषों को **मेधावी** नामक आचार्य द्वारा निरूपित माना है।[5]

चतुर्थ परिच्छेद में **भामह** ने अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससशय, अपक्रम, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसन्धि, देश–काल–कला–लोक–न्याय एवं आगम विरोधी तथा प्रतिज्ञा–हेतु–दृष्टान्त–हीन नामक ग्यारह दोषों का उल्लेख किया है।[6]

काव्यालङ्कार के पञ्चम परिच्छेद में प्रतिज्ञा–हेतु–दृष्टान्तहीन नामक दोष पर विस्तृत रूप से विचार किया गया है।[7] इसके साथ ही 'अहृद्यता', 'असुनिर्भेदता' तथा 'अपेशलता' से काव्यत्व की हानि मानकर **आचार्य भामह** ने इन्हे भी प्रकारान्तर से दोष माना है।[8]

---

१. *नेयार्थ क्लिष्टमन्यार्थमवाचकमयुक्तिमत्।*
गूढशब्दाभिधानं च कवयो न प्रयुञ्जयते।।
—भामह, काव्यालङ्कार, १/३७।

२. *—भामह, काव्यालङ्कार , १/४७–५३।*

३ *—गण्डमप्यपरेकिल तदेव, १/५३ का उत्तरार्द्ध।*

४ *—तदेव, १/३४–३५।*

५. *हीनतासम्भवो लिङ्गवचोभेदोविपर्ययः।*
उपमानाधिकत्वं तेनासदृशतापि च।।
ते एते उपमा दोषाः सप्त मेधाविनोदिता।
—भामह, काव्या, २/३९–४० पूर्वार्द्ध।

६ *अपार्थव्यर्थसंसशयमपक्रमम्।*
शब्दहीन यतिभ्रष्ट भिन्नवृत्तं विसन्धि च।।
देश–काल–कला–लोक न्यायागमविरोधि च।
प्रतिज्ञाहेतु दृष्टान्तहीनं दुष्टं च नेष्यते।।
—भामह, काव्या०, ४/१–२।

७ *—भामह, काव्या० ५/१३–२०।*

८ *—तदेव ५/६२।*

वाणीकृत दोषों में इन्होंने श्रुतिदुष्ट तथा अर्थदुष्ट दोषों की चर्चा की है।[1] इससे शब्द तथा अर्थगत रूप में दोषो के विभाजन का सकेत प्राप्त होता है। इसी प्रकार 'एकार्थ' दोष का उल्लेख करते हुए इन्होंने कहा है कि यह दोष शब्द तथा अर्थ के भेद से दो प्रकार का पुनरूक्त दोष होता है।[2] इस प्रकार एकार्थ दोष शब्दगत पुनरूक्त तथा अर्थगत पुनरूक्त के भेद से दो प्रकार का हो जाता है। इससे भी दोषों के शब्दगत तथा अर्थगत भेद का संकेत प्राप्त होता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि दोषों के विभाजन पर **भामह** की दृष्टि गयी है परन्तु उन्होंने स्पष्टत पृथक् रूप से इस दिशा मे कोई कार्य नहीं किया है।

आचार्य भामह से पूर्व **भरतमुनि** ने दोषों का निरूपण किया है। अत विवेचनीय है कि **आचार्य भामह** पर पूर्वाचार्य **भरत** का प्रभाव किस प्रकार दृष्टि गोचर होता है।

काव्यालंकार के प्रथम परिच्छेद में उल्लिखित नेयार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थ तथा गूढ शब्द नामक दोषों पर **आचार्य भरत** के गूढार्थ नामक दोष का प्रभाव दिखाई पडता है। गूढार्थ दोष में **भरत** के अनुसार पर्यायवाचक अप्रसिद्ध शब्दों या क्लिष्ट शब्दों द्वारा वर्ण्य विषय को कहा जाता है। जिससे अर्थ ज्ञान में कठिनाई आती है। जैसे दशरथ के लिए 'एकाधिकनवविमान'पद का प्रयोग करना गूढार्थ दोष है।[3] **आचार्य भामह** ने इसी आधार पर चार दोषो की कल्पना की है। जिसमें शब्द के क्लिष्ट प्रयोग से अर्थज्ञान के कठिनाई उपस्थित होती है।[4]

काव्यालंकार के चतुर्थ परिच्छेद में निरूपित दोषों में अपकम तथा 'प्रतिज्ञा–हेतु–दृष्टान्त–हीन' नामक दोष के अतिरिक्त अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, शब्दहीन यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसन्धि तथा देशादिविरोध नामक दोषों पर **भरतमुनि** का प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रभाव दृष्टिगत होता है।

भामह ने **भरत** के 'अर्थहीन'दोष को ही प्रकारान्तर से 'व्यर्थ' दोषा माना है। अर्थहीन दोष के प्रथम भाग में विरूद्ध अर्थ के ग्रहण की बात **भरत** ने कही है।[5] **आचार्य भामह** ने भी व्यर्थ दोष में विपरीत अर्थ को ग्रहण किया है।[6] इसी प्रकार **भरत** प्रतिपादित शब्द तथा अभिप्लुतार्थ दोष[7] **काव्याल**ंकार में कमशः शब्दहीन तथा अपार्थ[8] नामक दोषों के रूप में निरूपित है। **भरत** का विषम[9] दोष **भामह** के यतिभ्रष्ट तथा भिन्न वृत्त दोष का आधार है। **भरत** ने छन्द भङ्ग होने पर'विषम' दोष माना है। **आचार्य भामह** ने लक्षण के अनुरूप छन्द न होने पर यतिभ्रष्ट तथा गुरू व लघु वर्णों के अनुचित प्रयोग पर भिन्नवृत्त दोष माना है।[10] इसी प्रकार

---

१. *श्रुतिदुष्टार्थ ष्टे च कल्पना ष्टमित्यपि।*
–भामह, काव्यालङ्कार, १/४७।

२. *यदभिन्नार्थमन्योन्यं तदेकार्थं प्रचक्षते।*
पुनरूक्तमिदं प्राहुरन्ये शब्दार्थभेदतः।।
–भामह, काव्या०, ४/१६।

३. *–भरत, नाट्य–शास्त्र, १७/८८।*

४. *–भामह, काव्या०, १/३७–४२ तथा ४५।*

५. *–भरत, ना० शा, १७/८८–८९।*

६. *विरूद्धार्थं मत व्यर्थं विरूद्ध तूपदिश्यते। पूर्वापरार्थव्याघातात् विपर्ययकरं यथा।।*
–भामह, काव्या० ४/९।

७. *–भरत, ना० शा०, १७/९४ तथ ९१ ।*

८ *सूत्र कृत्पदकारेष्टप्रयोगाद्योऽन्यथा भवेत्। तमाप्तश्रावकासिद्धेः शब्दहीनं विदुर्यथा।।*
–भामह, काव्या० ४/२२।

९ *–भरत, ना० शा० १७/९३।*

१०. *यतिच्छन्दोऽधिरूढानां शब्दानां या विचारणा। तदपेत यतिभ्रष्टमितिनिर्दिश्यते यथा।*
गुरोर्लघोश्चवर्णस्य योऽस्थाने रचनाविधिः। तन्न्यूनाधिकता वाऽपि भिन्नवृत्तमिदं यथा।
–भामह, काव्या० ४/२४,२६।

भामह के देश–काल आदि विरोध रूप दोष को हम **भरतमुनि** के 'न्यायादपेत' नामक दोष से प्रभावित मान सकते हैं। उल्लेखनीय है कि **आचार्य भामह** ने देश–काल आदि विरोधी दोष को विस्तृत रूप से निरूपित किया है। जो परवर्ती आचार्यों के लिए उपयोगी रहा है। तत्सम्बद्ध विवेचन आगे यथास्थल किया जायेगा।

अपकम व यतिभ्रष्ट दोषों का **भामह** ने सर्वप्रथम उल्लेख किया है। इनमें 'यतिभ्रष्ट' पर **भरत** के विषम दोष का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। अपकम' दोष को हम **भामह** की मौलिक उद्भावना मान सकते हैं। उपदेश के अनुसार वर्णों का कम न होने पर 'अपकम' दोष होता है।[1]

अपकम के समान ही 'प्रतिज्ञा हेतु दृष्टान्हीन' दोष भी **भामह** की मौलिक उद्भावना है। **भामह** ने विस्तृत रूप से इस पर विचार किया हैं। परन्तु न्याय–शास्त्र से सम्बद्ध होने के कारण परवर्ती आचार्यों ने इस दोष को महत्त्व नहीं दिया।

इस प्रकार आचार्य **भामह** के दोष–निरूपण का विवेचन करने पर ज्ञात होता है कि इनका दोष–विवेचन पर्याप्त व्यापक है। यह कहना भी प्रासङ्गिक है कि **भामह** का यह विवेचन विस्तृततो है परन्तु अव्यवस्थित है। इसमें कम का भी अभाव है। वस्तुत इन्होने प्रसङ्ग के अनुसार दोषों का निरूपण किया है। फिर भी पूर्वाचार्यों से अल्प मात्रा में आधार प्राप्त होने पर दोषों का इतना व्यापक विचार **भामह** की सूक्ष्म दृष्टि का द्योतक है।

भामह के पश्चात् **आचार्य दण्डी** ने दोषों पर विचार किया है। इन्होंने मात्र दस दोषों का विवेचन किया है। ये दोष हैं-अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससशय, अपकम, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसन्धिक तथा देश–काल–कला आदि विरोध [2] ये सभी दोष **आचार्य भामह** द्वारा प्रतिपादित है।

आचार्य दण्डी ने **भामह** के **काव्यालङ्कार** नामक ग्रन्थ में चतुर्थ परिच्छेद में प्रतिपादित दोषों को ही स्वीकार किया है। **भामह** प्रतिपादित 'प्रतिज्ञा हेतु दृष्टान्तहीन' नामक दोष को न्याय–प्रकिया पर आधृत मानकर काव्य–शास्त्र के प्रसङ्ग में उसके ग्रहण को उचित नहीं माना है। उनका विचार है कि यह दोष है या नहीं यह निर्णय करना जटिल कार्य है।[3]

उल्लेखनीय है कि **भामह** के दोषों को ग्रहण करते हए भी **दण्डी** ने अपने उदाहरण प्रस्तुत किये है। **इसके साथ ही उन्होंने दोषों के अपवाद भी प्रस्तुत किये हैं तथा विशेष स्थिति में एकार्थ, ससंशय, अपकम, शब्दहीन आदि दोषो का दोषाभाव तथा गुण हो जाना भी स्वीकार किया है। जो एक विशेष उल्लेखनीय तथ्य है। परवर्ती काल में दोषाभाव** या दोषों के गुण भाव का विवेचन किया है। जिसमें **आचार्य दण्डी** का यह **विवेचन पर्याप्त** उपयोगी रहा है।

आचार्य दण्डी ने दस दोषों का निरूपण करने के पश्चात् 'दशैवेते' कहकर दोषों की सङ्ख्या नियन्त्रित कर दी है। जबकि इसके पूर्व **आचार्य भामह** ने व्यापक रूप से दोषों पर विचार किया था।

दण्डी के पूर्ववर्ती भरत ने भी दस दोषों का ही निरूपण किया है। उन्होंने 'दशैवेते' कहकर उन्हें नियन्त्रित नहीं किया हैं किन्तु उन्होंने काव्य दोष दस हैं यह अवश्य कहा है।[4]

काव्य में मात्र दस दोषों को मान्यता देना **दण्डी** के सङ्कीर्ण दृष्टिकोण को प्रकट करता है। वैसे दोषों पर **दण्डी** ने कोई विशेष प्रयास भी नहीं किया है। सम्भवत **भामह** द्वारा विस्तृत रूप से दोषों का विवेचन इसका कारण हो किन्तु इस प्रकार का कोई सङ्केत **काव्यादर्श** में प्राप्त नहीं होता।

---

१ *यथोपदेशे कमशो निर्देशो ऽत्रकमोमतः। तदपेत विपर्यासादित्याख्यातमपकमम्।।*
— भामह, काव्या० ४/२०।

२ *—दण्डी, काव्यादर्श ३/१२६।*

३ *प्रतिज्ञाहेतु दृष्टान्तहानिर्दोषो न वेत्यसौ। विचार· कर्कश प्रायस्तेनालीढेन कि फलम्।।*
—दण्डी, काव्यादर्श, ३/१२७

४ *गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीन भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्।*
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युत वै दश काव्य दोषा·।।
—भरतमुनि, ना० शा० १७/८७।

ध्यातव्य है कि दोषों की हेयता के विषय में **दण्डी भामह** की अपेक्षा अधिक सचेत है। उनका कथन है कि काव्य मे किञ्चित् भी दोष हो तो उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए क्योकि वह दोष सम्पूर्ण काव्य–सौन्दर्य को विकृत कर देता है। इस प्रसग में उन्होंने दोषो को श्वेतकुष्ठ के समान माना है।

दण्डी के अनुसार तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार सर्वांग सुन्दर शरीर पर स्थित श्वेतकृष्ठ का एक छोटा–सा दाग सम्पूर्ण सौन्दर्य को विकृत कर देता है, उसी प्रकार एक छोटा–सा भी दोष सम्पूर्ण काव्य–शोभा का विघात कर देता है।[1]

दोषों को इस प्रकार हेय मानने वाले **दण्डी** ने दोषों के निरूपण पर व्यापक दृष्टि क्यों नहीं डाली? यह विवेचनीय है। दोषो के निरूपण मे भी किसी मौलिकता का समावेश नहीं किया।

अन्य दोषों को इन्होंने अपने ग्रन्थ में निरूपित क्यों नहीं किया? इसका कोई कारण **दण्डी** ने प्रस्तुत नही किया हैं वरन् दोषों को पूर्वापूर्वक दस सङ्ख्या में बांध दिया हैं।

दोष–वर्गीकरण में **आचार्य दण्डी** का उल्लेखनीय योगदान नहीं रहा है। **आचार्य भामह** तथा **दण्डी** के दोष–निरूपण का अनुशीलन करने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि इस समय तक दोषों को शब्द तथा अर्थगत रूप में माना जाता रहा है। यह बात और है कि **भामह** आदि ने स्पष्टत वर्गीकरण पर विचार नहीं किया है।

दण्डी के पश्चात् **वामन** ने दोषों पर गम्भीरता से विचार किया है इन्होने सर्वप्रथम दोषों का स्पष्ट वर्गीकरण किया है। इन्होंने दोषो को चार वर्गों में विभाजित किया है– पद, वाक्य, पदार्थ तथा वाक्यार्थ। असाधु, कष्ट, ग्राम्य, अप्रतीत तथा अनर्थक ये पाँच पद गत दोष हैं।[2] अन्यार्थ नेयार्थ, गूढार्थ, अश्लील तथा क्लिष्ट पदार्थ दोष है।[3] वाक्य दोष तीन है– भिन्न वृत्त, यतिभ्रष्ट तथा विसन्धि [4] । वाक्यार्थ दोष सर्वाधिक सात है– व्यर्थ, एकार्थ, सन्दिग्ध, अप्रयुक्त, अपकम, लोकविरूद्ध तथा विद्याविरूद्ध।[5]

उल्लेखनीय है कि **वामन** ने रीति के प्रसङ्ग में गुणों का निरूपण किया है। गुणों को शब्द तथा अर्थ दो रूपों में विभक्त किया है।

दोष को परिभाषित करते हुए **वामन** कहते हैं कि गुणों के विपरीत तत्त्व ही दोष है।[6] इस प्रकार दोषों का स्वरूप ज्ञान गुणों के स्वरूप ज्ञान पर निर्भर है। गुणों को शब्दगत तथा अर्थगत रूप में विभक्त करने से दोषों का विभाजन स्वतः हो जाताहै। तात्पर्य यह कि यदि गुण शब्दगत तथा अर्थगत हैं तो दोष भी शब्दगत तथा अर्थगत होंगे।

गुणों के व्यापक विवेचन में **वामन भामह** से प्रभावित दिखाई पडते हैं। पूर्ववर्ती **दण्डी** ने 'दशैवेते' कहकर गुणों की संख्या निर्धारित कर दी थी परन्तु **वामन** ने इसे स्वीकार न करके **भामह** के विचार का अनुकरण किया। जो उनकी विचार क्षमता का ज्ञान कराता है।

---

१ *तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।*
स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।।
–दण्डी, काव्यादर्श १/७।

२. *दुष्ट पदमसाधुकष्टं ग्राम्यमप्रतीतमनर्थकं च।*
–वामन, का० अ० सू० २/१/४।

३ *अन्यार्थ नेयगूढार्थाश्लीलक्लिष्टानि च।*
–वही २/१/१०।

४ *भिन्नवृत्तयतिभ्रष्टविसन्धीनि वाक्यानि।*
–वही २/२/१।

५ *व्यर्थैकार्यसन्दिग्धाप्रयुक्तापकमलोकविद्याविरूद्धानिच।*
–वही २/२/६।

६. *गुणविपर्ययात्मानो दोष.।*
–वही १/१/१।

भामह के कई दोषो को **वामन** ने उन्हीं नामों से ग्रहण किया है। जैसे नेयार्थ, अन्यार्थ, क्लिप्ट भिन्नवृत, यतिभ्रष्ट, विसन्धि, व्यर्थ, एकार्थ अपकम आदि। **भामह** प्रतिपादित दोषो का निरूपण **वामन** ने भी किया है। उल्लेखनीय है कि **वामन** कृत कतिपय दोषों का स्वरूप परस्पर सङ्कमित–सा प्रतीत होता है उदाहरणार्थ **वामन** निरूपित क्लिष्ट, नेयार्थ तथा गूढ़ार्थ नामक दोषों पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि इन तीनो दोषों का आधार प्राय एक ही है।[1]

दोष–निरूपण मे **दण्डी** का अनुकरण न करने हुए भी **आचार्य वामन** ने **दण्डी** द्वारा प्रतिपादित दोषाभाव या दोष–परिहार को ग्रहण किया है। इन्होने भी दोषो के गुणत्व तथा दोषाभाव का निरूपण किया है।

दोषो का स्पष्ट विभाजन करना ही **वामन** की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। पूर्वाचार्यों ने इस दिशा में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं दिया था। परवर्ती काव्यशास्त्रकारों ने **वामन** के वर्गीकरण को विशेष महत्त्व नहीं दिया है। परन्तु **वामन** का दोष–वर्गीकरण उनके लिए दिशा–निर्देशक रहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

आचार्य रूद्रट ने **वामन** की अपेक्षा वैज्ञानिक रूप से दोषों का निरूपण किया है। इन्होने **काव्यालङ्कार** के छठे तथा ग्यारहवे अध्याय में विशेषत· दोषों का विवेचन किया है। छठे अध्याय में शब्दगत तथा ग्यारहवें अध्याय मे अर्थगत दोषों का प्रतिपादन किया है।

शब्दगत तथा अर्थगत रूप में दोषों का विभाजन करके **आचार्य रूद्रट** ने शब्दगत दोषों को पदगत तथा वाक्यगत रूप में विभक्त किया है। पदगत दोषों में असमर्थ, अप्रतीत, विसन्धि, विपरीतकल्पन, ग्राम्य तथा अव्युत्पत्ति नामक छ दोषों को परिगणित किया है।[2] वाक्यगत दोष तीन हैं– सकीर्ण, गर्भितत्त्व तथा गतार्थत्व [3] इन्होंने द्वितीय अध्याय में वाक्यगुणो के प्रसङ्ग में न्यूनपद, अधिकपद, अवाचकपद, अकम तथा अपुष्टार्थ नामक दोषों को निरूपित किया है।[4] जो वाक्यगत दोष प्रतीत होते हैं।

अर्थदोषों में **आचार्य रूद्रट** ने अपहेतु, अप्रतीत, निरागम, बाधयन्, असम्बद्ध, ग्राम्य, विरस, तद्वान तथा अतिमात्र को परिगणित किया है।[5] यहीं इन्होंने चार उपमा–दोषो का भी उल्लेख किया है वे दोष हैं सामान्य शब्द भेद, वैषम्य, असम्भव तथा अप्रसिद्धि।

प्रसङ्गानुकूल उल्लेखनीय है कि **रूद्रट** ने अर्थ के अन्यथा उपन्यास को महान् दोष माना है तथा उसके परिहार की भी चर्चा की है। उनका विचार है कि स्वभाव तथा देशकाल के विपरीत वर्णन अनुचित होता है। किसी भी कारण इस प्रकार के अर्थ की योजना नहीं करनी चाहिए।इन्होंने अपहेतु आदि अर्थदोषों को अन्यथा उपन्यास रूप अर्थदोष से स्वल्प दोष माना है। अन्यथा उपन्यास दोष ही परवर्ती काल में प्रकृतिविपर्यय नामक रस–दोष माना गया, यह कहा जा सकता है।[6]

रूद्रट के दोष–निरूपण पर **भामह** तथा **वामन** का प्रभाव स्पष्टत· दिखाई पड़ता है। इन्होंने कहीं उन्हीं नामों से तथा कही नामभेद से पूर्वाचार्यो के दोषो को ग्रहण किया है। कही–कहीं इन के दोष मे पूर्वाचार्यों के एक से अधिक दोष का अन्तर्भाव दिखाई पड़ता है।

---

१ *–वामन, काव्यालङ्कार सूत्र, द्वितीय अधिकरण।*

२. *असमर्थमप्रतीतं विसन्धि विपरीतकल्पनम्।*
अव्युत्पत्ति च देश्य पदमिति सम्यग्भवेद् दुष्टम्।।
–रूद्रट, काव्या० ६/२।

३. *वाक्य भवति तु दुष्टं सकीर्णं गर्भित गतार्थं च ।*
यत्पुनरनलङ्कारं निर्दोषं चेति तन्मध्यम्।।
–तदेव, ६/४०।

४ *–तदेव , २/८।*

५ *– " ११/२।*

६ *– " ७/७।*

आचार्य भरत ने 'अर्थान्तर' नाम दोष का उल्लेख किया है। **आचार्य भरत** के अनुसार अवर्णनीय विषय का वर्णन होने पर उक्त दोष उपस्थित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि वर्णनीय विषय के साथ ही अवर्णनीय विषय का वर्णन वैरस्य कारक होता है। **आचार्य भरत** के 'अर्थान्तर' दोष का किञ्चित् प्रभाव **आचार्य रूद्रट** के 'विरस' दोष पर दिखाई पड़ता हैं **आचार्य रूद्रट** भी प्रासङ्गिक होते हुए भी किसी रस के अतिविस्तार पूर्वक वर्णन को समीचीन नहीं मानते है।[1]

आचार्य रूद्रट द्वारा निरूपित विरस दोष की द्वितीय स्थिति अर्थात् प्रासंगिक रस का अति विस्तारपूर्वक वर्णन [2] **आचार्य भरत** प्रतिपादित 'अर्थान्तर' दोष से कुछ साम्य रखती जबकि 'अवर्णनीय' कहकर **आचार्य भरत** ने इसमे रस, वस्तु आदि को समाहित कर लिया है। **आचार्य भरत** का 'अवर्णनीय' पद व्यापक अर्थ को प्रकट करता है।

विचारणीय है कि **आचार्य रूद्रट** के विरस दोष की द्वितीय स्थिति तथा **भरतमुनि** के अर्थान्तर दोष में चिन्ताकर्षक साम्य दिखाई पडता है। परन्तु सूक्ष्मता से विचार करने पर ज्ञात होता है कि **आचार्य रूद्रट** ने रस उपस्थापन की दो स्थितियों के रूप में 'विरस' का निरूपण किया है। **रूद्रट** ने 'विरस' दोष को रस से साक्षात् रूप से बाध दिया है।

आचार्य भरत ने रस के उपस्थापन से को बाँध दिया है। अर्थान्तर दोष को बद्ध नहीं किया है। **आचार्य रूद्रट** ने अवर्णनीय रस के वर्णन को अनौचित्य पूर्ण माना है। अतः **रूद्रट** ने मौलिकता पूर्वक 'विरस' दोष की द्वितीय स्थिति को प्रस्तुत किया है।

परवर्तीकाल में विरस दोष की दोनों स्थितियों को[3] क्रमशः 'प्रतिकूलविभावादिग्रह' तथा अङ्ग की भी अतिविस्तृति नामक रस–दोषों का स्रोत माना गया है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि **रूद्रट** रस–दोषों की कल्पना करने वाले प्रथम आचार्य हैं।

असमर्थ, ग्राम्य तथा विरस नामक दोषों का **आचार्य रूद्रट** ने विशेषत. विस्तृत रूप से निरूपण किया हैं। असमर्थ दोष में **भामह** के ससशय तथा **वामन** के अन्यार्थ दोष का अन्तर्भाव दृष्टिगोचर होता है।[4] विचार करने पर ज्ञात होता है कि भामह कृतः अयुक्तिमत् [5] दोष **रूद्रट** के अपुष्टार्थ, तद्वान तथा

---

१. —भरत मुनि, ना० शा० १७/८६।

२ यः सावसरोऽपि रसो निरन्तरं नीयते प्रबन्धेषु।
अति महतीवृद्धिमसौ तथैव [illegible]।।
—रूद्रट, काव्या०, ११/१४।

३ अन्यस्य य प्रसङ्गे रसस्य निपतेद्रसः क्रमापेतः।
विरसोऽसौसच शक्यः सम्यग्ज्ञातुं प्रबन्धेभ्यः।।
य. सावसरोऽपि रसो निरन्तरं नीयते प्रबन्धेषु।
अति महती वृद्धिमसौ तथैव वैरस्यमायाति।।
—रूद्रट, काव्या० ११/१२,१४।

४ पदमिदमसमर्थं स्याद्वाचकमर्थस्य तस्य न च वक्तुम्।
तं शक्नोक्ति तिरोहिततत्सा[illegible]र्यः निमित्तेन।।
शब्द प्रवृत्ति हेतौ सत्यप्यसमर्थमेव रूढि बलात्।
यौगिकमर्थ विशेष पदं यथा वारिधौ जलभृत्।।
निश्चियते न यस्मिन्वस्तु विशिष्टं पदे समासेन।
असमर्थं तच्च यथा मेघच्छविभारूरो[illegible]श्वम्।
—रूद्रट, काव्या०, ६/३, ६, ७।

५ अ[illegible] दूता जलभृन्[illegible]।
तथा भ्रमरहारीत चक्रवाकशुकादयः।।
—भामह, काव्या० १/४२।

अतिमात्र [1] दोषों का आधार है। इसी प्रकार **आचार्य वामन** के 'गूढार्थ' को **रूद्रट** ने 'देश्य' [2] कहा है तथा 'क्लिष्ट' दोष से सकीर्ण और गर्भित[3] दोष की उद्भावना मानी जा सकती है। अनुशीलन करने पर स्पष्ट होता है कि **वामन** के लोक–विद्या–विरूद्ध दोषों के आधार पर **आचार्य रूद्रट** ने अपहेतु [4] तथा निरागम [5] दोषों की कल्पना की है।

आचार्य रूद्रट का 'ग्राम्य' दोष भी विचारणीय है। इन्होंने ग्राम्य दोष को पद तथा अर्थ दोनों वर्गों में रखा है। पदगत ग्राम्य दोष में इन्होंने वक्ता तथा वस्तुगत ग्राम्यता का उल्लेख किया है। इसी के अन्तर्गत अश्लील पदों के प्रयोग से उत्पन्न दोष का भी निरूपण किया है।[6] अश्लील पदों के प्रयोग को ग्राम्य दोष का विशेष–भेद कहा है तथा इसका परिहार भी किया है।[7]

आचार्य रूद्रट ने अर्थगत ग्राम्य दोष में देश, कुल, जाति, विद्या, धन, अवस्था, स्थान तथा पात्रो की चेष्टा, आकृति, वेष और वाणी से सम्बद्ध अनौचित्य का ग्रहण किया है।[8]

इस प्रकार प्रकृत दोष में इन्होंने **भामह** के देश–कला आदि गत दोष का अन्तर्भाव कर लिया। उल्लेखनीय है कि देशादि गत दोष को **प्रकृति–विपर्यय** नामक रस–दोष माना गया है।

आचार्य रूद्रट ने विशेषत अलकारों का निरूपण किया है। उसी प्रसङ्ग मे दोषों का प्रतिपादन किया है। दोषो के वर्गीकरण में **आचार्य रूद्रट** की सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टि का आभास होता है। इन्होंने जिन वर्गों में दोषो की गणना की है। लक्षण के अनुसार वे दोष उन्हीं वर्गों में परिगणित किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ शब्दगत दोषो में भी पदगत दोषों को वाक्यगत दोषों के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता तथा वाक्यगत दोषों को अर्थगत दोषों में परिगणित नहीं किया जा सकता है। पूर्ववर्ती **आचार्य वामन** में यह विशिष्टता नहीं दृष्टिगोचर होती है। उनका पदार्थ दोष पदगत दोष में परिगणित हो सकता है। **आचार्य रूद्रट** से सटीक व समुचित रूप से दोषों का वर्गीकरण किया है।

उल्लेखनीय है कि **आचार्य रूद्रट** ने पदार्थ तथा वाक्यार्थ के रूप में अर्थ–दोष का विभाजन नहीं किया इन्होंने अर्थगत दोषों में ही पदार्थ तथा वाक्यार्थगत दोषों का अन्तर्भाव कर लिया है। **रूद्रट** का यह निरूपण परवर्ती काल में भी मान्य रहा है। **आचार्य रूद्रट** ने एक ही दोष को पदगत तथा अर्थगत रूप में ग्रहण किया है। जैसे 'अप्रतीत' तथा 'ग्राम्य' दोष। तात्पर्य यह कि **रूद्रट** को जिस वर्ग में उचित प्रतीत हुआ है। उस वर्ग में उस दोष को ग्रहण किया है। परवर्ती काल में **मम्मट** आदि आचार्यों ने भी इनका अनुकरण किया है जो **मम्मट** आदि के प्रकरण उल्लिखित किया जायेगा।

---

१ *–रूद्रट, काव्या०, ११/१५,१६,१७।*

२ *–तदेव, ६/३७,३८।*

३ *–रूद्रट, काव्यालङ्कार, ११/४०,४१।*

४ *अपहेतुरसौ यस्मिन् केनचिदशेन हेतुतामर्थः।*
याति यथात्वेयुक्त्यो बलवत्या बाध्यते परया।।
–रूद्रट, काव्या० ११/३।

५ *आगमगम्यस्तमृते य उच्यते ऽर्थो निरागम।*
सतत सराजसूर्यैरीजे विप्रोऽश्वमेधैश्च।।
–रूद्रट, काव्या० ११/६।

६ *–तदेव ६/१७–२१।*

७ *–रूद्रट, काव्या० ६/२४।*

८ *अ[illegible]नौचित्य [illegible]नाम्।*
दे[illegible]कुल[illegible]ति[illegible] स्थान पात्रेषु।।
–रूद्रट, काव्या० ११/६।

आचार्य आनन्दवर्धन ने पूर्वाचार्यों की भांति दोष पर पृथक् रूप से विचार नहीं किया है। **आनन्दवर्धन** का प्रतिपाद्य ध्वनि की स्थापना है। इन्होने रस ध्वनि का निरूपण करते हुए प्रसङ्गवश रस–विरोधी पॉच तत्त्वों का श्रुतिकटु आदि दोषो तथा अशक्तिकृत व अव्युत्पतिकृत दोषों का निरूपण किया है।

आचार्य आनन्दवर्धन की दृष्टि प्रधानत 'रस ध्वनि' पर ही केन्द्रित थी। अत **ध्वन्यालोक** में रस से साक्षात् सम्बद्ध दोषों का ही निरूपण किया गया है।[1]

उल्लेख है कि **आचार्य आनन्द वर्धन** ने अनौचित्य पूर्ण वर्णन के प्रति सदैव सचेत रहने का निर्देश दिया है। इनके अनुसार रसभङ्ग का प्रधान कारण अनौचित्य पूर्ण निबन्धन है।[2] पूर्व उल्लिखित है कि प्रसङ्गानुकूल **आचार्य आनन्दवर्धन** ने कवि के द्विविध दोषों अत्युत्पत्तिकृत तथा अशक्तिकृत, का उल्लेख किया है किन्तु ये दोष कविगत ही है।

आचार्य आनन्द ने दोषों का वर्गीकरण शब्द तथा अर्थगत रूप में न करके भी रस–विरोधी तत्त्वों का सूक्ष्म अन्वेषण किया है। तात्पर्य यह है कि दोषों की विवेचना पर विशेष ध्यान देते हुए भी **आचार्य आनन्द वर्धन** ने काव्यत्व के दूषक तत्त्वो का अन्वेक्षण सूक्ष्मता से किया है।

ध्वन्यालोक मे कई स्थलों पर **आचार्य आनन्दवर्धन** ने रस–विरोधी प्रसगों से सावधान रहने का सकेत दिया है। उल्लेखनीय है कि **आचार्य मम्मट** ने दोषों का स्वरूप निरूपण रस के अपकर्षण के आधार पर ही किया है। जिसका विवेचन उनके प्रसङ्ग में किया जायेगा।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने 'श्रुटिकटु' आदि दोषों का प्रसङ्ग वश उल्लेख मात्र किया है। **आचार्य आनन्दवर्धन** का प्रतिपाद्य ध्वनि–विवेचन ही है। अत उन्होंने यदि दोषों पर पृथक् रूपेण विचार नहीं किया तो वे आलोचना के पात्र नहीं है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने दोषों का विशेष विवेचन न करते हुए भी दोषों की रसापकर्षकता तथा रस विरोधी तत्त्वों का निरूपण किया।[3] जो परवर्ती काव्याशास्त्रकारों के मार्गदर्शन में पर्याप्त उपयोगी सिद्ध हुआ।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी पद वाक्य, प्रबन्ध, अर्थ, गुण, अलकार तथा रस गत अनौचित्य का निरूपण किया है। दोषों के स्वरूप वर्गीकरण आदि का व्यवस्थित निरूपण **आचार्य क्षेमेन्द्र** ने भी नहीं किया है। **आचार्य महिमभट्ट** ने अपने ग्रन्थ **'व्यक्ति–विवेक' का द्वितीय विमर्श दोष–निरूपण को ही समर्पित किया है। इन्होंने दोष–वर्गीकरण पर भी दृष्टि डाली है।**

आचार्य महिम भट्ट ने दोषों को दो वर्गों में विभाजित किया है। प्रथम अन्तरङ्ग तथा द्वितीय बहिरङ्ग। 'अन्तरङ्ग दोष' साक्षात् रूप से तथा 'बहिरङ्ग दोष' परम्परया रस का अपकर्षण करते है।[4] **आचार्य महिमभट्ट** का दोष वर्गीकरण विवेच्य है।

---

१. *विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः।*
विस्तरेणान्वितस्यापिवस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम्।।
अकाण्डे एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम्।
परिपोष गतस्यापि पौनः पुन्येनदीपनम्।
रसस्य स्याद्विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च।।
–आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३/१८,१९।

२ *प्रबन्धे मुक्तकेवापि रसादीन्बन्द्धुमिच्छता।*
यत्न कार्य सुमतिनापरिहारे विरोधिनाम्।।
–आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, ३/१७।

३ *–आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३/१८, १९ तथा आलोक वृत्ति।*

४ *अन्तरङ्गबहिरङ्गभावश्चानयो साक्षात् पारम्पर्येण च रसभङ्ग हेतुत्वात्।*
–महिम भट्ट व्य० वि०, द्वितीय विमर्श, ।

आचार्य महिमभट्ट के पूर्ववर्ती **आचार्य आनन्दवर्धन** ने दोषों को रसापकर्षक रूप में स्वीकार किया है। **आचार्य महिमभट्ट** ने स्पष्टत दोषों के दो वर्ग निर्धारित कर दिये– साक्षात् तथा परम्परया रस के उद्वेजक रूप मे। **आचार्य महिमभट्ट** के अन्तरङ्ग दोष रूप वर्गीकरण का आधार यदि **आचार्य आनन्द वर्धन** के रस विरोधी तत्त्वों का निरूपण माना जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। तात्पर्य यह है कि **आचार्य आनन्दवर्धन** ने रसविरोधी तत्त्वों का उल्लेख किया है। जो साक्षात् रूप से रस के अपकर्षक हैं इसके साथ ही **आनन्द वर्धन** ने **ध्वन्यालोक** मे अनेक स्थलो पर अनौचित्य को रसभग का कारण स्वीकार किया है। सम्भवत इसी आधार पर **महिमभट्ट** ने दोषों के दो वर्ग निर्धारित कर दिये हैं। जिसमें एक साक्षात् रूप से रस का अपकर्षक है। तो दूसरा परम्परया रस का अपकर्षक है।

'अन्तरङ्ग दोष' के भेदों का निरूपण **आचार्य महिमभट्ट** ने नहीं किया है। इस विषय में उन्होंने कहा है कि पूर्ववर्ती आचार्यों ने अन्तरङ्ग दोषो का निरूपण कर दिया है। इसलिए उनका निरूपण नहीं किया जा रहा है।[1] **आचार्य महिमभट्ट** ने बहिरङ्ग दोष के पॉच प्रकार का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है। ये दोष–विधेयाविमर्श, प्रक्रमभेद, क्रमभेद, पौनरुक्त्य तथ वाच्यावचन है। 'अन्तरङ्ग' तथा बहिरङ्ग दोष को **आचार्य महिमभट्ट** ने क्रमशः 'अर्थगत' तथा 'शब्दगत' दोष भी कहा है।[2] विचारणीय है कि 'बहिरङ्ग' दोषों में परिगणित दोषों को मात्र शब्दगत नहीं माना जा सकता है। अत महिमभट्ट द्वारा किया गया विभाजन समीचीन नहीं है।

आचार्य महिमभट्ट द्वारा रसगत दोषों को 'अर्थगत' मानना यद्यपि समीचीन नहीं है तथापि 'अन्तरङ्ग' दोषों को 'अर्थगत' कहकर महिमभट्ट ने रस दोषों को शब्दगत दोषों से पृथक् तो कर ही दिया है। जो दोष–वर्गीकरण की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य है।

आचार्य रूद्रट ने भी विरस' दोष को अर्थगत दोष ही माना है। **आचार्य रूद्रट** के समय तक रस–विरोधीदोषों का सकेत प्राप्त नहीं होता किन्तु **आचार्य महिमभट्ट** से पूर्व **आचार्य आनन्दवर्धन** ने रस–विरोधी तत्त्वों का उल्लेख करके रस–दोषों की उद्भावना का सकेत किया है।

आचार्य माहमभ-ट ने रस–गत दोषों को पहचान कर भी उनके निरूपण से स्वय को पृथक् ही रखा है। **आचार्य माहमभ ट** के विचार से **आचार्य आनन्दवर्धन** द्वारा किया गया रस विरोधी तत्वों का निरूपण ही पर्याप्त है। यह माना जा सकता है। **आचार्य** [illegible] ने सूक्ष्मता से बहिरङ्ग दोषों का विवेचन किया है। उसका अनुशीलन करने पर यह ज्ञात होता है कि यदि **आचार्य माहमभ ट** ने अन्तरङ्ग दोषों का भी निरूपण किया होता तो परवर्ती आचार्यों को रस–दोष निरूपण में पर्याप्त सहायता प्राप्त होती। सम्भवत. तब **आचार्य मम्मट** का रस–दोष विवेचन और भी प्रौढ होता।

दोष–निरूपण में **आचार्य माहमभ-ट** के सूक्ष्म अन्वेषण का एक उदाहरण प्रकृत स्थल में प्रासंगिक है। **आचार्य माहमभ ट** ने बहिरङ्ग दोषों में शब्दाश्रित दोषों को परिगणित किया है। यहाँ उन्होंने 'छन्द की दु.श्रवता' का निरूपण नहीं किया है क्योंकि उनके अनुसार छन्द की दु.श्रवता' रूप दोष मात्र शब्दाश्रित ही नहीं होता वरन् यह दोष छन्दगत भी होता है।[3]

'व्यक्ति विवेक' के द्वितीय विमर्श का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि दोषों पर इतनी सूक्ष्मता, गम्भीरता तथा विवेक र्णता से विचार **आचार्य** [illegible]ट के पूर्ववर्ती किसी आचार्य ने नहीं किया है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने यद्यपि रस–दोषों पर विचार प्रस्तुत किया है तथापि **आचार्य महिमभट्ट** के बहिरङ्ग दोषों के निरूपण को देखकर नि.सन्देह कहा जा सकता है कि **आचार्य माहमभ-ट** का दोष–निरूपण अत्यधिक विचारपूर्ण है।

---

1. *आद्यैरेवोक्तमिति नेह प्रतन्यते। महिमभट्ट, व्य० वि०, द्वितीय विमर्श*
2. *इह खलु द्विविधमनौचित्यमुक्तम् अर्थविषय शब्दविषयं चेति।*
   – तदेव, द्वितीय विमर्श ।
3. *–महिम भट्ट, व्यक्ति विवेक, द्वितीय विमर्श।*

आचार्य महिमभट्ट ने 'अन्तरङ्ग दोष' कहकर रस–दोषों को सर्वथा पृथक् रखा है। इससे **आचार्य मम्मट** को दोषो का रसगत रूप मे वर्गीकरण करने में दृढ आधार प्राप्त हुआ है।

आचार्य मम्मट द्वारा रसगत दोषों को अन्य दोषों से पृथक् रखने की मूल प्रेरणा तो **आचार्य आनन्दवर्धन** से ही प्राप्त हुई है। परन्तु इस वर्गीकरण में वे **आचार्य महिमभट्ट** से भी उपकृत हैं, यह नि सन्देह कहा जा सकता है।

आचार्य महिमभट्ट का दोष–वर्गीकरण परवर्ती काव्यशास्त्रकारो के लिए महत्त्वपूर्ण रहा है। यद्यपि परवर्ती काल मे **आचार्य महिमभट्ट** के वर्गीकरण को उसी रूप में स्वीकार नहीं किया गया है तथापि दोष–वर्गीकरण मे उनके योगदान को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

आचार्य रूद्रट के पश्चात् दोषों का विस्तृत विवेचन **आचार्य भोजराज** ने किया है। इन्होंने दोषों को तीन वर्गों में विभाजित किया– पद वाक्य तथा वाक्यार्थ। **आचार्य भोज** ने प्रत्येक वर्ग में सोलह–सोलह दोषों को परिगणित किया है।[1]

आचार्य भोज ने अधिकाधिक दोषों का सकलन करने का प्रयत्न किया है। इन्होंने लक्षण व उदाहरण सहित दोषो का स्पष्टतया निरूपण तथा वर्गीकरण किया है।

उल्लेखनीय है कि **आचार्य भोज** ने अपने ग्रन्थ **'सरस्वती कण्ठाभरण'** के प्रथम परिच्छेद में ही दोषों का निरूपण कर दिया है। जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि **आचार्य भोज** ने काव्य की निर्दुष्टता को सर्वोपरि माना है।

पूर्वाचार्यों के मत का अनुकरण करते हुए **आचार्य भोज** ने यथासम्भव दोषों की सङ्ख्या वृद्धि करने का प्रयास किया है।

आचार्य भोज कृत वर्गीकरण को हम सभी प्रकार से उचित नहीं मान सकते। **आचार्य भोज** के कतिपय दोष ऐसे हैं। जिनमें नाममात्र का भेद होने पर भी उन्हे भिन्न वर्गों मे रखा गया है।

आचार्य भोज के वाक्यार्थ दोष 'अतिमात्र' तथा 'परूष'–दोष में किञ्चित् भेद है। उसी आधार पर **आचार्य भोज** ने दोनों को पृथक् कर दिया है। इसी प्रकार पदगत 'अपुष्टार्थ' तथा 'अप्रयोजक' दोष की साम्यता भी देखी जा सकती है।[2]

दोष–निरूपण में **आचार्य भोज** ने प्राय पूर्ववर्ती आचार्यो के दोष–निरूपण को आधार बनाया है। इनके दोष–निरूपण पर विशेषतः **वामन** तथा **रूद्रट** का प्रभाव दिखाई देता है। कई दोषों के उदाहरण **आचार्य भोज** ने **वामन** तथा **रूद्रट** से ही ग्रहण किये हैं।

आचार्य भोज ने विवेकशीलत का परिचय देते हुए पूर्ववर्ती आचार्यों का अनुकरण किया है। इन्हें जिस आचार्य का लक्षण उचित प्रतीत हुआ उसका लक्षण ग्रहण किया है। किन्तु यदि उदाहरण समीचीन प्रतीत नहीं हुआ तो उदाहरण किसी अन्य आचार्य से ग्रहण किया है। उदाहरणार्थ 'वाक्यार्थगत ससंशय' दोष

१क) दोषा पदानां वाक्याना वाक्यार्थाना च षोडश।
–भोजदेव, स० क०, १/२।

ख) असाधुचाप्रयुक्त च कष्टं चानर्थकञ्च यत्। अन्यार्थकमपुष्टार्थमसमर्थं तथैव च।।
अप्रतीतमथक्लिष्ट गूढ नेयार्थमेव च। सन्दिग्धं च विरूदध च प्रोक्तं [illegible]म्।।
देशमग्राम्यमितिस्पष्टादोषाः स्यु पद सश्रया।
–भोजराज, सरस्वती कण्ठाभरण, १/४–६।

ग) –वही १/१८–२०।

घ) –वही १/४४–४६।

२. –सरस्वती कण्ठाभरण, १/१२।

की परिभाषा **वामन** के 'सन्दिग्ध' से ग्रहण की गयी है[1] तो उदाहरण **आचार्य दण्डी**[2] से। इसी प्रकार कतिपय अन्य उदाहरण भी देखे जा सकते हैं।

आचार्य भोज ने पदगत दोषों में 'ग्राम्यत्व' वाक्यगत दोषों में 'अरीतिमत्' तथा वाक्यार्थगत दोषों में 'विरूद्ध' दोष का अपेक्षाकृत विस्तार से निरूपण किया है।

इनके 'अरीतिमत्' दोष में पूर्वाचार्यों के कई दोष अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। यह दोष गुणों की विपरीत स्थिति से उत्पन्न हो जाता है।

दोषों का वर्गीकरण करते हुए भी **आचार्य भोज** ने पूर्वाचार्यों का पूर्णत अनुकरण नहीं किया है। इन्होने स्वविवेक के आधार पर ही दोषों को निर्धारित वर्ग में रखा है। **आचार्य भामह** प्रतिपादित अपक्रम दोष शब्दगत दोषों में परिगणित होता है। किन्तु **आचार्य भोज** ने उसे वाक्यार्थगत माना है। पुनरूक्ति दोष को भी **भामह** के अनुसार पदगत तथा अर्थगत वर्ग में रखा जा सकता है। किन्तु **आचार्य भोज** ने पुनरूक्ति दोष को वाक्यार्थगत माना है।

आचार्य भोज के दोष विवेचन का अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि **आचार्य मम्मट** से पूर्व दोषों का विधिवत् वर्गीकरण करने वाले **आचार्य भोज** ही है। यह बात और है कि वर्गीकरण में **आचार्य मम्मट** ने पूर्णत उनका अनुकरण नहीं किया है।

आचार्य भोज के पश्चात् **आचार्य मम्मट** ने दोष विवेचन पर विशेष ध्यान दिया है। **आचार्य मम्मट** ने दोषों को पद, पदाश, वाक्य, अर्थ तथा रस रूप में पाँच भागो में वर्गीकृत किया है।

आचार्य मम्मट ने 'मुख्यार्थ' अर्थात् रस के अपकर्ष को दोष माना है। इसी आधार पर दोष का वर्गीकरण किया है।[3] इन्होंने कहा है कि मुख्यार्थ का अपकर्षक ही दोष होता है। काव्य में रस ही आत्म तत्त्व या प्रधान तत्त्व है। उस रस के द्वारा उपकारक रूप में अपेक्षित होने के कारण वाच्य भी मुख्य कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि रसानुभूति मे वाच्य या अर्थ सहायक होता है। इसलिए अर्थ को भी मुख्य कहा जाता है। परन्तु प्रधान तत्त्व रस ही है।

रसानुभूति में जिसप्रकार अर्थ उपकारक होता है। उस प्रकार रस तथा अर्थ दोनों के उपकारक शब्द, वर्ण आदि होते हैं। इसलिए शब्द तथा वर्ण आदि दोष भी होते हैं।

आचार्य मम्मट ने इस प्रकार अर्थ, वाक्य, शब्द तथा पदांशगत रूप में दोषों का वर्गीकरण किया है। कि वर्गीकरण का आधार बताने के कारण मम्मट का दोष निरूपण और भी विशिष्ट हो जाता है।

मम्मट के दोष–वर्गीकरण में पदांशगत तथा रसगत वर्गीकरण विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने दुष्ट पद, श्रुति कटु आदि सोलह पदगत[4] दोषों का निरूपण करने के पश्चात् कहा है कि च्युतसस्कार, असमर्थ

१.क) [illegible] ससंशयम्...........

—भोजदेव, स०क० १/४८।

ख) सशयकृत संदिग्धम्।

—वामन, का०सू०, २/२/२०।

२ मनोरथ प्रियालोक रसलोलेक्षण सखि।
आरादवृत्तिरिय माता न क्षमा द्रष्टुमीदृशम्।।

—दण्डी, काव्यादर्श, उदा० ५५।

३ मुख्यार्थ हतिर्दोषों रसश्चमुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः।
उभयोपयोगिनःस्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः।।

—मम्मट, काव्य–प्रकाश, ७/४६।

४ दुष्ट पद श्रुतिकटु च्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसमर्थम्।
निहतार्थमनुचितार्थं निरर्थकमवाचकं त्रिधाऽश्लीलम्।।
[illegible] ग्राम्यं नेयार्थमथ भवेत्क्लिष्टम्।
अविमृष्टविधेयांश विरूद्धमतिकृत्समास गतमेव।।

—मम्मट, का० प्र०, ७/५०–५१।

तथा निरर्थक नामक पदगत दोषों के अतिरिक्त अन्य पदगत दोष वाक्य में भी होते हैं तथा कुछ दोष पदाश में भी होते हैं।[1] इसमे श्रुतिकटु, निहतार्थ, निरर्थकत्व, अवाचकत्व, अश्लील, सन्दिग्धत्व दोषों को पदैकगत मानकर इनका उदाहरण प्रस्तुत किया है।[2]

पद, वाक्य तथा पदैकदेश में रहने वाले सोलह सामान्य दोषो का निरूपण करने के पश्चात् **आचार्य मम्मट** ने इक्कीस दोषों का निरूपण किया है। जो केवल वाक्य में रहते हैं।[3] इसके पश्चात् तेइस अर्थगत दोषो का निरूपण किया है।[4] उल्लेखनीय है कि इन्होंने पदार्थ तथा वाक्यार्थ आदि रूपों में दोषों का [illegible] नहीं किया है। मात्र अर्थगत दोषों का ही प्रतिपादन किया है। अर्थगत दोषों के पश्चात् इन दोषों के परिहार का निरूपण **आचार्य मम्मट** ने किया है। तत्पश्चात् साक्षात् अपकर्षक रस–दोषों [5] का निरूपण किया है। इनकी सख्या दस है। उल्लेखनीय है कि **मम्मट** ने कहीं भी दोषो की सख्या का उल्लेख नहीं किया है। उनके दोषों की गणना करने से दोष सख्या का ज्ञान होता है।

आचार्य मम्मट का [illegible] पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होता है। पदाशगत तथा रसगत दोषों का वर्गीकरण अतिमहत्त्व पूर्ण है। इसके साथ ही अन्य वर्गों में संकमित होने वाले दोषों का उल्लेख भी **आचार्य मम्मट** ने किया है। जैसे पदगत दोष, वाक्यगत तथा पदांशगत दोष भी होते हैं। इसका स्पष्ट उल्लेख किया है।

पूर्वाचार्यों ने सङ्कमित होने वाले दोषों का स्पष्ट निर्देश नहीं दिया है। **आचार्य रूद्रट** ने 'अप्रतीत' तथा 'ग्राम्य' दोष को पद तथा अर्थगत माना है। **भोज** ने विरूद्ध दोष को पदगत तथा वाक्यार्थ माना है। अधिकोपम दोष को भी **भोज** ने वाक्य तथा वाक्यार्थ दोनों वर्गों में परिगणित किया है।

---

१ *अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थ निरर्थकम्।*
वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते पदस्यांशेऽपि केचन।।
—तदेव, का० प्र० ७/५२।

२ *—द्रष्टव्य — तदेव, उदाहरण संख्या—१६७—२०७।*

३. *प्रतिकूलवर्णमुप .तप् तविसर्गविसन्धिहतवृत्तम्।*
न्यूनाधिककथितपदं पतत्प्रकर्षं समाप्तपुनरात्तम्।।
अर्थान्तरैकवाचकमभवन्मतयोगमनभिहितवाच्य ।
अपदस्थपदसमासंसङ्कीर्णं गर्भितं प्रसिद्धिहतम्।
भग्नप्रक्रममपक्रमममतपरार्थञ्च वाक्यमेव तथा।।
—तदेव, ७/५३—५४ तथा ५५ का पूर्वादर्घ।

४. *अर्थोऽपुष्टः कष्टोव्याहत पुनरुक्त—दुष्कम ग्राम्या ।।*
सन्दिग्धो निर्हेतुः प्रसिद्धि विद्या विरूद्धश्च।
अनवीकृतः सनियमानियम—विशेषाविशेषपरिवृत्ताः।।
साकाङ्क्षोऽपदयुक्तः सहचरभिन्नः प्रकाशितविरूद्ध ।
विध्यनुवादायुक्तस्त्यक्तपुनः स्वीकृतोऽश्लीलः।।
—मम्मट, का० प्र०, ७/५५ का उत्तरादर्ध एवं ५६,५७।

५ क) *व्यभिचारि—रस स्थायिभावाना शब्दवाच्यता।*
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः।।
प्रतिकूल[illegible]ग्रहो दीप्तिः पुन पुनः।
[illegible]नं प्रकृतीनां विपर्ययः।
अनङ्गस्याभिधान च रसे दोषा स्युरीदृशाः।
—मम्मट, काव्य—प्रकाश, ७/६०—६२।

ख) *—द्रष्टव्य, आनन्द वर्धन, ध्वन्या० ३/१८, १९।*

आचार्य मम्मट ने रसगत दोषों को अर्थगत दोषों से पृथक् करके सर्वथा नवीन कार्य किया है। इन्होंने दोषों का विभाजन करते हुए रसगत तथा अर्थगत दोषों को अलग–अलग परिगणित किया है।

आचार्य मम्मट से पूर्व रस से सम्बद्ध दोषों को **आचार्य रूद्रट**, **आचार्य महिमभट्ट** तथा **आचार्य भोज** ने अर्थगत दोषों में ही परिगणित है। **आचार्य रूद्रट** तथा **आचार्य भोज** ने रस से सम्बद्ध 'विरस दोष' को 'अर्थदोषों' के वर्ग में ही उल्लिखित किया है। **आचार्य महिमभट्ट** ने भी रस पर आधृत अन्तरङ्ग दोषों को अर्थगत ही कहा है।

आचार्य मम्मट ने दोषों की सम्यक् परीक्षा की है। उनकी दृष्टि से पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित एक भी दोष बचा नहीं है। **आचार्य भामह**, **वामन** तथा **आचार्य रूद्रट** द्वारा प्रतिपादित अलंकार दोषों का उल्लेख **आचार्य मम्मट** ने **काव्य–प्रकाश** ग्रन्थ के दसवें उल्लास में किया है।

आचार्य मम्मट ने अलंकार–दोषों को स्व–निरूपित पद आदि दोषों में अन्तर्भुक्त माना है। इसलिए पदादिदोषों से पृथक् उनका निरूपण नहीं किया है।[1]

आचार्य मम्मट ने विस्तारपूर्वक अलंकार–दोषों के अन्तर्भाव का प्रतिपादन किया है। इन्होंने अनुप्रास, उपमा, यमक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा आदिगत दोषों का अन्तर्भाव पद, अर्थगत आदि दोषों में किया है। इस प्रसंग में **आचार्य मम्मट** ने उदाहरण द्वारा इस अन्तर्भाव को सुस्पष्ट करने का प्रयास किया है।

दोष के विभाजन तथा विश्लेषण का अध्ययन करने पर **आचार्य मम्मट** की तार्किक, सूक्ष्म तथा वैज्ञानिक दृष्टि का आभास होता है।

विवेच्य है कि **आचार्य मम्मट** कृत वर्गीकरण इतना सटीक है कि उनके द्वारा निर्धारित वर्गों के अतिरिक्त अन्य वर्गों में दोषों का सङ्क्रमण नहीं हो सकता है।

आचार्य मम्मट ने पदगत दोषों में से सभी दोषों को वाक्यगत या पदांशगत रूप में निरूपित नहीं किया है। पदगत दोषों में से च्युतसंस्कृति, असमर्थ तथा निरर्थक दोष वाक्यगत दोष नहीं हो सकते हैं। इसी प्रकार पदगत दोषों में से सात दोष जो पूर्व उल्लिखित हैं, वे ही पदाशंगत दोष हो सकते हैं।

दोषों का विश्लेषण करते हए **आचार्य मम्मट** ने वाक्यमात्रगत दोषों को भी पृथक् रूप से निरूपित किया है। ये दोष मात्र वाक्य में ही हो सकते हैं,पदादिवर्गों में नहीं। **आचार्य मम्मट** ने आश्रय के आधार पर दोषों का वर्ग निर्धारित किया है। उन्होंने पद आश्रित दोषों को ही पदगत वर्ग में परिगणित किया है। इसी प्रकार अन्य वर्गों में दोष है।

पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा, **आचार्य मम्मट** ने दोषों की पर्याप्त सङ्ख्या वृद्धि की है। रस–दोषों के निरूपण के पश्चात् 'ईदृशाः' कहकर इसके अतिरिक्त भी दोषों की संख्या और भी हो सकती है यह भी संकेत कर दिया है।

आचार्य मम्मट ने यद्यपि सर्वाधिक दोषों का निरूपण किया है। परन्तु उनकी सङ्ख्या वृद्धि निराधार नहीं है। किसी भी दोष की पुनरावृत्ति उन्होंने नहीं की है।आश्रयभेद के आधार पर दोषों को पुनः निरूपित किया गया है। जैसे पदगत दोषों में से जिन दोषों का आश्रय वाक्य या पदांश हो सकता है। उनका पुनः निरूपण किया है।

मम्मट कृत दोषों को पद, अर्थ तथा रसगत रूप में विभाजित किया जा सकता है। पदांशगत तथा वाक्यगत दोष पदगत दोष के ही उपभेद कहे जा सकते हैं।

प्रसङ्गानुकूल विचारणीय है कि पददोष तथा अर्थ दोष में अन्तर यह है कि जहाँ अन्य शब्दों द्वारा कहने पर भी विवक्षित अर्थ दोषयुक्त ही रहता है। वह अर्थदोष है। जहाँ अन्य शब्दों के प्रयोग से दोष

---

1. *एषां दोषा यथायोगं सम्भवन्तोऽपि केचन।*
उक्तेष्वन्तर्भवन्तीति न पृथक् प्रतिपादिताः।।
–मम्मट, काव्य–प्रकाश, १०/१४२।

समाप्त हो जाता है। वह पदगत दोष है। तात्पर्य यह है कि छन्द मे दोषयुक्त पद को हटाकर कोई अन्य पर्यायवाची शब्द रख दिया जाये और छन्द दोषमुक्त हो जाये तो वह पदगत दोष होता है।

रसगत दोषो में साक्षात् रूप से रस का अपकर्षण वाले विभावादि को अनुचित प्रयोग होता है। रस–दोष विवेचन प्राय **आनन्द वर्धन** पर आधृत है।[1] **आचार्य मम्मट** ने यथासम्भव नाम वर्ग तथा लक्षण को परिवर्तित करके पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित दोष निरूपण को आधार बनाया है।

उल्लेखनीय है कि रसगत दोषो का निरूपण करते समय इन्होने **आनन्दवर्धन** का अनुकरण करते हुए भी मौलिकता का ध्यान रखा है। नामकरण मे भी अपनी सूक्ष्म सारगर्भित दृष्टि का परिचय दिया है। इन्होने स्वशब्द वाच्यता, अनुभाव विभाव की कष्टकल्पना, अङ्गी का अननुसंधान तथा रस के अनुपकारक का वर्णन रूप नवीन रस दोषों का भी निरूपण किया है।[2]

आचार्य महिमभट्ट यद्यपि ध्वनि–विरोधी आचार्य हैं तथापि इनके दोष–निरूपण का रस ध्वनिसमर्थक **आचार्य मम्मट** पर पर्याप्त प्रभाव पडा है। **आचार्य महिमभट्ट** ने अन्यन्त गहनता तथा सूक्ष्मता से दोषों का निरूपण किया है। **आचार्य मम्मट** ने इनके वहिरङ्ग दोषों को अपने दोषों में ग्रहण किया है।

आचार्य रूद्रट प्रतिपादित 'ग्राम्य दोष' का प्रभाव **आचार्य मम्मट** के अश्लील[3] तथा प्रकृति विपर्यय[4] नामक दोष पर दिखाई पडता है। इसी प्रकार विचार करने पर स्पष्ट होता है। **मम्मट** ने अनुचितार्थ,[5] विरूद्धमतिकृत, अमतपरार्थ[6] दोषों का निरूपण करते समय **आचार्य रूद्रट** के 'लोक विद्या विरूद्धदोष' को भी दृष्टिगत रखा होगा।

आचार्य भोज के दोष–निरूपण का भी **मम्मट** पर पर्याप्त प्रभाव दिखाई पडता है। **आचार्य मम्मट** के कई दोष **आचार्य भोज** के समान ही निरूपित हुए हैं। कतिपय दोषों को नामभेद के साथ **आचार्य मम्मट** ने स्वीकार किया है।

आचार्य भोज का 'असाधु' दोष ही **आचार्य मम्मट** का 'च्युत संस्कृति'[7] दोष है तथा 'अन्यार्थ' दोष **मम्मट** का 'असमर्थ'[8] दोष है। इसी प्रकार **आचार्य भोज** के असमर्थ दोष को **आचार्य मम्मट** ने 'अवाचकत्व'[9] दोष कहा है।

---

१. *–आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, ३/१८,१६।*

२. *व्यभिचारी–रस–स्थायिभावानां शब्दवाच्यता।*
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावोविभावयोः।।
प्रतिकूल विभावादिग्रहो दीप्ति पुनः पुनः।
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ अङ्स्याप्यति विस्तृतिः।।
अङ्गिनोऽनुसन्धानं प्रकृतीनां विपर्यय।
अनङ्गस्याभिधानञ्च रसे दोषाः स्युरीदृशाः।
–मम्मट, काव्य–प्रकाश, ७/६०–६२।

३ *त्रिधेति व्रीडा जुगुप्साऽमङ्गलव्यञ्जकत्वाद्।*
–मम्मट, का० प्र० ७/५० की वृत्ति।

४ *–द्रष्टव्य प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, पचम अध्यायपृष्ठ-*

५ *–मम्मट, काव्य–प्रकाश ७/५२।*

६ *–तदेव, ७/५३।*

७ *च्युतसंस्कृते व्याकरण लक्षणहीनं।*
–तदेव, ७/५० की वृत्ति।

८ *असमर्थं यत्तदर्थं पठ्यते न च तस्यास्य शक्ति।*
–तदेव ७/५० की वृत्ति।

६. *–तदेव, ७/५० की वृत्ति।*

भोज प्रतिपादित अप्रयुक्त, अप्रतीत, क्लिष्ट, नेयार्थ आदि दोष **आचार्य मम्मट** द्वारा इन्हीं नामों से ग्रहण किये गये हैं। तात्पर्य यह है कि **आचार्य भोज** ने पूर्वाचार्यों का अनुकरण करके दोषो का निरूपण किया है। अत उनका दोष–विश्लेषण पूर्वाचार्यों की अपेक्षा कुछ परिष्कृत हो चुका था। **आचार्य मम्मट** ने यथोचित रूप से उनके द्वारा प्रतिपादित दोषो को अपने दोष–निरूपण मे महत्त्व दिया है।
विचारणीय है कि समीचीन प्रतीत होने पर ही **आचार्य मम्मट** ने पूर्वाचार्यों के मत को अपने दोष–निरूपण मे स्थान दिया है **आचार्य मम्मट** ने पूर्वाचार्यों के मत को ग्रहण करके उसे व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया है।

आचार्य मम्मट का दोष–निरूपण परवर्ती काल के काव्य–शास्त्रकारो के लिए उपजीव्य सिद्ध हुआ है। इनका दोष–वर्गीकरण वैज्ञानिक तथा वैदुष्यपूर्ण है। इन्होने अर्थवर्ग के दोषो से पृथक् रसवर्ग के दोषो का प्रतिपादन किया है, जो रस–सम्प्रदाय के लिए एक अद्वितीय देन है।

परवर्ती काल में प्राय सभी आचार्यों ने **मम्मट** का अनुकरण करते हुए ही अपना दोष–विवेचन प्रस्तुत किया है। **आचार्य विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ** आदि आचार्यों के दोष–निरूपण का आधार **आचार्य मम्मट** का दोष–निरूपण ही है। जिसका विवेचन आगे किया जायेगा।

आचार्य मम्मट के पश्चात् **आचार्य जयदेव** का दोष–निरूपण उल्लेखनीय है। इन्होने दोषों को दो वर्गों मे ही विभक्त किया है। शब्दगत तथा अर्थगत। शब्दगत दोषों को पद, पदाश, वाक्य, वाक्यांश तथा वाक्य–समूह के भेद से पॉच भागो मे विभक्त किया है।

उल्लेखनीय है कि **आचार्य जयदेव** ने रस–दोषो का उल्लेख नहीं किया जबकि इनके पूर्ववर्ती **आचार्य मम्मट** ने विशेषत· रस–दोषो को निरूपित किया था।

शब्दगत दोषो में वाक्याश तथा वाक्यसमूह रूप भेद की वृद्धि **आचार्य जयदेव** ने की है।

रस–दोषो की विवेचना से **आचार्य जयदेव** क्यों विमुख रहे ? इस विषय में भी कोई सङ्केत उनके ग्रन्थ **चन्द्रालोक** में प्राप्त नहीं होता है।

सम्भवत **आचार्य जयदेव** ने स्वप्रतिपादित दोषों में ही रस'–दोषों को अन्तर्भुक्त मानकर उनका पृथक् विवेचन नहीं किया है। **आचार्य मम्मट** ने भी अलङ्कार–दोषो को स्वनिरूपित दोषो मे अन्तर्भुक्त कर दिया है। परन्तु **आचार्य मम्मट** ने स्पष्ट रूप से अलङ्कार गत दोषो के अन्तर्भावित होने का प्रतिपादन किया है।

आचार्य मम्मट के समान **आचार्य जयदेव** ने रस–दोषों के अन्तर्भाव का निरूपण नहीं किया है। यह कहना समीचीन है कि **आचार्य जयदेव** ने इस विषय पर सङ्केत भी नहीं किया है।

च· ।लाक' ग्रन्थ में पद, पदाश आदि दोषों का निरूपण वर्गीकृत करके नहीं किया गया है। दोषों का निरूपण करने के पश्चात् **आचार्य जयदेव** ने कह दिया है कि इन दोषो को यथानुसार वर्गों मे विभाजित कर लेना चाहिए।[1] तात्पर्य यह है कि **आचार्य जयदेव** ने दोषों को पद, पदाश, वाक्य आदि वर्गों में विभक्त करके निरूपित नहीं किया है। कौन सा दोष किन–किन वर्गों मे परिगणित हो सकता है? यह विवेक करना पाठको पर छोड दिया है।

आचार्य जयदेव ने कई ऐसे दोषो को उल्लिखित किया है जिन्हे न इनके पूर्ववर्ती **मम्मट** ने निरूपित किया है न परवर्ती **आचार्य विश्वनाथ** ने। **आचार्य जयदेव** प्रतिपादित 'शिथिल' नामक दोष की चर्चा **आचार्य भोज** ने 'अरीतिमत्' नामक दोष मे की थी।[2] इनके पश्चात् **आचार्य मम्मट** तथा **विश्वनाथ** ने इस दोष का प्रतिपादन नहीं किया है।

'कुसन्धि' विकृत् व अनौचित्य नामक दोषो का निरूपण भी पूर्वाचार्यों ने पृथक् रूप से नहीं किया है[3]

---

१ *पदेतदशे वाक्यांशे वाक्ये वाक्य कदम्बके।*
यथानुसारमभ्यूहेद् दोषाम् शब्दार्थसम्भवान्।।
–जयदेव, चन्द्रालोक, २/३६।

२ *–द्रष्टव्य जयदेव, चन्द्रालोक, –२/१० तथा, भोजदेव, स० क०, १/१२।*

३ *–द्रष्टव्य, तदेव – २/१६, १९ तथा ३४ का पूर्वार्ध।*

उल्लिखित दोषो मे से 'अनौचित्य को **ध्वनिकार** ने रसभङ्ग का कारण स्वीकार करके व्यापक रूप प्रदान किया था। यह कहा जा सकता है।

आचार्य जयदेव के प्रसिदि्ध विरूद्ध' नामक दोष निरूपण में **आचार्य मम्मट** का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पडता है।[1] **मम्मट** ने पूर्वाचार्यों के लोक, विद्या, देश, काल, प्रत्यक्ष, अनुमान विरूद्ध आदि दोषो का अन्तर्भाव प्रसिद्धि व विद्या–विरूद्ध दोष मे कर लिया है।

इन्होने **आचार्य मम्मट** प्रतिपादित कई दोषो को **चन्द्रालोक**' ग्रन्थमे परिगणित नहीं किया है। सम्भवत **आचार्य जयदेव** ने इन दोषों का अन्तर्भाव स्वनिरूपित दोषों मे माना है।

'**चन्द्रालोक**' की **राकागम** नामक टीका में **मम्मट** निरूपित दोषो का **आचार्य जयदेव** के दोषों में अन्तर्भाव प्रदर्शित किया गया है।[2]

जयदेव द्वारा परित्यक्त दोषो का अन्तर्भाव इस प्रकार देखा जा सकता है। `निर्हेतु' और `साकाक्ष' दोष का न्यूनत्व दोष में, `अविमृष्टविधेयाश' तथा `भग्न प्रकम' नामक दोष मे **आचार्य मम्मट** के विध्ययुक्त तथा अनुवादायुक्त दोष का, अपदप्रयुक्त का व्याहत मे, प्रकाशित विरूद्ध नामक दोष का विरूद्धमतिकृत मे। इसी प्रकार समाप्तपुनराप्तत्व मे **मम्मट** के 'व्यक्तपुन स्वीकृत' दोष का अन्तर्भाव माना जा सकता है।

आचार्य जयदेव ने सङि्क्षप्त रूप से दोषो का निरूपण करने का प्रयत्न किया है। एक ही छन्द में **आचार्य जयदेव** उदाहरण तथा लक्षण देने में सफल हुए हैं। इनका दोष निरूपण का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि **जयदेव** ने नवीनता का आधान करने का प्रयास किया है परन्तु **आचार्य मम्मट** के समान सूक्ष्म तथा विवेकपूर्ण निरूपण करने मे ये सफल नहीं हुए हैं।

परवर्ती **आचार्य विश्वनाथ** आदि पर **जयदेव** के दोष–निरूपण का कोई प्रभाव दिखाई नहीं पडता। परवर्ती आचार्यों का दोष–विवेचन प्रायः **मम्मट** पर ही आधृत है।

आचार्य विश्वनाथ ने भी विस्तारपूर्वक दोषो का निरूपण किया हैं।इन्होने **मम्मट** के समान पद, पदाश, वाक्य, अर्थ तथा रस के रूप मे दोषों का विभाजन किया है। –

साहित्य–' पणकार आचार्य विश्वनाथ ने उदाहरणों को सङि्क्षप्त रूप मे प्रस्तुत किया है। **आचार्य मम्मट** ने एक छन्द को उदाहरण रूप मे प्रस्तुत किया वहीं **आचार्य ।विश्व-।ए** ने एक पङि्क्त प्रस्तुत की है। **आचार्य मम्मट** के उदाहरण में जिस शब्द के प्रयोग को दोषयुक्त बताया गया है। **आचार्य विश्वनाथ** ने उसी शब्द को ग्रहण करके एक पङि्क्त का उदाहरण प्रस्तुत किया है। उदाहरण द्वारा इसे इस प्रकार समझा जा सकता है।

आचार्य मम्मट ने 'अनुचितार्थ' पददोष का जो उदाहरण दिया है।[3]

प्रस्तुत उदाहरण मे 'पशु' शब्द 'कायरता' को अभिव्यक्त करता है। इसलिए यह अनुचितार्थक दुष्ट पद है।

आचार्य विश्वनाथ ने 'अनुचितार्थ' नामक पद–दोष का अग्रलिखित उदाहरण दिया है–

'शूरा अमरता यान्ति पशुभूतारणाध्वरे'

इन्होंने भी यहाँ 'पशु' पद को कायरता सूचक माना है।

---

१ –द्रष्टव्य, तदेव, २/३४, ३५ तथा का० प्र०, ७/उदा० २६४–२७०।

२ –चन्द्रालोक की कारिका ३५–३८ पर 'राकागम' टीका।

3. 'तपस्विभिर्या [illegible]यते प्रयत्नत' सत्रिभिरिष्यते च या।
प्रयान्ति तामाशुगतिं यशस्विनो रणाश्वमेघे पशुतामुपागता।
–मम्मट, का० प्र०, उदा० १४६।

इस प्रकार के अनेक उदाहरण **आचार्य विश्वनाथ** के ग्रन्थ 'साहित्य–दर्पण' मे देखे जा सकते हैं। **आचार्य मम्मट** ने पदाशगत 'नेयार्थ दोष' के निरूपण के पश्चात् कहा है कि अप्रयुक्त, अवाचक, निहतार्थ, नेयार्थ दोष असमर्थ दोष के ही भेद हैं।[1] आलङ्कारिकों द्वारा इनका पृथक् निरूपण करने के कारण **आचार्य मम्मट** ने भी इनका पृथक् निरूपण किया है। अप्रयुक्तत्वादि दोषों का पृथक् निरूपण करना **आचार्य मम्मट** ने समीचीन माना है। **आचार्य मम्मट** के इसी विवेचन से प्रभावित होकर **आचार्य विश्वनाथ** ने भी असमर्थ, निहतार्थ आदि दोषो का भेद प्रदर्शित किया है।

आचार्य विश्वनाथ ने वाक्यगत दोष में विसन्धित्व' दोष के तीन भेदो का उल्लेख किया है। जिससे इनके वाक्यगत दोषों की सङ्ख्या **मम्मट** की अपेक्षा अधिक है।

आचार्य विश्वनाथ ने रस दोषों में भी एक नवीन भेद की कल्पना की है। परन्तु यह भेद भी **आचार्य मम्मट** के द्वारा निरूपित रस–दोषों में अन्तर्भुक्त हो जाता है। इन्होने दोष–विवेचन में कोई मौलिक कार्य नहीं किया है।

पण्डितराज **जगन्नाथ** ने रसगत दोषो का विवेचन किया है। **ध्वनिकार आनन्दवर्धन** के समान ही इन्होने दोषो के लिए किसी विशेष अध्याय की रचना नहीं की है। ध्वनिकाव्य के विषय मे चर्चा करते हुए ही इन्होने रस के अपकर्षक तत्त्वो को भी सङ्क्षिप्त में निरूपित कर दिया है।

पण्डितराज ने अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से रस के अपघातक तत्त्वो का विवेचन किया है। यद्यपि यह विवेचन **आचार्य मम्मट** से प्रभावित है परन्तु इसका निरूपण **आचार्य आनन्द वर्धन** की पृष्ठभूमि पर हुआ है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार ध्वनिकार ने रसविरोधी तत्त्वों के रूप में रस–दोषों का निरूपण किया है। उसीप्रकार **पण्डितराज** ने भी रस पर विचार करते हुए ही रस–दोषो का निरूपण किया है।

पण्डितराज ने रस दोषों का निरूपण करते हुए कतिपय नवीन नामों की भी कल्पना की है। उल्लेखनीय है कि 'विच्छिन्नदीपन,' तथा 'वमन' सर्वथा नवीन नाम है। जिसका प्रयोग पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी नहीं किया है।

विचारणीय है कि **आचार्य जगन्नाथ** ने रस–दोषों के प्रकरण में नवीन सञ्ज्ञा की कल्पना अवश्य की है, किन्तु उल्लिखित दोषों के स्वरूप में कोई नवीनता नहीं है।

पण्डितराज द्वारा प्रतिपादित 'वमन' दोष **आचार्य मम्मट** प्रतिपादित **व्यभिचारी रस तथा स्थायीभाव की स्वशब्दवाच्यता'** नाम रस–दोष ही है।

'विच्छिन्नदीपन' दोष में दो दोषों का आभास होता है। **आनन्दवर्धन** तथा **आचार्य मम्मट** ने 'असमय या अकाण्ड में रस का विच्छेद' तथा परिपुष्ट–रस का पुनः उद्दीपन नामक रस–दोषों का उल्लेख किया है। विचार करने पर यह कहा जाता है कि इन दोनों दोषों का अन्तर्भाव 'विच्छिन्नदीपन' नामक दोष में करने का प्रयास **आचार्य जगन्नाथ** ने किया है। इस विषय पर विस्तृत विचार आगे किया जायेगा।[2]

काव्य मे वर्जनीय तत्वो का उल्लेख करते हुए **पण्डितराज** ने 'प्रतिकूल वर्णत्व' के उदाहरण प्रस्तुत किये है।

आचार्य जगन्नाथ ने दोषो के निरूपण पर व्यापक दृष्टि नहीं डाली है। यह भी उल्लेखनीय है कि **आचार्य जगन्नाथ** का ग्रन्थ 'रसगङ्गाधर' अपूर्ण रूप से ही प्राप्त होता है।

---

१. *यद्यप्यसमर्थस्यैवाप्रयुक्तादयः केचन भेदाः तथाप्यन्यैरालङ्कारिकैर्विभागेन प्रदर्शिता इति भेदप्रदर्शनेनोदाहर्त्तव्या इति च विभज्योक्ता।*

—मम्मट, काव्यप्रकाश, ७/५२ की वृत्ति।

२ *—द्रष्टव्य, प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध, पंचम अध्याय पृ०-*

यहाँ जिन आचार्यों के विचार को उल्लिखित किया गया हैं उनके अतिरिक्त भी कतिपय आचार्य हैं, जिन्होने दोषो पर अपनी दृष्टि डाली है परन्तु उन काव्यशास्त्रकारो के दोष विवेचन मे कोई उल्लेखनीय तथ्य दिखाई नहीं पडता।

आचार्य विद्याधर ने अपने ग्रन्थ 'काव्ली' मे दोषो का निरूपण, किया है। इनका दोष-विवेचन पूर्णतया **आचार्य महिमभट्ट** पर आधृत है। किन्तु **महिमभट्ट** की तार्किक कुशलता उनमे दिखाई नहीं देती हैं।

आचार्य मम्मट के परवर्ती **हेमचन्द्र,**[1] **वाग्भट**[2], **विद्यानाथ**[3] ने भी अपने ग्रन्थों में दोषों पर विचार किया है। परन्तु इनके विचार को हम **आचार्य मम्मट** के विचारो का पुनर्कथन मात्र कह सकते हैं। **आचार्य** विश्व... का दोष-विवेचन भी **मम्मट** के विवेचन की पुनरावृत्ति ही प्रतीत होता है।

इस प्रकार काव्यशास्त्रकारो के दोष-विवेचन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि दोषों के निरूपण मे उल्लेखनीय कार्य **आचार्य भरत, भामह दण्डी वामन, रूद्रट, आनन्दवर्धन, महिमभट्ट, भोजराज** तथा **आचार्य मम्मट** ने किया हैं

आचार्य भरत मे सर्वप्रथम दोषो का निरूपण करके काव्यशास्त्र में दोष-निरूपण की अवधारणा की स्थापना की है। **आचार्य दण्डी** ने दोषों के व्यापक क्षेत्र को पुन सीमित करने का प्रयास किया, परन्तु **आचार्य दण्डी** ने **प्रतिज्ञा हेतु दृष्टान्त हीन** नामक दोष की काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में अवहेलना करके एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

आचार्य वामन ने पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित दोषो को एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करते हुए उनका विभाजन किया है। दोषों के वर्गीकरण का यह प्रथम प्रयास था। **वामन** के परवर्ती **आचार्य रूद्रट** ने पुन मौलिक रूप से दोषों को वर्गीकृत किया है। दोषों के विभाजन मे **आचार्य रूद्रट** का नाम इसलिए विशेषत उल्लेखनीय है क्योकि, इन्होने दोषों का अर्थगत रूप मेंसर्वथा पृथक् विभाजन किया है। **आचार्य वामन** ने 'वाक्यार्थ' दोष मे ही अर्थ-दोषो को समाहित कर दिया था।

आचार्य रूद्रट के पूर्ववर्ती आचार्यो का ध्यान रस से साक्षात् सम्बद्ध दोषो की ओर नहीं गया था। सर्वप्रथम रस का नामोल्लेख करते हुए **आचार्य रूद्रट** ने विरस दोष की उद्भावना की है।

आचार्य आनन्द वर्धन तथा **आचार्य महिमभट्ट** ने पूर्वाचार्यों की भाति दोष का विस्तार पूर्वक निरूपण नहीं किया है। परन्तु दोषों पर किया गया इनका कार्य दोष-निरूपण के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

आचार्य आनन्द ने तो दोष कहकर रस से साक्षात् सम्बद्ध अपकर्ष तत्त्वो का उल्लेख भी नहीं किया है। इन्होंने इन अपकर्षक या रस विघातक तत्त्वों का उल्लेख रस-विरोधी तत्वों के रूप में ही किया है। परन्तु यही विवेचन **आचार्य मम्मट** के रस-दोषों की पृष्ठभूमि बन गया है।

आचार्य महिमभट्ट ने 'वहिरङ्ग' दोषों के निरूपण मे जिस अन्वेषणात्मक सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है वह परवर्ती काव्य-शास्त्रकारो के लिए एक विशेष मार्गदर्शन रहा है।

आचार्य रूद्रट के पश्चात् दोषों पर व्यापक विचार **आचार्य भोज** ने किया है। इन्होंने दोषों की सङ्ख्या तो अड़तालीस तक पहुँचा दी परन्तु इनके दोष-विवेचन मे **रूद्रट** की भाति सूक्ष्म दृष्टि का अभाव है। इन्होने पुन अर्थदोषो को वाक्यार्थ दोष में ही समाविष्ट कर दिया है जो विवेकपूर्ण नहीं है। **आचार्य** [illegible] इसलिए भी [illegible] है क्योकि इन्होने रस के साक्षात् अपकर्षक तत्त्वों का निरूपण नहीं किया है। जबकि इनके पूर्ववर्ती **आचार्य आनन्द वर्धन** ने रस-विरोधी तत्वों का प्रतिपादन किया था तथा **महिमभट्ट** ने उनका उल्लेख किया था। **आचार्य महिमभट्ट** (११वीं शताब्दी की पूर्वार्द्ध) **आचार्य भोज** के कुछ ही पूर्ववर्ती थे। अत इनका प्रभाव **आचार्य भोज** पर न पडना विशेष आलोचना का विषय नहीं है।

---

१ *—हेमचन्द्र, काव्यानुशासन ।*

२ *—वाग्भट, काव्यानुशासन।*

३ *—विद्यानाथ, प्रतापरूद्रयशोभूषण।*

परन्तु **ध्वनिकार** का प्रभाव इस **भोज** के दोष निरूपण पर न पडना वस्तुत· आश्चर्यजनक है।

यहॉ यह भी उल्लेखनीय है कि **आचार्य भोज** रस से सम्बद्ध दोषों से परिचित थे क्योंकि, इन्होंने **आचार्य रूद्रट** के विरस दोष का प्रतिपादन अपने ग्रन्थ मे किया है।

आचार्य भोज तक दोषों पर पर्याप्त विचार विमर्श हो चुका था। काव्यत्व के दूषक तत्वों के प्राय· प्रत्येक वर्ग पर भी काव्य–शास्त्रकारो की दृष्टि पहुॅच चुकी थी। ऐसे समय मे **आचार्य मम्मट** का आविर्भाव हुआ इन्होने आचार्यों के मत का समुचित अनुवर्तन करते हुए भी मौलिक रूप से दोषों का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया।

आचार्य मम्मट ने दोषो का सर्वथा मौलिक वर्गीकरण करने के साथ ही दोष–विभाजन के आधार का भी सङ्केत दिया जिससे इनका दोष–निरूपण और भी विशिष्ट हो जाता है। **आचार्य मम्मट** द्वारा रसाश्रित दोषों का पृथक् वर्गीकरण तथा निरूपण भी उनकी एक विशिष्ट देन है।

काव्य शास्त्रकारो के दोष–विवेचन के आधार पर निःसन्देह कहा जा सकता है कि प्राय सभी आचार्यों ने दोष–निरूपण को अपने ग्रन्थ में विशेष महत्त्व दिया है। काव्यशास्त्रकारों ने यथा सम्भव काव्यत्व किं वा काव्यात्मा रस के अपघातक तत्त्वों का अन्वेषण करने का प्रयत्न किया है जो दोष–प्रतिपादन के प्रति उनकी विशेष अभिरूचि को प्रकट करता है।

दोष-परिहार

रस काव्य का प्रधान तत्त्व है। इस प्रधान तत्व का अपकर्षण करने के लिए दोषो का त्याग अपरिहार्य है। इस विषय मे कोई विवाद नहीं है। दोषो को हेय मानने वाले काव्यशास्त्र प्रणेताओ ने दोषो से बचने अथवा दोषो के निवारण कि वा दोषो के परिहार के उपायो के विषय मे क्या निर्देश दिया है? इस विषय पर विचार दृष्टव्य है –

भरतमुनि ने **नाट्य–शास्त्र** मे दोष–परिहार पर कोई स्पष्ट सकेत नहीं दिया है। सर्वप्रथम **आचार्य भामह** की दृष्टि इस ओर गयी है। उन्होने 'सन्निवेश की विशिष्टता' तथा 'आश्रय की विशिष्टता' से दोषो के अदोषत्व या गुण हो जाने का उल्लेख किया है। इस प्रसग मे उन्होंने कहा है कि सन्निवेश की विशेषता से दुष्ट कथन भी शोभायुक्त हो जाता है। जैसे फूलो की माला के मध्य विशेष प्रकार से गूथा गया पलाश का पत्ता भी सुन्दर दिखाई पडता है। इसी प्रकार कहीं आश्रय की विशिष्टता से असाधुशब्द भी शोभायमान हो जाता है। जैसे रमणी की आखो मे लगा हुआ काजल भी सौन्दर्यवर्धक होने के कारण अच्छा लगता है।[1]

भामह ने दोषो की अदोषता के विषय मे उदाहरण प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि 'गण्ड' ग्राम्य होने के कारण असाधु या दुष्ट पद है। परन्तु 'अपाण्डुगण्डमेतत्ते वदन वनजेक्षणे' मे 'पाण्डु' के ससर्ग मे रहने के कारण 'गण्ड' पद साधु या अदुष्ट ही माना जाता है।[2] आश्रय की सुन्दरता से अदोषत्व का प्रतिपादन करते हुए उन्होने उदाहरण प्रस्तुत किया है। जिसमें 'क्लिन्न' पद हाथियो के कपोलों का आश्रय प्राप्त करने के कारण साधु या दोषरहित हो गया है।[3]

उपर्युक्त प्रसंग मे **भामह** ने यह कहा है कि जिस प्रकार माली भलीभांति विचार कर माला में पुष्प पत्र आदि का सन्निवेश करता है। उसी प्रकार कवि को भी काव्य रचना करते समय सावधान रहना चाहिए।[4]

एकार्थ दोष का निरूपण करते समय **आचार्य भामह** ने पुन दोषाभाव या दोष–परिहार की चर्चा की है। शब्दपुनरूक्त के विषय मे उन्होंने कहा है कि यदि विक्षिप्त चित्त वाले अर्थात् उन्मक्त व्यक्ति के द्वारा शब्द की पुनरुक्ति हो तो वह दोषाधायक नहीं होती। इससे स्पष्ट होता है कि जहा उन्मत्त व्यक्ति द्वारा पुनरुक्ति हो वहा पुनरूक्त दोष नहीं होता है।[5] इसे परवर्ती काव्य शास्त्रकारो ने भी स्वीकार किया है।

---

१ *सन्निवेषविशेषात्तु ्रुक्तमपिशोभते। नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव।।*
किंचिदाश्रयसौन्दर्याद्धितेशोभामसाध्वपि। कान्तविलोचनन्यस्तमलीमसमिवाञ्जनम्।।
– भामह काव्यालकार, १/५४–५५।
(श्री निवासमुद्रणालय से १६३४ में मुद्रित)

२ *अपाण्डुगण्डमेतते वदनं वनजेक्षणे।*
सङ्मात् पाण्डुशब्दस्य गण्ड साधु यथोदितम्।
– वही, १/५६।

३ *[illegible] ज्ञेय दिशायुक्तमसाध्वपि।*
यथाविक्लिन्न गण्डाना करिणा मदवारिभिः।
मदक्लिन्नकपोलाना द्विरदाना चतुश्शती।
यथा तद्वदसाधीय साधीयश्च प्रयोजयेत्।।
– वही, १/५७, ५८।

४ *मालाकारो रचयति यथा साधु विज्ञाय माला।*
योज्यं काव्येष्ववहिताधिया तदवदेवाभिधानम्।।
– भामह, काव्या १/५६।

५ *शब्दपुनरूक्त तु स्थौल्यादत्रोपवर्ण्यते। कथमक्षिप्तचित्तः सन्नुक्तमेवाभिधास्यते।।*
भयशोकाभ्यसूयास्तु हर्षविस्मयोऽपि। यथाह गच्छ गच्छेति पुनरूक्तं तद्विदु.।।
– भामह, काव्या, ४/१३,१४।

आचार्य भामह के उपरान्त **आचार्य दण्डी** ने भी अनेक स्थलो में दोषो के अपवाद प्रस्तुत किये हैं तथा दोषो के गुणत्व का उल्लेख किया है। जिससे स्पष्ट होता है कि **आचार्य दण्डी** भी दोषों के निवारण के प्रति सचेत थे।

आचार्य दण्डी ने ग्राम्यता दोष का निरूपण करते हुए अश्लील पदों के प्रयोग को अनुचित माना है। यहीं **आचार्य दण्डी** ने कहा है कि भगिनी, भगवती आदि शब्द सभी स्थलो पर प्रयुक्त होते हैं किन्तु ये दोष नहीं है।[1] तात्पर्य यह कि अश्लील पद यदि विद्वान कवियों के मध्य विशेष अर्थ के लिए प्रयुक्त हो तो वहा दोष नहीं होता है।

आचार्य भामह के समान **दण्डी** ने भी पुनरूवत दोष मे अदोषत्व का प्रतिपादन किया है। **आचार्य भामह** ने कहा था कि उन्मत्त व्यक्ति द्वारा कथित होने पर पुनरुक्त कथन दोष नहीं होता है। **आचार्य दण्डी** का विचार है कि अनुकम्पा या कृपा आदि का वर्णन होने के कारण यदि पुनरूवित हो तो वह दोष नहीं होती।[2] इससे व्यक्त होता है कि भाव प्रधान वर्णन होने पर पुनरूक्ति दोष नहीं होती।

'ससशय'नामक दोष के प्रसंग में **दण्डी** ने ससशय दोष के गुणत्व या गुणभाव का भी निरूपण किया है। इस प्रसग मे **आचार्य दण्डी** ने उदाहरण प्रस्तुत किया है जिसमे सशयउत्पन्न करने के लिए सन्देहास्पद वाक्य का कथन किया गया है। यहाँ नायिका की विरहावस्था को प्रकट करती हुई दूती 'वह कामार्त्ता है या धूप से तप्त है' इस प्रकार का अनिश्चयपरक वाक्य कहती है। यह कथन नायक को व्यामोहित करने लिए उपयोगी सिद्ध होता है। इसलिए इस प्रकार के स्थलों पर संशय दोष नहीं होता।[3]

उल्लेखनीय है कि **आचार्य भामह** ने भी ससंशय दोष का निरूपण किया है परन्तु उन्होने परिहार या गुणत्व की चर्चा नहीं की है।

उपकम दोष के प्रसग में **दण्डी** ने कहा है कि यदि अन्वय के विशेष ज्ञान के लिए पदों को अक्रमिक या अनन्वित रूप से रखा जाय तो दोष नहीं होता। यहा इन्होने जो उदाहरण दिया है उसमे विशेष अन्वय के कारण तनु त्याग को मध्य में रखा गया है जबकि दीर्घकालिक कष्ट प्रदान करने वाले बन्धुत्याग तथा देश त्याग को आदि तथा अन्त में रखा गया है। शरीर त्याग क्षणिक ज्वर के समान अल्प कष्टदायी होता है।[4]

अपकम के समान ही शब्दहीन दोष के अदोषत्व का प्रतिपादन भी **आचार्य दण्डी** ने किया है।[5] इन्होंने कई दोषों के अदोषत्व का प्रतिपादन किया है। इससे दोष निवारण के प्रति इनकी दृष्टि **भामह** की अपेक्षा व्यापक है, यह कहा जा सकता है।

आचार्य वामन ने वाक्य तथा वाक्यार्थ दोषों का निरूपण करने के पश्चात् इन दोषो के त्याग का निर्देश दिया है। यहीं इन्होने यह भी कहा है कि पदार्थ दोष इनसे भिन्न है।[6] जिससे सङ्केत मिलता है कि पदार्थ दोषों का परिहार हो सकता है।

---

१ *भगिनीभगवत्यादि सर्वत्रैवानुमन्यते। विभक्तमिति माधुर्यमुच्यते सुकुमारता।।*
— दण्डी, काव्यादर्श, १/६८।

२ *—दण्डी, काव्यादर्श, ३/३७।*

३ *कामार्त्ताघर्मतप्ता वेत्यनिश्चयकर वच। युवानमाकुलीकर्तुमिति दूत्याह नर्मणा।।*
— दण्डी, काव्यादर्श, ३/१४३।

४. *बन्धुत्यागस्तनुत्यागो देशत्याग इति त्रिषु। आद्यान्तावायतक्लेशौ मध्यमक्षणिक ज्वर.।।*
— तदेव, ३/१४७।

५ *—तदेव, ३/१५०, १५१।*

६ *एते वाक्य वाक्यार्थ दोषास्त्यागाय ज्ञातव्या।*
ते त्वन्येशब्दार्थ दोषा सूक्ष्मास्ते गुणविवेचने वक्ष्यन्त।
— वामन, काव्या० सू० २/२/२४ की वृत्ति।

आचार्य वामन ने क्लिष्ट तथा एकार्थ नामक दोषो के समाधान पर विचार किया है।'क्लिष्ट'दोष के परिहार के विषय मे इनका विचार है कि अरूढ या अप्रसिद्ध होता हुआ भी अर्थ यदिशीघ्र बोध गम्य हो जाय तो क्लिष्ट नहीं होता। करधनी पहनने के स्थान के लिए 'काचीगुणस्थान' पद प्रसिद्ध या रूढ नहीं है फिर भी शीघ्र ही अर्थ बोध होने के कारण इस पद के प्रयोग मे दोष नहीं है।[1]

एकार्थ दोष का परिहार करते हुए **आचार्य वामन** ने कहा है कि यदि विशेष अर्थ के ज्ञान के लिए समान अर्थ वाले शब्दो का पुनर्कथन किया जाय तो वहा दोष नहीं रहता। इस स्थल पर इन्होने कई उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जिनमे इस प्रकार के पदो का प्रयोग दोषपूर्ण नहीं है। स्पष्टता के लिए उदाहरण उल्लेखनीय है। यथा 'धनुर्ज्याध्वनि' मे 'ज्या' पद का अर्थ धनुष की डोरी या प्रत्यचा है इसलिए यहा 'धनु' शब्द का प्रयोग होने के कारण पुनरूक्ति होने पर एकार्थ दोष होना चाहिए किन्तु प्रकृत उदाहरण मे धनु पद से प्रत्यचा का धनुष पर आरूढ होना व्यक्त होता है। इसलिए 'एकार्थ'दोष नहीं है। इसी प्रकार 'कर्णावतस' 'श्रवणकुण्डल' 'शिर शेखर' मे कर्ण, श्रवण तथा शिर पद अवतस आदि से कर्ण आदि की समीपता को द्योतित करते हैं। अन्य उदाहरणो मे मुक्ताहार, पुष्पमाला तथा करिकलभशब्द हैं जिनमें मुक्ताहार शब्द मे 'मुक्ता' पद से 'हार की शुद्धता', 'पुष्पमाला' मे माला की उत्कृष्टता तथा 'करिकलभ' पद मे 'करि से कलभ का तादूप्य' ज्ञात होता है।[2] इसलिए इस प्रकार के पदो की पुनरूक्तता निर्दुष्ट होती है।

आचार्य वामन ने उपर्युक्त दोष का समाधान करते हुए यह भी कहा है कि महाकवियो द्वारा प्रयुक्तशब्दो के लिए ही यह दोष समाधान है। तात्पर्य यह है कि जो शब्द महाकवियों द्वारा प्रयुक्त नहीं होते उन शब्दो की पुनरूक्ति दोष ही होगी।[3] जैसे 'जघनकाची' का प्रयोग दोषयुक्त ही होगा। क्योकि 'कर्णावतस' आदि के समान 'जघनकाची' का प्रयोग विद्वान् कवि या महाकवि नहीं करते हैं। इसलिए ऐसे पदों के प्रयोग से कवि को बचना चाहिए।

आचार्य वामन ने यह भी कहा है कि यदि किसी पद के द्वारा विशेष्य का ज्ञान हो चुका है तब भी विशेषण के विषेण अर्थ को व्यक्त करने के लिए उस उक्तार्थ या गतार्थ विशेष्य का उल्लेख करना अनुचित नहीं है।[4] तात्पर्य यह है कि जिस पद का ज्ञान हो चुका है उसका कथन करना दोषपूर्ण होता है परन्तु यदि उक्तार्थ पद के किसी विशेषण को प्रस्तुत करना तो उस उक्तार्थ या गतार्थ पद को ग्रहण करना दोषपूर्ण नहीं है। इस प्रसग मे उन्होंने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है उसमें 'जगाद' तथा 'वाच' दोनों पदों का प्रयोग किया गया है।[5] उल्लेखनीय है कि 'जगाद' पद 'गद् व्यक्तायां वाचि' इस सूत्र से सिद्ध होता है। जिससे 'जगाद' किया के अर्थ द्वारा ही 'वाच' का अर्थ उक्त है। इसलिए 'वाच' पद का प्रयोग आवश्यक नहीं है। **वामन** का विचार है कि मधुरा विशदाक्षरशालिनीम् इस विशेषण के लिए 'वाच' पद का प्रयोग किया जा सकता है। परवर्ती **आचार्य मम्मट** ने **वामन** के मत का खण्डन किया है। जिसका उल्लेख **मम्मट** के प्रसग मे किया जायेगा।

---

1. *अरूढार्थत्वात्। काञ्चीगुणस्थानमनिन्दितायाः।*
   — वामन, का०सू०, २/१/२१–२२।
2. *न विशेषश्चेत्। धनुर्ज्याध्वनौ धनु श्रुतिरारूढे प्रतिपत्यै। कर्णावतस श्रवणकुण्डल शिर शेखरेषु कर्णादि निर्देश सन्निधे। मुक्ताहारशब्दे मुक्ताशब्दः शुद्धे। पुष्पपदमुत्कर्षस्य। करिकलभशब्दे करिशब्दस्ताद्रूप्यस्य।*
   — वामन, का०सू०, २/२/१२–१६।
3. *कर्णावतसादि पदे कर्णादिध्वनिनिर्मिति।*
   सन्निधानादि बोधार्थं स्थितेष्वेतत्समर्थनम्।।
   — तदेव, २/२/१६ की वृत्ति।
4. *विशेषणस्य विशेष प्रतिपत्त्यर्थं उक्तार्थस्य पदस्य प्रयोग।*
   — वामन, का०सू०, २/२।
5. *जगाद मधुरा वाच विशदाक्षरशालिनीम्।*
   —तदेव, २/२।

आचार्य रूद्रट ने **दण्डी** के समान ही दोष परिहार पर व्यापक रूप से विचार किया है। इन्होने असमर्थ, पुनरूक्ति, असम्बद्ध तथा ग्राम्यत्व नामक दोषो के परिहार का स्पष्ट रूप से निर्देष दिया है। ग्राम्यत्व को पद तथा अर्थगत मानते हुए दोनो स्थलों पर इसके परिहार की चर्चा की है। इसी प्रकार असम्बद्ध दोष की अदोषता का प्रतिपादन पदगत तथा अर्थगत दोनो प्रकार के दोषो के प्रसग मे किया है। उल्लेख्य है कि ये असम्बद्ध को अर्थगत ही मानते हैं।

असमर्थ नामक पद दोष का परिहार करते हुए **आचार्य रूद्रट** कहते हैं कि अनेकार्थक होने के कारण अभिनय के द्वारा जो पद विशिष्ट अर्थ की प्रतीति करा देता है उसका असामथ्र्य दोषयुक्त नहीं होता।[1] तात्पर्य यह है कि काव्य मे प्रयुक्त होने वाले अनेकार्थक शब्दो का विवक्षित अर्थ प्रकरण, अन्य पद की सन्निधि तथा अभिनय द्वारा ज्ञात हो जाता है। इसलिए जब अभिनय आदि के द्वारा विवक्षित अर्थ का ज्ञान हो जाय तो वहा पद मे असामर्थ्य दोष नहीं आयेगा।

पुनरक्ति की अदोषता का निरूपण पदगत दोषो के अन्त में किया गया है।[2] उल्लेखनीय है कि 'असगत' दोष की अदोषता का निरूपण करते हुए **आचार्य रूद्रट** ने कहा है कि यदि वक्ता उन्मादी, मूर्ख या उत्कण्ठा से भरा हो तो असम्बद्ध कथन दोष नहीं होता।[3] **आचार्य भामह** का विचार है कि यदि वक्ता उन्मादी आदि हो तो पुनरूक्त दोष नहीं होता है।[4] इस प्रकार **रूद्रट** ने प्रकारान्तर से **भामह** के मत का ही समर्थन किया है यह कहा जा सकता है। **भामह** ने पुनरूक्त के प्रसग मे कहा और **रूद्रट** ने असम्बद्ध दोष के प्रसग मे।

ग्राम्य दोष की अदोषता का निरूपण **आचार्य रूद्रट** ने पदगत तथा अर्थगत दोनों प्रकार के दोषों के प्रसग मे की है। अर्थगतग्राम्य दोष के परिहार के प्रसग मे उन्होंने कहा है कि ग्राम्य दोष को भली भाति समझकर विद्वानो को इसका प्रयोग करना चाहिए।[5] इन्होने स्पष्टत कहा है कि उदाहरण मात्र से ग्राम्य दोष को पूर्ण रूप से समझा नहीं जा सकता। पदगत ग्राम्यत्व में इन्होंने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, उसमे 'विशापते' पद में षष्ठी विभक्ति होने के कारण 'विट्' का 'विष्ठा' अर्थ नहीं होता। इस प्रकार विभक्ति के कारण ग्राम्य पद का प्रयोग दुष्ट नहीं है। इसी उदाहरण में 'क्लिन्न गण्ड' भी ग्राम्य पद है परन्तु राक्षसी के गण्डस्थल का वर्णन होने के कारण यह पद भी दोषरहित है।[6] उल्लेखनीय है कि देश, जाति विद्या, धन, अवस्था, स्थान एव पात्रों के चेष्टा, आकृति, वेष तथा वाणी के अनौचित्य में ग्राम्यत्व दोष होता है।[7] पदगत ग्राम्य दोष के विषय में इन्होंने कहा है कि जहा श्लिष्ट तथा अश्लील दोनों प्रकार का अर्थ देने वाले

---

१ *यत्पदमभिनयसहितं कुरूतेऽर्थं विशेष निश्चयसम्यक्।*
नैकमनेकार्थतया तस्य न दुष्येदसामर्थ्यम्।।
— रूद्रट, काव्यालकार, ६/८।

२. *—रूद्रट, काव्या०, ६/२६।*

३ *—रूद्रट, काव्या०, ११/२०—२३।*

४ *—भामह, काव्या० ४/१३—१४।*

५ *एतद्विज्ञाय बुधै परिहर्त्तव्यं महीयसो यत्नात्।*
नहि सम्यग्विज्ञातुशक्यमुदाहरण मात्रेण।।
— रूद्रट, काव्या०, ११/११।

६ *कथमिव वैरिगजाना मदसलिलक्लिन्न गण्डभित्तिनाम्।*
दुर्वारिपि घटासौ विशांपते दारित भवता।।
— रूद्रट, काव्या, ६/२४।

७ *प्राम्यत्वमनौचित्य व्यवहाराकारवेष वचनानाम्।*
देश—कुल—जाति—विद्या—वित्त—वय—स्थान—पात्रेषु।।
— रूद्रट, काव्या, ११/६।

शब्दो का प्रयोग हो वहां भी 'ग्राम्य 'दोष होता है। इसे **आचार्य रूद्रट** ने पदगत ग्राम्य का विशेष भेद माना है।[1] पूर्व प्रतिपादित पदगत ग्राम्यत्व दोष विशेष रूप से इसी विशेष ग्राम्यभेद का परिहार है।

पदगत तथा अर्थगत दोषो के निरूपण के अन्त मे **आचार्य रूद्रट** ने असम्बद्ध दोष की अदोषता का निरूपण किया है।[2] यहा उल्लेख्य है कि ग्राम्य दोष के समान इन्होने असम्बद्ध दोष को पदगत तथा अर्थगत नहीं माना वरन् अर्थगत ही माना है। अर्थगत दोषों का निरूपण करने के पश्चात् विशेषत विस्तृत रूप से असम्बद्ध दोष के परिहार की चर्चा की है। इन्होंने दो प्रकार से इस दोष के परिहार का निरूपण किया है। प्रथम मे यदि वक्ता विशेष अर्थ को प्रकट करने के लिए असगत कथन का प्रयोग करता है[3] तथा द्वितीय मे उन्माद, मूर्खता या उत्कण्ठा वश असम्बद्ध या असगत कथन का वर्णन होता है।[4] इसमे प्रथम प्रकार विवेचनीय है **आचार्य रूद्रट** कहते हैं कि दूसरे की बात कहने के लिए सर्वथा असम्बद्ध बात को वक्ता जब अपनी असम्बद्ध बात की सगति के लिए कहता है तो वहा असगति मे कोई दोष नहीं होता।[5] यहा इन्होने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है उसमें वक्ता कहता है कि प्रारम्भ मे कुछ तथा परिणाम मे कुछ और जो हो गया है। इसमे असगति क्या है? परिश्रम करके उडद बोयी गयी और स्पष्ट ही वह कोदों हो गयी।[6] यहा कोई वक्ता दूसरे के असगत वचन पर आक्षेप कर रहा है कि तुम्हारा वचन प्रारम्भ मे कुछ तथा अन्त में कुछ और हो गया है। जैसे प्रारम्भ मे उडद बोयी गयी जो बाद मे कोदो हो गयी।

विचारणीय है कि **आचार्य रूद्रट** ने अनुकरण या अनुवाद के स्थल मे प्राय सभी दोषो की अदोषता का समर्थन किया है। उनका विचार है कि कोई अविकल रूप से किसी पद या वाक्य का अनुकरण करता है तो वह पद तथा वाक्य असमर्थ आदि दोषो से मुक्त रहता है इसी प्रकार दुष्टक्रम तथा क्लिष्ट आदि वर्ण होने पर भी अनुकरण के स्थल पर दोष नहीं होता।[7]

आचार्य रूद्रट ने ही सम्भवत. सर्वप्रथम अनुकरण स्थल मे दोषों की अदुष्टता का निरूपण किया है। परवर्ती काल मे **भोज, मम्मटादि** आचार्यों ने भी इसका समर्थन किया है जिसका उल्लेख यथास्थल किया जायेगा।

आचार्य आनन्दवर्धन ने दोषों की नित्यानित्य व्यवस्था का प्रतिपादन करके प्रकारान्तर से दोष परिहार का समर्थन किया है। इन्होंने कहा है कि श्रुतिदुष्ट आदि दोष ध्वन्यात्मक शृगार में ही दोष होते हैं अन्यत्र नहीं।[8] इससे व्यक्त होता है कि जहां रस की हानि न हो वहां दोष दोष नहीं रहते। जैसे श्रुतिकटु आदि दोष रौद्र आदि रस में दोष न होकर गुण हो जाते हैं।

---

१ —*रूद्रट काव्या०, ६/२१–२२।*

२ —*रूद्रट, काव्या०, ६/३८ तथा ११/१८–२३।*

३ —*वही, ११/१८।*

४. —*वही ११/२०–२३।*

५ *अत्यन्तमसम्बद्धं परमतमभिधातुमन्यदशिष्ट्य।*
संगतमिति यद् ब्रूयात्तत्रायुक्तिर्न दोषाय।
— रूद्रट, वही, ११/१८।

६ *किमिदमसगतमस्मिन्नादावन्यत्तथान्यदन्ते च।*
यत्नेनोप्ता माषा स्फुटमेते कोद्रवा जाता।
— वही, ११/१९।

७ *अनुकरणभावमविकलमसमर्थादि स्वरूपतो गच्छन्।*
न भवति दुष्टमतादृग्विपरीतक्लिष्ट वर्णञ्च।।
— रूद्रट, काव्या०, ६/४७।

८ *श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिता।*
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृता।।
— आनन्दवर्धन, ध्वन्या, २/११।

आचार्य आनन्दवर्धन ने रस विरोधी तत्त्वों के परिहार पर विस्तृत रूप से विचार किया है।[1] इस पर रस–दोष परिहार प्रकरण मे विचार विस्तृत रूप से किया जायेगा। उल्लेख्य है कि इनके रस विरोधी तत्त्वो को **आचार्य मम्मट** ने रस–दोष माना है।

आचार्य महिम भट्ट ने भी 'विधेयाविमर्श' तथा 'पौनरुक्त्य' दोषो के परिहार पर विचार किया है।[2] विधेया विमर्श दोष में 'यत्' तथा 'तत्' के उचित प्रयोग पर विचार करते हुए इन्होने कहा है कि जहा परामर्श योग्य अर्थ को बिना कहे 'यत्' तथा 'तत्' का प्रयोग साथ–साथ मिलाकर कर दिया जाता है, वहा उनका पुन प्रयोग दोषावह नहीं होता।[3]

आचार्य महिमभट्ट ने उपर्युक्त दोष–परिहार के सम्बन्ध मे छन्द भी प्रस्तुत किया है। जिसमे यत् तथा तत् पद का प्रयोग एक साथ किया गया है। तदुपरान्त पुन 'तद्' पद का प्रयोग है। यहा 'यत्तद्' मे आये हुए 'यत्' पद का सम्बन्ध छन्द मे स्थित 'तदपि' पद के 'तद' से हो जाता है। 'यत्तद' के साथ आये 'तद्' पद का प्रयोग तेज की प्रसिद्धि बताने के लिए किया गया है। इस प्रकार 'तत्' पद का दो बार प्रयोग दोषपूर्ण नहीं है तथा 'यत्' और 'तत्' का एक साथ प्रयोग भी दुष्ट नहीं है।[4]

आचार्य महिम भट्ट ने पौनरुक्त्य दोष के प्रकरण में कई स्थलो पर परिहार की चर्चा की है। उनमे कतिपय स्थल उल्लेखनीय है। यथा जहा 'तत्' आदि सर्वनाम पदो द्वारा समस्त या समासयुक्त पद के अर्थ को व्यक्त किया जा सकता है वहा दोष नहीं होता। तद्धित समास का अपने से भिन्न अर्थ में प्रयोग दोषपूर्ण होता है परन्तु जहां समासादि से उस अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती वहा तद्धित प्रत्यय का दूसरे अर्थ मे प्रयोग दुष्ट नहीं होता। विशिष्ट विशेष्य की प्रतीति में विशेषण का प्रयोग दोषपूर्ण नहीं है तथा कर्ता आदि कारक जहा अव्यभिचरित हो तथा सविशेषण प्रयुक्त हो वहा भी कर्ता आदि का प्रयोग दोष नहीं होता है।[5]

उपर्युक्त दोष परिहार प्रसग में से विशिष्ट विशेष्य की प्रतीति मे विशेषण के प्रयोग तथा अव्यभिचरित कारको के सविशेष प्रयोग मे अदोषता या दोष निवारण विचारणीय है।

जहा विशेषण से विशेष्य मात्र की प्रतीति ही अभीष्ट हो वहा उस विशेष्य का कथन होने पर पुनरुक्त दोष होता है। परन्तु जहा विशेषण से विशेष्य की प्रतीति सामान्य रूप से हो रही हो वहां विशेष्य का कथन दोषयुक्त नहीं रहता। उल्लेखनीय है कि विशेष्य की प्रतीति दो प्रकार से होती है अविशिष्ट या विशिष्ट।

---

१ —आनन्दवर्धन, ध्वन्या,, ३/२०–२१।

२ —महिमभट्ट, व्यक्ति–विवेक, द्वितीय विमर्श।

३. अनुक्त्वैव परामृश्य प्रयोगो यत्र यत्रदोः।
निरन्तर पुनस्तत्र तयोरुक्तिर्न दुष्यति।।
— महिमभट्ट, व्य०वि०, द्वितीय विमर्श, सङ्ग्रहश्लोक सख्या–८।

४. यत् तदूर्जितमत्युग्र क्षात्रं तेजोऽस्य भूपते।
दीव्यताक्षैस्तदानेन नून तदपि हारितम्।।
इत्यादौ च यद्यपि तदो द्विरुपादानं सकृच्च यद तथापि तत्र तथोक्त सम्बन्धद्वैविध्यानतिवृत्तिः। तथा हि यद प्र[illegible]स्यमानविषयेण [illegible] तदाभिसम्बन्धाच्छाब्द। यत्तदित्यस्य तु प्रसिद्ध तेजोनिष्ठ तयोपकल्पितेन यदाऽभिसम्बन्धादार्थः।
—हिन्दी व्यक्ति विवेक, प्रकाशक, चौ० स० सी० १६६४, पृष्ठ २०३।

५ क) नात [illegible] दुष्यति।
ख) यत्र त्वर्थान्तरे त[illegible] तस्योत्पत्तिर्न तत्र समासात् तत्प्रतीतिरिति न तस्य पौनरुक्त्यम्।
यथा – अथभूतानि वार्त्रघ्नशरेभ्यस्तत्र तत्रसु ।इति।
अत्र ह्यपत्यार्थे त[illegible] तोत्पत्तिनदमर्थ इति।
ग) यत्र तद् विशेष प्रतिपत्तिर्न तत्र पौनरुक्त्यम्।
घ) स विशेषणस्य न तस्य पौनरुक्त्यम्।
—तदेव, पृष्ठ—३३३, ३४३, ३४५, ३५७।

जहा विशेषण से विशेष्य मात्र की प्रतीति हो वहा अविशिष्ट विशेष्य तथा जहा विशेषण से सामान्यत विशेष्य की प्रतीति हो वहा विशिष्ट विशेष्य होता है। यहा **व्यक्ति विवेककार** ने जो छन्द प्रस्तुत किया है उसमें 'हर' शब्द की प्रतीति उसके विशेषण 'पिनाकपाणि' पद द्वारा सामान्यत हो रही है।[1] अत यहां विशिष्ट की स्थिति है। ऐसी स्थिति मे 'हर' रूप विशेष्य का कथन दोष नहीं है।

अव्यभिचरित कारकों का विशेषण के साथ प्रयोग दुष्ट नहीं होता। तात्पर्य यह है कि यदि कारकों का प्रयोग अव्यभिचरित अर्थात् अपरिहार्य हो तो विशेषण सहित उसका प्रयोग दोषरहित होता है। प्रकृत प्रकरण मे **आचार्य महिमभट्ट** ने कई उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। जिनमे प्रथम उदाहरण मे 'वाचम्' पद का प्रयोग है। इस उदाहरण मे 'शुचिस्मिता' रूप विशेषण के लिए वाचम् पद का प्रयोग किया गया है।[2]

उल्लेखनीय है कि **आचार्य वामन** ने भी विशेषण की विशेष रूप से प्रतीति कराने के लिए अन्य पद से कथित या गर्भित विशेष्य के कथन को दोष नहीं माना है।[3] पूर्वाचार्यों ने पुनरूक्ति के अदोषत्व का निरूपण किया है परन्तु **आचार्य महिमभट्ट** का विवेचन पर्याप्त विचारपूर्ण है यह कहा जा सकता है।

भोजराज ने पूर्वाचार्यों की अपेक्षा व्यापक रूप से दोषो के परिहार का वर्णन किया है। इन्हे समस्त दोषो की अदोषता स्वीकार है। **भोजराज** ने दोषो का निरूपण करते समय आश्रय तथा सन्निवेश के कारण दोषो के गुणत्व का प्रतिपादन किया है। इनका यह विवेचन **आचार्य भामह** से पूर्णतया प्रभावित है।[4]

दोष निरूपण के पश्चात् गुण निरूपण करते हुए **भोजराज** ने वाह्य, आभ्यन्तर तथा वैशेषिक गुणों का प्रतिपादन किया है। उन्होने गुणो के उक्त तीन प्रकार बताये हैं। इनमें वैशेषिक गुण वे हैं जो दोषयुक्त होते हुए भी गुण होते हैं। वैशेषिक गुणो में इन्होने पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ दोषों का गुण होना निरूपित किया है।[5]

---

१. *तव प्रसादात् कुसुमायुधोऽपि सायमेकं मधुमेव लब्ध्वा।*
कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युति के मम धन्विनोऽन्ये।।
अत्र [illegible]शब्दस्येति –
–हिन्दी व्य०वि०, पृष्ठ–३४५।

२. *सविशेषणस्य यथा –'शुचिस्मिता [illegible]' इति।*
करणस्य यथा –
यदा दृशा कृशाङ्यास्मि दृष्टो जातं तदैव मे।
प्रजागरग्रस्ते समस्तप्रसर मन ।। इति
अस्यैव सविशेषणस्य यथा –
त विलोक्य सुरसुन्दरीजनो विस्मयस्तिमिततारया दृशा।' इति
एव का[illegible]व्यम्।
–तदेव, पृष्ठ–३५७।

३ *–दृष्टव्य प्रस्तुत प्रकरण में ही पृष्ठ –* ७६ पा० टि०

४ क) *किञ्चिदाश्रयसम्बन्धाद्धत्तेशोभामसाध्वपि।*
कान्ता [illegible]जनम्।।
सन्निवेशवशाद् किञ्चिदिरूद्धमपि शोभते।
नील पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव।।
– भोज, सरस्वती कण्ठाभरण, १/१०६–१०७।

ख) *–भामह, काव्या, १/५४–५५, द्रष्टव्य ।*

५ *–भोजराज, स० क०, ५/८९–१५६।*

दोष–परिहार के महत्त्व का प्रतिपादन भी **भोजराज** ने किया है। उनका विचार है कि प्रबन्धों मे रस तथा अलकार की योजना अनौचित्य परिहार के साथ की जानी चाहिए।[1] अनौचित्य के परिहार से प्रबन्ध मे दोषो को दूर किया जा सकता है। जैसे **अभिज्ञान शकुन्तल** मे दुर्वासा के शाप के कारण दुष्यन्त ने शकुन्तला को विस्मृत कर दिया था प्रेम के अभाव के कारण नहीं।[2] अनौचित्य पद यहा दोष का वाचक है।

भोजराज ने विरस दोष की अदोषता का भी प्रतिपादन किया है। इनका मत है कि यदि अप्रधान रस को प्रधान रस के अङ्ग रूप मे प्रस्तुत किया जाय तो निरस दोष नही होता।[3] यहा इन्होने 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' उदाहरण प्रस्तुत किया है ।जिस पर आगे रस दोष परिहार अध्याय में विस्तृत रूप से विचार होगा।

आचार्य भोज ने भी **आचार्य रूद्रट** के समान अनुकरण स्थल पर दोषो की अदुष्टता का समर्थन किया है। उनका कथन है कि पद आदि पर आधृत दोष अनुकरणादि स्थलो पर गुणत्व को प्राप्त करते हैं।[4]

आचार्य भोज के पश्चात् दोष परिहार पर व्यापक रूप से विचार करने वाले **आचार्य मम्मट** हैं। इन्होने कई दोषो की अदोषता या गुणत्व का प्रतिपादन किया है। रस–दोषो के परिहार पर सर्वथा पृथक् रूप से विचार किया है जिस पर उसी प्रकरण मे विचार किया जायेगा।

आचार्य मम्मट ने कतिपय दोषो की अदोषता, कतिपय का गुणत्व तथा कतिपय के अदोषत्व तथा अगुणत्व पर विचार प्रस्तुत किया है।[5] जैसे पुनरूक्त, अपुष्टार्थ, निर्हेतु, अप्रयुक्त, निहतार्थ दोषो की अदोषता, अश्लील, सन्दिग्ध, अप्रतीतत्व, ग्राम्यता, न्यूनपद, अधिक पद, कथित पद, अपदस्थपद तथा गर्भित के गुणत्व का एव 'न्यूनपद' तथा 'समाप्तपुनराप्त पद' नामक दोष के न गुण और न दोष होने की स्थितियो का वर्णन किया है। न्यून पदत्व दोष के गुण, अगुणत्व एव अदोषत्व का प्रतिपादन किया है।

वक्ता, बोद्धा आदि की विशिष्टता से दोष के गुणभाव तथा गुण व दोष दोनों न होने का निरूपण करने के साथ ही **आचार्य मम्मट** ने भी 'अनुकरण' मे समस्त दोषो की अदोषता को स्वीकार किया है। **आचार्य मम्मट** का दोष परिहार विचारणीय है। इन्होने सर्वप्रथम कर्णावतस आदि पदो मे पुनरुक्त तथा अपुष्टार्थ दोष का निराकरण किया है। इनका विचार है कि 'कर्णावतस' पद मे कर्ण आदि शब्दो का प्रयोग कर्ण आदि से अवतस आदि के सानिध्य आदि का बोध कराने के लिए है।[6] इस प्रसंग मे इन्होने जो कारिका प्रस्तुत की है वह **आचार्य वामन** के ग्रन्थ से ग्रहीत है।[7]

---

१ *वाक्यवच्च प्रबन्धेषु रसालङ्कारसङ्करान्।।*
निवेशयन्त्यनौचित्यपरिहारेण सूरयः।
–भोजराज, स०क०, ५/१२६।

२ *तत्र दोष हानमनौचित्यादि परिहारेण यथा .... एवमन्यदपि दोष हानमुदाहार्यम्।*
– भोजराज, शृगार प्रकाश, २/११ वां प्रकाश।

३ *अप्रस्तुतरस प्राहुर्विरस वस्तु सूरय ।*
अप्राधान्ये तदेष्टव्य शिष्टैः स्याद्रसवस्तुनो।।
– भोज, स०क०, १/१४६।

४ *पदाद्याश्रित दोषाणा ये चानुकरणादिषु।*
गुणत्वापत्तये नित्य तेऽत्रदोषगुणा ।।
– भोज, स०क०, १/८६।

५ *मम्मट, का० प्र०, ७/५८–५६ तथा वृत्ति।*

६ *कर्णावतसादिपदे कर्णादि [illegible] । सन्निधानादि बोधार्थम्.*
– मम्मट का० प्र० ७/५८।

७. *द्रष्टव्य, वामन, का०सू०, २/२/१६ की वृत्ति।*

मम्मट ने कर्णावतस, श्रवणकुण्डल, शिर शेखर, धनुर्ज्या, मुक्ताहार तथा पुष्पमाला इन पदो मे स्थित पुनरूक्ति तथा अपुष्टार्थ दोष की अदोषता सिद्ध की है।[1] **आचार्य वामन** ने भी इन पदों को उद्घृत किया था।[2]

प्रकृत प्रकरण मे ही कारिका के उत्तरार्द्ध को **आचार्य मम्मट** ने पृथक् करके व्याख्यान किया है। यहा **मम्मट** ने कहा है कि 'कर्णावतस' के समान ही 'जघनकाची' आदि पदो का प्रयोग दोष रहित नहीं वरन् दोषपूर्ण है क्योकि ऐसे प्रयोग महाकवियो द्वारा नहीं किये जाते हैं।[3]

स्मरणीय है कि **आचार्य मम्मट** ने प्रस्तुत स्थल पर प्रकारान्तर से **वामन** के मत से अपनी सहमति प्रकट की है। **आचार्य वामन** की कारिका को प्रस्तुत करके **आचार्य मम्मट** ने उसकी व्याख्या की है यह भी कहा जा सकता है।

उल्लेखनीय है कि **आचार्य वामन** ने विशेषत के विशेष ज्ञान के लिए उक्तार्थ विशेष्य के कथन के दोष नहीं माना है तथा प्रकृत स्थल मे 'जगाद मधुरा वाच विशदाक्षरशलिनीम्' यह उदाहरण प्रस्तुत किया है।[4] इसमे 'जगाद' से 'वाचं' का अर्थ उक्त होने पर भी मधुरा तथा विशदाक्षरशालिनीम् विशेषणो के विज्ञान के लिए उक्तार्थ 'वाच' पद का प्रयोग **वामन** की दृष्टि मे दोष नहीं है। **आचार्य मम्मट** ने **वामन** के मत का खण्डन किया है। **मम्मट** का विचार है कि यहां 'मधुरा' को 'वाच' का विशेषण न बनाकर 'जगाद' के किया विशेषण के रूप में 'मधुर' पद का प्रयोग करने से भी विवक्षित अर्थ की प्रतीति हो सकती है इसलिए **वामन** का कथन उचित नहीं है। तात्पर्य यह है कि 'मधुरा वाच' के स्थान पर 'मधुर जगाद' पद का प्रयोग करने से अभिलषित अर्थ का ज्ञान हो जाता है। **आचार्य मम्मट** कहते हैं कि यदि **वामन** के सिद्धात को उचित ही माना जाय अर्थात् विशेषण के विशेष ज्ञान के लिए गतार्थ पद का प्रयोग उचित होता है इसे स्वीकार भी किया जाय तो भी **वामन** द्वारा दिया गया उदाहरण समीचीन नहीं है क्योकि, 'जगाद मधुरा वाच०' में 'मधुर' को 'जगाद' का विशेषण बना देने पर 'वाच' पद के प्रयोग की आवश्यकता नहीं पडती। **आचार्य मम्मट** ने यहा दूसरा उदाहरण उद्घृत किया है जिसमे 'चरणत्र' इत्यादि 'व्रजन' किया का किया विशेषण नहीं हो सकता अतएव विशेषण के विशेष ज्ञान के लिए पादाम्या पद का प्रयोग उचित है।[5] उल्लेख्य है कि **आचार्य मम्मट** ने **वामन**

---

१. *अस्या कर्णावतंसेन जितं सर्व विभूषणम्। तथैवशोभतेऽत्यर्थस्याः श्रवण कुण्डलम्।।*
अपूर्व म[illegible]रामोदप्रमोदितदिशस्तत। आययुर्भृङ्मुखरा शिरःशेखरशालिन।।
अत्र कर्ण—श्रवण—शिरशब्दाः सन्निधान प्रतीत्यर्था।विदीर्णाभिमुखारातिकराले सङ्गरान्तरे।
ध[illegible]र्ज्याकिणचिह्नन दोषाणां विस्फुरितं तव। अत्र धनु शब्द आरूढत्वावगतये ।
प्राणेश्वर परिष्वङ्ग विभ्रम प्रतिपत्तिभिः। मुक्ताहारेण लसता हसतीव स्तन द्वयम्।।
अत्र [illegible]क्तानामन्यरत्नाभिश्रितत्व बोधनाय मुक्ताशब्दः।
सौन्दर्य सम्पत्तारुण्यं यस्यास्ते तेच विभ्रमः। षट्पदान् पुष्पमालेव कान् नाकर्षति सा सखे।।
अत्रोत्कृष्ट पुष्पविषये पुष्पशब्दः। निरूपपदो हि मालाशब्द पुष्पस्रजामेवाभिधत्ते।
— मम्मट, का०प्र०, उदाहरण — २८६, २८७, २८८, २६०, २६१ तथा वृत्ति।

२. *द्रष्टव्य, प्रकृत प्रकरण में ही पृ० स० —७६* की पाद टिप्पणी-२

३ *स्थितेष्वेतत्समर्थनम्।*
न खलु कर्णावतसादि[illegible]दिकाञ्चीत्यादि कियते।
— तदेव ७/५८ उत्तरार्द्ध तथा वृत्ति।

४ *द्रष्टव्य, प्रकृत प्रकरण में पृष्ठ सख्या —७६* की पा०टि० ५

५ *जगाद मधुरां वाच विशदाक्षरशालिनीम्।*
इत्यादौ कियाविशेषणत्वेऽपि विवक्षितार्थ प्रतीतिसिद्धौ गतार्थस्यापि विशेष्यस्य विशेषणदानार्थ क्वचित्प्रयोग कार्य, इति न युक्तम्। युक्तत्वे वा, चरणत्र परित्राण रहिताभ्यामपि द्रुतम्।
पादाभ्या दूरमाध्यान व्रजन्नेष न खिद्यते।।
— मम्मट, का० प्र०, उदाहरण २६२ तथा २६३ तथा वृत्ति।

का नामोल्लेख नहीं किया है। **वामन** के कथन का ही उल्लेख किया है जिससे ज्ञात होता है कि इन्होंने **वामन** के मत का समर्थन या खण्डन किया है।

आचार्य मम्मट भी **आचार्य रूद्रट** तथा **भोज** के समान अनुकरण में सभी दोषों की अदोषता स्वीकार करते हैं।[1] वक्ता, व्यग्य, प्रकरण, बोद्धा आदि के औचित्य के कारण दोषों के गुणत्व का प्रतिपादन करके **मम्मट** ने **भामह रूद्रट** आदि आचार्यों के मत का समाहार किया है।[2] **भामह** आदि आचार्यों ने वक्ता आदि के कारण उपस्थित पुनरूक्त आदि दोषों का समाधान प्रस्तुत किया है जो पूर्व में ही तद् तद् आचार्यों के प्रसग मे विवेचित है।

वक्ता, प्रतिपाद्य अर्थात श्रोता या बोद्धा, व्यग्य, वाच्य तथा प्रकरण आदि के विशेष प्रयोग में दोषो के गुणत्व या अगुणत्व तथा अदोषत्व का निरूपण करते हुए **आचार्य मम्मट** ने कष्टत्व तथा श्रुतिकटुत्वादि पद दोषों के परिहार की चर्चा की है। इन्होने नीरस काव्यों में जहां शृंगारादि रस व्यंग्य नहीं है वहां भी कष्ट के अगुणत्व तथा अदोषत्व का प्रतिपादन किया है।

आचार्य मम्मट ने दोषों के परिहार का मार्ग अवरूद्ध न करते हुए कहा है कि इसी प्रकार अन्य दोषों के गुणत्व आदि का विचार कर लेना चाहिए।[3]

आचार्य मम्मट के पश्चात् **जयदेव** ने दोष परिहार पर व्यापक रूप से विचार किया है। इन्होंने दोष परिहार को 'दोषाङ्कुश' कहा है तथा इसकी व्याख्या भी की है।[4]

आचार्य जयदेव ने 'दोषाङ्.कुश' को तीन भागों में विभाजित किया अर्थात् 'दोषाङ्.कुश' के तीन भेद किये। प्रथम भेद मे दोष गुण में परिवर्तित हो जाता है, द्वितीय भेद में दोष का दोषत्व समाप्त हो जाता है। तथा तृतीय में विद्यमान दोष अत्याज्य हो जाता है।

जयदेव का विचार है कि हास्य रस में यदि ग्राम्योक्ति हो तो वह दोष नहीं वरन् गुण हो जाती है। विद्याविरुद्ध 'दोष कविसम्प्रदाय में दोष नहीं रहता उसका दोषत्व हट जाता है। इसी प्रकार निरर्थक पद के बिना अलङ्कार पूर्ण न हो तो वहां निरर्थक दोष नहीं रहता वरन् वह अत्याज्य हो जाता है।[5]

विचारणीय है कि **आचार्य मम्मट** ने उन स्थलो का निर्देश दिया है जहां दोष न गुण रहते हैं न ही अदोष **आचार्य जयदेव** के तृतीय भेद का स्वरूप **मम्मट** के इसी निराकरण से साम्य रखता है। यहां यह भी विचारणीय है कि निरर्थक पद की श्लेषादि के निमित्त उपादेयता होती है। इसलिए उसके प्रयोग से न दोष गुणत्व को प्राप्त करता है न ही चमत्कार विशेष को व्यक्त करता है। इसीलिए वह अत्याज्य ही रहता है उसे हम दोष भी नहीं मान सकते क्योंकि अन्य स्थलों पर उसकी उपादेयता है। अत उसे अत्याज्य ही मानना उचित है। दोषों का न गुण न दोष होना वर्णित किया है। **मम्मट** ने कष्ट, न्यूनपद तथा समाप्तपुनराप्त दोषों का न गुण, न दोष होना स्वीकार किया है।

---

१. *अनुकरणे तु सर्वेषाम्।*
— मम्मट, का०प्र०, ७/५६ का पूर्वार्द्ध।

२ *वक्त्राद्यौचित्य वशाद्दोषोऽपि गुणः क्वचित् क्वचिन्नोभौ।*
— मम्मट, का०प्र०, ७/५६ उत्तरार्द्ध।

३ *एवमन्यदपि लक्ष्याल्लक्ष्यम्।*
— मम्मट, का० प्र०, ७/५६ की वृत्ति।

४ *दोषमापतित स्वान्ते प्रसरन्त विशृङ्खलम्।*
निवारयति यस्त्रेधा दोषाङ्.कुशमुशन्ति तम्।
— जयदेव, चन्द्रालोक, २/४०।

५. *मुख चन्द्रश्रियं धत्तेश्वेतश्मश्रु कराङ्कुरै। अत्र हास्यरसोद्देशे ग्राम्यत्व गुणतागतम्।।*
तव दुग्धाब्धि सम्भूतेः कथं जाता कलङ्.किता। कवीना समयाद् विद्याविरू ऽदोषतागत.।।
दधार गौरी हृदये देवं हिमराङ्.कतम्। अत्र श्लेषोदयान्नैव त्याज्यंहीति निरर्थकम्।।
— जयदेव, चन्द्रालोक, १२/४२–४४।

जयदेव के पश्चात् **विश्वनाथ** ने दोष–परिहार पर विचार किया है।

आचार्य विश्वनाथ के दोष–परिहार पर **मम्मट** का प्रभाव स्पष्टत देखा जा सकता है। **आचार्य विश्वनाथ** ने कतिपय स्थलो पर मौलिकता का समावेश किया है। जो विचारणीय है।

आचार्य मम्मट ने रस–दोषो के परिहार पर पृथक् रूप से विचार किया था जबकि **विश्वनाथ** ने पदादि दोषो के परिहार के साथ ही रस–दोष परिहार का भी निरूपण किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि **आचार्य विश्वनाथ** ने रस दोषो को सामान्य दोषो की श्रेणी मे ही रखा है। जबकि **मम्मट** ने रस–दोष तथा उनके परिहार को पृथक् करके उन्हे विशिष्ट दोष माना है।

विचारणीय है कि जहा **आचार्य मम्मट** ने विस्तृत रूप से विचार किया है उन स्थलो पर **आचार्य** [illegible] ने सक्षिप्त रूप मे ही अपना मत प्रस्तुत किया है। जैसे अश्लील, पुनरूक्त आदि दोषो के परिहार मे **विश्वनाथ** ने अपेक्षाकृत प्रतिपादन करने के साथ ही **विश्वनाथ** ने ख्यात विरूद्धता नामक दोष के परिहार की भी चर्चा की हैं इसी स्थल पर इन्होने कवि–सम्प्रदाय की प्रसिद्धियों का भी उल्लेख किया है।[1] दु.श्रवत्व दोष का परिहार करते हुए **आचार्य विश्वनाथ** ने कहा है कि वक्ता यदि क्रोध मे हो या वर्णनीय अर्थ समुद्धत अथवा रौद्र, वीर, वीभत्सादि रस हो तो दु श्रवत्व या श्रुतिकटुत्व दोष नहीं होता। इसी प्रकार विश्वनाथ का विचार है कि यदि कोई वैयाकरण वक्ता या श्रोता हो तो वहा कष्टत्व तथा दु श्रवत्व गुण होते हैं।[2] उल्लेखनीय है कि **आचार्य मम्मट** ने वक्ता, बोद्धा तथा व्यड्.ग्य की विशेषता से श्रुतिकटु तथा वक्ता, बोद्धा या श्रोता, वाच्य एव प्रकरण की विशेषता से कष्टत्व के परिहार का [illegible] किया है।[3] **आचार्य विश्वनाथ** ने व्यड्.ग्य, प्रकरण, वाच्यादि की विशिष्टता से दोष परिहार की चर्चा नहीं की है।

आचार्य विश्वनाथ ने कहीं–कहीं **मम्मट** के उदाहरणो को ही यथावत् उद्घृत किया है तथा कहीं–कहीं पृथक् उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। उदाहरणार्थ न्यूनपद में **मम्मट** का ही उदाहरण दिया है जबकि अधिक पदत्व मे भिन्न उदाहरण दिया है।[4]

---

१. *कवीनां समये ख्याते गुण ख्यातविरुद्धता।*
मालिन्यं व्योम्नि पापे, यशसि धवलता वर्ण्यते [illegible]सकीर्त्या।
रक्तौ च क्रोधरागौ, सरिदुदधिगत पड्.कजेन्दीवरादि।
तोयाधारेऽखिलऽपि प्रसरति च मरालादिकः पक्षिसंघो
ज्योत्स्ना पेया चकोरैर्जलधरसमये मानसं यान्ति हसाः।।
पादाघातादशोकं विकसति बकुल योषितामास्यमद्यै –
यूनामड्.गेषु हारा स्फुटति च ह्रदय विप्रयोगस्य तापैः।
मौर्वी रोलम्बमाला धनुरथ विशिखाः कौसुमाः पुष्पकेतो–
र्भिन्न स्यादस्य बाणैर्युवजनह्रदय स्त्रीकटाक्षेण तद्वत्।।
अह्न्यम्भोजं निशाया विकसति कुमुद चन्द्रिका शुक्लपक्षे।
मेघध्वानेषु नृत्यं भवति च शिखिनां नाप्यशोके फल स्यात्।
न स्याज्जातिवसन्ते न च कुसुमफले गन्धसारद्रुमाणा–
मित्याद्यन्ने[illegible]गत सत्कवीनां प्रबन्धे।।
– विश्वनाथ, सा० द०, ७/२२–२५।

२ *वक्तरि क्रोधसयुक्त तथा वाच्ये समुद्धते।*
रौद्रादौ तु रसेऽत्यन्तं दु श्रवत्व गुणो भवेत्।।
[illegible] तु प्रतिपाद्येऽथ वक्तरि।
कष्टत्वं दुःश्रवत्व वा–
– तदेव, ७/१६ तथा २१।

3 *द्रष्टव्य मम्मट का० प्र० ७/५६।*

पण्डितराज जगन्नाथ ने **विश्वनाथ** आदि के समान विस्तृत रूप से दोष परिहार पर व्याख्यान नहीं दिया है। अनौचित्य से उत्पन्न होने वाले दोषो का निरूपण करने के पश्चात् अन्त मे इन्होने कहा है कि कतिपय स्थल विशेष मे अनौचित्य से इस का पोषण भी हो जाता है। उस स्थिति मे दोष नहीं होता। इस प्रसड् ग मे **आचार्य जगन्नाथ** ने एक छन्द प्रस्तुत किया है।[1] जिसमें ब्रह्मा के प्रति द्वारपाल द्वारा तिरस्कारपूर्ण वचन कहे गये हैं। परन्तु इससे रावण का परम ऐश्वर्य द्योतित होता है जो वीर रस का पोषक है। इसलिए यहा द्वारपाल का तिरस्कार पूर्ण कथन दोष नहीं हैं इस आधार पर कहा जा सकता है कि दोष–परिहार का समर्थन **आचार्य जगन्नाथ** ने भी किया है। यह बात और है कि इन्होने इसका विस्तृत विवेचन नहीं किया है। उल्लेखनीय है **रसगंगाधर** पूर्ण रूप मे प्राप्त नहीं हुआ है। सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि अनुपलब्ध अश मे दोष–परिहार पर और भी कुछ कहा गया होगा।

पण्डितराज के उपरान्त दोष–परिहार पर कोई उल्लेखनीय तथ्य प्राप्त नहीं होता है। प्राय काव्य शास्त्रकारो ने **मम्मट** का अनुकरण किया है। उन्हीं के उदाहरण आदि भी प्रस्तुत किये हैं।

काव्यशास्त्रकारो के दोष– परिहार विषयक विचारो का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि स्पष्टतया **आचार्य भामह** से ही दोषो के परिहार पर विचार प्रारम्भ हो गया था। **भामह, दण्डी, वामन** तथा **रुद्रट** ने दोष–विवेचन के साथ ही दोषो के परिहार की भी चर्चा की है। **आचार्य आनन्द वर्धन** ने रस–विरोधी तत्त्वों के परिहार पर पृथक् रूप से विचार किया है। इनके पश्चात् सम्भवत· **आचार्य भोज** ने सर्वप्रथम व्यापक रूप से दोषों के अदोषत्व या गुणत्व का निरूपण किया है। इन्होने पृथक् रूप से स्वनिरूपित समस्त दोषों के गुणत्व का प्रतिपादन किया है। इन गुण रूप होने वाले दोषो को **भोजराज** ने वैशेषिक गुण कहा है।

आचार्य मम्मट को दोष–परिहार पूर्वाचार्यों पर आधृत होने पर भी विशिष्ट कहा जा सकता है। इन्होंने केवल अनुकरण स्थल पर समस्त दोषो की अदोषता को स्वीकार करके **आचार्य रुद्रट** के मत से अपनी सहमति प्रकट की है। विचारणीय है कि **आचार्य मम्मट** ने पदादि दोषो के परिहार पर विचार करने के पश्चात् रस दोषो तथा उनके परिहार पर पृथक् रूप से विचार किया है।

दोष–परिहार में **आचार्य भट्ट** ने भी बडी सूक्ष्मता से विचार किया है। इन्होने पुनरुक्ति दोष के प्रकरण में कई स्थलों पर दोष निराकरण की चर्चा की है। यहां नामोल्लेख न करते हुए भी इन्होने **आचार्य वामन** के मत का भी समर्थन किया है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने नित्यानित्य व्यवस्था के द्वारा दोष निराकरण का सड्.केत दिया है जिसके आधार पर **आचार्य भोजराज** के दोषों के गुणत्व सम्बन्धी विचार की आलोचना की जा सकती है। वस्तुत· समस्त दोषों को गुण मान लेना समीचीन प्रतीत नहीं होता। **आचार्य मम्मट** ने दोष परिहार के प्रकरण पर विचारपूर्वक दोषों के गुणत्व, दोषत्व तथा न गुण, न दोष का विवेचन किया है।

आचार्य मम्मट के पश्चात् **जयदेव** के दोष–परिहार पर **मम्मट** का प्रभाव दिखाई पडता है। **जयदेव** ने दोषाड्कुश पद से दोष परिहार को अभिहित किया है। परन्तु 'दोषाड्कुश' शब्द को दोष परिहार या दोष–निराकरण के पर्याय रूप में रखना समीचीन प्रतीत नहीं होता क्योंकि 'दोषाड्कुश पद दोषों के नियन्त्रण से सम्बद्ध प्रतीत होता है जबकि दोष–परिहार या दोष–निराकरण से विशेष परिस्थिति मे दोषो के अदोषत्व, या गुणत्व का सकेत प्राप्त होता है।

---

1 *ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैष समयस्तूष्णी बहिस्थीयता,*
स्वल्प जल्प वृहस्पते जडमते नैषा सभा वज्रिण
वीणा संहर नारद स्तुति कलापैरल तुम्बुरो
सीतारल्लकभल्लभग्न ह्रदय·स्वस्थो न लड्.केश्वर·।।
—जगन्नाथ, र० ग०, पृष्ठ–७६।

काव्यशास्त्रकारो के विचारो से अवगत होने पर यह कहना समीचीन होगा कि काव्य के त्याज्य तत्त्वों का परिहार करके काव्य के प्रयोजन की सिद्धि हो सकती है। इसीलिए प्राय सभी आचार्यों ने यथासम्भव दोष–परिहार पर विचार किया है। जिस प्रकार दोष विवेचन मे उत्तरोत्तर विकास हुआ है उसी प्रकार दोष परिहार पर भी काव्यशास्त्रकारो की दृष्टि व्यापक होती गयी है।

इस प्रकार द्वितीय अध्याय मे दोष– स्वरूप, दोष–स्रोत, दोष–विकास एवं विभाजन तथा दोष परिहार आदि शीर्षको मे दोष के विषय मे चर्चा करते हुए प्रस्तुत अध्याय समाप्त होता है। इसके पश्चात् रस के स्वरूप आदि पर विचार किया जायेगा क्योकि दोष के साथ–साथ रस के स्वरूप भेद आदि के सम्यक् ज्ञान के बिना रस–दोष का सुस्पष्ट निरूपण कदापि नहीं किया जा सकता।

तृतीय अध्याय : रस

रस-महत्त्व

रस-स्वरूप

भावादि-स्वरूप

विभावादि रस-सामग्री

रस-भेद

मूल रस एवं एक रसवा -

विरुद्ध रस और उनका परिहार

काव्य में रस का महत्त्व

काव्य–दोषो मे रस–दोषो की हेयता का विवेचन करने के लिए अर्थात् काव्य के अन्य दोषो की अपेक्षा रस–दोष कितने त्याज्य हैं? यह जानने के लिए काव्य मे अलङ्कार, गुण आदि की अपेक्षा रस का क्या महत्त्व अथवा क्या स्थान है? यह भी विचारणीय है कियहाँ काव्यशास्त्रो मे रस के महत्त्व को किस प्रकार निरूपित किया गया है?

काव्यशास्त्र मे सर्वप्रथम रस का विवेचन करने वाले **आचार्य भरतमुनि** हैं। इन्होने रस को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप मे वर्णित किया है। काव्य रूप वृक्ष मे **भरत मुनि** रस को बीज स्थानीय मानते है।[1] **आचार्य भरत** ने नाट्य को वाङ्मय का सर्वश्रेष्ठ रूप स्वीकार किया है तथा रस को नाट्य का प्राण माना है। उनका विचार है कि कोई भी नाट्याङ्ग रस के बिना प्रवर्तित ही नहीं हो सकता।[2]

नाट्य–शास्त्र मे गुण, दोष तथा अलङ्कारों का ग्रहण भी रस के आधार पर करने का निर्देश दिया गया है।[3] इस प्रकार गुण, दोष अलङ्कार भी रसाश्रित हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि **आचार्य भरतमुनि** ने गुण, दोष व अलङ्कार के प्रयोग की व्याख्या रस के आधार पर ही की है। **नाट्यशास्त्र** में, उसके अन्तर्गत समस्त नाट्य प्रसङ्गो के विधान एव विवेचन में, रस प्राण धारा के समान परिव्याप्त है।[4] तात्पर्य यह कि **भरतमुनि** ने रस को काव्य का प्रधान तत्त्व स्वीकार किया है।

आचार्य भामह ने यद्यपि रस की महत्ता का प्रतिपादन नहीं किया है। उन्होने अलङ्कारों को ही प्रधान तत्त्व के रूप में स्वीकार किया हैं[5] तथापि इनके द्वारा गुणों की स्थिति नियत मानने के कारण यह कहा जा सकता है कि रस का उल्लेख न करके भी इन्होंने उसकी प्रधानता का अनुभव किया हैं। उल्लेख्य है कि **आचार्य मम्मट** ने गुण को रस के नियत धर्म के रूप में स्वीकार किया गया हैं।[6]

आचार्यभामह ने रस को रसवत् अलङ्कार में अन्तर्भुक्त कर लिया है।[7] इसी प्रकार ईश्वर के प्रति प्रेम तथा उत्साहादि भाव को उन्होंने क्रमश प्रेय तथा उर्जस्वी अलङ्कार में ग्रहण किया है।[8] **भामह** के अनुसार रस को अलङ्कारो में अन्तर्भुक्त मानना चाहिए किन्तु जैसा कि

---

१ *यथा बीजाद् भवेद् वृक्षोवृक्षात् पुष्प फल यथा।*
तथा मूल रसा सर्वे तेषुभावा व्यवस्थिता ।।
—भरत, ना० शा० ६/३८।

२ *तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्याम।*
न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।।
—तदेव ६/३१ के पश्चात् गद्यभाग।

३ *एवमेते ह्यलङ्कारा गुणा दोषाश्च कीर्तित*
प्रयोगमेषो च पुनर्वक्ष्यमि रससंश्रयम्।।
—भरत, ना० शा० (निर्णयसागर) १६/१०६।

४ *—डॉ० नगेन्द्र, रस–सिद्धान्त, पृ०—१७।*

५ *न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।*
—भामह, का० आ० १/१३।

६ *ये रसस्याङ्गिनो धर्मा शौर्यादयो इवात्मन ।*
उत्कर्ष हेतवस्ते स्युरचलस्थितया गुणा ।।
—मम्मट, का० प्र० ८/६६।

७ *रसवद् दर्शितस्पष्ट शृङ्गारादिरसं यथा।*
देवी समागमद् धर्ममस्करण्य तिरोहिता।।
—भामह, का० अ० १/६।

८ *—भामह का० अ० १/५ व १/७।*

पहले कहा गया है कि गुणो की नियत स्थिति मानने के कारण यह कहा जा सकता है कि इन्होंने भी परोक्षत काव्य मे रस के महत्त्व को पहचाना था।

भामह की अपेक्षा **आचार्य दण्डी** ने रस का विस्तृत रूप से निरूपण किया है। इन्होने रसवद् अलङ्कार मे रस को अन्तर्भुक्त अवश्य किया है परन्तु यहॉ इन्होने **भामह** की तरह एक रस का नहीं अपितु आठ रसो का वर्णन किया है।[१] रसवत् अलङ्कार के अतिरिक्त **आचार्य दण्डी** ने माधुर्य गुण के विवेचन मे भी रस का उल्लेख किया है।[२] परन्तु इन्होने भी काव्य मे उसके सर्वाधिक महत्त्व का व्याख्यान नहीं दिया है।

रीतिवादी **आचार्य वामन** ने 'रस' को 'कान्ति' नामक अर्थ गुण मे अन्तर्भुक्त कर दिया है। उनका विचार है कि जिस काव्यबन्ध मे शृगार आदि रस दीप्त हो वह दीप्त रस हुआ। दीप्त रसत्व ही 'कान्ति' नामक अर्थ गुण है।[३] इन्होने 'रीति' को काव्यात्मा रूप मे प्रतिष्ठित किया है। इसलिए रस की प्रधानता को स्वीकार करना इनके लिए सम्भव न था परन्तु रीति सिद्धान्त रस–सिद्धान्त के बहुत समीप है, यह स्पष्ट ही है।

विवेचनीय है कि **आचार्य वामन** ने रीति को काव्य का प्रधान तत्त्व माना हैं तथा गुण को रीति का मूल तत्त्व स्वीकार किया है। बीस गुणो मे से एक गुण का शोभाधायक धर्म रस है। इस प्रकार यद्यपि इन्होने रस की उपेक्षा की है परन्तु रस को काव्यात्मा से सम्बद्ध किया है इस प्रकार पूर्ववर्ती **भामह** की अपेक्षा इन्होने रस को किञ्चित् अधिक महत्त्व दिया है, यह कहा जा सकता है।[४]

आचार्य वामन के प्राय समसामयिक **आचार्य उद्भट** ने रसो को नाट्यगत स्वीकार किया है। इन्होने नाट्य में नौ रसो की स्थिति का वर्णन करते हुए भी **भामह** आदि के समान नाट्य का प्राण तो रस को माना परन्तु काव्य मे उसकी गौणता का ही वर्णन किया हैं इन्होने भी रसवद् प्रेयस्वत् अलङ्कारों में रस को अन्तर्भुक्त माना है।

आचार्य रूद्रट ने अलङ्कारवादी होते हुए भी रस की महत्ता का स्थान–स्थान पर निरूपण किया है। काव्य मे रस को ग्रहण करने की बात करते हुए प्रबन्ध काव्य मे चतुर्वर्ग का निरूपण भी रसो के साथ करने का निर्देश उन्होने दिया है।[५]

आचार्य रूद्रट ने कहा है कि रसो का ज्ञान हुए बिना कवि सर्वथा रमणीय काव्य की रचना नहीं कर सकता है।[६] उनके इस कथन से स्पष्ट होता है कि वे काव्य में रस की प्रधानता को तो स्वीकार करते हैं परन्तु उनका विशेष आग्रह अलङ्कारो के निरूपण के प्रति ही है।

आचार्य रूद्रभट्ट ने अपने ग्रथ मे रस के विषय मे कहा है कि जैसे चन्द्रमा के विना रात्रि, पति के

---

१ *–दण्डी, काव्यादर्श २/*

२ *–दण्डी, काव्यादर्श १/५१–५२ तथा १२६२–६४।*

३ *दीप्तरसत्व कान्ति।*
दीप्ता रसा शृङ्गाररादयो यस्य स दीप्त रस। तस्य भावो दीप्तरसत्वं कान्ति।।
–वामन, का०सू० ३/२/१५ तथा वृत्ति भाग।

४ *–डॉ० नगेन्द्र, रस सिद्धान्त पृ० २४।*

५ *जगति चर्तुवर्ग इति ख्यातिर्धर्मार्थ काममोक्षाणाम्।*
सम्यक्तानभिदध्याद्रससमिश्रान्प्रबन्धेषु।।
–रूद्रट, काव्यालङ्कार १६/१।

६ *एते रसा रसवतो रमयन्ति पुस*
सम्यग्विभज्य रचिताश्चतुरेण चारू।
यस्यादिमानमधिगम्य न सर्वरम्य
काव्य विधातुमलमत्र तदाद्रियेत।।
–रूद्रट, काव्यालङ्कार १५/२१।

बिना नारी और त्याग के बिना लक्ष्मी सुशोभित नहीं होती उसी प्रकार रस के बिना कविता की शोभा नहीं होती।[1] इससे ज्ञात होता है कि **आनन्द वर्धन** से पूर्व ही काव्य मे रस की प्रधानता की स्थापना प्रारम्भ हो गयी थी।

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना की है। मूलरूप मे ध्वनि का स्वरूप रस से भिन्न रूप मे प्रतिपादित कियागया है। ध्वनि के भेदो मे 'रस ध्वनि' को सर्वश्रेष्ठ ध्वनि के रूप मे प्रतिष्ठित किया है।[2]

आचार्य आनन्दवर्धन ने **ध्वन्यालोक** मे कई स्थलो पर रस की महत्ता का वर्णन किया है। गुण व अलङ्कार की काव्यगत स्थिति का निरूपण भी इन्होने रस के आधार पर ही किया है।[3] **ध्वनिकार** ने यह भी कहा है कि ध्वनि मे वही अलङ्कार बन्ध ग्राह्य हैं जिसका आक्षेप रस द्वारा किया जाना सम्भव है तथा जिसके लिए कवि को पृथक् रूप से प्रयत्न न करना पडे।[4] इस प्रकार **ध्वनिकार** ने प्रत्यक्षत 'रसध्वनि'को प्रधान मानकर परोक्षत रस को ही काव्य मे प्रमुख स्थान प्रदान किया।

रस को प्रत्यक्षत काव्य मे प्रमुख स्थान देने वाले कि वा रस को काव्यात्मा रूप मे प्रतिष्ठित करने वाले **आचार्य अभिनव गुप्त** ही है। इन्होंने **अभिनव भारती** तथा **ध्वन्यालोकलोचन** नामक दोनों टीकाओं द्वारा रस को काव्य मे अङ्गी रूप मे स्थापित किया है। **ध्वनिकार** ने काव्य मे रस को महत्त्व देकर भी उसे काव्यात्मा नहीं कहा परन्तु इनके ग्रन्थ की टीका करते हुए **अभिनव गुप्त** ने रस को आत्म स्थानीय माना है।**आचार्य अभिनव गुप्त** का विचार है कि रस ही वस्तुत काव्य की आत्मा है। वस्तु तथा अलङ्कार ध्वनि को वहीं काव्यात्मा माना जाता है, जहाँ ये रसपर्यवसायी होती हैं। ये दोनो भी वाच्यार्थ की अपेक्षा उत्कृष्ट होती हैं। अत सामान्य रूप से 'ध्वनि'को काव्य की आत्मा कह दिया गया है।[5] इस प्रकार **आचार्य अभिनव** का रस के प्रति विशेष आग्रह है। यही से रस काव्यात्मा रूप मे प्रतिष्ठित हुआ। परवर्ती काव्यशास्त्रकारो ने भी प्रकारान्तर ने **अभिनव गुप्त** के मत का समर्थन किया है।

आचार्य राजशेखर ने भी रस को काव्यात्मा रूप मे उल्लिखित किया है।[6] अन्य स्थलों पर भी **राजशेखर** ने रस के महत्त्व को प्रतिपादित किया है।[7] उन्होंने काव्य के प्रत्येक वर्णन की रसानुकूलता पर बल दिया है। इसी प्रकार दशरूपककार **धनञ्जय** व टीकाकार **धनिक** भी रस को प्रमुख तत्त्व मानते हैं।

---

१ *यामिनीवेन्दुनामुक्ता नारीव रमणं विना। लक्ष्मीरिव ऋते त्यागान्नो वाणी भाति नीरसा*
—रूद्रभट्ट, शृङ्गार तिलक, १/६।

२ *व्यङ्ग्य—व्यञ्जक भावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि।*
रसादिमय एकस्मिन्कवि स्यादवधानवान्।।
—आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, ४/५।

३ *तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनो ते गुणाः स्मृताः।*
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा विज्ञेया कटकादिवत्।।
—ध्वन्यालोक २/६।

४ *—वही, २/६।*

५ *तेन रसएव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलङ्कार ध्वनी तु सर्वथा रस प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण ध्वनि काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्।*
—अभिनव गुप्त, ध्वन्या०, १/५ पर लोचनटीका।

६ *शब्दार्थौ ते शरीर रस आत्मा ।*
—राजशेखर, काव्य मीमासा, पृ० १४।

७ क) *रसवत् एव निबन्धो युक्तो न नीरसस्य।*
ख) *मज्जन पुष्पावचयन सन्ध्याचन्द्रोदयादिवाक्यमिह।*
सरसमपि नाति बहुल प्रकृटरसानन्वित रचयेत्।
—वही, पृ० १११।

वक्रोक्ति को काव्यात्मा मानने वाले **कुन्तक** ने भी काव्य रचना मे वर्णों के निबन्धन को रसादि के अनुरूप करने का निर्देश दिया है।[१] काव्य–प्रयोजन का प्रतिपादन करते हुए **आचार्य कुन्तक** कहते हैं कि काव्यामृत रस उस काव्य को समझने वाले सहृदयों के अन्त करण में चतुर्वर्ग के फलास्वाद से बढकर चमत्कार उत्पन्न करता है। इस प्रकार रस की अनुभूति या रसानन्द अलौकिक होता है।[२]

आचार्य कुन्तक ने प्रबन्ध वक्रता को सर्वश्रेष्ठ वक्रता माना है। इस सन्दर्भ मे उन्होने कहा है कि कवियों की वाणी कथामात्र के आश्रय से जीवित नहीं रहती वरन् उनकी वाणी सतत् रस को प्रवाहित करने वाले सन्दर्भों से परिपूर्ण होने के कारण जीवित रहती है।[३] काव्यमार्गों का सन्दर्भ हो या कथावस्तु के विवेचन का दोनों ही स्थलो पर **आचार्य कुन्तक** ने रस की महत्ता को सूचित किया है।[४]

उल्लेखनीय है कि **आचार्य कुन्तक** ने रसवत् अलङ्कार को रस के समान हो जाने वाला अलङ्कार कहा है। इस प्रसंग में उन्होने यह भी कहा है कि रस के समान प्रतीत होने के कारण यह अलकार अन्य सभी अलङ्कारो का प्राण हो जाता है।[५] तात्पर्य यह है कि रस की समानता मात्र होने पर रसवत् अलङ्कार सभी अलङ्कारो का प्राण हो जाता है। रस की साक्षात् प्रतीति तो काव्य मे प्राणभूत ही है। यहाँ यह कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि **कुन्तक** ने रस को काव्य का प्राण माना हैं उन्होंने स्पष्टतया 'वक्रोक्ति' को ही काव्य की आत्मा माना है। 'वक्रोक्ति' को काव्य का प्राणभूत तत्त्व मानते हुए इन्होंने इसके आधार रूप में रस का वर्णन किया है। इस प्रकार **वक्रोक्तिकार** ने रस को काव्य का महत्वपूर्ण तत्त्व माना है।

आचार्य महिमभट्ट ने यद्यपि ध्वनि का विरोध किया किन्तु इन्होंने रस के काव्यगत महत्त्व का प्रतिपादन किया है। काव्य को परिभाषित करते हुए भी इन्होंने विभावादि की समीचीन योजना को तथा अव्यभिचरित रूप से रसाभिव्यक्ति का उल्लेख किया है।[६] उनका विचार है कि रस के अभाव में शब्दार्थ काव्य ही नहीं हो सकते हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि **अभिनवगुप्त** के समान इन्होंने भी वस्तु तथा अलङ्कार को रस मे पर्यवसित करके रस को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है[७] रस को काव्यात्मा कहते हुए इन्होंने इस विषय मे किसी भी प्रकार के मतभेद का खण्डन किया है।[८]

भोजराज तक काव्य में रस की स्थिति स्पष्ट हो चुकी थी। इन्होंने **भरत** प्रतिपादित आठ रसों के अतिरिक्त शान्त, प्रेयस्, उद्वात्त तथा उद्धत चार अन्य रसों की कल्पना की है। उल्लेखनीय यह है कि इन्होंने शृगार रस को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। इन्होंने कहा है कि यदि कवि शृंगारी है तो काव्य में जगत रसमय

---

१ *–कुन्तक, वक्रोक्तिजीवितम्, २/१।*

२ *चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।*
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते।।
–तदेव १/५।

३ *निरन्तरसोद्गारमर्थसन्दर्भनिर्भराः।*
गिर कवीना जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः।।
–तदेव, ४/११।

४ *–तदेव १/२६, ४१ तथा ३/११ की वृत्ति व ३/७।*

५ *–तदेव १/१४१ व वृत्ति*

६ *[illegible]रो हि विभावादि संयोजनात्मा रसाभिव्यक्तव्यभिचारी काव्यमुच्यते।*
–महिमभट्ट, व्यक्ति विवेक, पृ० १०६।

७ *तस्य रसात्मताभावे मुख्यवृत्त्या काव्यव्यपदेश एवं न स्यात् किमुत विशिष्टम्।*
–महिमभट्ट पृ० १०३।

८ *काव्यस्यात्मनि सङ्गिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः।*
–तदेव, पृ०१११।

, होता है, यदि वह शृङ्गारी नहीं है तो काव्य नीरस हो जाता है।[1]

आचार्य मम्मट ने काव्य–प्रयोजनो मे रसास्वादन को मौलिभूत प्रयोजन कहकर रस की प्रधानता को स्पष्ट त कथन किया है। सम्पूर्ण **काव्य–प्रकाश** मे रस के महत्व का प्रतिपादन हुआ है। इन्होंने रस को काव्य का अगीभूत तत्त्व स्वीकार किया है।[2]

आचार्य विश्वनाथ ने काव्य मे रस को सर्वाधिक महत्त्व देते हुए अपने काव्य लक्षण मे 'रसात्मक' पद को ग्रहण किया है। उनके अनुसार रस जिसकी आत्मा हो वही वाक्य काव्य हो सकता है [3] इसे और भी स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि रस काव्य की आत्मा है। रस के अभाव मे वाक्य का काव्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता है।[4]

आचार्य मम्मट के अनन्तर **आचार्य केशव मिश्र, आचार्य जगन्नाथ** आदि आचार्यों ने भी रस को काव्यात्मा स्वीकार किया है। **पण्डितराज जगन्नाथ** का रस–विवेचन अद्वैत दर्शन पर आधृत है। अत मौलिक है।

इस प्रकार काव्य–शास्त्रकारो के रस–विवेचन का सम्यक् अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि रस ही काव्य की आत्मा है। गुण अलकार आदि का सन्निवेश रस पर ही आधृत होना चाहिए। काव्य का प्रधान प्रयोजन रसास्वादन ही है। अत काव्य–रचना में रस–परिपाक पर ही कवि की पूर्ण दृष्टि होनी चाहिए।

---

१ *शृङ्गारी चेत्कवि: काव्ये जातं रसमय जगत्।*
स एव चेदशृङ्गारी नीरस सर्वमेव तत्।।
—भोजराज सरस्वती कण्ठाभरण ५/३।

२ *ये रसस्याङ्गिनो धर्मा: . ... ।*
—मम्मट, काव्य प्रकाश, ८/६६।

३ *वाक्य रसात्मक काव्यम्।*
—विश्वनाथ, सा० द०, प्र० अ०, पृ०—२४।

४ *रसएवात्मा साररूपतया जीवनाधायको यस्य, तेन विना तस्य काव्यत्वाभावास्य प्रतिपादितत्वात् . . ।*
—विश्वनाथ, सा० द०, पृ०—२४।

रस-स्वरूप

रस मे निहित दोषों का परिशीलन ही प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का लक्ष्य है। अत रस मे स्थित दोषो पर विचार करने से पूर्व रस के स्वरूपादि पर एक विहगम दृष्टि अपेक्षित है।

सस्कृत साहित्य मे प्राचीन काल से ही 'रस' शब्द प्रयुक्त होता रहा है। वैदिक तथा लौकिक संस्कृत साहित्य मे 'रस' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया गया है। कोष ग्रन्थों मे भी रस के अनेक अर्थ बताये गये हैं।[1] उपनिषदो मे परम ब्रह्म को रस कहा गया है।[2] यहॉ रस शब्द आनन्द के पर्याय रूप में ग्रहण किया गया है।

काव्य-साहित्य मे रस शब्द शृगारादि रसो का बोधक है। काव्य शास्त्रकारो ने रस के व्यापक अर्थ को शृगारादि रसो के बोधक के रूप में सीमित कर दिया है। उपलब्ध काव्य-शास्त्रों मेंसर्वप्रथम **नाट्य-शास्त्र** 'रस' का इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है।[3] नाट्य-शास्त्रकार **भरतमुनि** के अनुसार उन्होंने रस को **अथर्ववेद** से ग्रहण किया है।[4] **आचार्य राजशेखर** ने **नन्दिकेश्वर** को रस का प्रवर्तक कहा है परन्तु **नन्दिकेश्वर** का ग्रन्थ वर्तमान समय मे उपलब्ध नहीं है।[5] साहित्य-शास्त्र में रस पद की व्युत्पत्ति 'रस्यते आस्वाद्यते इति रस' यह मानी जाती है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसका आस्वादन किया जाय वही रस है।

काव्य-शास्त्रीय रस का विवेचन सम्भवत **नाट्य-शास्त्र** से प्रारम्भ हुआ है। **नाट्य-शास्त्र** के छठें अध्याय में **भरतमुनि** ने **रससूत्र** प्रस्तुत किया है।[6] **नाट्य-शास्त्र** का यही **रस-सूत्र** रस के स्वरूप निरूपण का आधार बना। परवर्ती काव्यशास्त्रकारो ने इसकी व्याख्या की जो आगे की जायेगी। **नाट्य शास्त्र** में **भरतमुनि** ने नाट्य के प्रसङ्ग में ही रस का प्रयोग किया है। परन्तु श्रव्य काव्यों में भी सर्वथा उपयुक्त व व्याप्त होने के कारण यह काव्य मे भी स्वीकृत हुआ। यूँ तो काव्य के अन्तर्गत नाट्य भी समाहित है, परन्तु यहॉ नाट्य को दृश्य व काव्य को श्रव्य कहा गया है।

भरतमुनि ने रस को आस्वाद स्वरूप मानकर रस की अनुभूति को समझाने या स्पष्ट करने के लिए आनुवश्य श्लोको को उद्धृत किया है।[7] इसमें लौकिक उदाहरण द्वारा रसास्वादन को प्रस्तुत किया गया है। **भरतमुनि** ने कहा है कि जिस प्रकार भोजन के आनन्द का अनुभव करने वाला व्यक्ति अनेक पदार्थों

---

१ *रसः स्वादे, जले, वीर्ये, शृङ्गारादौ, विषे, द्रवे।*
बाले, रागे, गृहे, धातौ, तिक्तादौ, पारदेऽपि च।। हैमकोष

२ *रसोवैसः। रसं ह्येवाय लब्ध्वानन्दी भवति।*
-तैतिरीयोपनिष - २/७।

३ *रस इति कः पदार्थः अत्रोच्यते आस्वाद्यत्वात्।*
-भरतमुनि, नाट्य-शास्त्र, ६/३१ के पश्चात्।

४. *जग्राह, पाठ्यमृग्वेदाद् सामभ्यो गीतमेव च।*
यजुर्वेदादभिनयान् रसानथर्वणादपि।।
-भरतमुनि, नाट्य-शास्त्र १/१७।

५ *रसाधिकारिक नन्दिकेश्वर।*
-राजशेखर, काव्य-मीमांसा (हिन्दी), प्रथम आनन (शास्त्र सङ्ग्रह) पृष्ठ-१२।

६ *विभावानुभावव्यभिचारि सयोगाद्रस निष्पत्ति।*
-भरतमुनि, नाट्य-शास्त्र, (चौखम्बा सीरीज) ६/३१ के पश्चात्।

७. यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम्।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्त भक्तिविदो जना।
भावाभिनय सम्बद्धान्स्थायिभावास्तथा बुधा।
आस्वादयन्तिमनसा तन्मान्नाट्यरसा स्मृता।।
-भरतमुनि, ना० शा० ६/३३,३४।

से युक्त व्यञ्जनो का आस्वादन करते हैं। उसी प्रकार सहृदय व्यक्ति अनेक भावो तथा अभिनयो से युक्त या प्रस्तुत किये गये स्थायी भाव का आस्वादन करते हैं। इसलिए इन्हें नाट्य रचनाओ मे रस कहा जाता है। **आचार्य भरतमुनि** ने यद्यपि रस-सूत्र की व्याख्या स्वय की है, तथापि रससूत्र मे आये 'सयोग' तथा 'निष्पत्ति' इन दो शब्दो का वस्तुत क्या महत्त्व है? इसे उन्होने स्पष्ट नहीं किया है। परवर्ती काल मे इन्हीं पदो की व्याख्या करते हुए जिन आचार्यों ने अपना-अपना अभिमत प्रस्तुत किया है। उनमें **भट्ट लोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक** तथा **अभिनवगुप्त** स्थान महत्त्वपूर्ण है।

उल्लेखनीय है कि लोल्लटादि आचार्यों का मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। **आचार्य अभिनवगुप्त** ने **नाट्यशास्त्र** की टीका **अभिनवभारती** तथा **ध्वन्यालोक** की टीका लोचन में लोल्लटादि आचार्यों के रस-निष्पति सम्बद्ध मत की समीक्षा प्रस्तुत की है तथा अपना मत भी उपस्थित किया है। 'रस-सूत्र' के सम्यक् अर्थ के ज्ञान के लिए यही दोनों टीकाए आधार है। यहाँ रस-सूत्र के व्याख्याकारो के विचार पर दृष्टिपात अपेक्षित है। **आचार्य लोल्लट** ने रस सूत्र के 'सयोगात्' पद का अर्थ उत्पाद्य-उत्पादक तथा 'निष्पत्ति' पद का अर्थ 'उत्पत्ति' माना है। इसलिए इनका मत 'उत्पत्तिवाद' के नाम से जाना जाता है।

रसानुभूति कैसे होती है इस विषय मे **आचार्य लोल्लट** का मत सक्षिप्त रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। ललनादि आलम्बन तथा उद्यान आदि उद्दीपन विभाव से राम आदि पात्रों मे रति आदि भावो की उत्पत्ति हो जाती है। इसके पश्चात कटाक्ष, भुजक्षेप आदि अनुभावो से रामगत रति आदि स्थायी भाव प्रतीति योग्य हो जाते हैं। इनकी पुष्टि व्यभिचारी भावो से हो जाती है। इस प्रकार रति आदिभाव प्रधानत· रामादि पात्रो मे ही रहते हैं। जब कोई व्यक्ति इन पात्रों का अभिनय करता है तो [illegible] उसमें ममत्व का आरोप कर लेते हैं। अर्थात् उसे राम आदि मान लेते हैं। इससे रामादिगत रति आदि भाव सामाजिकों को नट मे प्रतीत होते हुए उनके हृदय मे विशेष चमत्कार का आधान करते हैं तथा रस कहे जाते हैं। उपर्युक्त विवेचन से सर्वथा सुस्पष्ट है कि **आचार्य लोल्लट** के मत में रस को अनुकार्य रामादिगत माना गया है। जो इनके मत का विशेष उल्लेख्य दोष है।

श्री शङ्कुक का मत **'अनुमितिवाद'** कहलाया । इन्होंने 'सयोगात्' पद का अर्थ 'अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्धात् तथा 'निष्पत्ति का अर्थ 'अनुमिति' किया है।

इनके अनुसार सामाजिक जब किसी कुशल अभिनेता को रङ्गमञ्च पर अभिनय करते हुए देखता है तो उसे राम ही समझ लेता है। इस अवस्था मे नट् में राम की प्रतीति एक विलक्षण ज्ञान है। यह ज्ञान सम्यक्, मिथ्या, संशय तथा सादृश्य इन चारों ज्ञानों से पृथक् होता है। यह प्रतीति 'चित्रतुरग' प्रतीति है। जिसप्रकार चित्र में घोडे को देखकर उसे घोडा समझा जाता है, उसी प्रकार राम के उपस्थित न होने पर भी अनुकर्त्ता में [illegible] को राम की प्रतीति होती है। इस स्थिति में शिक्षा तथा अभ्यास की निपुणता के कारण अनुकर्ता के विभाव, अनुभाव आदि को सामाजिक कृत्रिम न समझकर उनके द्वारा अभिनेता मे रति आदि स्थायी भाव का अनुमान कर लेता है, यह अनुमिति विलक्षण होती है . क्योकि शास्त्रोक्त अनुमिति प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधृत है जबकि यह अनुमिति परोक्षात्मक है इस प्रकार रति आदि स्थायी भाव अभिनेता मे न होने पर भी सामाजिक अपने हृदय मे स्थित वासना के द्वारा उन भावो का अभिनेताओ मे अनुमान करते हुए रस का आस्वादन करता है।[1]

इनकी व्याख्या मे अनुमिति के हेतु, विभाव आदि कृत्रिम होने के कारण चमत्कार उत्पन्न नहीं होता है वस्तुत· प्रत्यक्ष अनुभव ही चमत्कार जनक होता है अनुमिति नहीं। अत रस निष्पत्ति की सम्यक् व्याख्या मे इन्हे भी सफलता प्राप्त नहीं हुई है।

आचार्य भट्टनायक ने रस-सूत्र. की व्याख्या से पूर्व अन्य आचार्यों के मत का खण्डन किया है। इनके मत **भुक्तिवाद** कहा जाता है। इनके अनुसार सयोगात् पद का अर्थ-भोज्य-भोजक सम्बन्धात् तथा 'निष्पत्ति' का अर्थ भुक्ति है।

---

1 *-अभिनव गुप्त, अ० भा० सहित ना० शा०, परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली १६८१, पृ०-२७१।*

रस–सूत्र की व्याख्या करते हुए इन्होने काव्य मे अभिधा व्यापार के अतिरिक्त भावकत्व तथा भोजकत्व नामक दो अन्य व्यापारो की कल्पना की है। अभिधा व्यापार के द्वारा काव्य के वाच्यार्थ को जानने के पश्चात् उससे विलक्षण भावकत्व व्यापार के द्वारा विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है। साधारणीकरण का तात्पर्य है– राम, सीता आदि पात्रो का अपने विशिष्ट अश का परित्याग करके साधारण नायक नायिका के रूप में स्थित हो जाना है। इस प्रकार साधारणीकरण द्वारा रस आदि के भावित हो जाने पर तीसरा भोजकत्वव्यापार कार्य करता है। इस व्यापार से स्थायी भाव का भोग होता है। यह भोग चित्त की द्रुति, विस्तार एव विकास रूप है, रजस् तथा तमस् के वैचित्र्य से रहित सत्त्वमय है। निज चेतन स्वरूप है, परम आनन्द रूप है और परम ब्रहम के आस्वाद के सदृश है।[1]

आचार्य भट्टनायक ने यद्यपि रस–सूत्र की व्याख्या में कई नवीन अवधारणाओ को उपस्थित किया है किन्तु इनका भोजकत्व तथा भावकत्व व्यापार परवर्ती काल में मान्य नहीं हुआ।

आचार्य अभिनव गुप्त का रस–सूत्र विवेचन **'अभिव्यक्तिवाद'** के नाम से जाना जाता हैं।इन्होंने 'सयोगात्' पद का अर्थ 'अभिव्यङ्ग्य–अभिव्यञ्जक भाव सम्बन्धात्' माना है तथा इनके अनुसार'निष्पत्ति'शब्द का अर्थ 'अभिव्यक्ति' हैं।

रस–सूत्र की व्याख्या करते हुए इन्होने प्रत्येक पक्ष को स्पष्ट करने का सार्थक प्रयत्न किया है। इनका विचार है कि स्थायी भाव सूक्ष्म रूप में वासना रूप मे प्रत्येक सामाजिक में स्थित होता है। लोक में रति आदि भावो के जो कारण, कार्य तथा सहकारी हैं, वे ही काव्य में अलौकिक विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं। काव्य की अलौकिक अभिव्यञ्जना शक्ति के कारण विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है। उनके स्वकीयत्व, परकीयत्व तथा उपक्ष[illegible] का भाव नष्ट हो जाते हैं। इससे राम आदि का रामत्व अंश नष्ट होकर साधारण युवकत्व ही शेष रह जाता है। [illegible] के होने के कारण प्रमाता की चित्तवृत्ति अपरिमित हो जाती है। प्रमाता या सामाजिक को यह रसानुभूति स्वय से अभिन्न सी–प्रतीत होती है। वह स्वय में रस की चर्वणा करता हुआ अनुभव करता है इस प्रकार अभिव्यक्त स्थायी भाव ही रस है। **आचार्य अभिनव गुप्त** ने रसास्वादन की विशेष स्थिति को भी प्रतिपादित किया है। उनका विचार है कि रसास्वादन के समय विभावा[illegible] की प्रतीति **पानकरसन्याय** से होती है। तात्पर्य यह कि जिसप्रकार अनेक पदार्थों से निर्मित पानक रस में सभी पदार्थों की पृथक्–पृथक् अनुभूति नहीं होती वरन् समवेत रूप से उनका आस्वादन होता है, उसीप्रकार रसानुभूति में विभावादि की पृथक्–पृथक् अनुभूति न होकर समन्वित रूप से एक विलक्षण आस्वाद का अनुभव होता है।

रस चर्वणा या आस्वादन के समय ही रहता है। विभावादि की अनुभूति के साथ ही इसकी अनुभूति होती है। विभावादि से पहले या उनके पश्चात् रस की अनुभूति नहीं होती । इस प्रकार रस तात्कालिक ही है। **आचार्य अभिनव** के मतानुसार वस्तुतः स्थायी भाव रस नहीं है, रस [illegible] से विलक्षण है क्योंकि रस की चर्वणा अलौकिक विभावों आदि से होती है। इसलिए अलौकिक चमत्कार रूप रसास्वाद स्मृति, अनुमान, प्रत्यक्ष आदि ज्ञानों से विलक्षण है। रस न तो कार्य है, न ज्ञाप्य, यह सविकल्पिक अथवा निर्विकल्पक ज्ञान भी नहीं कहा जा सकता।[2]

आचार्य अभिनवगुप्त के रसास्वादन सम्बद्ध विचारों के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि इन्होने रस को लौकिक जगत से अलौकिकता की ओर ले जाने का प्रयास किया यह भी विचारणीय है कि **अभिनव गुप्त** से पूर्व रस विषय गत अर्थात् आस्वाद्य है। जबकि **अभिनवगुप्त** ने इसे विषयीगत बताते हुए आस्वाद बताया तात्पर्य यह कि इनके अनुसार रस सहृदय की स्वानुभूति रूप होता है। **डा० नगेन्द्र** ने विषयगत तथा विषयीगत स्वरूप की व्याख्या प्रस्तुत की है। सामान्यत विषयगत रूप मे रस काव्य–सौन्दर्य का बोधक है तथा

---

१ *–अभिनव गुप्त, अ० भा० पृ०–२७५।*

२. *–अभिनव गुप्त, अभिनव भारती पृ० २८२–२८५।*

विषयीगत रूप में इस काव्य–सौन्दर्य का आस्वाद है। काव्य शास्त्रकारों ने **अभिनव गुप्त** के विषयीगत रूप को ही स्वीकार किया है।[1]

आचार्य अभिनव के पश्चात् काव्यशास्त्रकारों पर इन्हीं का प्रभाव दिखाई पडता है। **आचार्य मम्मट** ने इन्हीं के विचारों को सङ्क्षेप में सारगर्भित रूप मे प्रस्तुत किया है।[2] **आचार्य विश्वनाथ** ने अभिनव गुप्त के मत को साराश रूप मे दो कारिकाओं में ही प्रस्तुत कर दिया है।[3] **आचार्य विश्वनाथ ने** रस का स्वरूप बताते हुए कहा है कि रसास्वादसत्व के उद्रेक के क्षणो मे होता है। रस अखण्ड, अन्य ज्ञान से रहित, प्रकाशानन्द, चिन्मय, लोकोत्तर चमत्कारप्राण, ब्रह्मास्वादसहोदर और अपने रूप से अभिन्न है।

आचार्य विश्वनाथ ने सक्षेप मे पूर्वाचार्यों के मत को सङ्कलित करने का प्रयास किया है। किसी नवीन सिद्धान्त की स्थापना का सङ्केत इन्होंने नहीं दिया है। **आचार्य मम्मट** का निरूपण भी इन्हे अपना मत प्रस्तुत करने में पर्याप्त सहायक सिद्ध हुआ है, यह भी माना जा सकता है।

पण्डितराज जगन्नाथ काव्यशास्त्रीय परम्परा के अन्तिम प्रबल आचार्य माने जाते हैं। इन्होंने भी पूर्वाचार्यों के ही मत का मौलिकता से पुनराख्यान किया है। इन्होने भी 'स्थायीभाव ही रस रूप मे परिणत हो जाते हैं यह स्वीकार किया है। इन्होंने कहा है कि रति आदि स्थायीभाव ही स्वत प्रकाश मान आत्मानन्द के साथ अनुभूत होकर रस हो जाते हैं।[4]

पण्डितराज का विचार है कि प्रमाता की चेतना में वासना रूप में स्थायी भाव सदैव छिपा रहता है। जब आवरण भङ्ग हो जाता है,तब वह स्थायी भाव प्रकट हो जाता है,जिसके अन्दर आनन्द स्थित होता है।[5]

रस–सूत्र के व्याख्याकारो के विचार सेरस की स्थिति पर विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि **आचार्य भरत** के अनुसार रस नाट्य में रहता है। नाट्य से उद्भूत हर्ष, विस्मय आदि भावों का सहृदय अनुभव करता है। **लोल्लट** रस को अनुकार्यगत स्वीकार करते हैं। उनका मत है कि रस अनुकार्य या मूल पात्र में स्थित रहता है और सहृदय इससे चमत्कृत होता रहता है। इनके अनुसार मूल रूप में रस मुख्य पात्र अर्थात् कथापात्र नायकादि में रहता है तथा गौण रूप से आरोप यामुख्य पात्र का अभिनय करने के कारण नट में रहता है।

रस–सूत्र के द्वितीय व्याख्याकार श्री **शङ्कुक** के अनुसार रस अनुकर्त्ता नट में स्थित रहत हैं सहृदय अनुमान द्वारा रस का अनुभव करता है। सर्वप्रथम **आचार्य भट्टनायक** ने रस का सम्बन्ध सहृदय से जोड़ा है। उन्होंने कहा कि रस सहृदय के चित्त मे स्थित होता है तथा सहृदय रस का भोग करता है। **आचार्य अभिनव गुप्त** ने भी रस को सहृदय के चित्त में ही स्थित माना है तथा परवर्ती आचार्यो ने **आचार्य अभिनव गुप्त** के मत का ही समर्थन किया है।उल्लेखनीय है कि **आचार्य शङ्कुक** तथा **भट्टनायक** के मत क्रमश मीमांसा, न्याय तथा साङ्ख्यमतों से प्रभावित माने गये हैं। यद्यपि प्रथमतीन मत अन्तिम **आचार्य अभिनव गुप्त** के मत की अपेक्षा प्रामाणिक नहीं है तथापि ये तीनों मत पूर्णत निरर्थक नहीं माने जा सकते हैं। रस की

---

१ —डा० नगेन्द्र, रस–सिद्धान्त संस्करण १९६५ पृष्ठ ८१–८३।

२ —मम्मट, काव्य–प्रकाश, ४/२७–२८ तथा वृत्ति।

३ सत्त्वोद्रेकादखण्डप्रकाशानन्दचिन्मय।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।
लोकोत्तर चमत्कार प्राण कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रस।
—सा० द०, ३/२–३।

४ स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सहगोचरीक्रियमाण. रत्यादिरेव रस।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, प्रथम आनन पृ० ८०।

५ वस्तुतस्तु वाच्यमाण [illegible] रत्याद्यवच्छिन्ना भग्ना[illegible]।
—जगन्नाथ, र० ग०, प्र० आ० पृष्ठ ८८।

अभिव्यक्ति के विषय मे इन आचार्यों के विचारो ने दूसरे परवर्ती आचार्यों को रस के विषय मे चिन्तन करने की दिशा प्रदान की है। यह भी रस के विवेचन के सम्बन्ध मे उनका एक योगदान ही है।

आचार्यों के रसास्वादन सम्बद्ध विचारो का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि सामाजिक जब काव्य को पढता, सुनता या देखता है, तो उसमे वर्णित पात्रों के साथ उसका साधारणीकरण हो जाता है अर्थात् उन पात्रो के प्रति उसका अपनत्व परकीयत्व समाप्त होकर उनसे एक विशेष सम्बन्ध जुड जाता है। इस स्थिति मे वह पात्र के सुख–दुख का विशेष रूप से अनुभव करने लगता है। इस सुख–दुख के अनुभव मे वह आनन्द का ही अनुभव करता है। यह आनन्दानुभूति ही रसास्वाद है। **डा० नगेन्द्र** ने कहा है कि शब्दार्थ के माध्यम से विशुद्ध भाव–भूमिका मे आत्मचैतन्य के (आनन्दमय) आस्वाद का नाम रस है।[1] विशुद्धभाव भूमिका का तात्पर्य ही सम्भवत सा[illegible] है।

---

1 *–डा॰ नगेन्द्र, रस–सिद्धान्त, पृष्ठ ६०।*

भावादि का स्वरूप

रसादि पद मे 'आदि' पद मे भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भाव सन्धि तथा भाव शबलता को ग्रहण किया जाता है। रस पर विचार करने के साथ ही इन पर भी विचार करना अनिवार्य है क्योकि रस–दोषो में भाव आदिगत दोषों का भी परिगणन किया जाता है।

प्रकृत स्थल मे उल्लेखनीय है कि विभावादि को'भाव'कहा जाता है/**नाट्य–शास्त्र** में'भाव को परिभाषित किया गया है। परन्तु यहाँ'भाव 'शब्द से विभावादि का नहीं वरन् रस के साथ परिगणित भावाभिव्यक्ति को ग्रहण किया गया है।

भावानुभूति वहाँ होती है जहाँ रति आदि स्थायी भावो का देव, नृप आदि गत रूप में वर्णन होता है अथवा जहाँ काव्य में प्रधानतया व्यभिचारी भाव ही व्यक्त होता है।[1] इस प्रकार [illegible] का दो प्रकार से वर्णन किया गया है। प्रथम रूप मे जहाँ स्थायी भावो का उनके निश्चित पात्रो में वर्णन नहीं किया जाता है। जैसे रति स्थायी भाव का कान्ता या पुरूषगत रूप में वर्णन करने पर शृगार रस निष्पन्न होता है और यदि रति का देवता, राजा, पुत्र, मुनि आदिगत रूप में वर्णन हो तो वहाँ भावानुभूति होती है,रसानुभूति नहीं।[2]

उल्लेखनीय है कि विभावादि के द्वारा जहाँरति आदि [illegible] परिपुष्ट होता है वहाँ रसानुभूति ही होती है। परन्तु जहां स्थायीभाव अपुष्ट ही रहता है वहाँ भाव ही होता है, रस नही।[3] द्वितीय स्थिति में काव्य में व्यभिचारी भाव ही प्रधानतया व्यञ्जित होता है।, विभावादि के द्वारा व्यभिचारी भाव का ही परिपोषण किया जाता है, वहाँ भावानुभूति ही होती है, [illegible] नहीं । विचारणीय है कि जहाँ अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव–निबद्ध नहीं होते वहाँ उनका आक्षेप कर लिया जाता है।[4]

सहृदय को भावानुभूति में [illegible] के समान आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। **साहित्यदर्पणकार** ने भाव को औपचारिक रूप से रस ही माना है।[5] **आचार्य अभिनव गुप्त** ने भी रस व भाव ध्वनि के भेद का निरूपण किया है।[6] इनके अनुसार रसानुभूति में भावानुभूति से उत्कट आनन्द की अनुभूति होती है इसमें सहृदय का अनुभव ही प्रमाण है।

आचार्य मम्मट ने काश्मीरिक कवि [illegible] रचित छन्द 'कण्ठकोणविनिविष्टं०'[7] को देवता विषयक रति भाव को स्पष्ट करने के लिए उद्धृत किया है। इसमें 'महादेव' आलम्बन है 'ईश' पद से प्रतिपादित ऐश्वर्य उद्दीपन, स्तवन अनुभावधैर्य,स्मरण आदि व्यभिचारी भाव हैं। यहाँ शिव विषयक रति भाव व्यञ्जित हो रहा है। कान्ता विषयक रति से जिस प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है। वैसा आनन्द देवादिविषयक रति से नहीं होता है।

---

१. *विभावैराहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु गम्यते। व[illegible]नयैःस भाव इति संज्ञितः।।*
वागङ्गामुख–रागेण सत्त्वेनाभिनयेन च। कवेश्चान्तर्गतं भावं भावयन्भाव उच्यते।
न[illegible]धान् भावयन्ति रसानिमान्। यस्मात्तस्मादमी भावाः विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः।।
–भरत, ना० शा० ७/२–४।

२ *रतिर्देवादि विषया व्यभिचारी तथा ऽञ्जित.।*
–मम्मट का० प्र० ४/३५।

३ *कान्ता विषया तु व्यक्ता शृङ्गार.। वही, ४/३५ की वृत्ति।*

४ *–मम्मट, का० प्र०, उदा० २८–३० तथा वृत्ति।*

५ *रसनाद्रसाः रस[illegible] भावादिष्वपि रसस्वमुपचारादित्यभिप्राय·।*
–विश्वनाथ सा० द० ३/२६१ की वृत्ति।

६ *–आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोचन ३/३।*

७. *कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम्।*
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते।।
–मम्मट, का प्र० उदा० ४५।

कुमार सम्भव का 'हरस्तु किञ्चित्०' १ छन्द कान्ताविषयक अपुष्ट या उद्बुद्ध मात्र रति का उदाहरण होने से भाव है। इस छन्द मे पार्वतीविषयक शिव का रतिभाव केवल उद्बुद्ध मात्र होता है। पुष्ट नहीं होता है। 'जाने कोप पराङ्मुखी०' २ छन्द मे व्यभिचारी भाव व्यञ्जित हुआ है। यहाँ विधि आलम्बन है, विधाता की दुर्जनता ही उद्दीपन है। उसे शठ कहना अनुभाव है। विधाता को शठ कहने से नायक की विधाता के प्रति असूया प्रधान रूप से व्यक्त हो रही है। 'असूया' नामक व्यभिचारी भाव की ही अभिव्यक्ति होने से यहाँ भावाभिव्यक्ति है।

रसाभाव तथा **भावाभास** वहाँ होता है। जहाँ रस तथा भाव का अनुचित रूप मे प्रवर्तन या वर्णन होता है। शास्त्र व लोक का उल्लङ्घन करने वाले वर्णन को काव्य मे वर्जित माना गया है। जिसप्रकार का वर्णन सहृदयजन को अनुचित प्रतीत होता है। वह वर्णन काव्य मे प्रतिषिद्ध या वर्जित होता है। ३ उदाहरणार्थ शृङ्गार रस मे उपनायक आदि–विषयक रति का वर्णन रसाभास ही है। इसी प्रकार गुरू का उपहास हास्य–रस तथा गुरू मे प्रति क्रोध का वर्णन रौद्र रस का आभास या रौद्राभास है। इसी प्रकार अन्य रसो मे भी अनुचित वर्णन उन रसो का आभास ही होता है। ४

उल्लेखनीय है कि कतिपय आचार्य पशु पक्षिगत रत्यादि वर्णन को भी रसाभास मानते हैं। ५ परन्तु **आचार्य मम्मट** ने पशुपक्षी विषयक स्थायी भावो का रस रूप मे वर्णन किया है। इन्होने 'ग्रीवाभङ्गाभिरामं०' मे भयानक तथा 'मित्रेक्वापिगत०' छन्द को विप्रलम्भ शृगार के उदाहरण रूप मे प्रस्तुत किया है। ६ इनमे प्रथम मे पशु तथा द्वितीय मे पक्षी–विषयक स्थायी भाव का वर्णन है।

प्रकृत स्थल मे विचारणीय है कि यहाँ 'प्रकृति विपर्यय' नामक रस–दोष नहीं है क्योकि आस्वादन के पश्चात् ही रस के अनौचित्य का ज्ञान होता है इसलिए यहाँ रसाभास ही है। रस दोष नहीं है रस–दोष मे अनौचित्यपूर्ण वर्णन से रसानुभूति मे बाधा उपस्थित हो जाती है। इसके अतिरिक्त रसाभास मे रस अपकृष्ट हो जाता है। जबकि रस–दोष मे रस ही रहता है भले ही वह दोष युक्त हो जाता है। इसी प्रकार भाव आदि मे भी होता है।

---

१ *हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशि ।*
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ।।
—मम्मट, काव्य प्रकाश, उदा० ४६ ।

२ *जाने कोपपराङ्मुखी प्रियतमा स्वप्नेऽद्य दृष्टा मया*
मा मा सस्पृश पाणिनेति रूदती गन्तु प्रवृत्ता पुर ।
नो यावत् परिरम्भ चाटुशतकैराश्वासयामिप्रिया।
भ्रातस्तावदह शठेन विधिना निद्रादरिद्रीकृत ।।
—मम्मट, का० प्र०, उदा० ४७ ।

३ *अनौचित्य हि शास्त्र लोकातिक्रमात् प्रतिषिद्धविषयकत्वादि रूप सामाजिक सम्वेद्यम्। तदुक्तमुद्योतादौ–"अनौचित्य च सहृदयव्यवहारतो ज्ञेय यत्र तेषामनुचितमिति धी । तच्च शृङ्गारो बहुविषयत्वेन उपनायकादिगतत्वेन नायक नायिका न्यतरमात्रविषयत्वेन गुरूजनगतत्वेन तिर्यगादिगतत्वादिनाच नानैव।*
—वामन, झलकीकार, बा०बो०, पृ०—१२१।

४ *—विश्वनाथ, सा० द०, ३/२६२–२६५।*

५ *—विश्वनाथ, सा० द० ३/२६३।*

६ *—मम्मट, का० प्र० उदा० ४१ तथा ३४४।*

आचार्य मम्मट ने 'स्तुम क०' [1] छन्द को रसाभास को स्पष्ट करने के लिए उद्धृत किया है। यह किसी कामुक की परकीया या वेश्या प्रति कही गयी उक्ति है। यहॉ 'स्तुम' पद के द्वारा परकीया नायिका या वेश्या के अनेक कामुक–विषयी अभिलाषा व्यक्त होती है जो अनुचित है। इसलिए यहॉं रति का आभास होता है।

रसाभास के समान ही जहॉ भाव का अनुचित अर्थात् लोक व शास्त्र के अनुसार अनुचित रूप मे वर्णन भावाभास होता है। 'राकासुधाकर मुखी०' [2] छन्द में 'चिन्ता' रूप व्यभिचारी भाव प्रधान रूप से व्यक्त है। यहॉ रावण विषयक चिन्ता का वर्णन किया गया है, जो अनुचित है क्योकि एक तो पहले स्त्रीगत अनुराग का वर्णन करना चाहिए किन्तु यहॉ पुरूषगत अनुराग का वर्णन किया गया है, दूसरी बात यह कि यहॉ अननुरक्त सीता के प्रति अनुराग का वर्णन किया गया है। इस प्रकार यहॉं चिन्ता रूप व्यभिचारी भाव का भावाभास है। इसी प्रकार अन्य भावो का भी भावाभास समझना चाहिए।

भावशान्ति वहॉ होती है जहॉ भाव का प्रशम हो जाये, भाव शान्त हो जाये। जैसे 'तस्या सान्द्रविलेपन०' [3] इस छन्द मे वर्णित कोप रूप भाव का प्रशम हो गया है। यहॉ खण्डिता स्वनायिका के कोपशान्ति का वर्णन कोई धृष्टनायक अपने मित्र से बता रहा है। स्वनायिका द्वारा किसी पर स्त्री से मिलन के चिह्नो को देख लेने पर धृष्टनायक स्वनायिका का तत्काल आलिङ्गन कर लेता है। आलिङ्गन के सुख मे स्वनायिका पर स्त्री के आलिङ्गन सम्बन्धी चिह्न को भूल जाती है। जिससे उसका कोप शान्त हो जाता है। यहॉ नायिका गत कोष उद्बुद्ध मात्र हुआ है, इसलिए भाव ही है।

भाव की उत्पत्ति होने पर **भावोदय** होता है। 'एकस्मिन शयने०' [4] यह छन्द **आचार्य मम्मट** ने भावोदय को स्पष्ट करने के लिए प्रस्तुत किया है। इसमे शैय्या पर नायक द्वारा परस्त्री का नाम लेने पर रूष्ट नायिका नायक द्वारा मनाने पर भी कोपाविष्ट ही रहती है। परन्तु जब नायक कुछ देर तक चुप हो जाता है तो कहीं यह सो न जाये यह सोचकर नायिका गर्दन तिरछी करके उसे देखती है।

---

१. *स्तुमः कं वामाक्षि क्षणमपि विना येन रमसे विलेभे क प्राणान् रणमखमुखे य मृगयसे।*
सुलग्ने को जातः शशिमुखि यमालिङ्गसि बलातु तपः श्रीः कस्यैषामदन–नगरि ध्यायसि तु यम्।।
–मम्मट, का० प्र० उदा० ४८।

२. *राकासुधाकर मुखी तरलायताक्षी सा स्मेरयौवन तरङ्गितविभ्रमाङ्गी।*
तत् किं करोमि विदधे कथमत्र मैत्रीं ततस्वीकृतिव्यतिकरे क इवाभ्युपायः।
–तदेव, उदा० ४६।

३ *तस्याः सान्द्रविलेपन [illegible]*
कि वक्षः[illegible]न गोपायते।
इत्युक्ते क्व तदित्युदीर्य सहसा तत् सप्रमाष्टु मया–
साऽश्लिष्ठा रभसेन तत्सुखवशात्तन्या चतद्विस्मृतम्।।
–तदेव उदा०–५०।

४ *एकस्मिन्शयने विपक्षरमणीनामग्रहे मुग्धया*
सद्यो मानपरिग्रहग्लपितया चाटूनि कुर्वन्नपि।
आवगादवधीरित प्रियतमस्तूष्णां स्थितस्तक्षण
माभूत्सुप्त इवेत्[illegible] ग्रीवं पुनर्वीक्षित।।
–तदेव उदा०–५१।

जिससे नायिका का सुरत औत्सुक्य अभिव्यक्त होता है। औत्सुक्य रूप व्यभिचारी भाव का उदय होने के कारण भावोदय है। विचारणीय है कि यहाँ कोप रूप भाव की शांन्ति भी हो रही है पर प्रधानतया औत्सुक्य की ही अभिव्यक्ति हो रही है क्योकि अनुभावो के द्वारा व्यञ्जित औत्सुक्य ही यहाँ चमत्कार आधायक है,कोप शान्ति नहीं ।

समान या तुल्यकक्ष भावों का आस्वाद एक साथ उपस्थित होने पर या एक साथ ही विरूद्ध भावों का भी तुल्य रूप में आस्वादन होने पर भाव सन्धि होती है। 'उत्सिक्तस्य तप०' [1] छन्द भाव सन्धि का उदाहरण है। इसमे राम के हर्ष व आवेग दोनो भावों का एक साथ आस्वाद हो रहा है। यहाँ हर्ष व आवेग रूप व्यभिचारी भाव समान रूप से आस्वाद्य हैं, क्योंकि राम के हृदय में एक ओर परशुराम से मिलने के लिए आवेग है और इसके साथ ही सीता के आलिङ्गन से उत्पन्न हर्ष भी है इस प्रकार यहाँ भावसन्धि है।

भाव सन्धि मे दो भावों की सन्धि होती है। दोनों प्राधान्यतः व्यङ्ग भी होते है। जैसे उपर्युक्त उदाहरण मे आवेग तथा हर्ष की समप्रधानता है।

भावशबलता में कई भावों का योग होता है। इसमें भाव परस्पर विरोधी भी हो सकते हैं। 'क्वाकार्य शशलक्ष्मण०' [2] छन्द में वितर्क औत्सुक्य, मति, स्मरण, शङ्का, दैन्य, धृति तथा चिन्ता इन आठ व्यभिचारी भाव एक साथ उपस्थित हैं इसलिए यह भावशबलता का उदाहरण है। उल्लेखनीय है कि भावशबलता में सभी व्यभिचारी भाव समतुल्य नहीं होते इसमें पूर्व में स्थित व्यभिचारी भाव को उत्तरकाल में वर्णित व्यभिचारी भाव द्वारा उपमर्दित किया जाता है। 'क्वाकार्य शशलक्ष्मणः०' छन्द में शान्त रस के व्यभिचारी भाव वितर्क, स्मृति, शङ्का व धृति क्रमशः शृगार के व्यभिचारी भाव औत्सुक्य, स्मरण, दैन्य तथा चिन्ता के द्वारा उपमर्दित हो रहे हैं।

---

1. *उत्सिक्तस्य तप पराक्रमनिधेरभ्यागमादेकत*
   सत्सङ्गाप्रियता च वीररभसोत्फालश्च मां कर्षत ।
   वैदेहीपरिरम्भएव च मुहुश्चैतन्यमामीलय–
   न्नानन्दी हरिचन्दनेन्दुशिशिरः स्निग्धो रुणद्ध्यन्यत ।।
   –मम्मट का० प्र० उदा० ५२।
2. *क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्वच कुलं भूयोऽपि दृश्यते सा–*
   दोषाणा प्रशमाय न श्रुतमहो कोपेऽपि कान्त मुखम्।
   कि वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा–
   चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलुयुवा धन्योऽधरं धास्यति।।
   –तदेव उदा० ५३।

विभावादि रस-साम ्री

विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी या व्यभिचारी भाव का स्थायी भाव के साथ सयोग होने पर रसाभिव्यक्ति होती है। अत रसानुभूति के सम्यक् अनुशीलन के लिए स्थायी भाव तथा विभावादि के विषय मे विचार अनिवार्य है।

स्थायी भाव वे भाव हैं, जो सदैव स्थायी रूप से सहृदय के चित्त मे वासना रूप मे स्थित होते हैं। यही भाव रस रूप मे परिणित होते हैं। इसलिए विभावादि की अपेक्षा ये प्रधान होते हैं। सामान्यत ये नौ माने गये हैं। रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय, निर्वेद। ये सभी स्थायी भाव सहृदय सामाजिक के चित्त मे स्थित होते हैं और अनुकूल विभावादि के उपस्थित होने पर उद्बुद्ध या जागृत हो जाते हैं। जिस प्रकार मनुष्यों मे राजा तथा शिष्यो में गुरू का महत्त्व पूर्ण स्थान होता है। उसी प्रकार विभावा ि में स्थायी भाव का महत्त्व होता है।[1]

स्थायी भाव को उद्बुद्ध करने के जो कारण या हेतु होते हैं। उन्हे **विभाव** कहते हैं। तात्पर्य यह है कि काव्य में स्थायी भाव तथा व्यभिचारी भावों का विभावन या विशेष रूप से ज्ञान कराने वाले तत्वों को विभाव कहते है। [2]

विभाव के दो भेद हैं-**आलम्बन** व **उद्दीपन**। काव्य में जिन पात्रों के आलम्बन से सामाजिक के रति, उत्साह आदिभाव रस रूप में निष्पन्न होते हैं। उन्हे **आलम्बन विभाव** कहा जाता है। आलम्बन विभाव के भी दो अङ्ग हैं-विषय या आलम्बन तथा आश्रय । जिस व्यक्ति के प्रति भाव जागृत होते हैं अर्थात् जिस व्यक्ति के कारण भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें **विषय या आलम्बन** कहते हैं तथा जिसमें रति आदि भाव उत्पन्न या जागृत होते हैं। उसे आश्रय कहते हैं। जैसे यदि काव्य मे राम की सीता विषयक रति का वर्णन है तो यहाँ सीता आलम्बन तथा राम आश्रय है क्योंकि सीता के कारण राम के चित्त में प्रेमभाव उत्पन्न हुआ हैं तथा राम के हृदय में सीता के प्रति प्रेम जागृत हुआ हैं इसलिए राम आश्रय है।

उद्बुद्ध रति आदि भाव को उद्दीप्त करने वाले तत्व **उद्दीपन** विभाव कहलाते हैं।[3] उद्दीपन विभाव भी दो हैं-आलम्बन गत चेष्टाए आदि तथा देशकाल आदि वाह्य वातावरण।[4] उल्लेखनीय है कि यहाँ आलम्बन पद विषय का ही वाचक है आश्रय व विषय दोनों का नहीं । तात्पर्य यह है कि जिसके कारण आश्रय के हृदय में रति आदिभाव उत्पन्न हुआ है, वहीं यहाँ आलम्बन पद से कहा गया हैं।

आलम्बन अर्थात् नायिकादि की कियायें, हाव-भाव आदि तो रस को उद्दीप्त करते ही हैं। इसके साथ ही तात्कालिक वातावरण चन्द्रोदय एकान्त उपवन आदि भी रस को उद्दीप्त करने मे सहायक होते हैं इसलिए ये दोनों ही उद्दीपन विभाव है।

---

१ *यथानराणां नृपति शिष्याणाञ्च यथा गुरूः।*
एव हि सर्वभावाना भाव स्थायी महानिह।।
–भरतमुनि ना० शा० ७/८।

२ *बहवोऽर्थ विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः।*
अनेन य[illegible] विभावं अति सञ्जित.।।
–वहीं ७/४।

३ *उद्दीपन विभावस्ते रसमुद्दीपयन्ति ये।*
–विश्वनाथ सा० द० ३/१३१।

४ *आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा।*
–वही ३/१३२।

आश्रय की चेष्टाये **अनुभाव** कहे जाते हैं। वस्तुतः अनुभावो के द्वारा ज्ञात होता है कि आश्रय में रति आदि भावों का उद्बोध हो गया हैं।अनुभाव पद की इस प्रकार व्याख्या की जाती है 'अनुपश्चात् भवन्ति इत्यनुभावा' अर्थात् जो भाव रति इत्यादि भावो के पश्चात् हो वे अनुभाव हैं।तात्पर्य यह कि नायक के हृदय मे रति आदि भाव उत्पन्न होने के पश्चात् ही वह तत्सम्बद्ध कियाए करता हैं।यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अनुभावों के द्वारा ही सहृदय को अनुभव होता है कि नायक में रति आदिभाव उत्पन्न हो गया हैं। रति नामक स्थायीभाव उदाहरणार्थ प्रयुक्त किया गया है।रति के समान अन्य स्थायीभावो में भी तत्सम्बद्ध अनुभावो को समझना चाहिए।

विभावो के द्वारा रति आदि भाव जागृत होते हैं। इन भावो को प्रकट करने का कार्य अनुभावों द्वारा होता है। कटाक्ष भुजक्षेप (बाँह फडकना) आदि कार्यों के द्वारा नायक या काव्य वर्णित पात्र के हृदय में स्थित रति आदि भावों का प्रकाशन होता है। [1]

अनुभाव चार प्रकार के है— आङ्गिक वाचिक आहार्य तथा सात्विक। इनमे आङ्गिक, वाचिक तथा आहार्य मे आश्रय को प्रयत्न करना पडता है।इसलिए इन्हें सयत्नज अनुभाव भी कहते है। सात्विक अनुभाव स्वत. ही उत्पन्न होते हैं।वस्तुत सात्विक अनुभाव का आधिक्य आश्रय के हृदय में स्थित रतिआदिभाव को प्रकट करने में सर्वाधिक सहायक होता हैं,अन्य अनुभाव बाह्य होते हैं तथा सात्विक अनुभाव आन्तरिक होताहैं यह मन की एकाग्रता के बिना सम्भव ही नहीं है।सात्विक अनुभाव ८ माने गये हैं स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रुव प्रलय [2] **सञ्चारी भाव** स्थायी भावों को विभाव तथा अनुभाव की सहायता से रस रूप होने तक सञ्चारित करते हैं। इसीलिये वे सञ्चारी भाव कहलाते हैं। ये रस की पुष्टि व अभिव्यक्ति में सहायक होते हैं।सञ्चारी भाव सञ्चरणशील अर्थात् चलायमान् होते हैं। तात्पर्य यह कि ये आश्रय तथा विषय (आलम्बन) के हृदय में आविर्भूत तथा तिरोहित होते रहते हैं।

वि तथा अभि उपसर्ग पूर्वक चर् धातु से व्यभिचारी पद निष्पन्न हुआ है। सञ्चारी भाव तथा व्यभिचारी भाव पर्याय रूप में ग्रहण किये जाते हैं। विविध प्रकार से रसों की ओर चलने के कारण अर्थात् अनेक प्रकार के अनुभावों के द्वारा रस तक पहुँचने के कारण इन्हें व्यभिचारी भाव कहा गया है।[3] प्रत्येक स्थायी भाव के साथ विशेष रूप से अभिमुख होकर चलने के कारण भी इन्हें व्यभिचारी भाव कहा जाता है।[4] तात्पर्य यह कि ये किसी स्थायी भाव के साथ नियत रूप से नहीं रहते एक ही व्यभिचारी भाव एक से अधिक स्थायी भावो में हो सकता है।

---

१. उदबुद्धं कारणैः स्वैर्वहिर्भावंप्रकाशयन्।
लोके य· कार्यरूप· सोऽनुभावः काव्यनाट्ययो.।।
—वही ३/१३३।

२ स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्च स्वरभङ्गोऽथ वेपथु।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्विका· स्मृताः।।
—भरत ना० शा० ६/२३।

३ विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः। वागङ्गसत्वोपेता प्रयोगे रसान्नयन्तीति व्यभिचारिण चरन्ति नयन्तीत्यर्थे।
—वही ७/२७ के पश्चात्।

४ विशेषादाभिमुख्येन चरणात् व्यभिचारिण।
—विश्वनाथ सा० द० ३/१४०।

सञ्चारी या व्यभिचारी भाव तैतीस बताये गये हैं।[1] इनमे प्रथम स्थान पर वर्णित 'निर्वेद' नामक सञ्चारी भाव शान्त रस का स्थायी भाव है। उल्लेखनीय है कि स्थायीभाव भी कभी कभी अन्य रसो के व्यभिचारीभाव बन जाते हैं। जब किसी काव्य मे दो रसो का एक साथ वर्णन होता है तो उसमे एक स्थायीभाव मे तो विश्रान्ति होती है, परन्तु दूसरा स्थायीभाव उस प्रधान स्थायीभाव का सहायक बनकर आविर्भूत होता हैं तथा उसे पुष्ट करने के पश्चात् तिरोहित हो जाता है। तो वह स्थायी भाव प्रधान स्थायी भाव का व्यभिचारी हो जाता है। कभी–२ एक प्रधान के साथ एक से अधिक स्थायी भावो का व्यभिचारी रूप मे ग्रहण किया जाता है। [2]

प्रकृत स्थल मे विचारणीय है कि रसानुभूति के लिए विभाव के साथ अनुभाव व व्यभिचारी भावो का होना आवश्यक है। इसलिए जहॉ अनुभाव व व्यभिचारी भावो का ग्रहण नहीं होता वहॉ उनका आक्षेप कर लिया जाता है। तात्पर्य यह कि काव्य मे यदि स्फुटतया अनुभाव तथा व्यभिचारी का कथन नहीं होता कि वा वर्णन नही होता वहॉ उन्हे रस के अनुसार आक्षिप्त कर लिया जाता है।

विभावादि के स्वरूप का ज्ञान होने के पश्चात् शृगार आदि रसो से सम्बद्ध विभाव अनुभाव तथा सचारी भाव का वर्णन भी प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध मे अपरिहार्य है, क्योकि शृगारादि रसों के विभावादि का ज्ञान होने पर ही अनुकूल तथा प्रतिकूल विभावादि को जाना जा सकता है। रस दोषों के परिहार के लिए भी शृगार आदि रसो से सम्बद्ध विभावादि के ज्ञान के साथ ही उचित और अनुचित अर्थात् अनुकूल एव प्रतिकूल विभावादि का उल्लेख प्रासगिक है। यहॉ शृगारादि रसों के विभाव अनुभाव, तथा सचारी भाव द्रष्टव्य है।

शृगार रस 'रति' नामक स्थायी भाव से अभिव्यक्त होता है। उत्तम प्रकृति के युवा शृगार रस के आलम्बन विभाव होते हैं। शृगार रस दो प्रकार का होता है–सयोँग तथा वियोग। इन दोनों भेदों के विभावादि का पृथक्–पृथक् उल्लेख **भरतमुनि** ने किया है। सयोग शृगार मे ऋतुए, अनुलेपन, अलकार या आभूषण इष्ट जन का साहचर्य, उत्तम भवन, भोग, उपवन–विहार, प्रिय–दर्शन, प्रेम कीडा, लीला इत्यादि विभाव होते हैं। नयन चातुर्य भ्रूक्षेप, कटाक्ष, सुन्दर कथन, मधुर अग सचालन आदि अनुभाव होते है सयोग शृगार मे आलस्य तथा जुगुत्सा के अतिरिक्त सभी व्यभिचारी भाव होते है।[3]

---

१ *निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथासूयामदश्रमाः। आलस्यश्चैवदैन्यश्च चिन्ता मोहस्मृतिर्धृति।।*
व्रीडा चपलता हर्षआवेगोजडता तथा। गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च।।
सुप्तं विबोधो [illegible]त्थमथोग्रता। मतिर्व्याधिस्तयोन्मा स्तथा मरणमेव च।।
[illegible] विज्ञेया व्यभिचारिण। त्रयस्त्रिशदमी भावा समाख्यास्तु नामत.।
–भरत ना०शा० ६/१६–२२।

२ –मम्मट का० प्र० २८–३० उदाहरण तथावृति।

३ *तत्र शृङ्गारो नाम रति स्थायिभाव प्रभव। .. . स च स्त्रीपुरूषहेतुक उत्तमयुवप्रकृति.। .. तस्य द्वे अधिष्ठाने सम्भोगो विप्रलम्भश्च। तत्र सम्भोगस्तावत् ऋतुमाल्यानुलेपनालङ्कारे –ष्टजनविषयवरभवनोपभोगो नगमनानुभवनश्रवण[illegible]डालीलादिभिर्विभावेरूपत्द्यते। तस्य नयनचातुर्य भ्रूक्षेपकटाक्षसञ्चारललितमधुराङ्गहारवाक्यादिभिरनुभावेरभिनय प्रयोक्तव्य. व्यभिचारिणश्चास्यालस्यौग्रयजुगुप्सावर्ज्या।*

–भरतमुनि, ना० शा०, ६/४५ के पश्चात् गद्य–भाग।

विप्रलम्भ शृगार मे विभाव संयोग शृगार के ही समान होते है।[1] **भरतमुनि** ने विप्रलम्भ शृगार के व्यभिचारीभावो का उल्लेख करके कहा है कि इन्हीं अनुभावो से विप्रलम्भ का अभिनय होना चाहिए।[1] वे हैं– निर्वेद, ग्लानि, शका, असूया, श्रम, चिन्ता, औत्सुक्य, निद्रा स्वप्न व्याधि, उन्माद, अपस्मार, जाड्य मरण आदि। इन व्यभिचारी भावो को व्यक्त करने वाले अनुभाव ही विप्रलम्भ शृगार के अनुभाव है।[2] विचारणीय है कि मरण रूप व्यभिचारी भाव को विशेष रूप से विप्रलम्भ शृगार में ग्रहण करने की बात कही गयी है। यदि मरण के पश्चात् पुन जीवित होने का वर्णन हो या आलम्बन द्वारा मरणप्राय स्थिति की अभिलाषा की जाय तभी मरण रूप व्यभिचारी भाव को ग्रहण करना चाहिए।[3] दशरूपककार **धनंजय** ने कहा है कि आलस्य, उग्रता, मरण तथा जुगुप्साका आश्रयैक्य विरोध होता हैं। इसे भिन्न आश्रय मे वर्णित करना दोष पूर्ण नहीं होता।[4]

उल्लेख्य है कि **भरतमुनि** ने सयोग तथा वियोग के व्यभिचारी भावों का पृथक्–पृथक् वर्णन किया है। इन्होने मरण को विप्रलम्भ शृगार का व्यभिचारी भाव माना है।

हास्य रस का स्थायी भाव 'हास' है। जिसकी विकृत आकृति वाणी, चेष्टा आदि से हसी उत्पन्न हो। वह आलम्बन विभाव होता है।[5] इस व्यक्ति की चेष्टाये, विकृत वेशभूषा, धृष्टता, चचलता, कुहक, व्यर्थ बाते आदि उद्दीपन विभाव होता है।[6]

---

१. *न हि विप्रलम्भे विभाव. स्थायी च सम्भोगादिभद्यते।*
—अभिनवगुप्त, अभिनवभारती, परिमल पब्लिकेशन, १९८१ पृ० ३०८।

२ क) *विप्रलम्भकृतस्तु निवदग्लानिशङ्कासूयाश्रमचिन्तौत्सुक्यनिद्रास्वप्नविबोधव्याध्युन्मादापस्मारजाड्यमरणादिभिरनुभावैरभिनेतव्यः।*
—भरतमुनि, ना० शा०, ६/४५ के पश्चात् गद्य भाग।

ख) *एते व्यभिचारिणोऽपि स्वानुभावैरनुभाविता विप्रलम्भमनुभावयन्ति तस्माद नुभावैरित्युक्तम्।*
—अभिनव गुप्त, अभिनव भारती, पृ० ३०५।

३. *रस विच्छेद हेतुत्वान्मरणं नैव वर्ण्यते। जातप्रायं तु तद्वाच्यं चेतसाकांक्षितं तथा वर्ण्यतेऽपि यदि प्रत्युज्जीवन स्याददूरतः।*
—विश्वनाथ, सा०द०, ३/१९३–१९४।

४. *आलस्यमौग्रयं मरणं जुगुप्सा। तस्याश्रयाद्वैत विरूद्धमिष्टम्।।*
—धनञ्जय, दशरूपक, ४/४६।

५. *विकृ[illegible]ष्टं यमालोक्य हसेज्जन।*
तमत्रालम्बनं प्राहु ..
—विश्वनाथ, सा० द०, ३/२१५।

६ क) *विकृताकारै वाक्यैरङ्गविकारैश्च विकृतवेषैश्च।*
हासयति जनं यस्मात्तस्माज्ज्ञेयो रसो हास्य।।
—भरतमुनि, ना० शा०, ६/५०।

ख) *. . . .... । तत्रालम्बन प्राहुस्तच्चेष्टोद्दीपनमतम्।।*
—विश्वनाथ, सा० द०, ३/२१५।

हास्यरस का अनुभाव ओठ, नाक तथा गले को फडकाना, अक्षिसकोच तथा विस्तार, मुह रक्तिम होना, स्मित वचन आदि हैं[1] हास्य रस मे छ प्रकार की हसी का उल्लेख किया गया है। स्मित, हसित, विहसित अपहसित, व अतिहसित।[2] उत्तम पात्रो मे स्मित तथा हसित, मध्यम मे विहसित तथा अवहसित और नीच पात्रों मे अपहसित तथा अतिहसित को ग्रहण करना चाहिए।[3] प्रसग के अनुकूल स्मित आदि का स्वरूप भी द्रष्टव्य है। जिसमे ओष्ठो में किञ्चित् स्पन्दन हो तथा नेत्र किञ्चित् खुले हों वह स्मित हास्य है। जहा किञ्चित दस्त–प्रदर्शन हो वह हसित है। मधुर स्वर सहित हसना विहसित है। शिर गर्दन आदि का कम्पन होने पर अवहसित हास्य होता हैं हँसते हुए नेत्रो मे अश्रु आ जाना अपहसित है तथा जहाँ पूरा शरीर कम्पित हो वह अतिहसित है।[4] यहाँ स्मित आदि का उल्लेख करने का उद्देश्य यह है कि कवि को पात्रों के अनुसार हास्य–भेदों का वर्णन करना चाहिए अन्यथा प्रयोग दोष कारक होगा। उल्लेखनीय है कि **भरतमुनि** ने इन सभी का उल्लेख किया है।[5]

निद्रा, तन्द्रा, अवहित्था, स्वप्न, प्रबोध, असूया आदि हास्य रस के सचारीभाव है।[6]

करूण रस का स्थायी भाव 'शोक' है। चिन्ता ग्रस्त दु.खी व्यक्ति आलम्बन हैं। इष्टनाश, विपत्ति, मृत्यु, हानि, बन्धन, क्लेश, शापजन्य वियोग, दुखी व्यक्ति का दाह आदि की अवस्था आदि उद्दीपन विभाव हैं। अश्रुपात, प्रलाप, मुख का सूख जाना, मुख का अर्थात् विवर्ण हो जाना, शरीर की शिथिलता, स्मृति लोप होना दैवनिन्दा, भ्रूपात, उच्छवास स्तम्भ निश्वास आदि अनुभाव हैं। निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, आवेग, भ्रम, मोह, भय, विषाद, दैन्य, व्याधि, जडता, उन्माद, अपस्मार त्रास, आलस्य, मरण, स्तम्भ वेपथु वैवर्ण्य, अश्रु, स्वर–भेद आदि व्यभिचारी भाव हैं।[7] यहाँ विचारणीय है कि जब तक प्रिय व्यक्ति के जीवित रहने की आशा रहती है तब तक

---

१ क) अनुभावोऽक्षि सकोचवचनस्मेरतादयः।
—विश्वनाथ, सा० द० ३/२१६ का पूर्वार्द्ध।

ख) —द्रष्टव्य—भरतमुनि, ना० शा० ६/५१।

२. —द्रष्टव्य—भरतमुनि, ना० शा० ६/५३।

३ जेष्ठानां स्मितहसितेमध्याना विहसितावहसिते च।
नाचानामप सितं तथातिहसति तदेषषड्भेद ।।
—विश्वनाथ, सा० द० ३/२१७।

४ [illegible]षद्विकासिनयनंस्मितं स्यात्स्पन्दिताधरम्। किञ्चिल्लक्ष्यद्विज तत्र हसित कथित बुधै.।।
मधुरस्वर विहसितं स्याद्शिरः कम्पमवहसितम्। अपहसितं सास्राक्ष विक्षिप्ताङ्ग भवत्यतिहसितम्।।
—विश्वनाथ, सा० द० ३/२१८—२१६।

५ —द्रष्टव्य— भरतमुनि ना० शा०, ६/४६—६१।

६ क) —द्रष्टव्य ना० शा० ६/५१

ख) निद्रालस्यावहित्थाद्या अत्र स्युर्व्यभिचारिण ।।
—विश्वनाथ, सा० द०, ३/२१६ का उत्तरार्द्ध।

७ क) —द्रष्टव्य, भरतमुनि ना० शा०, ६/६१ के पश्चात् का गद्य भाग एव ६/६२—६३।

ख) इ[illegible] करुणाख्यो रसो भवेत्।
शोकोऽत्रस्थायिभाव. स्या[illegible]लम्बनमतम्।
तस्य दाहादिकावस्थाभवेदुद्दीपनं पुन.।।
अनुभावादैवनिन्दा भू[illegible].।
वैवर्ण्योच्छवासनिःश्वास स्तम्भप्रलपमानि च
निर्वेदमोहापस्मारव्याधिग्लानिस्मृतिश्रमाः। विषादज[illegible]भिचारिण ।।
—विश्वनाथ, ३/२२२ ....२५।

विप्रलम्भ शृगार ही होता है उसकी मृत्यु के उपरान्त ही करूण रस होता है। ऐसी स्थिति मे रति भाव सचारी भाव के रूप मे शोक रूप स्थायी भाव का पोषक रहता हैं।ऐसी स्थिति मे हम रति को भी करूण रस के सचारी भावो मे परिगणित कर सकते है।

रौद्र रस का स्थायीभाव 'क्रोध' है। शत्रु आलम्बन विभाव होता है। आघर्षण अवक्षेप (देश, जातिकर्म आदि की निन्दा), अमृतवचन, सेवकादि को मारना, ईर्ष्यापरक वचन, बध आदि करने के लिए उत्तेजित वाणी स्त्री अपहरण आदि इसके उद्दीपन विभाव हैं।[1] **भरतमुनि** ने रौद्र रस के दो प्रकार के अनुभावो का उल्लेख किया है। प्रथम वे हैं जिनका प्रदर्शन रगमच पर नहीं हो सकता यथा ताडना, काटना, मसलना, दो भाग कर देना, भेदन करना, प्रहार शस्त्रो को फेकना, पेटादि फाडना, रूधिर बहना आदि। द्वितीय प्रकार के अनुभाव वे हैं जिनका मचन हो सकता है जैसे रक्त–नयन, भ्रकुटी चढाना, दाँत पीसना, ओष्ठ काटना, हाथ मलना आदि [2] इस प्रकार **भरतमुनि** ने अभिनेयता की दृष्टि से भी अनुभावो का निर्देशन दिया है। **विश्वनाथ** ने भी प्राय इसी प्रकार का सकेत दिया है। उन्होने मुष्टिप्रहार आदि अभिनीत न होने वाले अनुभावों के विषय में कहा है कि इनसे रौद्र रस का अत्यधिक उत्कर्ष होता है।[3] सम्मोह, उत्साह, आवेग, आमर्ष, चपलता, उग्रता, गर्व, स्वेद, वेपथु, रोमाच, गद्गद्स्वर आदि रौद्र रस के सचारी भाव है।[4] यहॉ उत्साह व्यभिचारी होता हैं जबकि क्रोध स्थायी इसलिए यह युद्ध वीर से भिन्न होता है। यह निम्न प्रकृति के व्यक्तियो ने ही प्राय उत्पन्न होता है।

वीर रस का स्थायी भाव 'उत्साह' है। यह उत्तम प्रकृति के व्यक्तियों मे स्थित होता है। विजेता नृप आदि इसके आलम्बन विभाव होते हैं। विजेता की चेष्टाये उसकी सचेष्टता, सजगता, नय, विनय, बल, पराक्रम शक्ति प्रताप, प्रभाव यश आदि उद्दीपन विभाव होते हैं। स्थिरता, धैर्य, शौर्य, त्याग गाम्भीर्य, निपुणता, चातुर्य आदि अनुभाव होते हैं तथा धृति, गर्व, वेग उगता, अमर्ष, रोमाच आदि इसके संचारी भाव होते है।[5]

---

१ *अथ रौद्रो नाम क्रोधस्थायिभावात्मको रक्षोदानवोद्धतमनुष्य प्रकृतिः सग्राम–हेतुक।*
स च क्रोधाघर्षणाधिक्षेपानृतवचनोपघात वाक्यारूष्याभिद्रोहमात्सर्यादिभिर्विभावैरूत्पद्यते।
–भरतमुनि, ना० शा० ६/६३ के पश्चात् गद्य भाग पृ०–३१५।

२. *तस्य च ताडनापाटनपीडनच्छेनभेदनप्रहरणाहरणशस्त्रसम्पातसम्प्रहार रूधिराकर्षणाद्यानि कर्माणि।*
पुनश्च रक्तनयनभ्रुकुटीकरणदन्तोष्ठपीडनगण्डस्फुरणहस्ताग्रनिष्पेषादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।
–भरतमुनि, ना० शा०, ६/६३ के पश्चात् गद्य भाग पृ०–३१६।

३ *मुष्टिप्रहारपातनविकृतच्छेदावदारणैश्व।*
संग्राम सभ्रमाद्यैरस्योद्दीप्तिर्भवेत्प्रौढा।।
–विश्वनाथ, सा० द०, ३/२२८।

४ *भावाश्चास्या सम्मोहोत्साहावेगामर्षचपलतौग्रयगर्वस्वेदवेपथुरोमाञ्चगद्गदादय।*
–भरतमुनि, ना०शा०, ६/६३ के पश्चात् गद्य भाग पृ०–३१७।

५ क) *अथ वीरो नामोत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मक। स चासमोहाध्यवसायनयविनयबलपराक्रमशक्ति प्रतापप्रभावादिभिर्विभावैरूत्पद्यते। तस्यस्थैर्यधैर्यशौर्यत्यागवैशारद्यादिभिरनुभावैरभिनय प्रयोक्तव्य। भवाश्चास्य धृतिमतिगर्वावेगौग्रयमर्षस्मृति रोमाञ्चादय।*
–भरतमुनि, ना० शा०, ६/६६ के पश्चात् गद्य भाग पृ०–३२०।

ख) *–द्रष्टव्य विश्वनाथ, सा० द०, ३/२३१–३३।*

भयानक रस का स्थायी भाव 'भय' हैं स्त्री तथा नीच प्रकृति के व्यक्तियो में इसकी स्थिति होती है। भय को उत्पन्न करने वाला आलम्बन विभाव होता हैं।अट्टहास, भूत, पिशाच आदि का दर्शन, शृगाल, उलूक आदि की ध्वनि त्रास, उद्वेग, शून्य भवन, वन–गमन, स्वजन का बध बन्धन आदि देखना मृत शरीर देखना तथा इनसे सम्बद्ध कथाओ से यह रस उद्दीप्त होता है। यह कपन, नेत्र चपलता, मुख विवर्णता, स्वर–परिवर्तन आदि अनुभावो से युक्त होता हैं।स्तम्भ, स्वेद रोमाच घबराहट, शका, मोह, दैन्य, आवेग, जडता, त्रास मरण आदि इसके सचारी भाव है।[1]

बीभत्स रस का स्थायी भाव 'जुगुप्सा' हैं।दुर्गन्ध, मास, रूधिर आदि आलम्बन विभाव हैं।स्वाभाविक रूप से अप्रिय लगने वाली वस्तु मल आदि घृणास्पद वस्तुओ से उपहत वस्तु आदि को देखने, उसके विषय मे वार्तालाप आदि होने से वीभत्स रस उत्पन्न होता हैं।इनका विकृत रूप यथा कृमिपात होने अत्यधिक फैलने, विक्षिप्त स्थिति मे होने पर यह रस उद्दीप्त हो जाता हैं।सम्पूर्ण शरीर को सिकोड लेना, मुँह बिचकाना, नेत्र सिकोडना, उद्वेग, थूकना, नाक प्रच्छादित करलेना आदि इसके अनुभाव हैं। अपस्मार, उद्वेग आवेग मोह, व्याधि, मरण आदि असके सचारी भाव हैं।[2]

अद्भुत रस 'विस्मय' स्थायी भावात्मक है। अतिशय से युक्त वस्तु, घटना या कर्म आदि इसके आलम्बन विभाव है । अलौकिक वस्तु को देखने, अभिलषित वस्तु की अकस्मात् प्राप्ति, दिव्य रथ, माया, इन्द्रजाल आदि असम्भव वस्तु को देखना सुनना या उसकी चर्चा होना उद्दीपन विभाव है। नेत्र–विस्तार, अनिमेषदृष्टि, स्तम्भ, रोमाच, सम्भ्रम, गद्गद् स्वर, हर्ष, अश्रुपात, साधुवाद आदि अद्भुत रस के अनुभाव है। वितर्क स्तम्भ अश्रु, आवेग, स्वेद, जडता आदि इसके सचारी भाव है। [3]

शान्त रस का स्थायी भाव **भरतमुनि** तथा **विश्वनाथ** ने 'शम' बताया हैं। [4] **आचार्य मम्मट** ने 'निर्वेद'

---

१ क) अथ भयानको नाम भयस्थायिभावात्मक । स च वि[illegible]दर्शन शिवोलूकत्रासोद्वेगशून्यागारारण्यगमनस्वजनबधबन्ध–दर्शनश्रुति कथादिभिर्विभावैरूत्पद्यते। तस्य प्रवेपितकरचरणनयनचपल[illegible]मुखवैवर्ण्यस्वरभेदादिभिरनुभावैरभिनय प्रोक्तव्य । भावाश्चास्य स्तम्भ स्वेदगद्गदरोमा[illegible] शङ्कामोहदैन्यावेगचापलजडतात्रासापस्माररणादयः।

—भरतमुनि, ना०शा०, ६/६६ से पूर्व गद्य–भाग पृ०–३२२।

ख) —विश्वनाथ सा० द०, ३/२३५–३८।

२ अन[illegible] च गन्ध रस स्पर्श शब्ददोषैश्च।
उद्वेजनैश्च बहुभिर्बीभत्सरसः समुद्भवति।।
मुखनेत्र विकूणनया ना[illegible]।
अव्यक्तपादपतनैर्बीभत्स सम्यगभिनेय ।।

—भरतमुनि, ना० शा०, ६/७३–७४।

३ यत्त्वतिशयार्थयुक्त वाक्य शिल्प च कर्म रूप वा।
तत्सर्वमद्भुतरसे विभावरूपं हि विज्ञेयम्।।
स्पर्शग्रहोत्लुकसनैर्हाहाकारैश्च साधुवादाश्च।
वेपथुगद्गद्वचनै स्वेदाद्यैरभिनयस्तस्य।

—भरतमुनि, ना०शा०, ६/७५–७६।

४ क) अथ शान्तो नाम शम स्थायिभावात्मकोमोक्ष प्रवर्तक ।

—भरतमुनि, ना० शा०, ६/८२ के पश्चात् गद्यभाग पृ०–३२८।

ख) शान्त शम स्थायिभाव . .

—विश्वनाथ, सा० द० ३/३४४ का उत्तरार्द्ध।

को शान्त रस का स्थायी भाव माना है[1]। **अभिनव गुप्त** ने भी 'निर्वेद' के स्थायीभावत्व का खण्डन किया है[2] **काव्य–प्रकाश** के टीकाकारो मे **प्रदीपकार** के अतिरिक्त अन्य ने'निर्वेद'को ही शान्त रस का स्थायीभाव माना हैं [3] वर्तमान मे **मम्मट** का मत ही मान्य हैं।

अनित्य रूप होने सम्पूर्ण वस्तुओ की निस्सारता या परमात्मस्वरूपता शान्त का आलम्बन विभाव हैं। पवित्र आश्रम, तीर्थ स्थल, रमणीयवन, महापुरूष का ससर्ग, तत्त्वज्ञान, वैराग्य आदि से शान्त रस उद्दीप्त हो जाता है।[4] यम, नियम, आध्यात्म, ध्यान, धारणा, उपासना, सभी प्राणियो मे दया आदि इत्यादि इसके अनुभाव हैं तथा हर्ष, स्मरण, धैर्य, पवित्रता, स्तम्भ, रोमाच आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं।

दशरूपककार **धनञ्जय** ने शान्त रस को नाट्य मे अभिनेय न होने के कारण ग्रहण नहीं किया हैं[5]। यहाँ यह भी उल्लेख्य है कि इनके रस–विवेचन मे शृगार आदि को **भरतमुनि** आदि के कम से ग्रहण नहीं किया गया है। [6] **चन्द्रालोक** [7] तथा **नाट्य दर्पण** [8] मे भी रसो के विभावादि का निरूपण किया गया है। यह सम्पूर्ण निरूपण प्राय **भरतमुनि** के ही समान है।

१ *निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रस ।*

—मम्मट, का० प्र०, ४/३५ का पूर्वार्द्ध।

२ *—द्रष्टव्य— ना० शा०, लोचन सहित, परिमल पब्लिकेशन, सम्पादक—आर० एस० नागर, १९८१, पृ० ३२९—३३०।*

३ *वस्तुतो रत्यादिकमुपजीव्य हर्षादेरिव तत्त्वज्ञानजनिर्वेदमुपजीव्य शमादिप्रवृत्तेः स एव स्थायी न शम ।*

—वामन झलकीकार, बाल—बोधिनी, पृ० ११८।

४ . . . *। अनित्यत्वादिनाशेषवस्तुनि सारता तु या।*
परमात्मस्वरूप वा तस्यालम्बनमिष्यते। पुण्याश्रमहरिक्षेत्र तीर्थरम्य वनादय ।।
महापुरूषसगाधास्तयोद्दीपनरूपिण ।

—विश्वनाथ, सा० द० ३/२४६—४८।

५ *—द्रष्टव्य— धनञ्जय, दशरूपक, ४/४६।*

६ *—द्रष्टव्य— वही ४/४७—८२।*

७ *—द्रष्टव्य, जयदेव, चन्द्रालोक, ६/४—१३।*

८ *—द्रष्टव्य, रामचन्द्र गुणचन्द्र, नाट्य—दर्पण, ३/१०—२०।*

रस-भेद

रस पर विचार करते हुए रस–सङ्ख्या के विषय मे आचार्यों के अभिमत पर विचार अपेक्षित है। **नाट्य शास्त्र** मे रस–सङ्ख्या आठ मानी गयी है। **भरतमुनि** ने इस प्रसङ्ग मे **आचार्य द्रुहिण** का नाम उल्लिखित किया हैं जिससे ज्ञात होता है कि **भरतमुनि** को यह सङ्ख्या परस्परा से प्राप्त हुई थी।[1]

आचार्य भरत के पश्चात् **दण्डी** ने भी आठ रसो का ही उल्लेख **काव्यादर्श** मे किया हैं [2] **दण्डी** तक रसो की आठ सङ्ख्या ही प्रचलित थी, परन्तु उनके कुछ समय पश्चात् ही **आचार्य उद्भट** ने स्पष्टत. नौ रसो को उल्लिखित किया इन्होने सर्वप्रथम शान्त की नवे रस के रूप मे स्थापना की है।[3]

यद्यपि **उद्भट** ने स्पष्टत नव रसो की गणना की थी तथापि **वामन** ने इस ओर कोई भी विचार प्रस्तुत नहीं किया उन्होने रस भेद या रस–सङ्ख्या का उल्लेख नहीं किया है।

आचार्य रूद्रट ने 'प्रेयान्' नामक नवीन रस की कल्पना की है तथा इसका स्थायी भाव 'स्नेह' माना है।[4] इस प्रकार **रूद्रट** ने भी सङ्ख्या वृद्धि करने का प्रयास किया हैं परन्तु उनका मत मान्य नहीं होगा। परवर्ती काल मे नहीं हुआ।

आचार्य रूद्रट के पश्चात् **ध्वनिकार आनन्दवर्धन** ने भी नौ रसो की ही चर्चा की है यद्यपि उन्होने विशेषत इस विषयपर कोई व्याख्यान नहीं दिया है तथापि उन्होने मात्र नौ रसो का ही उल्लेख किया है।

ध्वनिकार के पश्चात् **धनञ्जय** तथा **आचार्य अभिनव गुप्त** ने इस विषय पर विशेष रूपेण विचार किया है **आचार्य धनञ्जय** ने नाट्य मे आठ रसो की सम्भावना व्यक्त करते हुए भी काव्य मे नौ रसो की मान्यता का उल्लेख किया है इन्होने 'निर्वेद' नहीं वरन् 'शम' को शान्त रस का स्थायी भाव माना है। [5]

आचार्य अभिनव गुप्त ने दृढतापूर्वक काव्य मे नौ रसो की स्थापना को स्वीकार किया है।[6]

आचार्य भोज ने रस–सख्या वृद्धि को चरमसीमा तक पहुँचा दिया है। इन्होने शृगार आदि नौ रसो के अतिरिक्त प्रेयान् उदात तथा उद्धत नामक रसो की कल्पना की है। परन्तु **डॉ० राघवन्** ने कहा है कि **आचार्य भोज, रूद्रट** तथा उनके टीकाकार **नमिसाधु** के समान यह स्वीकार करते है कि स्थायी, सञ्चारी तथा सात्विक सभी भाव रसत्व को प्राप्त हो सकते है।[7]

---

१ *शृङ्गार हास्य करूण रौद्रवीरभयानका.।*
बीभत्साद्भुत सञ्जौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसा स्मृता ।।
एते ह्यष्टौ रसा प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना।
–भरतमुनि, ना० शा० ६/१६ तथा १७ का पूर्वार्द्ध।

२ *इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्त स्मृता गिराम्।*
–दण्डी, काव्यादर्श १/२९२।

३ *शृङ्गार हास्यकरूणरौद्रवीरभयानका । वीभत्साद्भुतशान्तश्चनवनाट्येरसा स्मृता. ।।*
–उद्भट, काव्यालकार, सार सग्रह ४/४।

४ *–रूद्रट, काव्यालकार १२/३।*

५ *–धनञ्जय, दशरूपक, ४/३५।*

६ *–एव त नवैव रसा ।*
–अभिनवगुप्त, अभिनवभारती, पृ०–३२०।

७ *–डॉ० राघवन्, द नम्बर ऑफ रसाज पृ १२४–१२५।*

आचार्य भोज के पश्चात् **हेमचन्द्र** तथा उनके शिष्य **रामचन्द्र–गुणचन्द्र** ने विशेष उल्लेखनीय कार्य इस क्षेत्र मे नहीं किया है। **आचार्य हेमचन्द्र** ने **आचार्य अभिनव गुप्त** के स्नेह, लौल्य तथा भक्ति रस विषयक मत का पुनर्कथन ही किया है। **रामचन्द्र–गुणचन्द्र** ने तीन अतिरिक्त रसो व्यसन दु ख तथा सुख का उल्लेख कर के भी इनको नौ रसो मे ही अन्तर्भुक्त करने की सम्भावना की चर्चा की है। **आचार्य मम्मट** ने भी नौ रसो को ही मान्यता प्रदान की है।[१]

आचार्य विश्वनाथ ने पूर्वाचार्यों द्वारा सम्मत नौ रसो को स्वीकार करते हुए एक नवीन 'वत्सल' रस को भी माना है।[२] इस प्रकार उन्होने दस रसो को स्वीकार किया है।

आचार्य भानुदत्त ने रसो का विशेष प्रकार से मौलिक विभाजन प्रस्तुत किया । उन्होंने लौकिक तथा अलौकिक रूप मे सर्वप्रथम रस को दो भागों में विभक्त किया है। अलौकिक रस के भी पुन तीन उपभेद किये–स्वाप्निक, मानोरथिक तथा औपनायिक। इनमे 'औपनायिक रस' ही काव्य रस है। **भानुदत्त** ने नौरसो के साथ, वात्सल्य, लौल्य तथा भक्ति को तो रस माना ही है इनके साथ ही दो नवीन रसों 'माया' व कार्पण्य का भी उल्लेख किया है।[३]

आचार्य भानुदत्त ने पूर्ववर्णित रसों की मान्यता को स्वीकार करते हुए नवीन रसो की उद्‌भावना की है। परन्तु वैष्णव **आचार्य रूप गोस्वामी** ने 'भक्ति' को ही एक मात्र रस मानकर इसी के आधार पर रसों का विभाजन किया है। उन्होंने शान्त, प्रीत, प्रेयान्,वत्सल तथा मधुर भक्ति रस को मुख्य तथा हास्य,अद्‌भुत, वीर, करूण,रौद्र,भयानक व वीभत्स रूप भक्तिरस को गौण रस माना है। इस प्रकार इन्होंने बारह रसो का उल्लेख किया हैं [४]

रूप गोस्वामी के पश्चात् रसों की सङ्ख्या वृद्‌धिपर आचार्यों का व्याख्यान प्राप्त नहीं होता हैं।**डॉ० राघवन** ने जैनों के अनुयोगद्वार सूत्र के आधार पर 'व्रीडनक' नामक रस का उल्लेख किया है। [५]

पण्डितराज जगन्नाथ ने रसों की सङ्ख्या वृद्‌धि करना समीचीन नहीं माना है। उनका विचार है कि **भरतमुनि** ने रसों की सख्या नियन्त्रित की है। इसलिए उनका अनुकरण करना ही उचित है। **पण्डितराज** ने भी रसों की नौ संख्या का प्रबल समर्थन किया है।[६]

इस प्रकार आचार्यो के विचार का अनुशीलन करने के पश्चात् यह सिद्‌ध होता है कि काव्य में नौ रसों की मान्यता ही समुचित है क्योंकि भावों की अनन्तता के आधार पर रसों की अनन्तता हो सकती है। इससे पर्याप्त अव्यवस्था हो जायेगी। विचार करके देखा जाये तो सर्व मान्य नौ रसों में ही अन्य रसों का अन्तर्भाव किया जा सकता है। अत- नौ सङ्ख्या मानना ही समीचीन है।

---

१ *–मम्मट का० प्र० ४/३५ का पूर्वादर्ध।*

२ *स्फुट [illegible] वत्सलं चरस विदु।*
–विश्वनाथ सा० द० ३/२५१।

३ *–भानुदत्त रसतरङ्गिणी, पृष्ठ १६१ (वेंकटेश्वर प्रेस १९७१ वि०)।*

४ *–रूप गोस्वामी भक्ति रसामृतसिन्धु, पृ० ३०६।*

५ *–डॉ० राघवन, द नम्बर ऑफ रसाज पृ० १४१।*

६ *रसानां नवत्वगणना च मुनिवचन नियन्त्रिता भज्येत, इतियथाशास्त्रमेव ज्याय-।*
–हि० र० गं० पृ० १७६।

मूलरस एवं एक रसवाद

काव्य–शास्त्र मे एक ओर रस के भेद–प्रभेदों की चर्चा प्राप्त होती है तो दूसरी ओर काव्यशास्त्रकारों ने एक मूल रस की कल्पना भी की है। इन आचार्यों ने एक रस को प्रधान मानकर अन्य रसो को उसी रस मे समाहित करने कि वा उसी रस से अन्य सभी रसो की उत्पत्ति को स्वीकार किया है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में इस विषय पर विचार भी अपेक्षित है।

सर्वप्रथम **आचार्य भवभूति** ने 'करूण' को एकमात्र रस कहकर एक रसवाद की कल्पना का सूत्रपात किया है। **भवभूति** का विचार है कि एक ही करूण रस निमित्त भेद से विभिन्न रूप धारण करता है, जिस प्रकार आवर्त, बुदबुद और तरङ्ग का रूप धारण करने पर भी जल अन्तत जल ही रहता है।[1] इस प्रकार कहा जा सकता है कि **भवभूति** के अनुसार करूण से सभी रस उत्पन्न होते हैं तथा करूण में ही समाहित होते है।

डा० नगेन्द्र ने इस प्रसङ्ग मे **उत्तररामचरितं** के टीकाकार **वीर राघव** के दो तर्कों का उल्लेख किया है।[2] वीर राधव का विचार है कि करूण ही मूल या एकमात्र प्रधान रस है क्योंकि जीवन में करूण का ही प्राचुर्य या अधिकता कि वा व्यापकता है तथा दूसरी बात यह कि रागी व विरागी दोनों ही करूण रस का अनुभव करते हैं जबकि श्रृङ्गारादि रसों का अनुभव केवल रागी व्यक्तियों को ही होता है।

विचारणीय हैं कि इष्ट का विनाश ही करूण का मूल कारण है। परन्तु **भवभूति** ने इष्ट या प्रिय व्यक्ति के नष्ट होने पर करूण रस की उत्पत्ति नहीं मानी है। इस प्रकार **आचार्य भवभूति** ने करूण का स्थायी भाव शोक न मानकर 'करूणा' माना है। यह करूणा सहृदयता का पर्याय हैं इसी व्यापक अर्थ में भवभूति ने करूण को मूल रस माना है।[3]

भवभूति के पश्चात् **आचार्य अभिनव गुप्त** ने 'शान्त' रस को मूल रस के रूप में स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इनके अनुसार शान्त रस का स्थायी भाव 'आत्मज्ञान' है। जो सासारिक विषय वासनाओ से से रहित शुद्ध व आनन्दरूप है।[4] वस्तुत शान्त रस का स्थायी भाव ही सभी रसों के रसत्व का मूल आधार है क्योंकि रसानन्द आत्मानन्द तुल्य है। प्रत्येक रस के रसतव का मूल आत्मानन्द या आत्मास्वाद है यही आत्मास्वाद एक प्रकार से शान्त रस का स्थायी भाव है।[5]

आचार्य अभिनव गुप्त ने तत्वज्ञान या आत्म ज्ञान को सभी रसों का स्थायी भाव मानकर इसे सर्वश्रेष्ठ स्थायी कहा है। उनका विचार है कि तत्वज्ञान रूप शान्त रस का स्थायीभाव अन्य सभी रसों के स्थायी भावों से अधिक स्थायी हैं रति इत्यादि स्थायी भाव इसी आत्मज्ञान रूप स्थायी भाव में व्यभिचरित हो जाते है।

---

१ *एको रस करूण एव निमित्तभेदादभिन्न पृथक्पृथगिवाश्रयतेविवर्तान्।*
आवर्त[illegible]दतरङ्गमर्यान्विकारानम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम्।।
–भवभूति, उ०रा०–३/४७।

२ *–डा० नगेन्द्र रस–सिद्धान्त पृ० ३५३–३५४।*

३ *–वही पृष्ठ ३५४।*

४ तेनात्मैवज्ञानानन्दादिविशुद्धधर्मयोगी परिकल्पित विषयो रहितोऽत्रस्थायी।
–अभिनव गुप्त, अभिनव भारती पृ०–३३१।

५ –तदेव, पृ० ३३४।

इसलिए यह निसर्गत या स्वभावत स्थायी भाव है।[1] यह भी **आचार्य अभिनव गुप्त** ने उल्लिखित किया है कि लौकिक तथा अलौकिक दोनो प्रकार की चित्तवृत्तियो का समुदाय तत्त्व ज्ञान रूप स्थायी का व्यभिचारी हो जाता है।[2]

आचार्य अभिनव गुप्त ने सभी रसो को शान्त रस मे समाहित कर दिया है। उल्लेखनीय है कि **आचार्य अभिनव गुप्त** ने इस प्रसङ्ग मे अपने मत की पुष्टि के लिए **नाट्य शास्त्र** की कारिका को प्रस्तुत किया है।[3] यह भी उल्लेख्य है कि **डा० नगेन्द्र** ने **नाट्य शास्त्र** के प्रस्तुत अश को प्रक्षिप्त माना है परन्तु इसे **अभिनव गुप्त** से पूर्व का स्वीकार किया है।[4]

निष्कर्षत कहा जा सकता हैं कि शान्त रस को मूल या एकमात्र रस मानने वाले **आचार्य अभिनव गुप्त** के अनुसार सभी अन्य रस तथा शान्त से ही उत्पन्न होते हैं तथ शान्त मे ही विलीन हो जाते हैं। अन्य रस शान्त रस का ही एक रूप है।

आचार्य भोजराज ने शृगार को ही एक मात्र रस स्वीकार किया है उनका अभिमत है कि प्राचीन आचार्यों ने दस रस–शृगार, वीर, करूण, अद्‌भुत, रौद्र, हास्य, वीभत्स, वत्सल, भयानक तथा शान्त की कल्पना की है परन्तु रसनीयता या रसास्वादन मात्र शृगार रस मे ही हैं इसलिए केवल शृगार को ही रस मानना समीचीन है।

आचार्य भोज ने अहकार को आत्मा का विशिष्ट गुण माना है। इसी अहकार को अभिमान शृगार तथा इसी को रस कहा है। रति हास आदि भाव स्वय रसत्व को प्राप्त नहीं करते अहकार ही अनुकूल परिस्थितियो में विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भाव के द्वारा आनन्दरूप में सम्वेद्य होकर रसत्व को प्राप्त करता है। रति हास इत्यादि भाव ही हैं वे शृगार से ही उत्पन्न होते है। ये सभी शृंगार की शोभावृद्धि मे सहायक होते है।[5] रति, हास आदि भाव, भाव ही हैं इसलिए ये रसत्व को प्राप्त नहीं करते । ये शृगार से उत्पन्न होकर उसके उत्कर्षक रूप में स्थित होते हैं इसलिए शृगार ही रस हैं अन्य कोई रस नहीं है क्योकि यही आस्वादनीय या

---

१ *तत्त्वज्ञानस्तु सकलभावान्तरभित्तिस्थानीय सर्वस्थायिभ्य. स्थायितम सर्वा रत्यादिका स्थायिचित्त वृत्तीर्व्यभिचारी भावयत् निसर्गत एव सिद्धस्थायिभावमिति।*
–तदेव, पृ०–३३१।

२ *तत्त्वज्ञानलक्षणस्य च स्थायिन समस्तोऽय लौकिकालौकिक चित्तवृत्तिकलापो व्यभिचारितामभ्येति।*
–तदेव, पृ०–३३२।

३ *स्व स्व निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते।*
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवप्रलीयते।।
इत्यादिना रसान्तर प्रकृतत्त्वमुपसहृतम्।
–तदेव, ३३५।

४ *रस–सिद्धान्त पृ०–२५३*

५ *शृगारवीर करूणाद्भुत रौद्र हास्य बीभत्सवत्सलभयानक शान्त नाम्न ।*
आम्नासिषुर्दश रसान्सुधियोवय तु शृगारमेव रसनाद्रसमामनाम ।।
–डा० नगेन्द्र, र० सि०, पृ०–२५७ पर उल्लिखित पाण्डुलिपि
(शृङ्गार, प्रकाश, खण्ड–१ पृ०–२, ३ डॉ० शङ्करमके ग्रन्थ से उद्धृत)।

रसनीय है। यही प्रकारान्तर से **भोज** का मत या विचार है। इन्होने शृगार को चतुर्वग का कारण माना है।[1]

भोज के समान ही **अग्निपुराण** मे शृगार को मूलरस के रूप मे मान्यता मिली है। **अग्निपुराणकार** भी अहङ्कार को आत्मा का विशिष्ट गुण मानते है। किन्तु **भोज** जहॉ अहङ्कार को अभिमान मानकर इसे ही शृगार व इसी को रस मानते हैं, वहॉ **अग्निपुराण्कार** अहङ्कार से अभिमान तथा अभिमान से रति की उत्पत्ति मानते है। इस प्रकार वे अहङ्कार तथा अभिमान मे और अभिमान तथा रति मे जन्य--जनकभाव सम्बन्ध मानते है।[2]

उल्लेखनीय है कि **भोजराज** ने रति को भी रस का आस्वादन कराने या रस की परिणति में असमर्थ माना हैं परन्तु **अग्निपुराण** मे रति को रस--परिणति मे समर्थ माना गया है। **अग्निपुराणकार** का विचार है विभावादि से पुष्ट रति ही शृगार का रूप धारण कर लेती हैं हास्य आदि रस इसके भेद हैं। तात्पर्य यह कि शृगार से ही हास्य आदि रस उत्पन्न होते हैं **अग्निपुराण** मे पद भी माना गया है कि सभी हास आदि स्थायी भावो का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भी है हास्य आदि रसों के पृथक्--पृथक् एक अपने स्वतन्त्र स्थायी भाव हैं। उनका अपना विशेष स्वरूप भी है परन्तु ये सभी शृगार के ही प्रकार हैं उनसे भिन्न नहीं हैं[3]

यद्यपि **भोजराज** व **अग्निपुराणकार** के मत में कुछ मत भेद है। परन्तु दोनो ही शृगार को मूल रस मानते हैं यह सिद्ध है।

आचार्य नारायण पण्डित ने अद्भुत को मूल रस माना है **आचार्य विश्वनाथ** ने पूर्ववर्ती **आचार्य धर्मदत्त** के कथन का उल्लेख किया है। जिसमे **आचार्य धर्मदत्त** ने **आचार्य नारायण पण्डित** का नाम उल्लिखित करके उनके अनुसार अद्भुत को मूल रस मानने का वर्णन किया है।[4]

आचार्य धर्मदत्त ने कहा है कि सभी स्थलों पर चमत्कार ही प्रधान रूप से प्रतीत होता है। चमत्कार या विस्मय रूप स्थायी भाव की प्रधानता या मुख्यतया प्रतीति होने के कारण सर्वत्र अद्भुत रस ही होता है। **नारायण पण्डित** का विचार है कि अद्भुत ही एकमात्र रस है।

---

१ क) त चात्मनोऽहङ्कार गुण विशेषं ब्रूम स शृङ्गारः सोऽभिमानः स रसः।
--भोजराज, शृ० प्र०, ख० २ पृ० ११, पृ० ३५६।

ख) रत्यादयः शृङ्गार प्रभवा इति। एकोनपञ्चाशत् भावा वीरादयो मिथ्यारस प्रवाद शृङ्गार एवैक चतुर्वर्गैककारणं स रस इति। भोजराज श्रृ० प्र० ख--१ पृ० २--३ डॉ० शङ्करन के ग्रन्थ से उद्धृत।

२ क) ततोऽभिमान।
--अग्निपुराण, ३/३ ।

ख) अभिमानाद्रति.. . . तदेव, ३/४।

३ तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः।
स्वस्वस्थायिविशेषोऽथ परिघोषस्वलक्षणा।।
--अग्निपुराण, ३/४।

४ तदाह धर्म दत्त स्वग्रन्थे
रसे सारश्चमत्कार सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतोरस
तस्माददभुतमेवाह कृती नारायण रसम्।
--विश्वनाथ सा० द० विमलाटीका, पृ०--४६।

केवल अद्भुत को मूल रस मानने का आधार 'चमत्कार' है। यहाँ 'चमत्कार' शब्द व्यापक अर्थ को समेटे हुए हैं चमत्कार का अर्थ निर्विघ्न आत्मप्रतीति, आत्मानन्द या आनन्द है। काव्यास्वाद या काव्यानन्द अन्य सासारिक आनन्दो से भिन्न होता है। इसलिए यह लोकोत्तर या अलौकिक होता ही है। इसी को दृष्टिगत करके सम्भवत इस सिद्धान्त की स्थापना हुई है।

इसके पश्चात् वैष्णव **आचार्य मधुसूदन** सरस्वती और रूप गोस्वामी आदि ने 'भक्ति' को ही मूल रस माना है। इनका मत है कि प्रधान या मूल रस भक्ति ही है।शृगारादि रस उसके समक्ष तुच्छ या क्षुद्र है। भक्ति ही पूर्णानन्दमय है।इन आचार्यों ने भक्ति रस को सूर्य तथा शृगारादि रसों को खद्योतवत् माना है।[1]

आचार्य रूप गोस्वामी हास आदि को 'हासरति विस्मय रति' आदि कहकर भगवद्रति का गौण भेद माना है। भक्ति रस के प्रकार के अन्तर्गत 'उज्ज्वल रस' ही प्रमुख रस है।

आचार्यों के मत का अनुशीलन करने के पश्चात् विचारणीय है कि **आचार्य अभिनव गुप्त** तथा **आचार्य भोज** आत्मज्ञान से रस को सम्बद्ध करके मूलरस की स्थापना करते हैं।दोनों ही आचार्यों मे मत में मात्र दृष्टिभेद है। उनकी मान्यता मे कोई भेद नहीं है। **भवभूति** ने भी प्राय. उस आत्मतत्व तक पहुँचने की प्रयत्न किया है।परन्तु उनका रसास्वाद सम्वेदना तक ही सीमित रह गया है अद्भुत रस को मूल रस मानने वाले **आचार्य नारायण पण्डित** तथा उनका अनुकरण करने वाले **आचार्य धर्मदत्त** ने भी 'कल्पना' को ही रस का मूलतत्त्व मानकर अद्भुत को प्रधान या मूल रस के रूप में स्थापित किया है।भक्ति रस को धार्मिक या आध्यात्मिक दृष्टि से मूल रस माना जा सकता हैं परन्तु काव्यशास्त्रीय दृष्टि से उसे मूल रस मानना समीचीन नहीं है। क्योकि काव्यशास्त्र में वर्णित रस का सम्बन्ध लोक जीवन से भी है।तात्पर्य यह कि काव्य–शास्त्र में निरूपित रस राग द्वेष आदि सभी भावनाओं से सम्बद्ध है, मात्र ईश्वर भक्ति से नहीं ।

इस प्रकार **आचार्य अभिनव** एव **भोज** का विचार अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण है। इन आचार्यों ने काव्यानन्द या रसानन्द को आत्मानन्द से सम्बद्ध करके मूल रस का विचार किया हैं

उल्लेखनीय है कि **आचार्य भरत** ने आठरसों मे शृगार, रौद्र, वीर, तथा बीभत्स इन चार रसों को प्रधान माना है। उनके अनुसार हास्यादि अन्य चार रस कमश शृगारादिरसो से उत्पन्न होते हैं। ये शृगादि के अनुगामी उनके कार्य रूप हैं।[2] **अभिनव गुप्त** इन चारों मुख्य रसों को धर्म कर्म काम और मोक्ष रूप पुरूषार्थ चतुष्टय से व्याप्त मानते हैं। किन्तु यहाँ इनमें कोई भी रस मोक्ष पुरूषार्थ से सम्बद्ध नहीं है। उसी प्रकार वीभत्स रस किस पुरूषार्थ से मुख्य रूप से सम्बद्ध है। इसका भी स्पष्टोल्लेख **अभिनव गुप्त** ने नहीं किया है। शृंगार रस काम–पुरूषार्थ से, रौद्र रस, अर्थ पुरूषार्थ से तथा वीर रस धर्म पुरूषार्थ से सम्बद्ध है। **अभिनव गुप्त** शान्त को भी पृथक् रूप से रस मानते हैं। वे इसे मूल रस के रूप मे स्वीकार भी करते हैं। अत मोक्ष

1. *परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यों भगवद्रति ।*
   खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभैव बलवक्तरा ।।
   —*मधुसूदन सरस्वती, भगवद् भक्ति रसायन २/७८।*

2. *शृङ्गारादि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करूणो रस ।*
   वीराच्चेवादभुतोत्पत्तिर्वीभत्साच्च भयानक ।
   शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्यस्तु प्रकीर्तित ।
   रौद्रस्यैव च यत् कर्म स ज्ञेय करूणो रस ।
   वीरस्यामि च यत्कर्म सोऽदभुत. परिकीर्तित ।
   बीभत्सदर्शन यच्च ज्ञेय स तु भयानक ।।
   —*भरतमुनि ना० शा० ६/३९–४२।*

पुरुषार्थ का सम्बन्ध उन्होने मुख्यरूप से इस शान्तरस के साथ जोडा हैं अत इनके अनुसार रति, कोध, उत्साह तथा निर्वेद स्थायीभावो की प्रधानता होती है।[1]

---

1 *तत्र पुरुषार्थनिष्ठा काश्चित् सविद इति प्रधानम्।*
तद्यथा रति [illegible]गधमार्थ निष्ठा।
कोधस्तत्प्रधानेष्वर्थनिष्ठ । कामधर्मपर्यवसितोऽप्युत्साह समस्तधर्मादिपर्यवसितस्तत्वज्ञान जनित निर्वेदप्रायोविभावो मोक्षोपाय अति तावदेषां प्राधान्यम्।
—अभिनव गुप्त, अ० भा०, भाग पृ० २८२।

विरोधी तथा अविरोधी रस व उनका परिहार

काव्य मे विरोधी तथा अविरोधी रसो का विचारपूर्वक अर्थात् विवेकपूर्वक निवेशन न होने पर रसास्वाद या रसानन्द की पूर्णपरिणति नहीं हो पाती है। प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के सन्दर्भ मे विचारणीय है कि विरोधी तथा अविरोधी रसो के विषय मे काव्यशास्त्रकारो के क्या विचार है? तात्पर्य यह कि काव्य–शास्त्रकारों ने किन रसो को परस्पर विरोधी तथा किनको अविरोधी कहा है? तथा रसो के विरोध का आधार या आश्रय क्या है? यहाँ यह भी विचारणीय है परस्पर विरूद्ध रसो का परिहार कैसे हो सकता है? अथवा परस्पर विरोधी रसों को किस प्रकार वर्णित या सयोजित किया जाय कि दोष उपस्थित न हो?

रसो के विरोध तथा अविरोध का स्पष्ट विवेचन सर्वप्रथम **आचार्य आनन्द वर्धन** ने किया है **ध्वनिकार** ने रस के विरोधी तत्त्वो की गणना करते समय सर्वप्रथम विरोधी रस सम्बद्ध विभावादि परिग्रह का उल्लेख किया था। इस प्रसङ्ग मे इन्होने कतिपय विरूद्ध रसो को वर्णित किया है।

ध्वनिकार ने **ध्वन्यालोक** के तृतीय उद्योत में रसानुभूति के बाधक तत्वो को उल्लिखित करते हुए उनके परिहार का भी विवेचन किया है तथा उनके परिहार के प्रसङ्ग में इसका विस्तृत विवेचन किया जायेगा। यहाँ प्रसङ्गानुकूल सङ्क्षेप मे उन पर विचार किया जाना समीचीन प्रतीत होता है।

ध्वनिकार के रसभङ्ग सम्बन्धी विवेचन के आधार पर ज्ञात होता है कि शृंगार रस का शान्त, रौद्र व करूण से विरोध है अर्थात् शान्त, रौद्र व करूण रस शृगार रस के विरोधी रस है।[1] **आचार्य आनन्द** ने रस–विरोध के आधार पर भी विचार किया हैं इन्होने रस–विरोध के तीन आधारों का उल्लेख किया है। आलम्बन ऐक्य, आश्रय ऐक्य तथा नैरन्तर्य। उदाहरणार्थ शृगार तथा शान्त का आलम्बन तथा आश्रय की एकता से और नैरन्तर्य से इन समी से विरोध होता है, शृगार और रौद्र रस का तथा शृगार व करूण का आलम्बन–ऐक्य से विरोध होता है।

रस–विरोध का परिहार करते हुए **ध्वनिकार** ने कई उपायों की चर्चा की है जिसमे एकाश्रयादि उपर्युक्त विरोधों को दूर करने के उपायभी निर्दशित किये हैं। **ध्वनिकार** का विचार है कि आश्रय से **विरोधी रसो को भिन्न आश्रय में सन्निविष्ट कर देना चाहिए तथा नैरन्तर्य से विरोधी रसों के मध्य दोनों के** अविरोधी रस का वर्णन करने से रस–विरोध दूर हो जाता है।[2] रस दोष परिहार प्रकरण मे इस पर सविस्तार विचार किया जायेगा।अत. यहाँ सङ्केत मात्र किया जा रहा है।

विरोधी रसों का काव्य में किस प्रकारसामञ्जस्य स्थापित किया जाय इस विषय पर **आचार्य आनन्दवर्धन** यह भी कहते हैं कि यदि अभीष्ट रस परिपुष्ट हो चुका है तो उसके उपरान्त विरोधी रस का बाध्यत्व रूप मे या अङ्ग रूप मे ग्रहण करने पर दोष उपस्थित नहीं होता है।[3] इन्होंने स्मृति रूप मे वर्णित किये गये विरोधी रस के ग्रहण को भी दोष पूर्ण नहीं माना है।[4]

---

१ क) *शान्तरस विभावेषु तद्विभावतयैवनिरूपितेष्वनन्तरमेव शृंगारादिविभाववर्णने*

ख) *विरोधी रसानुभाव परिग्रहो यथा प्रणय कुपितायाप्रियायामप्रसीदयन्त्यां नायकस्य कोपावेशविवशस्य रौद्रानुभाव वर्णने–*

ग) *तदङ्गत्वे च सम्भवत्यपि मरण स्योपन्यासो न ज्यायान्–करूणस्य तु तथाविधे विषये परिपोषो भाविष्यतीति चेत् न।*

–हिन्दी, ध्वन्यालोक, विश्वेश्वर, पृ० २१३, २१४ तथा २२०।

२ *–आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक ३/२५–२६।*

३ *–तदेव ३/२०।*

४ *–तदेव ३/२० की वृत्ति।*

आचार्य मम्मट ने सङ्क्षिप्त व सारगर्भित रूप से रस के विरोधी तथा अविराधी तत्त्वों को निर्देशन करते हुए **आनन्दवर्धन** का ही अनुकरण किया है।

आचार्य मम्मट के पश्चात् **आचार्य विश्वनाथ** तथा **जगन्नाथ** ने परस्पर विरोधी तथा अविरोधी रसों पर विशेषत विचार प्रस्तुत किया है। यद्यपि इनका यह निरूपण **आचार्य मम्मट** से प्रभावित हैं।परन्तु इन आचार्यों ने स्पष्टत विरोधी एव अविरोधी रसो का निर्देशन किया है। इन आचार्यों का मत द्रष्टव्य है।

आचार्य विश्वनाथ ने करूण, बीभत्स, रौद्र वीर तथा भयानक को शृगार रस का विरोधी, भयानक तथा करूण को हास्य रस का विरोधी, हास्य तथा शृगार को करूण–रस–विरोधी हास्य शृङ्गार तथा भयानक को रौद्र–रस–विरोधी भयानक रस का विरोधी भयानक तथा शान्त को वीर रस–विरोधी, शृङ्गार को बीभत्स रस–विरोधी तथा वीर, शृगार, रौद्र, हास्य व भयानक को शान्त रस विरोधी बताया है।[1]

उल्लेखनीय है **आचार्य विश्वनाथ** ने अद्भुत रस को किसी रस का विरोधी नहीं माना है सम्भवत अपने प्रपितामह **नारायण पण्डित** के समान **आचार्य विश्वनाथ** भी अद्भुत को प्रधान रस मानने के पक्षधर थे। जैसे कि एक रसवाद शीर्षक के अन्तर्गत **नारायण पण्डित** का मत उल्लिखित है।

आचार्य विश्वनाथ ने रस–विरोध के आधार [2] का भी उल्लेख किया है।इन्होने भी एक आलम्बन व एक आश्रय में विरोधी रसो के सन्निवेश को दोष पूर्ण माना है इसके अतिरिक्त व्यवधान रहित रूप मे विरोधी रसो के ग्रहरण को भी दोषपूर्ण माना है।

आचार्य विश्वनाथ ने पूर्वाचार्यों के आधार पर आलम्बन आश्रय तथा नैरन्तर्य से विरोधी रसो की गणना की है। शृगार तथा वीर का , हास्य, रौद्र तथा बीभत्स के साथ संयोग–शृगार का वीर, करूण, रौद्र और भयानक के साथ विप्रलम्भ शृगार का आलम्बन ऐक्य से विरोध होता हैं।वीर तथा भयानक रस का एक आश्रय मे विरोध होता हैं तथा शान्त व शृगार रस का नैरन्तर्य से विरोध होता है[2]। मित्र रसों के विषय में उन्होने कहा है कि वीर, अद्भुत तथा रौद्र का शृगार तथा अद्भुत का भयानक तथा बीभत्स का परस्पर मैत्री–भाव होता है। ये रस आलम्बनैक्य, आश्रयैक्य तथा नैरन्तर्य से विरोधी नहीं होता हैं इसमें परस्पर अविरोध ही होता है।[3]

आचार्य जगन्नाथ ने भी विरोधी तथा अविरोधी रसों का निरूपण किया हैं इनके अनुसार शृंगार और बीभत्स, शृगार और करूण वीर और भयानक, शान्त और रौद्र तथा शान्त और शृंगार परस्पर विरोधी रस हैं मित्र रसों का उल्लेख करते हुए इन्होंने वीर तथा शृगार, शृगार और हास्य, वीर और अद्भुत वीर और रौद्र तथा शृगार और अद्भुत को परस्पर मित्र रस कहा है।[4]

आचार्य विश्वनाथ तथा **पण्डितराज** का मत प्रायः समान ही है। **आचार्य विश्वनाथ** ने विस्तृत रूप से तथा **पण्डितराज जगन्नाथ** ने सङ्क्षिप्त रूप से इनका उल्लेख किया है।

काव्यशास्त्रों में परस्पर विरोधी रसो का निरूपण किया गया है। तथा उनके विरोध का किस प्रकार परिहार किया जा सकता हैं इस पर भी विचार किया गया है। यदि विरूद्ध रसो का सन्निवेश एक साथ विचार पूर्वक नहीं किया जाता तो काव्य दोष–युक्त हो जाता है।

---

१ *–विश्वनाथ, साहित्य–दर्पण (शिवालय, सन् १९५८) पृ० १२३–१२४।*

२ *–विश्वनाथ सा० द० (विमला टीका, सन् १९५६) पृ० २६२।*

३ *–वही पृ० २६३।*

४ *–जगन्नाथ रसगङ्गाधार (हिन्दी अनुवाद चौरम्बा विद्याभवन) प्रथम आनन, पृ० १७६।*

रसो के परस्पर विरोध के तीन आधार बताये गये है। आलम्बन के ऐक्य से, आश्रय के ऐक्यसे तथा निरन्तरता से । उदाहरणार्थ आलम्बन की एकता से सयोग शृगार का हास्य, रौद्र तथा वीभत्स से तथा विप्रलम्भ शृगार का वीर, करूण रौद्र तथा वीभत्स से विरोध नैरन्तर्य से शान्त शृगार रस का विरोध होता है। इनके विरोध का परिहार रसो के परस्पर विरोध को ध्यान मे रखकर काव्य–निबन्धन से हो जाता है। अन्यथा विरोधी रसोको एक ही आलम्बन मे निबद्ध नहीं करना चाहिए आश्रय की एकता से विरूद्ध रसो का भिन्न–भिन्न आश्रयो मे निबद्ध नहीं करना चाहिए, आश्रय की एकता से विरूद्ध रषो के मध्य किसी अविरोधी रस का नियोजन करना चाहिए।[1] **आचार्य मम्मट** ने रसो के परस्पर विरोध भाव को दूर न करने के लिए विरोधी रसो का स्मरणात्मक वर्णन, समकक्ष समान रूप से महत्त्वपूर्ण गौण या प्रधान रूप से नहीं रूप मे वर्णन करने तथा अङ्गाङ्गी भाव मे वर्णन न करने का निर्देश दिया है।[2] **भरतमुनि** ने भी विभिन्न रसो के एक साथ प्रयोग मे पर्याप्त प्रयत्न की बात कही है।[3] तात्पर्य यह है कि यदि सावधानी पूर्वक रसो का निबन्धन किया जाये तो वे आह्लादक ही होते हैं।

इस प्रकार तृतीय अध्याय मे रस के स्वरूप, विभावादि रससामग्री, रस–भेद, मूल रस तथा एक रसवाद आदि शीर्षको मे रस पर विचार करते हुए रस–दोषो की उत्थान भूमिका विरूद्ध रस और उनके परिहार मे परिलक्षित होने लगती है। इसलिए प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के अग्रिम अध्यायों में रस–दोष पर विस्तार पूर्वक चर्चा की जायेगी।

---

१ *–आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, ३/२५–२६।*

२ *स्मर्यमाणो विरूद्धेऽपि साम्येनाथ विवक्षित ।*
अङ्गिन्यङ्त्वमापन्नौ तौ न दुष्टौ परस्परम्।।
–मम्मट काव्य–प्रकाश ७/६५।

३ *चित्राणि न निरज्यन्ते लोके चित्र हि दुर्लभम्।*
विमर्दे रागमायाति प्रयुक्त मपि यत्नत ।।
–भरतमुनि नाट्य–शास्त्र, ७/१२४।

चतुर्थ अध्याय : रस-दोष

रस-दोष का स्वरूप

रस-दोष का स्रोत

रस-दोष का विकास एवं विभाजन

रस-दोष का स्वरूप

काव्य मे रसानुकूलता का उल्लेख **नाट्य-शास्त्र** से ही वर्णित होता रहा है। विभावादि के उचित रूप मे सन्निवेश का सकेत भी **नाट्य-शास्त्र** से ही प्राप्त होने लगता है। इससे रस के साक्षात् सम्बद्ध तत्त्वो का उचित सन्निवेश रस के उत्कर्ष के लिए अत्यन्त आवश्यक है यह स्पष्ट ही है।

रूद्रट ने सर्वप्रथम स्पष्टरूप से उल्लेख किया है कि कुछ तत्त्व ऐसे हैं,जिनका प्रयोग करने पर प्रत्यक्ष रूप से रस अपकर्ष को प्राप्त करता है।[1] उनके पश्चात् **आचार्य आनन्द वर्धन** ने भी रस विरोधी तत्त्वो के रूप मे ऐसी स्थितियो का उल्लेख किया जो रस को तत्काल अपकर्षित करने वाली थी।[2] इसी पूर्वपीठिका पर

आचार्य मम्मट ने रस के साक्षात् या प्रत्यक्ष अपकर्षक तत्त्वो को 'रस-दोष' नाम से ग्रहण किया है।[3] इस प्रकार काव्यात्मा रस की साक्षात् हानि करने वाले अथवा प्रत्यक्ष रूप से तत्काल ही रस को अपकर्षित करने वाले दोष ही रस-दोष हैं, यह निर्धारित होता है।

---

१ . . .. *तथैव वैरस्यमायाति।*

— रूद्रट, काव्या० ११/१४।

२ *रसस्य स्याद् विरोधाय .... ।*

— आनन्द वर्धन, ध्वन्या० ३/१९।

३ . . . . *रसे दोषा स्युरीदृशा ।*

—मम्मट, का० प्र०, ७/६२।

रस-दोष का स्रोत

रस–दोष का अस्फुट सकेत हमे **ऋग्वेद** से ही प्राप्त होने लगता है। **ऋग्वेद** के **यम–यमी सूक्त** मे शृगार रस का उद्वेजक स्थिति मे वर्णन हुआ है।[1] **नाट्य–शास्त्र** मे वृत्ति तथा प्रवृत्ति की रसानुकूलता का वर्णन है। जिससे व्यक्त होता है कि इनके अन्यथा रूप मे वर्णित होने पर रस का अपकर्ष होगा। **भामह** आदि आचार्यों ने भी देश–काल–वय आदि के विपरीत वर्णन को दोषावह माना है।[2] **उद्भट** के रसवत् अलंकार में भी रस–दोष का सकेत प्राप्त होता है।[3] इस प्रकार वैदिक काल से **उद्भट** पर्यन्त रस–दोष अस्फुट रूप में लक्षित होता है, यह कहा जा सकता है।

काव्य शास्त्रीय दृष्टि से स्फुट रूप मे रस–दोष का स्रोत **रूद्रट** निरूपित 'विरस' दोष मे प्राप्त होता है।[4] **रूद्रट** ने 'विरस' में स्पष्ट रूप से रस हानि की चर्चा की है। अत **रूद्रट** के 'विरस' दोष को रस–दोष का स्रोत मानना उचित प्रतीत होता है।

---

१ *–द्रष्टव्य ऋग्वेद, १०/१०।*

२ *–भामह, काव्या० ४/२६–४६।*

३ *स्वशब्द स्थायिसचारिविभावाभिमयास्पदम्।।*
–उद्भट, का०सा०स, ४/3 का उत्तरार्ध।

४ *अन्यस्य य· प्रसङ्गे रसस्य निपतेद्रस कमापेत।*
विरसोऽसौ स च शक्य सम्यग्ज्ञातु प्रबन्धेम्य·।।
तव वनवासोऽनुचित पितृमरणशुच विमुञ्च कि तपसा।
सफलय यौवनमेतत्सममनुरक्तेन सुतनु मया।।
य· सावसरोऽपि रसे निरन्तरं नीयते प्रबन्धेषु।
अतिमहतीं वृद्धिमसौ तथैव वैरस्य मायाति।।
–रूद्रट, काव्या० ११/१२–१४।

रस–दोष का विकास एवं विभाजन

रस–दोष के विकास तथा विभाजन पर विचार करते हुए **रूद्रट** से लेकर [illegible] **जगन्नाथ** तक प्रतिपादित रस–दोषो के विकास पर विचार करने से पूर्व उनके विभाजन पर दृष्टिपात अनिवार्य है। **आचार्य आनन्द वर्धन** ने जिन रस–विरोधी तत्त्वो का उल्लेख किया तथा जिन्हे **आचार्य मम्मट** ने रस–दोष माना है। वे रस–दोष कविकृत रस–दोष हैं क्योकि, कवि काव्य रचना करते समय जब रसास्वादन के साक्षात् विघातक तत्त्वो पर ध्यान नहीं देता तो स्वशब्द वाच्यतादि रस–दोष उपस्थित हो जाते हैं।

अभिनव गुप्त ने **नाट्य–शास्त्र** के षष्ठ अध्याय में विवेचित रस–प्रकरण की व्याख्या करते हुए सहृदय की रसानुभूति के बाधक अन्य दोषों का भी उल्लेख किया है जो कविगत नहीं वरन् सहृदयगत हैं क्योकि काव्य–रचना उत्तम होने पर भी तात्कालिक परिस्थितियों के कारण सहृदय को कभी–कभी रसानुभूति नहीं हो पाती। जैसे काव्य के आस्वादन के समय उसके अपने सुख-दुख या नाट्य की अभिनेयता मे न्यूनता आदि से भी रस की अनुभूति बाधित होती है। ये दोष साक्षात् रस के अपकर्षक होने के कारण रस–दोषों में ही परिगणित होने योग्य हैं।

उपर्युक्त रस–दोषों के अतिरिक्त काव्य–घटकों–गुण, रीति, वृत्ति प्रवृत्ति तथा अलकार में भी रस–दोषों का संकेत प्राप्त होता है। जिसे कहीं पदगत आदि वर्गों में परिगणित कर लिया गया है, कहीं उन्हें अलकार दोष कह दिया है। परन्तु मेरे विचार से इन दोषों को भी रसगत दोषों में ही परिगणित करना चाहिए क्योकि विचार करने पर ये दोष रस दोषो से सम्बद्ध प्रतीत होते है।

इस प्रकार रसगत दोषों के दो वर्ग हो जाते है – प्रथम – **कवि तथा सहृदयगत रस–दोष** तथा द्वितीय–**गुणादिगत रस–दोष**।

रस–दोषों के विकास पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि **आचार्य अभिनव गुप्त** द्वारा प्रतिपादित सहृदयगत रस–दोष परवर्ती आचार्यों द्वारा विकसित नहीं किये गये इसलिए वह मात्र **नाट्य–शास्त्र** की व्याख्या रूप ही रहा है। परवर्ती काव्य–शास्त्र में उसकी गणना रस–दोषों ने नहीं की गयी है।

गुणादि दोषों में गुण तथा रीतिगत दोषों का विकास पदगत आदि दोषों के साथ, वृत्ति तथा प्रवृत्ति गत रस–दोषों का विकास कविगत रस–दोषों के साथ हुआ है। अलंकारगत रस–दोष, रस से सम्बद्ध अलकारों में प्रतिपादित दोषों के साथ विकसित हुए हैं। प्रस्तुत स्थल पर विशेषतः कविगत रस–दोषों के विकास एव विभाजन पर विचार किया जायेगा।

काव्य में रस को प्रधान तत्त्व के रूप में स्थापित करने वाले **भरतमुनि** ही हैं। किन्तु रसको आत्मतत्त्व मानकर काव्य में उसकी प्रधानता को प्रतिस्थापित करने का श्रेय ध्वनिवादी आचार्यों को प्राप्त होता हैं। दोषों को रस के साथ सम्बद्ध करने का प्रथम प्रयास इन्हीं ध्वनिवादी आचार्यों द्वारा किया गया है।

आनन्दवर्धन ने रस के साक्षात् अपकर्षक दोषों का निरूपण किया है। किन्तु इन्होने इसे रसानुभूति के बाधक तत्त्व कहा है। **मम्मट** ने सूक्ष्म दृष्टि से विचार करके इन दोषों को रस–दोष की संज्ञा प्रदान की है।

आनन्दवर्धन ने अनौचित्य को रसभङ्ग का प्रमुख कारण स्वीकार किया है।[1] इसी सन्दर्भ मे इन्होंने रसानुभूति में बाधक पांच तत्त्वो पर गम्भीरता से विचार किया है। वे हैं-विरोधी रस के विभावादि का ग्रहण,

---

१. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्यकारणम्।
प्रसिद्धौचित्य बन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।।
—आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३/१४ की वृत्ति।

प्रधान से किञ्चित् सम्बद्ध अप्रधान का विस्तार पूर्वक वर्णन, अनवसर मे रस का विच्छेद, अनवसर मे रस का प्रकाशन तथा वृत्ति का अनौचित्य।[1] इनके द्वारा उल्लिखित रस–विघातक तत्त्व साक्षात् रूप से रस के अपकर्षक या अपघातक हैं। अत यह कहा जा सकता है कि स्पष्टत न कहकर भी **आनन्दवर्धन** ने साक्षात् रसापकर्षक तत्त्वों को रस–दोष माना है। **आनन्दवर्धन** रसास्वादन को काव्य मे सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। इस आधार पर यह माना जा सकता है कि इनके द्वारा प्रतिपादित रसानन्द या रसास्वादन अथवा रसाह्लाद के बाधक या अपघातक तत्त्व ही काव्य मे परम हेय या त्याज्य कि वा गर्हित हैं। **मम्मट** ने ध्वनिकार के मत को ही परिष्कृत रूप प्रदान करके अपना रस–दोष विवेचन प्रस्तुत किया है।

रस–दोष पर विचार करते समय महिम भट्ट का दोष–विवेचन भी अपना विशिष्ट स्थान रखता है। **व्यक्ति विवेक** के द्वितीय विमर्श में इन्होंने दोषों का प्रतिपादन किया है। इन्होंने दोषों के अर्थगत तथा शब्दगत नामक दो भेद किये हैं [2] इस वर्गीकरण को स्फुटतया प्रकट करने के लिए पुन: इन दोषो को कमश अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग कहा है।[3]

महिमभट्ट द्वारा निरूपित अन्तरङ्ग दोष काव्यस्थ रस मे विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी भावो का अनुचित सन्निवेश करने पर उत्पन्न होता है यह अर्थगत या अर्थ सम्बद्ध है। [4] रस–दोष के समान ही है **महिमभट्ट** ने इन दोषो को अर्थगत माना। इस प्रकार इन्होंने रस–दोषों को अर्थगत या अर्थ सम्बद्ध माना है। अन्तरङ्गदोष को साक्षात् तथा बहिरङ्गदोषो को परम्परया रसानुभुति का बाधक स्वीकार किया है।

रसानुभूति के साक्षात् बाधक तत्व को अन्तरङ्ग नाम देकर वस्तुत. **महिमभट्ट** ने अपनी मौलिकता तथा सूक्ष्मदृष्टि का परिचय दिया है। यद्यपि रस को काव्य की आत्मा मानकर उस आत्मभूत रस को एक प्रकार से अन्तरङ्ग ही माना है। फिर भी अन्तरङ्ग शब्द का प्रयोग करके सुस्पष्टतया दोष के एक वर्ग के रूप मे उसका उल्लेख करना **महिभट्ट** का महत्वपूर्ण योगदान माना जा सकता है। शब्दगत या शब्द

---

१. *विरोधिरससम्बन्धि वि[illegible]*
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्यवर्णनम्।
अकाण्डे एव वि[illegible]ण्डे च प्रकाशनम्।
रसस्य स्याद् विरोधाय वृत्यनौचित्य मेव च।।
–तदेव ३/१७,१८,१९।

२ *इह खलु द्विविधम[illegible]क्तम् अर्थ विषय शब्दविषय चेति।*
–हिन्दी व्यक्ति विवेक पृष्ठ १७६।

३ *अन्तरङ्ग बहिरङ्ग [illegible]साक्षात् [illegible] रसभङ्ग हेतुत्वदिष्ट।*
–हिन्दी व्यक्ति विवेक, पृ० १८२।

४. *तत्र [illegible]भावानुभाव व्यभिचारीणामयथायथं रसेषु यो विनियोगस्तन्मात्रलक्षणमेकमन्तरङ्गम्।*
–हिन्दी व्यक्ति–विवेक, पृ० १८२।

निरूपित दोषो से काव्य के वाह्यपक्ष मे स्थित दोष उद्घाटित होते हैं, तथा अर्थगत दोषो द्वारा काव्य के अन्त पक्ष या आत्मतत्व को दूषित करने वाले दोष उद्घाटित होते हैं। इस प्रकार का वर्गीकरण करके **महिमभट्ट** ने काव्य के अन्य दोषो को एक साथ तथा रस–दोषो को एक ओर रख दिया है। ऐसा पार्थक्य भी अन्तरङ्ग दोषो का अन्य–दोषो की अपेक्षा हेयत्व या अपकर्षत्व प्रकट करता है। अन्तरङ्ग दोषो का निरूपण पूर्ववर्ती **आचार्य आनन्दवर्धन** ने किया है। इसलिए **महिमभट्ट** ने अर्थगत अन्तरङ्ग दोषो का लक्षण प्रस्तुत करके भी उनका विशेष विवेचन नहीं किया है।[1] **महिमभट्ट** ने रस–दोषो का ज्ञान होते हुए भी उनपर गहनता तथा विस्तार पूर्वक विचार नहीं किया क्योकि उनके विचार से पूर्ववर्ती **आनन्दवर्धन** का इस विषय में विवेचन पर्याप्त विशद तथा पूर्ण था। यदि इस विषय मे **महिमभट्ट** की दृष्टि व्यापक होती तो वे **ध्वनिकार** के द्वारा प्रतिपादित किन्तु अव्यवस्थित विवेचन को व्यवस्थित करने का कार्य कर सकते थे।

सर्वप्रथम रस–दोषो को अर्थ–दोषों से पृथक् करके विशेष रूप से उनका प्रतिपादन करने का श्रेय **मम्मट** को प्राप्त है। **मम्मट** ने विशेषत रस पर आश्रित दोषो का पृथक् रूप से निरूपण किया है। इन्होने रस–दोषो को अर्थ–दोषो मे समाहित नहीं किया।

आचार्य आनन्दवर्धन ने जिन्हे रसभङ्ग का कारक माना तथा **महिमभट्ट** मे जिन्हे अन्तरङ्ग या अर्थगत दोष माना है।

काव्य–दोषो मे साक्षात् रस के अपकर्षक तत्त्वो को रस–दोष मानते हुए **मम्मट** ने शब्द तथा अर्थगत दोषो की अपेक्षा रसगत दोषो की प्रधानत हेयता को भी व्यक्त किया है। इन्होने दस रस दोषो का निरूपण करके कहा है कि इसी प्रकार अन्य भी रस–दोष हो सकते हैं। इस प्रकार इन्होने रस–दोषो की सख्या निश्चित नहीं की है।[2]

काव्य के सन्दर्भ मे रस प्रधान है। इससे गौणतर अर्थ है तथा अर्थ की अपेक्षा शब्द गौण है। इसी प्रकार दोष की अवधारणा मे प्रधान रूपेण रस–सम्बद्ध दोष अर्थात् रस–दोष प्रधानतया हेय या त्याज्य हैं। रस–दोषो की अपेक्षा कमश अर्थगत तथा शब्दगत दोष अल्प हेय हैं। वस्तुत प्रधानतत्व ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है। उसी प्रकार काव्यज्ञ की रसानुभूति मे सर्वाधिक बाधक तत्त्व ही प्रधानतः त्याज्य हैं।
यदि किसी खाद्य वस्तु में लवण या मिर्च आदि तत्त्वों की न्यूनता या अधिकता हो जाय तो उसे अधिक मात्रा में न खाकर अल्प मात्रा में खाया जा सकता हैं तात्पर्य यह कि उस खाद्य वस्तु को रूचिपूर्ण ढग से नही खाया जा सकता है। मात्र थोडा सा खाया जा सकता है परन्तु यदि किसी खाद्य वस्तु में ककण या बालू मिल जाय तो उसे किञ्चित् मात्रा में भी खाया नहीं जा सकता है। इसी प्रकार अर्थगत तथा शब्दगत दोष तो किञ्चित् क्षम्य भी हैं किन्तु रसगत दोष पूर्णत अक्षम्य है। काव्यज्ञ विद्वान् को उनकी अल्प मात्रा भी अरूचिकर प्रतीत होती है।

विश्वनाथ ने स्पष्टतया रस–दोषो का स्वरूप प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि जिस प्रकार मूर्खत्वादि साक्षात् रूप से आत्मा का अपकर्ष सूचित करते हैं। उसी प्रकार व्यभिचारी आदि की स्वशब्दवाच्यता आदि दोष काव्यात्मा रस का साक्षात् अपकर्ष करते हैं।[3]

---

१ *आद्यैरेवोक्तमिति नेह प्रतन्यते।*
–वही, पृ० १८२।

२ *व्यभिचारि–रस–स्थायीभावानां शब्दवाच्यता। कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावो विभावयोः।।*
प्रतिकूल विभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः। अकाण्डे प्रथनच्छेदौ अङ्गस्याप्यतिविस्तृति ।।
अङ्गिनोऽननुसधानं प्रकृतीनां विपर्यय। अनङ्गस्याभिधान च रसे दोषाःस्युरीदृशाः।।

३ *व्यभिचारिभावादे स्वशब्दवाच्यत्वादयो मूर्खत्वादय इव साक्षात्काव्यस्यात्मभूतं रसमपकर्षयन्त।*
–विश्वनाथ, सा० द० १/३ की वृत्ति।

विश्वनाथ ने **मम्मट** के विचार को स्फुटतया प्रकट किया है। इन्होने भी श्रुतिकटुत्व आदि शब्दाश्रित तथा अपुष्टार्थत्वादि अर्थाश्रित दोषों की अपेक्षा रसाश्रित दोषो की हेयता का प्रतिपादन किया है।

विश्वनाथ ने कहा है कि श्रुतिदुष्ट तथा अपुष्टार्थ आदि–दोष काणत्व तथा खञ्जत्वादि दोषो के समान होते हैं। जिस प्रकार काणत्वादि दोष शरीर को दूषित करते हुए उसके द्वारा उसमे रहने वाले आत्मा की हीनता को सूचित करते हैं उसी प्रकार श्रुतिदुष्ट आदि दोष काव्य के शरीर भूत शब्दार्थ को अपकर्षित करते हुए काव्यात्मा रस का अपकर्षण करते हैं।

रस–दोष किसी माध्यम द्वारा नहीं अपितु साक्षात् रूपेण रस का अपकर्षकरते हैं। इसलिए वे शब्दगत तथा अर्थगत दोषो की तुलना मे अधिक त्याज्य हैं।

रस–दोषो की परमहेयता को प्रकट करने के लिए **विश्वनाथ** ने सप्तम परिच्छेद में 'रस के अपकर्ष दोष हैं' ऐसा कहकर दोष का स्वरूप प्रस्तुत किया है। दोषों से काव्यात्मभूत रस का अपकर्षण होता है। यह तो सामान्य बात है किन्तु साक्षात् रूप से तत्काल ही काव्यज्ञ के रसास्वादन में बाधक तत्व अपेक्षाकृत अधिक त्याज्य हैं, इसे **विश्वनाथ** ने भी व्यक्त करने का प्रयास किया है। **विश्वनाथ** ने **मम्मट** निरूपित रस–दोषों अतिरिक्त एक नवीन रस–दोष 'अर्थानौचित्य' की कल्पना की है।

आचार्य [illegible] के मत पर विचार करने से ज्ञात होता है कि इन्होने **मम्मट** का ही समर्थन करते हुए अपना विचार प्रस्तुत किया है।यह उल्लेखनीय है कि **मम्मट** की अपेक्षा इन्होंने स्पष्टत अपना विचार तथा सहमति प्रस्तुत की है।

आचार्य विश्वनाथ के पश्चात् **पण्डितराज जगन्नाथ** ने रस–दोषो का निरूपण किया है। दोष पर विस्तृतरूपेण विचार करते हुए [illegible] ने मात्र रस–दोषों का ही प्रतिपादन किया है। पूर्वाचार्यों ने रस–दोष के स्वरूप निरूपण पर विशेष ध्यान दिया था। **विश्वनाथ** ने स्फुटतया रस–दोष का स्वरूप निरूपित कर दिया था। सम्भवत. इसीलिए **जगन्नाथ** ने रस–दोष के स्वरूप पर अपना विचार प्रस्तुत करना पिष्टपेषण मात्र समझा।

जगन्नाथ ने रसगत अनौचित्य का निरूपण किया है। उनका विचार है कि जिस प्रकार पानक–रस आदि पेय पदार्थों में बालुका कण गिर जाने उनकी पेयगत [illegible] बाधित होती है, उसी प्रकार रसों के अनौचित्यपूर्ण निबन्धन से रसभंग उपस्थित होता है जिससे काव्यत्व अपकर्षित होता है।

जगन्नाथ के इस उदाहरण द्वारा रस–दोष का स्वरूप भी निर्धारित किया जा सकता है। पानक रस में मिलाये गये इलायची,लवण इत्यादि की न्यूनाधिक मात्रा उसकी पेयगत स्वादिष्टता को अल्प तो कर सकती है। किन्तु उसे सर्वथा बाधित नहीं कर सकती हैं परन्तु बालुकाकण गिरने से तो उसकी सम्पूर्ण पेयगत स्वादिष्टता ही बाधित हो जाती है पानक रस अरूचिकर हो जाता है।

फलत बालुका कण गिरने से जिस प्रकार पानक रस की [illegible] अपकर्षित हो जाती है।उसी प्रकार रस–दोषो की उपस्थिति काव्यत्व और काव्यात्मभूत रस की विघातक होती है।
रस–दोष साक्षात् रूपेण रस के अपघातक होते हैं। अतः तत्काल ही वे रसास्वादन में बाधा उपस्थित कर देते हैं। ठीक इसी प्रकार बालुका कण गिरने के पश्चात् पानक रस के प्रति अरूचि सी उत्पन्न हो जाती है। उसी प्रकार रस–दोषों के उपस्थित होते ही काव्य के प्रति काव्यज्ञ को अरूचि उत्पन्न हो जाती है।
इस उदाहरण के आधार पर **पण्डितराज जगन्नाथ** की रस–दोष–विषयक मान्यता को स्पष्ट किया जा सकता है।तात्पर्य यह है कि **पण्डितराज** ने भी **मम्मट** तथा **विश्वनाथ** द्वारा निरूपित रस–दोष के स्वरूप को स्वीकार किया है। उनका यह उदाहरण उनकी रस–दोष–सम्बद्ध मान्यता को व्यक्त करता है। इन्होने भी दस रस–दोषो का निरूपण किया है।[1] परन्तु इनके कतिपय रस–दोषों का स्वरूप **मम्मट** आदि से भिन्न है। इस पर पचम अध्याय में विस्तार पूर्वक विचार किया जायेगा।

---

१ –जगन्नाथ, र०गं०, पृ० ५०–५१।

मम्मट के पश्चात् **विश्वनाथ** तथा **पण्डितराज जगन्नाथ** के अतिरिक्त **हेमचन्द**[1] **वाग्भट द्वितीय** [2] **केशवमिश्र**[3] आदि काव्य–शास्त्रकारो ने भी रस–दोषो का प्रतिपादन किया है इन आचार्यो के मत का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि प्राय सभी ने **मम्मट** का अनुकरण करते हुए रस–दोषो का विवेचन किया है।

यहॉ **कवि कर्णपूर** का मत भी उल्लेखनीय है।इन्होने यद्यपि रस–दोषो का निरूपण नहीं किया है। तथापि उनके दोष वर्गीकरण से रस–दोष का सकेत मिलता है। इन्होंने दोषो को सर्वप्रथम दो भागो मे विभाजित किया है। जिसमे प्रथम प्रकार के दोष आस्वाद का पूर्णत विघात करने वाले होते हैं तथा द्वितीय प्रकार के दोष यत्किचित् रूप से आस्वाद के अपकर्षक होते हैं।[4] इसमे प्रथम प्रकार दोषों को हम रस–दोष मान सकते हैं। रस–दोषो के स्वरूप से परिचित होकर तथा उसे प्रधान रूप से हेय मानकर ही **कवि कर्णपूर** ने उसका स्पष्ट नामोल्लेख नहीं किया।

हेमचन्द्र आदि **मम्मट** के परवर्ती आचार्यों ने रस–दोषों के स्पष्ट निरूपण में कोई विशेष नवीन कार्य नहीं किया है। अत यहॉ उनके रस–दोषनिरूपण को प्रस्तुत करना समीचीन प्रतीत नहीं हुआ। **आचार्य विश्वनाथ** तथा **पण्डितराज** ने कुछ विशेष करने का प्रयास किया है। यद्यपि इनका निरूपण भी **मम्मट** से अभिप्रेरित ही है तथापि कतिपय उल्लेखनीय तथ्य थे जो यहाँ निरूपित किये गये हैं।

---

१ *–हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, ३/३।*

२ *–वाग्भट द्वितीय, काव्यानुशासन पृ० ६७–६८।*

३ *–केशव मिश्र, अलङ्कार शेखर, २१/१,२।*

४ *स च द्वेधा निरूप्यते।*
याव[illegible]त्किञ्चदास्वादापकर्षकश्च। यत्र सहृदयानामसहिष्णुता भवति स त्वाद्य, यत्र सहिष्णुता स्यात् सोऽन्त्य।
–कविकर्णपूर, अलङ्कार–कौस्तुभ, १०/३४० तथा वृत्ति।

पञ्चम अध्याय : रस-दोष : कवि व सहृदयगत

कविगत रस-दोष

सहृदयगत रस-दोष

कविगत रस-दोष का परिहार

सहृदयगत रस-दोष का परिहार

काव्यात्मारस के साक्षात् अपकर्षक तत्त्व रस–दोष हैं यह स्पष्ट होने के पश्चात् विवेच्य है कि काव्य मे किन स्थितियों मे रस का साक्षात् विघात होता है किवा काव्य मे कौन सी अवस्थाये होती हैं जिनकी उपस्थिति सहृदय को सर्वाधिक उद्वेजित करती है? अथवा सहृदय के काव्यानन्द का विघात करती हैं ?

रस–दोष को दो रूपों में वर्णित किया गया है – कवि की दृष्टि से तथा सहृदय की दृष्टि से। कवि द्वारा काव्य मे जो अनौचित्यपूर्ण निबन्धन होता है वह कविगत या विषयगत रस–दोष होता है तथा नाट्य का अनुचित मचन, व्यक्तिगत भाव तथा तत्कालीन परिस्थितियों के कारण जब सहृदय की रसानुभूति मे बाधा उपस्थित होती है तो ये रस–दोष सहृदय–गत कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त काव्य घटको–गुण, रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति तथा अलकार के अनुचित सन्निवेश में भी रस–दोषों का सकेत प्राप्त होता है। प्रस्तुत अध्याय में कवि तथा सहृदयगत रस–दोषो एव उनके परिहार पर विचार किया जायेगा गुणादिगत रस–दोषों पर अग्रिम षष्ठ अध्याय मे विचार होगा।

कविगत रस–दोष

आचार्य आनन्दवर्धन ने रसादि के व्यजक स्वरूप का निरूपण करने के पश्चात् इस के विरोधी तत्त्वो का वर्णन किया है। रसविरोधी तत्त्वों के निरूपण से पूर्व **आनन्दवर्धन** ने कहा है कि प्रबन्ध काव्य मे या मुक्तक काव्य में रस आदि के निबन्धन की इच्छा करने वाले बुद्धिमान कवि को रस के विरोधी तत्त्वों के परिहार के लिए प्रयत्न करना चाहिए।[1] 'ध्वनि' कारिका द्वारा उपर्युक्त विचार को प्रस्तुत करने के पश्चात् **ध्वनिकार आनन्दवर्धन** ने 'आलोक' वृत्ति में इसे सुस्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि – प्रबन्ध या मुक्तक काव्य में रस–भाव आदि का निरूपण करने के प्रति आदरयुक्त मन वाले कवि को चाहिए कि इस के विराधी तत्त्वों का परिहार करने का परम प्रयत्न करें अन्यथा उसका एक भी श्लोक रसमय रूप में सम्पादित नहीं हो पायेगा।[2]

ध्वनिकार ने रस की सम्यक् प्रतीति के लिए रस–विरोधी तत्त्वों के परिहार को अनिवार्य माना है। यत इसके बिना कोई भी काव्य रचना रसास्वादन कराने में समर्थ ही नहीं हो पायेगी। ध्वनि कारिका तथा आलोक वृत्ति द्वारा **ध्वनिकार आनन्दवर्धन** ने एक प्रकार से रस विरोधी तत्त्वों के निरूपण की भूमिका बाधी है। उल्लेखनीय है कि किसी भी कार्य से पूर्व प्रयोजन का ज्ञान होना आवश्यक है क्योंकि प्रयोजन का ज्ञान हुए बिना कोई मूर्ख भी किसी कार्य के प्रति प्रवृत्त नहीं होता है। इसीलिए आनन्दवर्धन ने रस–विरोधी तत्वो के निरूपण का प्रयोजन बताया है।

अभिनव गुप्त ने 'प्रबन्धे मुक्तके०' कारिका को 'शक्यहानत्व कारिका' कहा है। इसका तात्पर्य है कि विरोधियों का ज्ञान होने पर ही उनका त्याग किया जा सकता है। प्रस्तुत कारिका इसी भाव को प्रकट करती

---

१ *प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन्बद्धुमिच्छता।*
यत्न कार्य सुमतिना परिहारे विरोधिनाम्।।
–आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३/१७।

२ *प्रबन्धे मुक्तके वापि रसभावनिबन्धन प्रत्यादृतमना कविर्विरोधिपरिहारे परं यत्नमादधीत।*
अन्यथा त्वस्य रसमय श्लोक एकोऽपि सम्यक न सम्पद्यते।
–तदेव, ३/१७ की वृत्ति।

है। इसीलिए रस के व्यजक तत्त्वों का निरूपण करने के पश्चात् **ध्वनिकार** ने रस के विरोधियों का निरूपण किया है।[1]

अभिनव गुप्त ने इस प्रसङ्ग में **ध्वन्यालोक** की टीका 'लोचन' में कहा है कि रस के व्यजक तत्त्वों का अभाव उतना उद्वेजक या आह्लाद–विघातक नहीं होता है, जितना रस के विघातक तत्वों का ग्रहण। तात्पर्य यह है कि पथ्य वस्तु को न खाना उतना हानिकारक नहीं है, जितना अपथ्य वस्तु को खाना क्योंकि अपथ्य वस्तु तत्काल व्याधि उत्पन्न कर देती है।[2] इसलिए रस के विरोधी तत्वों का निरूपण सर्वथा अपेक्षित है।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने रस के विरोधी पाच तत्त्वों का निर्देश दिया है।[3] जो इस प्रकार हैं – **विरोधी रस सम्बन्धी विभावादि का ग्रहण, प्रधान रस से सम्बद्ध होने पर भी अन्य वस्तु का अधिक विस्तार से वर्णन करना, असमय में रस को समाप्त कर देना तथा अनवसर में रस का प्रकाशन, रस का पूर्ण परिपोष हो जाने पर भी बारम्बार उसका उद्दीपन करना और वृत्ति का अनौचित्य।**

विरोधी रस के सम्बन्धी विभावादि का ग्रहण **प्रथम रस विरोधी तत्त्व** हैं। इसे सुस्पष्ट करते हुए **आनन्दवर्धन** ने 'आलोक' में कहा है कि प्रस्तुत या प्रकृत रस की अपेक्षा जो रस विरोधी हैं उससे सम्बद्ध विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव का ग्रहण रस विरोध का कारण है।[4] रसों का परस्पर विरोधाविरोधपूर्व प्रतिपादित है।[5]

प्रथम रस–विरोधी हेतु की व्याख्या करते हुए **आनन्दवर्धन** ने प्रकृत रस के विरूद्ध निरूपित विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव को पृथक् रूप से स्पष्ट किया है।

प्रकृत रस के विरोधी रस के विभावों के दोषपूर्ण निबन्धन को प्रतिपादित करते हुए **ध्वनिकार** कहते हैं कि शान्त रस के विभावों का उसके विभाव रूप में ही वर्णन करने के अनन्तर तत्काल ही शृगार आदि के विभावों का वर्णन रस का अपकर्षक होता है।[6]

---

१ *विरोधीनामपि लक्षणकारणे प्रयोजनमुच्यते शक्यभानत्वं नाम अनया कारिकया लक्षणं तु विरोधीरससम्बन्धीत्यादि ना भविष्यतीत्यर्थः।*
–अभिनव गुप्त, ध्वन्या, ३/१७ पर लोचनटीका।

२. *पथ्यानुपयोगो हि न तथा व्याधि जनयति यद्वदपथ्योपयोगः।*
– तदेव, लोचन टीका।

३ *विरोधि रस सम्बन्धिविभावादि परिग्रहः।*
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम्।
अकाण्ड एवं विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम्।
परिपोष गतस्यापि पौनः पुन्येन दीपनम्।
रसस्य स्याद्विरोधाय वृत्यनौचित्य मेव च।।
– वहीं, ३/१८, १९।

४ *प्रस्तुत रसापेक्षया विरोधी यो रसस्तस्य सम्बन्धिना विभावानुभाव व्यभिचारिणा परिग्रहो रसविरोधहेतुरेक सम्भवनीय।*
– वही, ३/१८ की आलोक वृत्ति।

५ *–द्रष्टव्य, तृतीय अध्याय पृ० ११९–१२०।*

६ *तत्र विरोधिरस विभाव परिग्रहो यथा शान्तरसविभावेषु तद्विभावतयैव निरूपितेष्वनन्तरमेव शृङ्गारादिविभाववर्णने।*
– आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३/१८ की वृत्ति।

उल्लेखनीय है कि शान्त तथा शृगार रस का नैरन्तर्य रूप से विरोध होता है।[1] इसलिए शान्त रस के विभावो का शान्त रस के ही विभावों के रूप में वर्णन करने के पश्चात् तुरन्त शान्त रस के नैरन्तर्य विरुद्ध शृगार रस के विभावों का वर्णन दोषावह होता है।

अभिनव गुप्त ने इस प्रसङ्ग मे उद्धृत किया है कि हास्य व शृगार का वीर तथा अद्भुत का, रौद्र तथा करूण का, भयानक तथा वीभत्स का परस्पर विभाव–विरोध नहीं होता इसलिए ध्वनिकार ने शान्त तथा शृगार के विभाव विरोध को उल्लिखित किया है।[2] तात्पर्य यह है कि हास्य तथा शृगार आदि पूर्वोक्त रसों के विभावों का एक साथ वर्णन करने से रस की हानि नहीं होती परन्तु शान्त तथा शृगार रस के विभावों का एतादृश वर्णन नहीं किया जा सकता। शृगार रस के वर्णन में शान्त रस का किंचित् भी ग्रहण शृंगार रस की अनुभूति को दूषित कर देता है।

विरोधी रस के भावों अर्थात् व्यभिचारी भावों के ग्रहण रूप रस विरोधी हेतु का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए **आनन्दवर्धन** कहते हैं – प्रिय के प्रति प्रणय कलह के कारण कुपित हुई कामिनियों को वैराग्य की कथाओं द्वारा मनाने का वर्णन विरोधी रस के भावों का ग्रहण है।[3]

प्रकृत स्थल में **ध्वनिकार** ने 'भाव' शब्द का प्रयोग किया है व्यभिचारी भाव का नहीं। इस विषय में **अभिनव गुप्त** का विचार है कि विरोधी रस के स्थायी भाव का व्यभिचारी भाव के रूप में ग्रहण नहीं हो सकता क्योकि स्थायी भाव के रूप में उसके उत्थान या उत्कर्ष का प्रसङ्ग नहीं होता। तात्पर्य यह है कि प्रकृत रस के विरोधी रस के स्थायी भाव का ग्रहण करने से उस स्थायी भाव का उत्कर्ष ही सम्भव नहीं है। विरोधी रस के स्थायी भाव का स्थायी भाव के रूप में ग्रहण सम्भव नहीं है,परन्तु उसका व्यभिचारी भाव के रूप मे ग्रहण हो सकता है इसलिए **आनन्दवर्धन** ने'व्यभिचारी' शब्द का कथन न करके सामान्यत 'भाव' शब्द का उल्लेख किया है।[4]

विचारणीय है कि **ध्वनिकार** द्वारा 'व्यभिचारी' पद का प्रयोग न करके सामान्यत. 'भाव' शब्द के अभिधान ~: से यह शङ्.का उपस्थित हो सकती है कि यहां'भाव'शब्द से स्थायी भाव का भी ग्रहण किया जा सकता है। सम्भवत· **अभिनव गुप्त** ने इसी शङ्.का का समाधान प्रकृत स्थल में किया है।`वैराग्य कथाओं द्वारा' यह कहकर **ध्वनिकार** ने शान्त रस के स्थायी भाव 'निर्वेद' को उल्लिखित किया है।[5] यहां निर्वेद व्यभिचारी भाव के रूप में ही अभीष्ट है।

---

१. *–द्रष्टव्य–तृतीय अध्याय, पृ०सं० ११६–१२०।*

२ *हास्य शृङ्.गारयोर्वीराद्भुतयो रौद्रकरूणयोर्भयानकवीभत्सयोर्न-*
विभावविरोध :त्यभिप्रायण शान्त शृङ्.गारावुपन्यस्तौ।
–अभिनव गुप्त, ध्वन्यालोक, ३/१८ की लोचन टीका।

३. *विरोधिरस भाव परिग्रहो यथा प्रियं प्रति प्रणय कलह कुपितासु कामिनीषु वैराग्य कथाभिरनुनये।*
–आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३/१८ की वृत्ति।

४क) *विरोधिनि रसस्य यो भावो व्यभिचारी तस्य परिग्रह:। विरोधिनस्तु य· स्थायी तस्य तया तावत्परिग्रहोऽसम्भवनीय एव। तदनुत्थान प्रसङ्.गात्।*

ख) *व्यभिचारितया तु परिग्रहो भवत्येष। अतएव सामान्येन भावग्रहणम्।*
–अभिनव गुप्त, ध्वन्या १/१८ की लोचन टीका।

५ *वैराग्य कथाभिरिति वैराग्य शब्देन निर्वेद· शान्तस्य य· स्थायी स उक्त।*
– वही, ध्वन्या १/१८ की लोचन टीका।

प्रकृत स्थल मे **अभिनव गुप्त** ने 'प्रसादे वर्तस्व०'[1] इस छन्द को उद्‌घृत किया है। इसमे प्रणय कुपिता नायिका को मनाने के लिए नायक छन्द के अन्तिम चरण मे 'अर्थान्तरन्यास' के द्वारा कहता है कि– 'न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गत काल हरिण', अर्थात् 'हे मुग्धे! बीता हुआ काल रूपी हरिण पुन नहीं आता। विवेचनीय छन्द मे विप्रलम्भ शृङ्गार की निष्पत्ति होनी चाहिए। परन्तु यहा 'गतः कालहरिण प्रत्येतु न प्रभवति' इस कथन से निर्वेद रूप व्यभिचारी भाव अभिव्यजित हो रहा है। इस प्रकार यहा विप्रलम्भ शृङ्गार के विरोधी शान्त रस के व्यभिचारी भाव का वर्णन है जो दोषाधायक अर्थात् रस विरोध का कारण है। उल्लेख्य है कि 'गत काल हरिण' यह पङ्क्ति अनित्यता प्रकाशन रूप शान्त रस का उद्‌दीपन विभाव है, जिससे निर्वेद रूप व्यभिचारी भाव व्यक्त हो रहा है।

प्रस्तुत उदाहरण विचारणीय है। किचित् भी शान्त रस के स्पर्श से शृगार रस विच्छिन्न हो जाता है।[2] निर्वेद उत्पन्न होने पर व्यक्ति रमणी के प्रति आकृष्ट ही नहीं हो सकता।

अभिनव गुप्त ने कहा है कि शुक्ति मे भासमान रजत को जान लेने के पश्चात् व्यक्ति शुक्ति को ग्रहण करने की इच्छा नहीं रखता।[3] भ्रमित होने पर ही वह रजत की भाति चमकने के कारण शुक्ति को रजत समझकर उसे ग्रहण करना चाहेगा।

विवेच्य है कि यदि व्यक्ति को ससार की निस्सारता कि नश्वरता का ज्ञान हो जायेगा तो उसमें किसी रमणी के प्रति प्रेम उत्पन्न ही नहीं होगा। शृगार के स्थल पर शान्त रस के व्यभिचारी की अभिव्यक्ति सहृदय के काव्याह्लाद को विघातित कर देती है। अत इस प्रकार के वर्णन से कवि को बचना चाहिए। **ध्वनिकार** के 'वैराग्य कथाभि' पद की व्याख्या करते हुए यह कहा जा सकता है कि 'वैराग्य'

पद से शान्त रस के स्थायी भाव 'निर्वेद' का व्यभिचारी रूप में ग्रहण किया गया है। तात्पर्य यह कि 'वैराग्यशब्द' से निर्वेद रूप व्यभिचारी भाव की अभिव्यजना का सकेत दिया गया है। किसी विरोधी रस का स्थायी भाव व्यभिचारी भाव के रूप में परिगृहीत हो सकता है यह पहले भी कहा गया है। शान्त रस के अन्य व्यभिचारियों का ग्रहण न करके 'निर्वेद' को व्यंजित करने वाले 'वैराग्य' पद को ग्रहण करने का यही तात्पर्य है कि विरोधी रस के स्थायी भाव का व्यभिचारी रूप में ग्रहण हो सकता है।

लोचनकार अभिनव गुप्त का विचार है कि 'कथाभि' पद को उल्लिखित करके **ध्वनिकार** ने शान्त रस के वृत्ति, मति आदि व्यभिचारी भावों की सूचना दी है।[4] इससे यह ध्वनित होता है कि शान्त रस के मात्र 'निर्वेद' रूप व्यभिचारी भाव का ही नहीं अपितु अन्य व्यभिचारी भावों का ग्रहण भी हो सकता है। उल्लेखनीय है कि यहा विरोधी रस के व्यभिचारी भावों के ग्रहण का प्रसङ्ग है।

---

१ *प्रसादे वर्तस्व प्रकटय मुद सन्त्यजरूषं*
प्रियेशुष्कन्त्यङ्गा [illegible] ते सिंचतु वच।
निधान सौख्याना क्षणमभिमुख स्थापय मुख
न मुग्धे प्रत्येतु प्रभवति गत काल हरिणः।।
– अभिनव गुप्त, ध्वन्या० १/१८ की वृत्ति पर लोचन टीका।

२ *मनागपि निर्वेदानुप्रवेशे सति रतेविच्छेदात्।*
– तदेव १/१८ की वृत्ति पर लोचन टीका।

३. *ज्ञात विषयसतत्त्वो हि जीवित सर्वस्वाभिमानोत्कथ भवेत्।*
रजत तत्त्वस्तदुपादेयधिय भजते। ऋते सवृत्ति मात्रात्।
– वही, १/१८ की वृत्ति पर लोचन टीका।

४ *कथाभिरिति बहुवचन शान्तरसस्य व्यभिचारिणों वृत्ति मति प्रभृति सङ्गृहणादिति।*
– अभिनव गुप्त, ध्वन्या० ३/१८ पर लोचन टीका।

'वैराग्य' पद के द्वारा एक ओर तो विरोधी रस के स्थायी भाव का व्यभिचारी रूप में ग्रहण हो सकता है, यह ज्ञात होता है तो दूसरी ओर विरोधी रस के व्यभिचारी का ग्रहण हो सकता है, यह भी स्पष्ट होता है। इस प्रकार **ध्वनिकार** ने शान्त रस के अन्य व्यभिचारी भावो के व्यजक अनुभावों को ग्रहण न करके 'निर्वेद' के व्यजक 'वैराग्य' पद को ग्रहण किया है।'निर्वेद' शान्त रस का स्थायी भाव है तथा व्यभिचारी भावों मे भी परिगणित है।[1]

ध्वनिकार के रस विरोधी प्रथम हेतु को परवर्ती **मम्मट** ने ग्रहण किया है। **मम्मट** ने इसे प्रतिकूल विभावादि ग्रह नामक रस–दोष माना है। **भोजराज** ने विरस दोष में प्रतिकूल रस के वर्णन को दोषपूर्ण माना है। **मम्मट** ने भी प्रतिकूल विभावादि ग्रह नामक रस–दोष में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों का विरोधी रस मे ग्रहण अनुचित माना है। इन्होंने इन सभी का स्पष्ट रूप से विवेचन भी किया है।

लोचनकार अभिनव गुप्त ने 'प्रसादे वर्तस्व०'– इस छन्द को प्रतिकूल व्यभिचारी भाव के ग्रहण में उदाहृत किया है तथा **मम्मट** ने इस उदाहरण को प्रतिकूल विभाव तथा व्यभिचारी भाव के ग्रहण रूप दोष मे स्वीकार किया है।[2]

मम्मट ने 'प्रसादे वर्तस्व०'– इस छन्द में शृंगार के प्रतिकूल शान्त रस के अनित्यता प्रकाशन रूप उद्दीपन विभाव तथा इससे व्यजित 'निर्वेद' रूप संचारी भाव का वर्णन दोषपूर्ण माना है। इस प्रकार **मम्मट** ने इस छन्द को सयुक्त रूप से प्रतिकूल विभाव तथा व्यभिचारी भाव के ग्रहण में उदाहृत किया है। **अभिनव गुप्त** ने ऐसा सकेत नहीं दिया है।

आनन्दवर्धन ने प्रतिकूल या विरोधी रस के विभाव के ग्रहण रूप रस विरोधी तत्त्व में शान्त रस के विभावो के वर्णन के तत्काल बाद शृंगार के विभावों के वर्णन को उदाहृत किया है। इस प्रसग में न तो **आनन्दवर्धन** ने और न इनके टीकाकार लोचनकार **अभिनव गुप्त** ने ही कोई श्लोक उदाहृत किया है।

विरोधी रस के व्यभिचारी भावों के ग्रहण के समान विरोधी रस के अनुभावों का परिग्रह भी रस विरोध का हेतु है। जैसे प्रणय कुपिता प्रिया के प्रसन्न न होने पर कोप के आवेश से युक्त नायक के रौद्र अनुभावों का वर्णन करना।[3] वस्तुत शृंगार के प्रसंग में रौद्र का अनुभाव शृंगार रस के उत्कर्ष को क्षरित कर देता है

---

१. *–द्रष्टव्य तृतीय अध्याय, पृ० सं० १११।*

२ *प्रसादे वर्तस्व प्रकटय मुदं सत्यज रूषं*
[illegible]गान्यमृतमिव ते सिंचतु वच ।
निधान सौख्यानां क्षणमभिमुख स्थापय मुखं
न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिण.।।
अत्र शृङ्गारे प्रतिकूलस्य शान्तस्यानित्यता प्रकाशनरूपो विभावस्तत्प्रकाशितो निर्वेदश्च व्यभिचारी उपात्त.।

– मम्मट, का० प्र०, उदाहरण, २२७, तथा वृत्ति।

३ *विरोधिरसानुभावपरिग्रहो यथा [illegible]तायां प्रियायाम प्रसीदन्त्या नायकस्य कोपावेशविवशस्य रौद्रानुभाव वर्णने।*

– आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३/१८ की वृत्ति।

इसलिए इस प्रकार का वर्णन रसापघातक होता है। उल्लेखनीय है कि रौद्र रस शृगार रस का विरोधी है।[1] अनुनय करने पर भी यदि प्रणय कुपिता नायिका का कोध शान्त नहीं होता तो वहा नायिका के प्रति नायक के कोध, तिरस्कार आदि का वर्णन अनुचित होता है। नायक के कोध से नायिका में त्रास, खिन्नता आदि भाव उत्पन्न होंगे जो शृगार का अपकर्षण कर देंगे।

रस—विरोध का द्वितीय हेतु 'रस से सम्बन्धित भी अन्य वस्तु का अधिक विस्तार से वर्णन करना है।' आलोक टीका में इसे स्पष्ट करते हुए ध्वनिकार ने कहा है कि— प्रस्तुत रस से किंचित् सम्बन्धित होने पर उस वस्तु का रस की अपेक्षा अधिक विस्तार से वर्णन करना।[2] यथा विप्रलम्भ शृगार में किसी नायक का वर्णन प्रारम्भ करते हुए यमक आदि अलकारों की रचना के प्रति रसिक होने के कारण कवि पर्वत आदि का महान् प्रबन्ध के रूप में वर्णन करने लगे।[3]

काव्य में प्रकृत रस का विस्तार पूर्वक वर्णन ही सहृदय को अपेक्षित होता है। यदि प्रकृत रस से सम्बद्ध भी अन्य किसी का वर्णन विस्तार पूर्वक किया गया हो तो वह भी सहृदय को रूचिकर प्रतीत नहीं होता।

अभिनव गुप्त ने **ध्वनिकार** के 'कथञ्चिदन्वितस्य' की व्याख्या करते हुए कहा है कि— अनुन्मत्त व्यक्ति प्रकृत रस की अपेक्षा अन्य वस्तु का विस्तारपूर्वक वर्णन कैसे कर सकता है? इस आपत्ति का समाधान करते हुए ही ध्वनिकार ने कहा है कि— प्रकृत रस से 'किञ्चित् भी सम्बन्ध विषय' का विस्तारपूर्वक वर्णन उचित नहीं है।[4]

विचारणीय है कि कोई भी विद्वान् कवि प्रकृत रस की अपेक्षा किसी अवान्तर विषय का विस्तारपूर्वक वर्णन करने में [illegible] नहीं हो सकता। अतः **ध्वनिकार** का यह रस—विरोधी—हेतु का निरूपण निरर्थक हो जाता। इसीलिए **ध्वनिकार** ने कहा कि यदि प्रकृत रस से किञ्चित् संबध वस्तु का विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाय तो वह निरूपण रसानुकूल नहीं होता।

[illegible] है कि वियोग शृंगार हृदय को अत्यधिक द्रवित करने वाला होता है। वियोग या विप्रलम्भ शृगार का वर्णन करते हुए कवि यदि आलङ्कारिक रूप से पर्वतादि का विस्तारपूर्वक निरूपण करने लगे तो निःसन्देह विप्रलम्भ शृंगार का पूर्ण परिपाक अर्थात् पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो पायेगी। विप्रलम्भ शृंगार के प्रसंग में पर्वतादि का अति विस्तार पूर्ण वर्णन विरसता का कारण होता ही है और यदि कवि यमक आदि अलंकारों से युक्त छन्दों द्वारा पर्वतादि का निरूपण करने लगे तो वह वर्णन और भी उद्वेजक है।

---

१. *—द्रष्टव्य, तृतीय अध्याय पृ० स० ११६—१२०*

२. *अयं चान्यो रसभङ्गहेतुर्यत् प्रस्तुतरसापेक्षया वस्तुनोऽन्यस्य कथञ्चिदन्वितस्यापि विस्तरेण कथनम्।*

— तदेव, ३/१८ की वृत्ति।

३. *यथा विप्रलम्भशृङ्गारे नायकस्य कस्यचिद् वर्णयितुमुपक्रान्ते कवेर्यमकाद्यालङ्कार निबन्धन रसिक महता प्रबन्धेन पर्वतादि वर्णने।*

—तदेव — ३/१८ की वृत्ति।

४ *नन्वन्यदनुन्मत्त कथ वर्णयते किमुत् विस्तरत इत्याह — कथञ्चिदन्वितस्येति।*

— अभिनव गुप्त, ध्वन्या०, ३/१८ की वृति पर लोचन टीका।

मम्मट के रस–दोष–विवेचन का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उन्होंने **आनन्दवर्धन** के उपर्युक्त रस–विरोध के आधार पर 'अड्गिनोऽननुसन्धानम्' तथा 'अनड्गस्याभिधानम्' रूप रस–दोषो का निरूपण किया है।[1]

मम्मट ने 'अनड्स्याभिधानम्' नामक रस–दोष मे 'अनड्ग' पद से 'प्रतिनायक' का कथन किया है। उनके अनुसार नायक की अपेक्षा प्रतिनायक का अतिविस्तारपूर्वक वर्णन वैरस्य को उपस्थित करता है। **हयग्रीववध** नामक नाटक मे 'ह्यग्रीव' के विस्तारपूर्वक वर्णन को **मम्मट** ने अनुचित माना है। **आनन्दवर्धन** ने पर्वतादि के विस्तारपूर्वक वर्णन को रसोद्वेजक माना है।

अड्गी या प्रधानभूत व्यक्ति के विस्मरण या उपेक्षा रूप रस–दोष में **मम्मट** ने 'रत्नावली' नाटिका के चतुर्थ अड्क में वाभ्रव्य के आगमन के समय सागरिका के विस्मरण को उद्घृत किया है।

आनन्दवर्धन के द्वितीय रस–विरोधी–हेतु **मम्मट** के ऊपर वर्णित रस–दोषों के साथ किञ्चित् साम्य दिखाई पडता है। **आनन्दवर्धन** द्वारा नायक से किञ्चित् सम्बन्ध वर्णन का विस्तारपूर्वक वर्णन अनुचित कहा गया है। विवेच्य है कि नायक से सम्बन्ध वर्णन ही [illegible] का प्रधान कारण होता है। यदि नायक के अतिरिक्त अन्य किसी का वर्णन किया जाता है तो कुछ काल के लिए नायक से सम्बन्ध रस का विराम हो जाता है। **मम्मट** के 'अड्गी के अननुसन्धान' रूप दोष की हम इस अवस्था से तुलना कर सकते हैं। **आनन्दवर्धन** ने नायक के वर्णन की उपेक्षा करके पर्वतादि के वर्णन को अनुचित माना है। **मम्मट** ने नायक की अपेक्षा प्रतिनायक के वर्णन को वैरस्य जनक स्वीकार किया है।

उल्लेखनीय है कि **मम्मट** द्वारा निरूपित अप्रधान का विस्तारपूर्वक वर्णन तथा अड्गी या प्रधान का विस्मरण इन दोनों ही रस–दोषों में नायक के वर्णन की उपेक्षा की गयी है। **आनन्दवर्धन** ने भी रस–विरोध के द्वितीय हेतु में नायक की उपेक्षा करके अन्य वस्तु के वर्णन का निरूपण किया है। इससे इन दोनों आचार्यों के उक्त विवेचन मे किञ्चित् साम्य है, यह माना जा सकता है।

प्रस्तुत स्थल में **रूद्रट** का 'विरस दोष' भी उल्लेखनीय है। **रूद्रट** ने विरस दोष की द्वितीय स्थिति का निरूपण करते हुए कहा है कि जो रस प्रसड्गानुकूल होता हुआ भी प्रबन्ध काव्यों में निरन्तर प्रयुक्त होने के कारण अतिशय वृद्धि को प्राप्त होता है, वह भी विरसता का कारण होता है।[2]

आनन्दवर्धन का विचार है कि प्रस्तुत रस से किञ्चित् भी अन्वित या सम्बन्ध वस्तु का विस्तारपूर्वक वर्णन रस–विरोध उत्पन्न करता है। **आचार्य रूद्रट** 'सावसरेऽपि' पद तथा **आनन्दवर्धन** के 'कथञ्चिदन्वितस्य' पदों पर यदि विचार किया जाय तो इनमें भी कुछ साम्य माना जा सकता है।

प्रबन्धकाव्य में एक रस प्रधान होते हैं तथा अन्य रस अप्रधान होते हैं। अप्रधान रसों का निरूपण भी प्रधान रस के उत्कर्ष में वृद्धि करने वाला होता है। यदि **रूद्रट** के 'सावसरोऽपि' पद का अर्थ 'प्रधान रस से सबध होने पर भी' यह मान लिया जाय तो **आनन्दवर्धन** तथा **रूद्रट** के मत में साम्य निर्धारित हो जायेगा। अवसर के अनुरूप होने पर भी रस का विस्तारपूर्वक वर्णन विरस दोष है। इसको यदि यह कहा जाय कि प्रधान रस के अनुकूल होने पर भी प्रधान से भिन्न अप्रधान रस का वर्णन प्रधान रस का अपकर्षक होता है तो भी **आनन्दवर्धन** से **रूद्रट** का विचार मिलता हुआ प्रतीत होता है।

---

१ *अड्गिनोऽननुसधान यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽड्के वाभ्रव्यागमने सागरिकाया विस्मृतिः।*
अनड्गस्य रसानुपकारकस्य वर्णनम्। यथा कर्पूरमञ्जर्यां नायिकया स्वात्मना च कृत बसन्तवर्णनमनादृत्य बन्दिवर्णितस्य राज्ञा प्रशसनम्।
— मम्मट, का० प्र० ७/६२ की वृत्ति।

२ *य सावसरोऽपि रसो निरन्तर नीयते प्रबन्धेषु।*
अतिमहती वृद्धिमसौ तथैव वैरस्यमायाति।।
— रूद्रट, काव्यालंकार, ११/१४।

उल्लेख्य है कि **रूद्रट** के टीकाकार **नमिसाधु** ने प्रकृत स्थल पर 'सावसर' पद को प्रस्तुत शब्द से प्रदर्शित किया है। उनका विचार है कि काव्यादि मे किसी भी प्रस्तुत रस की निरन्तर अत्यधिक वृद्धि अर्थात् निरन्तर विस्तारपूर्वक वर्णन श्रोताओ के वैरस्य का कारण होता है। इस प्रसग में इन्होंने **नारायण भट्ट** कृत **वेणी संहार** नामक नाटक के छठे अङ्क का उदाहरण दिया है।[1]

उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत रस ही प्रधान होता है इस प्रकार यदि **नमिसाधु** के आधार पर **रूद्रट** के उक्त 'विरस दोष' की व्याख्या की जाये तो यह दोष ही नहीं रहेगा क्योंकि प्रधान रस का विस्तारपूर्वक वर्णन दोष पूर्ण नहीं होता है। यदि **नमिसाधु** के प्रस्तुत पद को अप्रधान तथा प्रधान रस से सम्बद्ध रस का सूचक माना जाय तो **रूद्रट** तथा **आनन्दवर्धन** का विचार यहा समान ही हैं। ऐसी परिस्थिति मे यह भी कहा जा सकता है कि **आनन्द वर्धन** को प्रकृत रस–विराधी हेतु के निरूपण की प्रेरणा **रूद्रट** से प्राप्त हुई है।

ध्वनिकार के अनुसार 'अनवसर में रस का विच्छेद' तथा 'अनवसर ने रस का प्रकाशन' **रस–विरोध का तृतीय हेतु** है। अनुचित समय मे रस का विराम करना या रस का प्रकाशन करना रसानुभूति में बाधक होता है। काव्य मे वर्णित रस का पूर्ण परिपाक रसानुभूति के लिए आवश्यक है। किसी भी रस का वर्णन करते समय उसकी पूर्ण परिणिति का ध्यान कवि को रखना आवश्यक होता है। काव्य में रस का वर्णन करते समय यदि मध्य में ही उस सम्बद्ध रस को बाधित कर दिया जाय अर्थात् रस से सम्बद्ध वर्णन को छोडकर किसी अन्य वस्तु का वर्णन प्रारम्भ कर दिया अथवा अनुचित समय मे ही किसी रस का वर्णन प्रारम्भ कर दिया सहृदय उस रस की पूर्ण अनुभूति नहीं कर पाता और वहा रसानुभूति में बाधा उपस्थित हो जाती है। इस प्रकार अनुचित समय में न तो रस का विराम ही उचित है और न ही प्रकाशन।

'अनवसर में रस के विच्छेद' के उदाहरण के रूप में **ध्वनिकार** का विचार है कि किसी स्पृहणीय समागम वाली नायिका के साथ किसी नायक के शृगार रस के अत्यधिक परिपोष को प्राप्त होने पर और उनके परस्पर अनुराग का ज्ञान होने पर भी मिलन में उपाय के चिन्तन योग्य व्यवहार को छोडकर स्वतन्त्रतापूर्वक अन्य व्यापारों का वर्णन होना 'रस का अनवसर में विच्छेद' है।

तात्पर्य यह है कि यदि काव्य में नायक का अभिलषित नायिका के साथ शृंगार पूर्ण वर्णन किया जा रहा है और शृगार रस अपने परिपुष्ट अवस्था को प्राप्त कर चुका है, नायक व नायिका का प्रेम भी परस्पर प्रकट हो चुका है। अतः उनमें प्रेम न होने की या शृगार रस के विच्छिन्न होने की कोई स्थिति उपस्थित नहीं है। ऐसे समय पर नायक एव नायिका के मिलन के उपायों का वर्णन कवि को करना चाहिए। नायक एवं नायिका का मिलन सम्बन्ध वर्णन ही इस समय सहृदय को रसास्वादन करा सकता है, परन्तु इस समय उनके मिलन उपायों का वर्णन न करके कवि यदि अन्य घटनाओं अथवा वस्तुओं का वर्णन करने लगे तो निःसन्देह रसानुभूति बाधित ही होगी।

विचारणीय है कि **ध्वनिकार** ने यहा 'परिपोष पदवीं' को प्राप्त शृगार यह कहा है। तात्पर्य यह है कि परिपुष्ट अवस्था में पहुंचे हुए शृगार रस को विच्छिन्न करना रसानुभूति मे बाधक ही होता है। **ध्वनिकार** ने प्रकृत स्थिति को स्पष्ट करने के लिए यह भी कहा है कि नायक–नायिका का परस्पर अनुराग भी ज्ञात हो चुका है। अत रस को विच्छिन्न करने का कोई भी कारण उपस्थित नहीं है। ऐसे समय में रस को परिपुष्ट करने वाले प्रसंगों का वर्णन ही अपेक्षित है।

---

१ *य काव्यादौ क्वापि प्रस्तुतो रसो नैरन्तर्येण महती वृद्धि नीयते स श्रोतृणां वैरस्यमाव गीति विरसो भवति। अत्र वेणी संहारषष्ठोऽङ्को निदर्शनम्।*
– नमिसाधु, काव्या० ११/१४ की टीका।

विवेचनीय है कि जब नायक–नायिका के शृगार का वर्णन परिपुष्ट अवस्था को प्राप्त हो चुका है तो उनके मिलन के उपायो का निरूपण न करके स्वतन्त्रता पूर्वक अन्य प्रसगों का वर्णन सर्वथा अनुचित है। यहा **ध्वनिकार** ने 'स्वतन्त्रता' पद का प्रयोग किया है। तात्पर्य यह है कि प्रकृत शृगार रस से सर्वथा भिन्न प्रसग का वर्णन प्रारम्भ हो जाना अर्थात् नायक नायिका के प्रेम सम्बन्धों से सभी प्रकार से असम्बन्ध वर्णन प्रारम्भ हो जाना। इससे नायक तथा नायिका सम्बन्धि शृगार रस मध्य में ही विच्छिन्न हो जाता है।

लोचनकार अभिनव गुप्त ने उपर्युक्त प्रसग में 'वत्सराजचरित' नामक नाटक का उद्धरण दिया है। 'वत्सराज चरित' नामक नाटक में वाभ्रव्य विजय वर्मा के वृतान्त का वर्णन करते हुए रत्नावली का नाम भी नहीं लेता है।[1] जबकि इसके पूर्व उदयन तथा रत्नावली का परस्पर प्रेम उद्घटित हो चुका है। **अभिनव गुप्त** का यह उदाहरण **आनन्दवर्धन** के पूर्णभाव को प्रकट करने में समर्थ है।

मम्मट ने 'अनवसर में रस के विच्छेद' को स्पष्ट करते हुए 'वीरचरित' नाटक का उद्धरण दिया है। जिसमें राम तथा परशुराम के वार्तालाप से वीर रस चरमकोटि को पहुंचने लगता है। उसी समय राम यह कहते हैं कि 'मैं कङ्कण खोलने के लिए जा रहा हू' राम के इस कथन से वीर रस तत्काल विच्छिन्न हो जाता है।

'अनवसर में रस के प्रथन या प्रकाशन' रूप रस विरोधी हेतु के उदाहरण मे **ध्वनिकार आनन्द वर्धन** ने कहा है कि कल्प प्रलय के समान भयकर युद्ध में अनेक वीरों का विनाश प्रारम्भ होने पर विप्रलम्भ शृगार के प्रसंग के बिना ही और किसी उचित निमित्त के बिना ही राम जैसे नायक का भी शृंगार की कथा मे पडने का वर्णन रसभङ्ग का कारण है।[2]

विवेचनीय है कि काव्य में प्रत्येक रस का प्रसङ्गानुकूल वर्णन ही सहृदय को अभिप्रेत होता है। विनाशकारी भीषण युद्ध के प्रसङ्ग में शृगार रस का वर्णन उचित प्रतीत नहीं होता है, ऐसे समय उत्साह पूर्ण कार्यों का वर्णन ही रसानुकूल होता है।

युद्धकाल में यदि वियोग शृंगार का वर्णन अपेक्षित हो तो शृंगार का वर्णन किञ्चित् ग्राहय हो सकता है या अन्य कोई विशेष कारण हो तो भी शृंगार का निरूपण कुछ समीचीन कहा जा सकता है परन्तु यदि ये दोनों ही स्थितियां उपस्थित नहीं हैं तो वीर रस के उत्कर्षपूर्ण वर्णन में संयोग शृगार का वर्णन रसानुभूति में बाधक ही होगा।

ध्वनिकार ने प्रकृत प्रसग में कोई उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया है। **लोचनकार अभिनव गुप्त** ने आलोक वृत्ति के 'अपि' तथा 'तावत्' पदों के आधार पर 'वेणीसंहार' नाटक के द्वितीय अक का उदाहरण प्रस्तुत किया है।[3] **नारायण भट्ट** विरचित 'वेणीसहार' नामक नाटक के द्वितीय अक में जब भीम जैसे वीरों का विनाश प्रारम्भ हो गया था वहा भानुमती के साथ दुर्योधन के सयोग शृगार का वर्णन किया गया है।

---

1. *व्यापारान्तरेति। यथा वत्सराजचरिते चतुर्थेऽङ्के–रत्नावलीनामधेयमप्यगृह्णतो विजयवर्मवृ[illegible]वर्णने।*

   – अभिनव गुप्त, ध्वन्या०, ३/१९ की लोचन टीका।

2. *अनवसरे च प्रकाशन यथा प्रवृत्ते प्रवृद्धविविध वीर संक्षये कल्प संक्षयकल्पे सङ्ग्रामे राम[illegible]स्यापि तावन्नायकस्यानुपक्रान्त विप्रलम्भ शृङ्गारस्य निमित्तमुचितमन्तरेणैव शृङ्गारकथायामवरतवर्णने।*

   – आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३/१९ की वृत्ति।

3. *अपि तावदिति शब्दाभ्या दुर्योधनादेस्तद्वर्णन दुरापास्तमिति। वेणी सहारे द्वितीयाङ्कमेवोदाहरणत्वेन ध्व ति। अतएव वक्ष्यति–दैव व्यामोहितत्वमिति।*

   – अभिनव गुप्त, ध्वन्या, ३/१९ की लोचन टीका।

उल्लेखनीय है कि **आचार्य मम्मट** ने भी 'अनवसर मे रस के प्रथन' रूप रस–दोष में यही उदाहरण प्रस्तुत किया है।[1]

आचार्य आनन्दवर्धन ने आलोक वृत्ति मे कहा है कि रस विरूद्ध प्रसग में यदि यह कहा जाय कि कथा के नायक ने दैव वश व्यामोहित होकर ऐसा प्रसग–विरूद्ध कार्य किया है तो यह समीचीन नहीं है। इस प्रकार प्रकृत रस–विरोध का परिहार भी नहीं हो सकता क्योंकि, कवि की प्रवृत्ति या काव्य–रचना का मुख्य उद्देश्य रस का निबन्धन करना ही होता है।[2] तात्पर्य यह कि काव्य में रस ही प्रधान तत्व होता है। अतः कवि को काव्य–रचना करते समय प्रधान रूप से रस के नियोजन पर ध्यान देना चाहिए क्योंकि, रसानुभूति ही काव्य का परमोद्देश है।

आनन्दवर्धन का विचार है कि काव्य में इतिवृत्त आदि का वर्णन रस के आयोजन के उपाय रूप में किया जाता है। इतिवृत्त का वर्णन काव्य का मुख्य वर्ण्य विषय नहीं है।[3] प्रथम उद्योत में **ध्वनिकार** ने 'आलोकार्थी यथा०'[4] इस कारिका में स्पष्ट किया है कि प्रकाश चाहने वाला व्यक्ति दीपक की शिखा के लिए प्रयत्न करता है क्योंकि, प्रकाश का उपाय दीपक की शिखा से है। दीपक की शिखा के बिना प्रकाश सम्भव नहीं है। उसी प्रकार व्यंग्यार्थ के ज्ञान के लिए वाच्यार्थ के प्रति प्रयत्न किया जाता है। वस्तुत. व्यग्यार्थ ही प्रधान तत्त्व है। परन्तु व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए वाच्यार्थ का उपादान पहले किया जाता है। जबकि वाच्यार्थ व्यग्यार्थ की अपेक्षा अप्रधान होता है।

इस प्रकार 'आलोकार्थी यथा०' इस कारिका को उद्धृत करके **ध्वनिकार** ने इतिवृत्त के वर्णन की अपेक्षा रस का वर्णन प्रधान है, यह प्रकट किया है। इस प्रसङ्ग में **लोचनकार** ने भी कहा है कि रस का निबन्धन ही कवि का मुख्य व्यापार विषय है। फलत कवि को मुख्यत रस–निबन्धन में ही प्रयत्न करना चाहिए।[5]

वस्तुतः वाच्यार्थ का उपादान पहले किया जाता है। वाच्यार्थ के पश्चात् व्यग्यार्थ उपस्थित होता है। इसलिए यह सन्देह उपस्थित होता है कि वाच्यार्थ प्रधान है या व्यग्यार्थ। इसी सन्देह निवारण के लिए **ध्वनिकार** ने पूर्व उल्लिखित कारिका को प्रस्तुत किया है। **इससे यह ज्ञात होता है कि मात्र प्रथम उपादान होने के कारण ही वाच्यार्थ प्रधान तत्त्व नहीं है, वह व्यग्यार्थ का उपाय मात्र है। व्यंग्यार्थ ही प्रधान तत्त्व है।**

---

१. *अकाण्डे प्रथन यथा वेणीसहारे द्वितीयऽङ्केऽनेक वीरक्षये प्रवृत्ते भानुमत्या सह दुर्योधनस्य शृङ्गारवर्णनम्।*
– मम्मट, का० प्र० ७/६१ की वृत्ति।

२. *न चैवंविधे विषये दैव व्यामोहितत्व कथापुरूषस्य परिहारो यतो रसबन्ध एव कवेः प्राधान्येन स्वप्रवृत्ति निबन्धनं युक्तम्।*
– आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३/१६ की वृत्ति।

३. *इतिवृत्तवर्णन तदुपाय एवेत्युक्तं प्राक् आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जन· इत्यादिना।*
– तदेव, ३/१६ की वृत्ति।

४. *आलोकार्थी यथा दीपशिखाया यत्नवाञ्जन·।*
तदुपाय तया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः।।
–आनन्दवर्धन, ध्वन्या, १/६।

५. *यतो रसबन्ध एव मुख्य· कविव्यापार विषयः*
– अभिनव गुप्त, ध्वन्या० १/१६ की वृत्ति पर की लोचन टीका।

ध्वनिकार ने रस आदि व्यंग्यार्थ की प्रधानता प्रदर्शित करते हुए कहा है कि केवल इतिवृत्त के वर्णन की प्रधानता होने तथा अग–अगी रूप से रस तथा भाव का निबन्धन न करने से काव्य मे इस प्रकार के दोष उपस्थित हो जाते हैं।[1] **लोचनकार** ने भी **ध्वनिकार** के विचार को सुस्पष्ट करते हुए कहा है कि इति वृत्त मात्र के वर्णन की प्रधानता होने पर जो अग–अगी भाव से रहित गौण तथा प्रधान भाव का बिना विचार किये हुए रस भाव इत्यादि का वर्णन या निबन्धन होता है, वही दोष का कारण होता है।[2]

ध्वनिकार तथा [illegible] का विचार है कि रस का प्रधानत वर्णन ही सहृदय को अभिलषित होता है, इतिवृत्त आदि का नहीं। रस प्रधान तथा इतिवृत्त आदि गौण या अप्रधान है। जहां कवि इस प्रधानता तथा गौणता के भाव का विस्मरण करके या उपेक्षा करके अथवा विशेष ध्यान न देकर काव्य–रचना करता है। वहा उसकी काव्य रचना दोष–पूर्ण हो जाती है। ऐसे स्थलों पर ही अकाण्ड में विच्छित्ति या विच्छेद तथा अकाण्ड में प्रकाशन रूप दोष उपस्थित हो जाते हैं।

इस सम्पूर्ण विवेचन का उद्‌देश्य बताते हुए **ध्वनिकार आनन्दवर्धन** कहते हैं कि कवि जनों को रसादि रूप व्यंग्यार्थ का ही विशद रूप से निरूपण करना चाहिए, इसलिए मैंने इतना विवेचन किया। ध्वनि का प्रतिपादन मात्र मेरा उद्‌देश्य नहीं है।[3] तात्पर्य यह है कि रसादि की अभिव्यक्ति ही काव्य का मुख्य उद्‌देश्य है।यह ज्ञापित करने के लिए तथा इससे सबद्ध दोषों को दूर करने के लिए ही **ध्वनिकार** ने इस प्रकार विस्तृत रूप से विवेचन किया है।

रस भग का चतुर्थ हेतु 'परिपुष्ट रस का पुन–पुन. उद्‌दीपन' है। यदि विभावादि से रस परिपुष्ट तथा उपभुक्त या आस्वादित हो चुका है तो उसका बार–बार परामर्श चिन्तन किंवा वर्णन करने पर वह रस मुरझाये पुष्प के समान मलिन हो जाता है।[4]

विभावादि के द्वारा रस का पूर्ण निष्पादन होने पर सहृदय को उस रस की अनुभूति हो जाती है। यदि इसके पश्चात् पुनः उसी रस का वर्णन होने लगे तो सहृदय वैरस्य का अनुभव करने लगता है।

ध्वनिकार ने इस प्रसग में उपभुक्त रस की तुलना मुरझाये हुए पुष्प से की है। जिस प्रकार एक बार शृगार आदि कार्यों के लिए उपयुक्त हो चुके पुष्प का पुनः शृंगार आदि कार्यों के लिए उपयोग करने पर उसमें कोई आकर्षण नहीं होता, उसी प्रकार एक बार आस्वादन किये जा चुके रस का पुनः निरूपण होने पर सहृदय की उसमें विशेष रूचि नहीं होती वरन् वह विरसता का ही अनुभव करता है।

---

१. *अतएव चेतिवृत्त मात्र वर्णन प्राधान्येऽङ्गाङ्गिभावरहित रसभाव निबन्धेन च कवीनामेवं- [illegible] भवन्तीति।*

— आनन्दवर्धन, ध्वन्या ३/१६ की वृत्ति।

२ *इतिवृत्त मात्र वर्णन प्राधान्ये सति यदङ्गाङ्गिभावरहितानामविचारितगुणप्रधानभावाना रसभावानां- निबन्धन तन्निमित्तानि स्खलितानि सर्वे दोषा इत्यर्थः*

— अभिनव गुप्त, ध्वन्या० ३/१६ की लोचनटीका।

३ *रसादिरूपव्यंग्य तात्पर्यमेवैषा युक्तमिति यत्नोऽस्माभिरारब्धो न ध्वनिप्रतिपादनमात्राभिनिवेशेन।*

— आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३/१६ की वृत्ति।

४ *पुन [illegible] रसभङ्गहेतुरवधारणीयो यत्परिपोषगतस्यापि रसस्य पौनः पुन्येन दीपनम्। उपभुक्तो हि रसः स्व सामग्री लब्धपरिपोषः पुनः पुनरामृष्यमाणः परिम्लान कुसुमकल्पः कल्पेते।*

— आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक ३/१६।

आनन्दवर्धन तथा **अभिनव गुप्त** ने इस प्रसग में किसी काव्य ग्रन्थ से कोई उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया है। **मम्मट** ने 'कुमार सम्भव' के 'रति विलाप' को यहा उद्घृत किया है।[1] जिसे **मम्मट** के प्रसंग मे स्पष्ट किया जायेगा।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित **पंचम रस–विरोधी हेतु** 'वृत्ति का अनौचित्य' है। यहा **आनन्दवर्धन** ने व्यवहारगत अनौचित्य, काव्यशास्त्रो में वर्णित कैशिकी आदि वृत्तियों तथा उपनागरिका आदि वृत्तियो के अनौचित्य पूर्ण निबन्धन को ग्रहण किया है।[2] व्यवहारगत अनौचित्य से तात्पर्य यह है कि जिस व्यक्ति या पात्र के प्रति जिस प्रकार का व्यवहार समीचीन हो उसी प्रकार के व्यवहार का वर्णन करना चाहिए यदि इससे विपरीत व्यवहार का निरूपण काव्य में किया जाता है तो वह सहृदय के वैरस्य का कारण होता है। राजा इत्यादि के द्वारा मुनि आदि के प्रति अथवा मुनि इत्यादि के द्वारा राजा इत्यादि के प्रति जिस प्रकार का व्यवहारशास्त्र सम्मत है तथा जो विद्वानों को मान्य है, उसी प्रकार के व्यवहार का वर्णन सहृदय को अभिप्रेत होता है। यदि इससे भिन्न प्रकार से राजा इत्यादि के व्यवहार का निरूपण काव्य में किया जाय तो वह रसास्वादन में बाधक होगा।

ध्वन्यालोक में इस सन्दर्भ में **आनन्द वर्धन** ने कहा है कि नायक के प्रति यदि नायिका बिना किसी उचित भड़्गमा के स्वयं सम्भोग की अभिलाषा को कहती है तो व्यवहारगत अनौचित्य उपस्थित हो जाता है। सामान्यत· नायिका द्वारा स्वय प्रेम का कथन या प्रणय–निवेदन नहीं किया जाता। पुरूष या नायक ही शब्दों द्वारा अपना प्रेम निवेदित करता है। नायिका हाव–भाव के द्वारा ही अपनी हृदयगत भावनाओं को प्रकट करती है। नायिका विलास चेष्टाओं के द्वारा अथवा दूती इत्यादि के द्वारा अपनी काम–भावना को व्यक्त करती है तो यह सहृदय के लिए आह्लादकारक होता है। इसके विपरीत यदि वह स्वय ही अपनी काम –भावना का कथन करती है तो यह अभिहित होने के कारण रसभड़्ग का कारण होता है।

– **आचार्य [illegible] प्रसाद शुक्ल** ने '[illegible]' टीका में उक्त प्रसग में व्याख्यान दिया है कि कण्ठत. अभिधा के द्वारा सम्भोग अभिलाषा का कथन तो ग्राम्य वत् होने के कारण रसभग को उत्पन्न करता है। दूती के मुख से भी स्पष्टत नहीं वरन् व्यजना के द्वारा ही वह सब कुछ निवेदित होना चाहिए।[3] इससे व्यक्त होता है कि जब दूती के द्वारा भी शब्दतः इस प्रकार का कथन अनुचित होता है तो नायिका के द्वारा शब्दतः कथन अत्यन्त उद्वेगजनक होगा।

व्यवहारगत अनौचित्य के समान ही **भरतमुनि** द्वारा प्रणीत कैशिकी, सात्वती, आरमटी तथा भारती इन चार प्रकार की वृत्तियों तथा **भामह** द्वारा निरूपित उपनागरिका, पुरूषा तथा कोमला वृत्तियों का निवेशन या निबन्धन यदि उचित रूप से न किया जाय तो वह भी वृत्तिगत अनौचित्य होने के कारण रस–भंग का कारण होता है।

---

१. *दीप्तिः पुन· पुनर्यथा कुमारसम्भवे रतिविलापे।*
– मम्मट, का०प्र०, ७/६१ की वृत्ति।

२ *तथा वृत्तेर्व्यवहारस्य यदनौचित्यं तदपि रसभंगहेतुरेव। यथा नायकं प्रति नायिकायाः – कस्याश्चिदुचिताड़्भड़्गमन्तरेण स्वय स[illegible]ने। यदि वा वृत्तीनां – भरतप्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां काव्यालड़्कारान्तर प्रसिद्ध[illegible]नां – वा यदनौचित्यमविषये निबन्धन तदपि रसभंगहेतुः।*
– आनन्दवर्धन, ध्वन्या०३/१६ की वृत्ति।

३ *कण्ठत· अभिधया कथन तु ग्राम्यं सद्रसभड़्गायैव जायते। [illegible]मुखेनापि च व्यञ्जनयैव – तत्सर्वं निवेदनीयम्।*
– ध्वन्या० की दीपशिखा टीका पृ० २३८।

वृत्तियो पर विस्तृत रूप से विचार आगे किया जायेगा।[1]

उदाहरणार्थ **कैशिकी** आदि वृत्तियों के अनौचित्य को इस प्रकार समझा जा सकता है। यथा कैशिकी वृत्ति शृगार रस मे प्रयुक्त होती हैं।[2] यदि इसका नियोजन वीर रस में किया जाय तो रस भग उपस्थित हो जायेगा।

इस प्रकार **ध्वनिकार** ने रस–विरोधी पाच हेतुओं को निरूपित किया है। इनका उपसहार करते हुए ध्वनिकार कहते हैं कि इस प्रकार इन रस–विरोधी तत्त्वों की तथा इसी प्रकार स्वय कल्पित किये गये अन्य भी रस–विरोधी कारणों के परिहार मे सत्कवियों को सावधान रहना चाहिए।[3]

ध्वनिकार ने स्वनिरूपित रस–विरोधी हेतुओ के अतिरिक्त अन्य भी रस–भग के स्थलों का सकेत दिया है कि उनके कथन से व्यजित होता है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति रस–भग उपस्थित करने वाले कारकों को स्वय पहचान कर उनका परिहार करे।

आनन्दवर्धन ने इस प्रसग में परिकर श्लोक प्रस्तुत किया है।[4] इनमें प्रथम श्लोक में निरूपित है कि सुकवियों के काव्य–व्यापार या काव्य–रचना का मुख्य विषय रसादि हैं। उन सत्कवियों को रसादि के निबन्धन मे सदैव सावधान रहना चाहिए। इनका विचार है सत्कवि को रस का निबन्धन करते समय किंचित् भी प्रमाद या असावधानी नहीं करनी चाहिए अन्यथा काव्य रचना दोष युक्त हो जाती है।

मम्मट ने **ध्वनिकार** के उपर्युक्त रस–विरोधी हेतु को इस रूप में ग्रहण नहीं किया है। इन्होंने 'प्रकृतिविपर्यय' नामक रस–दोष में पात्रों के अनुसार वेशभूषा सम्बोधन आदि का उल्लेख किया है। कैशिकी तथा उपनागरिका आदि वृत्तियों के अनुचित सन्निवेश का निरूपण **मम्मट** ने यहा नहीं किया है।

'द्वितीय श्लोक' में **ध्वनिकार** असावधानी वश किये गये काव्य–व्यापार का परिणाम निरूपित करते हैं। **ध्वनिकार** का विचार है कि नीरस काव्य कवि के लिए महान् अपशब्द अर्थात् निन्दासूचक या अपयश का सूचक है। इस प्रकार की रचना करने वाला अकवि ही कहलाता है कोई उसके नाम का स्मरण नहीं करता है। इस प्रकार की रचना करने वाले में विद्वान् व्यक्ति कवि लक्षण को ही घटित नहीं मानते अथवा इस प्रकार की रचना करने वाले को कवि के रूप में स्मरण नहीं किया जाता है।

---

१. *–द्रष्टव्य षष्ठ अध्याय पृ०.......... वृत्ति एवं वृत्तिगत रस-दोष शीर्षकान्तर्गत*

२. *शृङ्गारे कैशिकी वीरे सात्वत्यारभटी पुनः।*
रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती।।
चतस्रो वृत्तयो ह्येताः सर्वनाट्यस्य मातृकाः।
स्युर्नायकादि व्यापार विशेषा नाटकादिषु।।
– विश्वनाथ, सा० द०, ६/१२२–१२३।

३ *एवमेषा रस विरोधिनामन्येषाञ्चानया दिशा स्वयमुत्प्रेक्षितानां परिहारे सत्कविभिरवहितैर्भवितव्यम्।*
– आनन्दवर्धन, ध्वन्या०, ३/१६ की वृत्ति।

४ *मुख्या व्यापारविषयाः सत्कवीनां रसादयः।*
तेषा निबन्धने भाव्यं तैः सदैवाप्रमादिभिः।।
नीरसस्तु प्रबन्धो यः सोऽपशब्दो महान् कवेः।
सतेनाकविरेव स्यादन्येनास्मृत लक्षणः।।
पूर्वे विशृङ्खलगिरः कवयः प्राप्तकीर्तयः।
तान् समाश्रित्य न त्याज्या नीतिरेषा मनीषिणा।।
– ध्वन्यालोक, ३/१८ की वृत्ति के अन्तर्गत परिकर श्लोक।

'तृतीय श्लोक' मे **ध्वनिकार** कहते हैं कि प्राचीन कवियो में यदि किसी ने विशृखल वाणी में अर्थात् रस–विरोधी नियमो का उल्लङ् घन करके काव्य रचना की है और प्रसिद्धि भी प्राप्त की है तो इस प्रकार के कवियो का अनुकरण नहीं करना चाहिए। इन कवियो के मार्ग का आश्रय लेकर विद्वान् कविजनों को रस–भग के कारणो के परिहार को त्यागना नहीं चाहिए। उन्हे रस–विरोधी तत्वो का परिहार करते हुए ही अपनी काव्य–रचना करनी चाहिए।

अभिनव गुप्त ने इस तृतीय परिकर श्लोक को प्रस्तुत करने का कारण बताया है। वे कहते हैं कि काव्य–रचना करते समय कवि के हृदय में यह विचार उत्पन्न हो सकता है कि जब **कालिदास** जैसे लब्ध–प्रतिष्ठ कवि ने 'कुमार सम्भव' में रति विलाप के प्रसग में परिपुष्ट हुए करूण रस का पुन–पुन उद्दीपन किया है तो रस–विरोधी तत्वो के परिहार पूर्ण निबन्धन की क्या आवश्यकता है ?[1] तात्पर्य यह है कि **महाकवि कालिदास** ने रस–विरोध–परिहार न करते हुए काव्य–रचना की है तब भी उन्हें यश की प्राप्ति हुई है इसलिए रस–विरोध परिहार करके काव्य रचना करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वस्तुत महाकवियो में अनेक गुण होते हैं। उनके मध्य एक दोष महत्त्वहीन हो जाता है। **कालिदास** ने भी स्वय कहा है कि गुणो के समूह में एक दोष निमज्जित हो जाता है।[2] परन्तु उनका अनुकरण करके यदि वर्तमान समय मे कोई उन दोषो का परिहार नहीं करता तो वह निन्दित ही होगा क्योंकि **महाकवि कालिदास** जैसी प्रसिद्धि तथा अनेक गुण उसमे उपलब्ध नहीं है। इसलिए नये कवियों को रस–विरोधी हेतुओं का परिहार करके ही काव्य रचना करनी चाहिए।

चतुर्थ परिकर श्लोक में **ध्वनिकार** अपने द्वारा प्रस्तुत किये गये रस–विरोध परिहार सम्बन्धी निरूपण को पुष्ट करते हुए **वाल्मीकि** आदि का उल्लेख करते हैं। **ध्वनिकार** कहते हैं कि **वाल्मीकि, व्यास** आदि जो प्रसिद्ध कवीश्वर हुए हैं, उनके अभिप्राय या विचार के विरूद्ध मैंने यह मार्ग प्रदर्शित नहीं किया है। तात्पर्य यह है कि **आनन्दवर्धन** का विचार है कि **वाल्मीकि** आदि कवियों के काव्यो में भी रस–विरोधी तत्त्वों के परिहार का ध्यान रखा गया है और मैंने भी उन्हीं के अनुसार यह मार्ग स्वीकार किया है।

आचार्य चण्डिका प्रसाद शुक्ल ने **आचार्य** [illegible] द्वारा **वाल्मीकि** तथा **व्यास** का नामोल्लेख करने का उद्देश्य व्यक्त किया है। शुक्ल जी का अभिमत है कि– जब से लौकिक काव्यों की रचना प्रारम्भ हुई है तभी से जो प्रसिद्ध रस की कवीश्वर हुए हैं उनके द्वारा इसी मार्ग को ग्रहण किया गया है।[3] इस प्रकार [illegible] द्वारा **वाल्मीकि तथा व्यास** का नाम उद्धृत करने से यह ज्ञात होता है कि **ध्वनिकार** ने यह स्पष्ट किया है कि मैंने किसी नवीन मार्ग की उद्भावना नहीं की है। इसके साथ ही यह भी व्यंजित होता है कि यह मार्ग प्राचीनतम है क्योंकि लौकिक काव्यों के प्रारम्भिक कवियों से ही इस मार्ग का प्रारम्भ हो चुका था।

इस प्रकार **ध्वनिकार** ने रस विरोध हेतुओं का निरूपण करके उनके परिहार के प्रति कवि–जनों को सचेत या सावधान रहने का निर्देश दिया है।

---

१ *ननु कालिदासः परिपोष गतस्यापि करूणस्य रतिविलासेषु पौनः पुन्येन दीपन–मकार्षीत्, तत्कोऽय रसविरोधिनां परिहारनिर्बन्ध इत्याशङ्कयाह–पूर्वइति।*
– अभिनव गुप्त, ध्वन्या०, ३/१८ की वृत्ति मे तृतीय परिकर श्लोक की लोचन टीका।

२ *एको हि दोषो गुण सन्निपाते [illegible]न्दोः किरणेष्विवाङ्क.।*
– [illegible], कुमार सम्भव, प्रथम सर्ग।

३ *वस्तुतस्तु ये वाल्मीकि व्यास प्रभृतय–यत प्रभृति लौकिक काव्यमारब्ध ततः प्रभृति येऽपि प्रख्याताःसिद्धरसा कवीश्वरा बभूवु तै क्षुण्ण एवाय पन्था .*
– दीपशिखा टीका पृ० २४१

आनन्द वर्धन के पश्चात् **मम्मट** से पूर्व **महिम भट्ट** तथा **भोज** ने दोषों पर विस्तृत तथा व्यवस्थित रूप से विचार किया है, परन्तु रस–दोषो के विषय मे विशेष उल्लेखनीय कार्य इन आचार्यों ने नहीं किया है। **महिमभट्ट** ने 'अन्तरग' कहकर रस दोषों को अन्य दोषों से पृथक् करने का प्रयास किया है, किन्तु उन दोषों के निरूपण की ओर ये आकृष्ट नहीं हुए। पूर्वाचार्य **आनन्दवर्धन** के रस–विरोधी तत्त्वो के प्रतिपादन से ही ये सन्तुष्ट रहे हैं। कोई मौलिक विचार इन्होने प्रस्तुत नहीं किया।

भोजराज के समक्ष **आचार्य आनन्द वर्धन** व **महिम भट्ट** कृत दोषों का विचार स्पष्ट था परन्तु ये रस–दोषो को अन्य–दोषों से पृथक् भी नहीं कर पाये। **रूद्रट** के 'विरस' दोष को निरूपित करते हुए भी रस–दोषो का कोई सकेत नहीं दिया।

सर्वप्रथम **मम्मट** ने **आनन्दवर्धन** द्वारा प्रतिपादित रस–विरोधी तत्त्वों की गणना रस–दोषों में की है इसलिए रस–दोषो की प्रस्थापना का श्रेय **मम्मट** को ही है। **मम्मट** के पूर्ववर्ती आचार्यों ने दोषों में रस–दोषों की गणना नहीं की है अर्थात् **मम्मट** के पूर्ववर्ती आचार्यों ने दोषों के वर्गीकरण में रसगत दोषो का उल्लेख नहीं किया है। इन दोषों को सम्भवत अर्थ–दोषों में ही अन्तर्भुक्त माना है। उल्लेखनीय है कि रस–दोषों का उल्लेख करके उन्हे अर्थगत दोषों मे अन्तर्भुक्त नहीं किया गया है। वरन् यह सम्भावना व्यक्त की जा सकती हैं क्योंकि विरस दोष का स्वरूप रस–दोष के एक भेद के समान प्रतीत होता है तथा विरस दोष को अर्थ–दोषों में परिगणित किया गया है।

मम्मट ने रस–दोष के दस भेद किये हैं, जो इस प्रकार हैं,

१ स्वशब्द वाच्यता
२ विभाव तथा अनुभाव की कष्टकल्पना
३ प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण
४ रस की पुन पुनः दीप्ति
५ अनवसर में रस का विस्तार
६. अनवसर में रस का विच्छेद
७. अङ्ग (अप्रधान) की अत्यन्त विस्तृति
८. अङ्गी (प्रधान) की उपेक्षा
९. प्रकृति विपर्यय
१० अनङ्ग (अप्रासङ्गिक) का कथन[1]

उपर्युक्त रस–दोषों में कतिपय रस–दोष **मम्मट** ने **आनन्दवर्धन** के रस–विरोधी तत्त्वों से ग्रहण किये हैं तथा कतिपय की उद्भावना स्वय की है। यथा 'प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण' 'रस की पुनः पुन' दीप्ति', 'अनवसर में रस का विस्तार', 'अनवसर में रस का विच्छेद' और अङ्ग की अत्यन्त विस्तृति रस–दोष **आनन्द वर्धन** से ग्रहण किये गये हैं तथा 'स्वशब्दवाच्यता' 'विभाव–अनुभाव की कष्टकल्पना' एवं 'अनङ्ग का कथन' **मम्मट** मौलिक की उद्भावना है। 'प्रकृति–विपर्यय' में वृत्ति के औचित्य पर **आनन्द वर्धन** ने विचार किया हैं परन्तु इसे भी **मम्मट** की उद्भावना मानना उचित ही होगा क्योकि 'प्रकृति–विपर्यय' में वृत्ति के अनौचित्य के अतिरिक्त अन्य देश, काल आदि के अनौचित्य पर भी विचार किया गया है।

---

१ *व्यभिचारि–रस–स्थायिभावाना शब्दवाच्यता। क[illegible] व्यक्तिरनुभाव–विभावयो.।।*
प्रतिकूल वि[illegible]ग्रहो दीप्ति पुन पुन·। अकाण्डे प्रथनच्छेदौ अ[illegible] विस्तृति.।।
अङ्गिनोऽननुसन्धानं प्रकृतीनां विपर्यय.। अनङ्गस्याभिधानं च रस दोषा· स्युरीदृशाः।।
—मम्मट, का० प्र० ७/६०–६२।

विचारणीय है कि **मम्मट** द्वारा उद्भावित रस–दोषों के स्रोत **आनन्दवर्धन** आदि पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों मे प्राप्त होते हैं। परन्तु रस–दोष के रूप में उनकी उद्भावना **मम्मट** ने ही की है। इसलिए ये दोष **मम्मट** द्वारा ही सर्वप्रथम उद्भावित है। ऐसा कहना अनुचित न होगा।

उल्लेखनीय है कि कतिपय विद्वान् **मम्मट** के रस–दोषों की सङ्ख्या दस न मानकर तेरह मानते हैं। ये आचार्य 'स्वशब्द–वाच्यता' को व्यभिचारी, रस तथा स्थायी भाव की स्वशब्द वाच्यता के रूप में तीन भागो मे विभाजित करते हैं तथा द्वितीय रस–दोष को 'अनुभाव की कष्टकल्पना' तथा विभाव की कष्टकल्पना के रूप मे दो पृथक्–पृथक् भागो में विभक्त करते हैं, इस प्रकार रस–दोष तेरह हो जाते हैं। **वामन झलकीकार** ने भी व्यभिचारी, रस व स्थायी भाव की 'स्वशब्दवाच्यता' को तीन दोष कहा है[1]

रस–दोषों के तेरह भेद मानना समीचीन नहीं है। साथ ही प्रामाणिक भी नहीं है। काव्य प्रकाश के टीकाकार **भीमसेन दीक्षित** ने भी रस–दोषो की सङ्ख्या दस ही बताई है।[2]

'स्वशब्दवाच्यता' तथा 'विभाव एव अनुभाव की कष्टकल्पना से अभिव्यक्ति' रूप रस–दोषो पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि इन्हें दो दोष मानना ही समीचीन है क्योंकि शब्दवाच्यता में **मम्मट** ने भी व्यभिचारी रस तथा स्थायी भाव की स्वशब्दवाच्यता को सग्रहित कर लिया है तथा 'कष्ट कल्पना से अभिव्यक्ति' रूप रसदोष मे अनुभाव तथा विभाव को समाहित कर लिया है। प्रस्तुत प्रकरण मे **काव्य–प्रकाश** के प्रामाणिक टीकाकार **गोविन्द ठक्कुर** का विचार उल्लेखनीय है। इन्होंने शब्दवाच्यता की व्याख्या करते हुए कहा है कि सामान्य व विशेष पदों के द्वारा वाच्य का कथन या ग्रहण ही शब्दवाच्यता है।[3] इसी प्रकार ठक्कुर महोदय ने 'कष्टकल्पना से अभिव्यक्ति' नामक दोष को अनुभाव स्थलीय तथा विभाव स्थलीय बताया है[4]। इससे स्पष्ट होता है कि **गोविन्द ठक्कुर** महोदय ने भी कष्ट कल्पना से अभिव्यक्ति को दो दोष न मानकर एक ही दोष माना है।

उल्लेखनीय है कि काव्य–प्रकाश के व्याख्याकारों ने व्याख्या की स्पष्टता के लिए उपयुर्क्त दोषों को पृथक्–पृथक् करके वर्णित किया है। किन्तु इस आधार पर रस–दोषों की सङ्ख्या तेरह मानना समीचीन प्रतीत नहीं होता ।

मम्मट द्वारा निरूपित रस–दोषों के स्वरूप पर विहङ्गम् दृष्टिपात प्रस्तुत शोध–प्रबन्धके लिए नितान्त अपेक्षित है। अत रस–दोषों का स्वरूप'–विवेचन द्रष्टव्य है–

प्रथम रस–दोष 'स्वशब्दवाच्यता' है। इसमें सामान्य तथा विशेष पदों के द्वारा व्यभिचारी भाव, रस तथा स्थायी भाव का कथन दोष–पूर्ण होता है, यह कहा गया है। इन पर पृथक्–पृथक् विचार द्रष्टव्य है–

व्यभिचारीभाव की स्वश- वाच्यता वहाँ होती है जहाँ व्यभिचारी भावों का सामान्यतः 'व्यभिचारी' या 'सञ्चारी' पद द्वारा कथन होता है या विशेषतः 'निर्वेद' आदि शब्दों द्वारा उपादान होता है।

---

१ *–बाल बोधिनी पृ० ४३३।*

२. *–सुधा सागर टीका, पृ० ७१०।*

३. *शब्दवाच्यता–सामान्यतो विशेषतो वा स्वशब्देनोपादानम्।*
–का० प्रदीप पृ० ३०/३११।

४ *–काव्य–प्रदीप, पृष्ठ–३११।*

उल्लेखनीय है कि 'व्यभिचारी तथाञ्जित'[1] से स्पष्ट है कि व्यभिचारी भाव अनुभावादि द्वारा व्यञ्जित होकर ही भावानुभूति कराते हैं। वाच्य रूप मे इनका कथन करने पर आस्वाद की हानि होती है। जिस प्रकार अगूढव्यग्य चमत्कार–रहित होता है, उसी प्रकार 'वाचक' शब्द के द्वारा प्रस्तुत व्यभिचारी भाव भी सहृदय के चित्त को चमत्कृत करने मे अक्षम होता है। वस्तुत 'वाचक' पद के द्वारा मात्र वस्तुस्थिति का ज्ञान हो जाता है, जबकि 'व्यञ्जक' शब्द के द्वारा वही स्थिति प्रभावशाली तथा हृदयस्पर्शी अर्थात् हृदय को चमत्कृत करने वाले रूप मे उपस्थित होती है।

आचार्य मम्मट ने व्यभिचारी भावो के सामान्यतः कथन का उदाहरण प्रस्तुत किया है।[2] इसमें जिन व्यभिचारी भावो का स्वशब्द से कथन है-वे व्रीडा, करूणा, सत्रासा, ईर्ष्या आदि है। इन व्यभिचारी भावों के अनुभाव होते हुए भी इनका स्वशब्द से कथन दोष–पूर्ण है। यदि इनके अनुभाव न होते तो इनका स्वपद से कथन आस्वाद का विघातक न होता । **आचार्य मम्मट** ने इसीलिए इन व्यभिचारी भावों के अनुभावों का उल्लेख किया है। उन्होने 'व्रीडा' के 'व्यानम्रा' 'सकरूणा' के 'मुकुलिता', 'सत्रासा' के 'सोत्कपा', 'सविस्मयरसा' के 'निमेषरहिता', 'ईर्ष्या' के 'मीलदर्भू', 'दीना' के 'म्लाना' अनुभावो को प्रस्तुत किया है।[3] उल्लिखित अनुभावों के द्वारा यदि व्यभिचारी भावों को व्यक्त किया जाता तो यहाँ भावाभिव्यक्ति होती परन्तु स्वशब्द से व्रीडा आदि का ग्रहण सहृदय के चित्त में उद्वेग उत्पन्न करता है। इस प्रकार भाव की अनुभूति न होकर अपकर्ष होता है।

रस की स्वशब्द वाच्यता मे 'रस' का सामान्यतः रस शब्द से तथा विशेषत 'शृगार' आदि पदों से कथन आस्वाद का अपकर्षक होता है। विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त या व्यञ्जित होने पर ही रस चर्वणा के योग्य होता है।[4] रस कदापि वाच्य नहीं हो सकता यह हमेशा व्यङ्ग्य ही होता है। इसलिए यदि सामान्यत. या विशेषत· रस का कथन स्वपद से किया जाता है तो वह आस्वादन में अपकर्ष उपस्थित करता है।

मम्मट ने **रस की स्वशब्द वाच्यता** की दोनों स्थितियों का उदाहरण प्रस्तुत किया है। रस शब्द का स्वशब्द से उपादान होने के कारण **मम्मट** द्वारा प्रस्तुत

---

१ —मम्मट का० प्र०–४/३५।

२ सव्रीडा दयितानने सकरूणा [illegible]तङ्गचमाम्बरे
सत्रासाभुजगे [illegible] चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि।
सेर्ष्या जह्नुसु[illegible] दीना कपालोदरे
पार्वत्या न[illegible]नी दृष्टिः शिवायास्तु वः।।
—मम्मट का० प्र० उदा० ३२१।

३ व्यानम्रा दयितानने मुकुलिता मातङ्गचर्माम्बरे
सोत्कम्पा भुजगे निमेषरहिता चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि।
मीलदभ्रूः सुरसिन्धु दर्शनविधौ म्लाना कपालोदरे
—मम्मट का० प्र०, उदा० ३२१ का प्रत्युदाहरण।

३ क) व्यञ्जितश्चर्वणीय.।
—मम्मट का० प्र० ४/२८ की वृत्ति।

ख) व्यक्त· स तैः।
—वही का० प्र० ४/२८।

उदाहरण त...० [1] मे रस की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है क्योंकि रस की विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के द्वारा अभिव्यक्ति नहीं हो रही है। वरन् 'रस' शब्द का ही सामान्य रूप से ग्रहण हुआ है।

बा... कार ने कहा है कि यदि यहाँ 'कोऽप्यजायत विकार आन्तर' [2] यह कहा जाता तो दोषाधायक नहीं होता। परन्तु ऐसा न करके 'रस' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसलिए आस्वाद का अपकर्ष होता है।

रस के विशेषत शृङ्गारादिशब्दों के द्वारा कथन में **मम्मट** ने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है [3] उसमे शृङ्गार पद का स्वशब्द से उपादान किया गया है। विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त होने पर ही शृङ्गार' रस की अनुभूति हो सकती है। स्वशब्द से उसका उपादान होने पर रस की अभिव्यक्ति तो होती ही नहीं वरन् रस–दोष उपस्थित हो जाता है।

'व्यभिचारी' तथा 'रस' की स्वशब्दवाच्यता का निरूपण करने के पश्चात् कम–प्राप्त 'स्थायी भाव 'की **स्वशब्द वाच्यता** को **मम्मट** ने प्रस्तुत किया है। इस प्रसङ्ग में इन्होंने 'सम्प्रहारै प्रहरणैः०' [4] इस छन्द को उद्धृत किया है। इस छन्द में 'उत्साह' नामक स्थायी भाव का स्वशब्दोपादान है।

बालबोधिनीकार ने **प्रदीप** व **उद्योत** टीका को उदधृत् करते हुए लिखा है कि यहाँ 'प्रमादस्तस्य कोप्यभूत' का कथन होने पर दोष उपस्थित नहीं होता है तात्पर्य यह कि 'उत्साह' के स्थान पर 'प्रमोद' पद का ग्रहण होने से उत्साह रूप 'स्थायी भाव' की अभिव्यक्ति हो जाती। इसी प्रसङ्ग में **बालबोधिनीकार** ने यह भी कहा है कि 'प्रमोद' के स्थान पर 'स्थायीभाव' पद के प्रयोग के द्वारा स्थायी भाव की सामान्यत स्वपद से उक्ति को भी समझा जा सकता है। [5]

'स्वशब्द वाच्यता' रूप दोष **मम्मट** की मौलिक उद्भावना है। **आनन्दवर्धन** ने रस के विरोधी तत्त्वों में इसकी गणना नहीं की है। सर्वप्रथम **मम्मट** ने इस दोष को निरूपित किया है। **मम्मट** के परवर्ती **हेमचन्द्र, वाग्भट द्वितीय** तथा **केशव मिश्र** ने **मम्मट** के समान ही इस दोष का निरूपण किया है।

उल्लेखनीय है कि **हेमचन्द्र वाग्भट द्वितीय** एवं **केशव मिश्र** ने सञ्चारी भाव की स्वशब्दवाच्यता में **मम्मट** का ही उदाहरण प्रस्तुत किया है जबकि स्थायीभाव की स्वपदोक्ति में **हेमचन्द्र** व **केशव मिश्र** ने ही **मम्मट** का उदाहरण ग्रहण किया तथा **वाग्भट द्वितीय** व **विश्वनाथ** ने भिन्न उदाहरण उपस्थित किया है।

---

1. *त...गलाश्रेयं किञ्चिदुच्चभुजमूललोकिताम्।*
   नेत्रयो कृतवतोऽस्य गोचरे कोऽप्यजायत रसो निरन्तरः।।
   —मम्मट का० प्र० उदा० ३२३।
2. *—बा० बो० टी० पृ० ४३५।*
3. *आलोक्य कोमल कपोलतलाभिषिक्तव्यक्तानुरागसुभगामभिराममूर्तिम्।*
   पश्यैष बा...विवर्तमान ...नि तरङ्गितमातनोति।।
   —मम्मट, का० प्र०, उदा० ३२४।
4. *सम्प्रहारै प्रहरणै प्र...रेशापरस्परम्।*
   ठणत्कारै ...तिगतैरुत्साहस्तस्य कोऽप्यभूत।।
   —वही का० प्र० उदा० ३२५।
5. *—वामन झलकीकार, बा० बो० टी० पृष्ठ – ४३६।*

जिसमे 'रति' शब्द के ग्रहण का उदाहरण दिया है। **पण्डितराज** ने भी स्थायीभाव की स्वशब्दवाच्यता को मान्यता दी है।

रस की स्वशब्दवाच्यता को **विश्वनाथ** तथा **केशवमिश्र** ने ग्रहण किया है। **हेमचन्द्र** तथा **वाग्भट द्वितीय** ने रस की स्वशब्दवाच्यता को तो मान्यता दी है। परन्तु शृङ्गारादि के स्वपदेनोक्ति को इन आचार्यों ने दोषपूर्ण नहीं माना है। विद्यानाथ ने भी रस भाव आदि की स्वशब्द वाच्यता को दोष माना है।[1]

'स्वशब्दवाच्यता' रूप दोष के विषय में यह विचारणीय है कि 'रस' की स्वशब्दवाच्यता सदैव दोष ही होती है। यदि व्यभिचारी या स्थायी भाव की विभाव,अनुभाव आदि के द्वारा अभिव्यक्ति हो रही है और उनका स्वपद से अभिधान हो तो वहॉं उनकी स्वशब्द वाच्यता दोष नहीं होगी। यदि अनुभावादि के द्वारा सम्पूर्ण भाव प्रकट हो रहा है,सम्पूर्ण बिम्ब उपस्थित हो रहा है तो वहॉं स्थायी आदि भावों का स्वशब्द से कथन भी दोषपूर्ण नहीं होगा क्योकि रस का अपकर्ष ही दोषाधायक होता है। व्यञ्जना का अभाव होने पर ही दोष उपस्थित होगा अन्यथा नहीं। वस्तुत एक शब्द के द्वारा प्रायः रस की अनुभूति बाधित नहीं होती।

द्वितीय रस–दोष 'अनुभाव एव विभाव की कष्ट कल्पना से अभिव्यक्ति' है। 'कष्ट कल्पना से अभिव्यक्ति' का तात्पर्य है 'प्रकरण आदि का अनुसधान करने पर विभाव तथा अनुभाव की प्रतीति होना'। यहॉं क्रमश अनुभाव तथा विभाव की कष्ट कल्पना से प्रतीति विचारणीय है।

अनुभाव की यदि झटिति प्रतीति न हो तो रसानुभूति बाधित होती है। अनुभाव के स्पष्टत कथित न होने पर उसकी अविलम्ब प्रतीति नहीं होती । ऐसे स्थलों पर किसी अन्य श्लोक या प्रकरण आदि का पर्यालोचन करने के पश्चात् ही रसानुभूति हो पाती है। जिसके कारण रस–विघात होता है। **आचार्य मम्मट** द्वारा उद्धृत छन्द[2] में नायक निष्ठ शृंगार का वर्णन है किन्तु उद्दीपन विभाव चन्द्रमा और लीलापूर्वक शिरोवस्त्र को सम्भालना एव आलम्बन विभाव 'नायिका' द्वारा शृगार (सयोग) के प्रसिद्ध स्तम्भ, स्वेद आदि अनुभावों की अविलम्ब प्रतीति नहीं होती।

आचार्य मम्मट ने उल्लिखित प्रकरण में कहा है कि यहाँ विभाव अनुभाव को पर्यवसित करने वाला है।[3] पर्यवसित' करने का तात्पर्य है प्रकरणआदि के 'अनुसधान से विलम्ब से अनुभाव की प्रतीति कराना'। 'पर्यवसायिन.' शब्द 'कष्टकल्पना द्वारा अभिव्यक्ति को प्रकट करता है। 'चन्द्रोदय' तथा 'लीलाशिरोऽंशुकादि उद्दीपनों तथा नायिका रूप आलम्बन के द्वारा नायकनिष्ठ शृंगार की शीघ्र अभिव्यक्ति नहीं होती। यहॉं सर्वप्रथम तो नायक के रसिक होने का अनुसधान करना होगा क्योंकि अरसिक व्यक्ति में तो चन्द्रोदय आदि से रत्यादि भाव उत्पन्न ही नहीं हो सकते। नायक के रसिक होने का अनुसधान करने के पश्चात् यह प्रतिसधान करना होगा कि चन्द्रोदय होने पर परस्पर देखने से युवक–युवती में निश्चित रूप से विकार उत्पन्न होता है। इस प्रकार क्लिष्ट कल्पना करने के पश्चात् ही नायक में स्तम्भ,स्वेद आदि अनुभावों की अभिव्यक्ति मानी जा सकती है।

---

१ *रसभावादीना स्वशब्दवाच्यता दुष्टैवा*
–विद्यानाथ, प्रताप रूद्रयशोभूषण, पृष्ठ–३२।

२ *कर्पूरधूलि धवलद्युतिपूरधौत दिङ्मण्डले शिशिररोचिषि तस्य यून.।*
लीलाशिरोंशुक निवेश विशेषकॢप्ति व्यक्तस्तनोन्नतिरभून्नवयौवना सा।।
–मम्मट, का० प्र० उदाहरण– ३२५।

३ *अत्रोद्दीपनालम्बनरूपा शृङ्गार योग्या विभावा अनुभाव पर्यवसायिन. स्थिता इति कष्ट कल्पना।*
–वही, उदाहरण ३२५ के पश्चात् वृत्ति।

विचारणीय है कि वस्तुत यहाँ पुरूषनिष्ठ शृगार ही कवि को अभिप्रेत है तथा पुरूषनिष्ठ शृगार ही व्यञ्जनीय भी होता है। 'अभून्नवयौवना सा' से नायिका का आलम्बन विभाव होना पूर्णत स्पष्ट है। शिरोऽ:शुक की विशेष स्थिति नायक निष्ठ रतिकार्य नहीं है वरन् नायिका निष्ठ है। अत यह उद्दीपन विभाव है। अनुभाव सदैव स्थायी भाव जन्य होते हैं। प्रस्तुत स्थल मे नायकनिष्ठ रति है किन्तु अनुभाव नायक निष्ठ नहीं है। विभावादि द्वारा उसकी शीघ्र प्रतीति भी नहीं हो सकती। इसीलिए यहाँ कष्ट कल्पना है जो रसास्वादन मे बाधक है।

विभाव की कष्टकल्पना के द्वारा अभिव्यक्ति भी रस–दोष है। अनुभावादि के द्वारा विभावों की झटिति प्रतीति न होना तथा एक ही रस के विभावों की स्पष्टत प्रतीति न होना सहृदय की रसानुभूति में बाधक होता है। 'परिहरति रति०' [1] इस उदाहरण मे नायकनिष्ठ वियोग शृङ्गार है किन्तु कामिनी रूप आलम्बन विभाव का स्पष्टत उल्लेख नहीं है। परिहरति रति आदि अनुभावों द्वारा उसका शीघ्र आक्षेप भी नहीं किया जा सकता। अत विभाव की कष्ट कल्पना से प्रतीति होती है। यह भी विचारणीय है कि 'परिहरति रतिम्' आदि अनुभाव वियोग शृङ्गार के असाधारण अनुभाव नहीं है। वरन् ये करूण, भयानक तथा बीभत्स आदि रसो मे भी होते हैं। कई रसों के एक साथ उपस्थित होने पर निश्चित रूप से कामिनी रूप आलम्बन विभाव का आक्षेप नहीं होता। इस प्रकार एक ही रस में विश्रान्ति न होने से विलम्ब से रस की प्रतीति होती है। अनुसधान के द्वारा कामिनी रूप आलम्बन विभाव की प्रतिति होती हैं।

'प्रतिकूल विभावादि ग्रह' **तृतीय रस–दोष है।** प्रतिपाद्य रस के प्रतिकूल रसों के विभावादि का ग्रहण होने पर चमत्कार में हानि होती है। इससे कवि के द्वारा अभिप्रेत रस का उच्छेद हो जाता है जो दोषाधायक होता है। यहाँ **मम्मट** ने जो उदाहरण[2] प्रस्तुत किया है,उसमें प्रतिपाद्यरस शृङ्गार है, 'काल की अनित्यता' उद्दीपन विभाव है। यह विभाव शान्त रस का है। 'शान्त रस' के स्पर्श मात्र से शृङ्गार का आस्वाद विनष्ट हो जाता है।

'काल की अनित्यता' रूप उद्दीपन विभाव से स्पष्टतः 'निर्वेद' रूप व्यभिचारी भाव प्रकाशित हो जाता है।उल्लेखनीय है कि 'निर्वेद' शान्त रस का स्थायी भाव भी है किन्तु प्रकृत स्थल में शृङ्गार रस कवि को अभिप्रेत है। इसलिए'निर्वेद'को व्यभिचारी भाव माना जायेगा। इस प्रकार शृङ्गार रस के प्रतिकूल विभाव तथा व्यभिचारी भाव का उपादान होने से प्रकृत रस शृङ्गार का अनास्वादन होता है।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि यदि 'परिहरतिरतिम्' आदि के समान यहाँ विलम्ब से'निर्वेद'की प्रतीति

---

१. *परिहरति रति मति लुनीते स्खलति भृश परिवर्तते च भूय.।*
अति बत विषमा दशास्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्म.।।
—मम्मट, का० प्र०, उदा० ३२६।

२ क) *प्रसादे वर्तस्व प्रकटयमुदं सत्यज रूष*
प्रिये [illegible]व ते सिञ्चतु वचः।।
निधान सौख्याना क्षणमभिमुख स्थापय मुखं
न मुग्धे, प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिण.।।
—तदेव, का० प्र० उ० – ३२७।

ख) *अत्र शृङ्गारे प्रतिकूलस्य शान्तस्यानित्यता प्रकाशनरूपो विभावस्तत्प्रकाशितो निर्वेदश्च व्यभिचारी उपात्त।*
—वहीं ७/६१ की वृत्ति।

होती तो यह दोष न होता वरन् विरूद्ध रस व्यग्य होने के कारण 'अमतपरार्थ'[1] नामक वाक्य दोष होता। 'निर्वेद' को व्यभिचारी कहना शृगार रस की अनुभूति के लिए आवश्यक है।

उल्लेखनीय है कि 'प्रतिकूल विभावादि ग्रह' नामक रस दोष की उद्भावना **आचार्य आनन्द वर्धन** ने की है। उन्होने प्रकृत दोष को स्पष्ट करने के लिए कहा है कि प्रणय कलह में कुपित नायिका को वैराग्य कथाओं द्वारा मनाने का वर्णन होने पर विरोधी रस के ग्रहण रूप दोष उपस्थित होता है। इन्होंने उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया है। **आचार्य अभिनव गुप्त** ने प्रकृत स्थल में 'प्रसादे वर्तस्व०' छन्द उद्धृत किया है। यह भी उल्लेखनीय है कि यहाँ स्थायी भाव का स्थायी भाव के रूप में नहीं वरन् व्यभिचारी भाव के रूप मे ग्रहण करना दोष पूर्ण नहीं होता, इस विषय पर भी आचार्य अभिनवगुप्त ने गम्भीरता से विचार किया है। जो पहले वर्णित किया जा चुका है।[2] **आचार्य मम्मट** ने सारगर्भित रूप से समस्त प्रकरण को प्रस्तुत किया है।

आचार्य मम्मट ने प्रकृत उदाहरण को स्पष्ट करते हुए वृत्ति में स्पष्टत. प्रतिकूल विभाव तथा व्यभिचारी भाव के ग्रहण में उपस्थित दोष को उल्लिखित किया है। **आचार्य आनन्द वर्धन** या **अभिनवगुप्त** ने इस प्रकार का सकेत नहीं दिया है। यह **आचार्य मम्मट** का मौलिक विवेचन है। 'प्रतिकूल विभावादि' में 'आदि' पद से विभाव, व्यभिचारी भाव तथा अनुभाव् को ग्रहण करके **मम्मट** ने तीनों स्थितियों को स्पष्ट किया है। 'प्रसादेवर्तस्व' छन्द में विभाव, व्यभिचारी भाव तथा अनुभाव को ग्रहण करके **मम्मट** ने तीनों स्थितियों को स्पष्ट किया है। 'प्रसादेवर्तस्व' छन्द मे विभाव तथा व्यभिचारी भाव को उद्घृत करने के पश्चात् आगे प्रतिकूल अनुभाव के ग्रहण रूप दोष को स्पष्ट किया है।

प्रतिकूल रस के विभावों के समान ही प्रतिकूलरस के अनुभावों का ग्रहणभी दोष उत्पन्न करता है।यहा **आचार्य मम्मट** ने जो उदाहरण[3] प्रस्तुत किया है।, उसमें शृगार रस कवि को अभिप्रेत है। 'सकल परिहार' तथा 'वनगमन' रूप अनुभाव शान्त रस में भी सम्भव हैं।इसलिए 'प्रतिकूल अनुभाव ग्रहण' रूप रस –दोष है। यदि इन्धन आदि लेने के ब्याज से वनगमन होता तो यह शान्त रस का अनुभाव न होता क्योंकि 'वनगमन' तथा 'सकल परिहार' शृगार रस में भी उपादेय है,किन्तु ब्याज का कथन आवश्यक है। ब्याज का कथन न होने से ही यह शान्त रस का अनुभाव है। अतः शृंगार का विच्छेद हो जाता है यहाँ यह शंका भी उत्पन्न होती है कि शृगार में पर्यवसान होने के कारण किसी ब्याज का कथन आवश्यक नहीं है। इस विषय में यह ध्यातव्य है कि प्रतिकूल अनुभावों के ग्रहण से उत्पन्न दोष को प्रस्तुत करते हुए **ध्वनिकार** ने उदाहरण प्रस्तुत किया है। किन्तु कोई छन्द उद्घृत नहीं किया है। उन्होंने कहा है कि प्रणय कुपिता प्रिया को प्रसन्न करने में असमर्थ होने पर नायक का क्रोधित हो जाना दोष पूर्ण होता है। **आचार्य मम्मट** ने प्रकृत स्थल में सर्वथा नवीन भाव

---

१ *अमत प्रकृत विरूद्धः परार्थो यत्र।*
–मम्मट, का० प्र० ७/५५ का पूर्वार्द्ध।

२. *–द्रष्टव्य, प्रस्तुत अध्याय, पृ० १३२*

३. *णिहुअरमणम्मिलोअणपहमि पडिए गुरूअण मज्झम्मि।*
सअलपरिहारहिअआ वणगमणं एव महइ बहू।।
(सस्कृत छाया–निभृतरमणे लोचनपथे पतिते गुरूजनमध्ये।
सकल परिहारहृदया वनगमनमेवच्छति बधूः।।)
– मम्मट, का० प्र० उदाहरण – ३२८

को प्रकट करने वाला छन्द प्रस्तुत किया है। **आचार्य मम्मट** ने शृगार में शान्त रस के अनुभाव के ग्रहण का उदाहरण प्रस्तुत किया है। जबकि पूर्वोक्त प्रतिकूल विभावादि के ग्रहण में **आचार्य मम्मट** ने **आचार्य आनन्द वर्धन** द्वारा उल्लिखित शृगार एवं शान्त रस के उदाहरण को ही प्रस्तुत किया है।

आचार्य मम्मट प्रतिपादित **चतुर्थ रस–दोष** 'एक ही रस की बारम्बार दीप्ति' है। जहाँ किसी अगभूत रस का परिपोष हो जाने के पश्चात् भी पुनः उसे उपस्थित किया जाय, वहाँ वैरस्य उपस्थित हो जाता है। 'दीप्ति' का तात्पर्य है– 'विभावादि द्वारा पुष्ट करना'। अंगभूत रस का पुनः पुन. विच्छेद करके ग्रहण करने से उपर्भुक्त का पुन' उपभोग करने के समान सहृदय को आह्लादापकर्ष होता है। यहाँ ध्यातव्य है कि प्रधान रस मे पुन 'दीप्ति' दोष नहीं होता। यह मात्र अगभूत रस में ही होता है। अगी रस को बारम्बार ग्रहण करने से आस्वाद–वृद्धि ही होती है, अपकर्षण नहीं। यह भी उल्लेखनीय है कि यह दोष मुक्तक ग्रन्थों में नहीं मात्र प्रबन्ध काव्य मे ही प्राप्त होता है। किञ्चित् अन्तराल में एक बार परिपुष्ट हुए रस का पुनर्ग्रहण प्रबन्ध ग्रन्थ मे ही सम्भव है। 'कुमार सम्भव' नामक ग्रन्थ में शृगार अगी रस है। इसमें 'अथ मोह परायणा सती०'[1] इस श्लोक से दीप्त करूण रस को 'अथ सा पुनरेव विह्वला०'[2] इस श्लोक से पुन परिपुष्ट किया गया है। इसी प्रकार वसन्त दर्शन से विच्छेद होने के पश्चात् 'तमवेक्ष्य रूरोद सा भृशम्०'[3] इस श्लोक से उसे पुन दीप्त किया गया है। एक अग या अप्रधान रस के बार–बार वर्णन से सहृदय को अरूचि हो जाती है। अतएव दोष उपस्थित हो जाता है। **आचार्य आनन्द वर्धन** ने उपभुक्त रस की तुलना मुरझाये पुष्प से की है। **आचार्य आनन्द वर्धन** तथा **अभिनव गुप्त** ने यहा उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया है। **आचार्य मम्मट** ने यहाँ स्वत उदाहरण प्रस्तुत किया है।[4]

पाँचवा रस–दोष 'अनवसर में रस का विस्तार' है। यदि रसों का प्रसग के अनुकूल वर्णन नहीं होता तो वैरस्य उपस्थित हो जाता है जो दूषकता का कारण है। उदाहरण स्वरूप 'वेणीसंहार' नामक ग्रन्थ में अनेक वीरो के विनाश का प्रसग उपस्थित होने पर भानुमती के साथ दुर्योधन के शृंगार का वर्णन विरसता उपस्थित करता है। युद्धकाल में करूण, वीर आदि रसों का आस्वादन हो सकता है, शृंगार का नहीं । शोक तथा उत्साह से युक्त हृदय में शृंगार की स्थिति का वर्णन वैरस्य ही उपस्थित करता है। इससे अत्यधिक अनास्वाद उपस्थित हो जाता है। **आचार्य अभिनव गुप्त** ने **आचार्य आनन्दवर्धन** की वृत्ति के आधार पर 'वेणी संहार' नाटक का उदाहरण प्रस्तुत किया है। **आचार्य मम्मट** ने वहीं से यह उदाहरण ग्रहण किया है।[5]

आचार्य आनन्द वर्धन ने 'अनवसर में रस के विस्तार' रूप दोष के प्रसंग में यह भी स्पष्ट किया है कि व्यामोह वश नायक या प्रतिनायक द्वारा इस प्रकार के कार्य का वर्णन भी उचित नहीं है क्योंकि इससे रसापकर्ष होता है तथा रसानुकूल वर्णन ही कवि द्वारा अपेक्षित होता है। इसलिए कवि को ऐसे प्रसग से बचना चाहिए।

---

१ *–कालिदास,कुमार सम्भवम्, ४/१।*

२ *–वही ४/४।*

३ *–वही ४/२६।*

४ *दीप्ति पुन पुनर्यथा कुमार सम्भवे रति विलापे।*
–मम्मट, का० प्र० ७/६१ की वृत्ति।

५ *अकाण्डे प्रथनं यथा–वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्केऽनेकवीरक्षयें प्रवृत्ते भानुमत्या सह दुर्योधनस्य शृङ्गार वर्णनम्।*
–मम्मट, का प्र०, ७/६१ की वृत्ति।

आचार्य मम्मट ने इस प्रसग मे मूल या प्रधान तथ्य को ही ग्रहण किया है। **आचार्य आनन्द वर्धन** तथा **अभिनव गुप्त** के मत का सकलन करके उन्होने परिभाषा और उदाहरण प्रस्तुत किया हैं।

उल्लेखनीय है कि **आचार्य अभिनवगुप्त** ने **आचार्य आनन्दवर्धन** के 'तथा पुरूष' शब्द से 'प्रतिनायक' अर्थ को ग्रहण किया है तथा 'वेणीसहार' मे प्रतिनायक दुर्योधन से सम्बद्ध उदाहरण ही प्रस्तुत किया है। **आचार्य मम्मट** ने वही उदाहरण ग्रहण करके प्रकारान्तर से **आचार्य अभिनव गुप्त** का समर्थन किया है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि प्रतिनायक से सम्बद्ध उदाहरण प्रस्तुत करने से यह भी ज्ञात होता है कि नायक के विषय मे तो ऐसा वर्णन कदापि नहीं करना चाहिए।

'अनवसर मे रस का विच्छेद' **षष्ठ रस–दोष** है। प्रसग के अनुरूप अविच्छिन्न रूप से स्थित रस का मध्य मे विच्छेद हो जाने पर यह रस–दोष उपस्थिति हो जाता है।इससे अविच्छिन्न रूप से प्रस्तुयमान या अभिव्यञ्जमान रस का पर्यवसान नहीं होता। अनुचित स्थल मे रस का विच्छेद सहृदय की रसानुभूति में बाधक होता है।

आचार्य मम्मट ने प्रकृत स्थल मे 'वीर चरित' नाटक के द्वितीय अक की एक घटना को उद्धृत किया है।[1]

'वीरचरित' नाटक के द्वितीय अक में राम तथा परशुराम के अविच्छिन्न वीर रस मे राम की यह उक्ति कि 'मैं कगन खोलने जा रहा हूँ' वीर रस का उच्छेद कर देती है। राम की यह उक्ति उनके वीरत्व में सशय उत्पन्न कर देती है। इससे राम विषयक वीर रस का आस्वादन नहीं हो पाता वरन् राम की निर्बलता को व्यक्त करने के कारण अपयश में पर्यवसित हो जाता है। जो सहृदय में वैरस्य उपस्थित करता है। **आचार्य आनन्द वर्धन** ने रस–विच्छेद की पूर्ण स्थिति की व्याख्या की है। **अभिनव गुप्त** ने प्रायः उसी स्थिति के आधार पर 'वत्सराज चरित' से उदाहरण प्रस्तुत किया है।[2] **आचार्य मम्मट** ने यहाँ स्वत: उदाहरण प्रस्तुत किया है।

'अग या अप्रधान का अति विस्तार' **सप्तम रस–दोष** है। प्रतिनायक अग या अप्रधान पात्र होता है। प्रतिनायक आदि का विस्तार पूर्वक वर्णन समीचीन नहीं होता। प्रतिनायक के वंश, वीरता आदि का सामान्य वर्णन दोष नहीं होता परन्तु इनका वर्णन नायक के उत्कर्ष के लिए ही होना चाहिए। इनका अतिशय विस्तार पूर्वक, वर्णन प्रधान नायक का अतिरोधक होने के कारण दोष है। वस्तुतः नायकगत रस ही आस्वादन योग्य होता है। 'हयग्रीववध–' नामक नाटक में प्रतिनायक 'हयग्रीव' के जल कीडा, वन–विहार आदि का विस्तार पूर्वक, वर्णन किया गया है।[3] इसकी अपेक्षा नायक 'विष्णु' का अल्प वर्णन किया गया है। इससे 'हयग्रीव' मे नायकत्व का बोध होने लगता है तथा प्रतिनायक से सम्बद्ध रस का आस्वादन होने लगता है। प्रतिनायक के उन्हीं गुणों का वर्णन करना चाहिए जिससे नायक का उत्कर्ष द्योतित हो।

---

१ *अकाण्डे छेदो यथा वीरचरिते द्वितीयेऽङ्के राघवभार्गवयोर्धाराधिरूढे वीर रसे कङ्कणमोचनाय गच्छामि इति राघवस्योक्तौ।*

–वही ७/६१ की वृत्ति।

२ *–प्रस्तुत अध्याय, पृष्ठ १३८*

३ *अङ्गस्या प्रधानस्याति विस्तरेण वर्णन यथा हयग्रीव वधे हयग्रीवस्य।*

– मम्मट, ७/६१ की वृत्ति।

विचारणीय है कि **आचार्य आनन्द वर्धन** ने प्रकृत रस से अन्वित होने पर भी अन्य वस्तु के विस्तार पूर्वक वर्णन को दोष माना है।[1] उनका विचार है कि विप्रलम्भ शृगार में किसी नायक का वर्णन प्रारम्भ करते हुए यमक आदि अलकारो की रचना के प्रति रसिक होने के कारण कवि पर्वत आदि का विस्तार पूर्वक वर्णन करने मे प्रवृत्त हो जाय तो रसानुभूति में बाधा उपस्थित होगी। **आचार्य आनन्द वर्धन** के इस रस–विघ्न पर विचार करने से दो बाते उपस्थित होती है। प्रथम तो यह कि प्रकृत रस के अतिरिक्त अन्य वस्तु का विस्तार पूर्वक वर्णन अनुचित है तथा द्वितीय यह कि इस प्रकार के वर्णन से प्रधान नायक या प्रधान रस का उचित रूप से निरूपण नहीं हो पाता। विचार करने पर स्पष्ट होता है कि इन दोनों स्थितियों पर विचार करके **आचार्य मम्मट** ने दो रस–दोषों की उद्भावना की – 'अनग का विस्तार पूर्वक वर्णन' तथा 'अगी की उपेक्षा'। अत यह कहना समीचीन ही होगा कि इन दोनों रस दोषों का स्रोत **आचार्य मम्मट** को **ध्वन्यालोक** से ही प्राप्त हुआ है। **आचार्य मम्मट** ने अपनी मौलिक शैली में इन दोषों की व्याख्या की तथा उदाहरण भी प्रस्तुत किया।

उल्लेख्य है कि **आचार्य आनन्दवर्धन** ने नायक का वर्णन आरम्भ करते हुए पर्वतादि के आलकारिक वर्णन को उचित नहीं माना है तथा **आचार्य मम्मट** ने भी प्रतिनायक के जलकीडा आदि के विस्तार पूर्वक वर्णन को उचित नहीं माना। दोनों स्थितिया प्राय समान भाव से रस का अपकर्ष करती है।इसीलिए **आचार्य मम्मट** ने **आचार्य आनन्द वर्धन** के मत को मौलिक शैली में प्रस्तुत करने मे सफलता प्राप्त की है यह कहा जा सकता है।

'प्रधान या अगी की उपेक्षा' नामक **अष्टम रस–दोष** में **आचार्य मम्मट** ने कहा है कि प्रधान वर्ण्य विषय का अनुसधान न करना दोष उपस्थित करता है। नायक तथा नायिका का विस्मरण होने और उनका परामर्श या स्मरण न होने पर प्रधान रस विच्छिन्न हो जाता है। जैसे 'रत्नावली' नाटिका के चतुर्थ अंक में वाभ्रव्य के आगमन के समय विजय मार्ग के वृतान्त को सुनने में लीन राजा द्वारा सागरिका (रत्नावली)का विस्मरण होने पर अगी रस विच्छिन्न प्राय हो जाता है।[2] यही दोषत्व का कारण है। यहाँ शृंगार की निरन्तरता अननुसधान या परामर्श न होने के कारण विच्छिन्न हो गयी। **आचार्य अभिनव गुप्त** ने अनवसर पर रस के विच्छेद में यही उदाहरण उद्घृत किया है।[3]

उल्लेखनीय है कि **आचार्य अभिनव गुप्त** ने रस के अनवसर में विच्छेद रूप दोष में 'वत्सराजचरित' नामक नाटक के जिस प्रसग को उद्घृत किया है। **आचार्य मम्मट** ने 'रत्नावली' नाटिका से उसी प्रसग को यहाँ प्रस्तुत किया है। यह भी उल्लेख है कि 'अनवसर में रस के विच्छेद' रूप रस–दोष में **आचार्य मम्मट** ने 'वीरचरित' नाटक से उदाहरण प्रस्तुत किया है। जहाँ राम व परशुराम के मध्य वीरतापूर्ण वार्तालाप के मध्य राम यह कहकर चले जाते है कि 'मैं कंकण खुलवाने जा रहा हूँ'।

'प्रधान की उपेक्षा' रूप रस–दोष **मम्मट** की उद्भावना है। यह बात और है कि इस दोष का स्रोत उन्हे **ध्वनिकार** के रस–विरोधी तत्त्वों से ही प्राप्त हुआ है। 'प्रधान की उपेक्षा' में जो उदाहरण **आचार्य मम्मट** ने प्रस्तुत किया है वह इस रस–दोष की स्थिति को स्पष्ट करने में **सक्षम है**।सागरिका ही नायिका है उसका विस्मरण या उसकी उपेक्षा से रसापकर्ष होना स्वाभाविक है।

---

१ *–प्रस्तुत अध्याय, पृष्ठ.१३४ ।*

२ *अङ्गिनोऽननुसंधाननम् यथा रत्नावल्या चतुर्थेऽङ्के व. [illegible] ने सागरिकाया विस्मृतिः।*
–मम्मट, का० प्र० ७/६२ की वृत्ति।

३. *–प्रस्तुत अध्याय, पृष्ठ संख्या.१३७।*

अनवसर मे रस के विच्छेद रूप दोष मे भी **आचार्य मम्मट** ने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है वहॉ राम प्रधान नायक है, परन्तु वहॉ उनका विस्मरण या उपेक्षा नहीं हो रही है वरन् रामगत वीर रस का उच्छेद हो रहा है। अत यह उदाहरण भी अनवसर मे रस के विच्छेद को प्रकट करने मे पूर्ण समर्थ है।

उपर्युक्त दोनो रस–दोषो तथा उनके उदाहरणो पर विचार करने पर **आचार्य मम्मट** की सूक्ष्म अन्वेषणात्मक दृष्टि का ज्ञान होता है। दोनों ही रस–दोषो के उदाहरण दोनो स्थितियों को स्पष्ट करने में समर्थ हुए हैं। इन दोनो उदाहरणो में रस–दोष की भिन्न–भिन्न स्थिति स्पष्ट ज्ञात होती है।

आचार्य मम्मट प्रतिपादित रस–दोषों मे नवम दोष 'प्रकृतियों का विपर्यय' है। जहॉ जिस नायक या पात्र आदि का वर्णन करना उचित नहीं है, वहा उसका वर्णन करना ही प्रकृतियो का विपर्यय है। नायक के प्रतिकूल वर्णन करना रस का विघातक है। प्रकृति अर्थात् नायक के अनुकूल वेश एव भाषा, स्थान आदि का वर्णन रसास्वादन में सहायक होता है। इसके विपरीत वर्णन रसापकर्षक होने के कारण दोष होता है।

'प्रकृति विपर्यय' नामक रस–दोष का प्रतिपादन करते हुए **आचार्य मम्मट** ने नायको के प्रकार नायक–विशेष के औचित्य तथा अनौचित्य तथा नायकादि के अनुसार सम्बोधन आदि का भी वर्णन किया है, जो प्रसगानुसार उल्लेख्य है।

नायक तीन प्रकार के हैं– दिव्य, अदित्य तथा दिव्यादिव्य। ये तीनो प्रकार के नायक भी धीरोदात्त धीरोद्धत, धीरललित तथा धीरप्रशान्त के भेद से चार–चार प्रकार के हो जाते है। धीरोदात्त नायक वीररस प्रधान, धीरोद्धत नायक रौद्ररस प्रधान, धीरललित नायक शृगार रस प्रधान तथा धीर प्रशान्त नायक शान्त रस प्रधान होता है। ये बारह प्रकार के नायक उत्तम, अधम तथा मध्यम के भेद से पुन तीन–तीन प्रकार के हो जाते हैं। इस प्रकार दिव्यादि नायक धीरोदात्त आदि भेद से बारह प्रकार के होकर पुन गुणों के उत्कर्ष तथा अपकर्ष से उत्तम आदि तीन भेदों से छत्तीस प्रकार के हो जाते है।[1]

दिव्यादि सम्पूर्ण नायकों के विषय मे एक ही प्रकार से रसों का वर्णन नहीं किया जा सकता। सभी नायको के कर्म भी समान रूप से वर्णित करना समीचीन नहीं है। रति, हास, शोक आदि स्थायीभाव अदिव्य उत्तम नायकों के समान ही दिव्य नायकों में भी होते हैं, किन्तु व्रीडाजनक रति का वर्णन उत्तम दिव्य नायक के लिए नहीं होना चहिए। यहॉं ध्यातव्य है कि व्रीडाजनक सयोग शृगार का वर्णन उत्तम दिव्य नायक में अवर्णनीय है। यहा 'संयोग' का तात्पर्य परस्पर अवलोकन मात्र न होकर व्रीडाजनक आलिंगन आदि से है। दिव्योत्तम नायक के विषय में इस प्रकार के सयोग शृगार का वर्णन माता–पिता के इस प्रकार के संयोग वर्णन के समान ही अनुचित है।[2]

---

१ *प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च, वीररौद्र शृङ्गार शान्तरसप्रधाना–*
धीरोदात्त, धीरोद्धत–धीरललित–धी[illegible], उत्तमाधममध्यमाश्च।
–मम्मट, का० प्र० ७/६२ की वृत्ति।

२ *[illegible]द्भुतानि अदिव्योत्तमप्रकृतिवत् दिव्येष्वपि किन्तु रति सम्भोग शृङ्गाररूपा उत्तमदेवता–*
विषया न वर्णनीया। तद् वर्णन हि पित्रो सम्भोग वर्णनमिवात्यन्तमनुचितम्।–
–वही, ७/६२ की वृत्ति।

दिव्य पात्रों के विषय में भ्रुकुटि आदि विकार रहित कोध तत्काल फलदायी स्वर्ग, पाताल,आकाश तथा समुद्र लघन रूप उत्साह का वर्णन करना समीचीन है। इस प्रसग में **आचार्य मम्मट** ने एक छन्द प्रस्तुत किया है जिसमे कोधित भगवान शिव द्वारा कामदेव को भस्म करने का वर्णन है।[1]

आदिव्य पात्रों में भी जितना वृत्त या कर्म प्रसिद्ध हो अथवा उचित हो उनका उतना ही वर्णन करना चाहिए। उससे अधिक वर्णन असत्य प्रतीत होने के कारण रसानुभूति में बाधक होता है। इससे 'रामादि के समान व्यवहार करना चाहिए रावण आदि के समान नहीं इस उपदेश में पर्यवसान नहीं होता।[2] तात्पर्य यह कि मनुष्य आदि अदिव्य पात्रों के विषय में उनके उन्हीं कार्यों का वर्णन करना चाहिए जो प्रसिद्ध हो या मनुष्य द्वारा किया जा सके इसके अधिक वर्णन असत्य प्रतीत होने के कारण रसानुभूति का बाधक बन जायेगा।

दिव्यादिव्य नायको के वर्णन मे भी दिव्य तथा अदिव्य नायकों के समान ही उचित वर्णनीय विषय को ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार अन्य नायकों में भी अनके अनुकूल वर्णन का ध्यान रखना चाहिए इससे विपरीत वर्णन से बचना चाहिए।[3]

सम्बोधन के उचित प्रयोग को स्पष्ट करते हुए **आचार्य मम्मट** ने कहा है कि– भवान्, भगवन् आदि सम्बोधन उत्तम नायक द्वारा ही प्रयुक्त होना चाहिए। ये सम्बोधन मुनि आदि के लिए प्रयुक्त होना चाहिए, राजा आदि के लिए नहीं। 'भट्टारक' पद का प्रयोग उत्तम पात्र द्वारा राजा आदि के लिए नहीं वरन् देव आदि के लिए होना चाहिए तथा अधम और मध्यम पात्रों द्वारा राजा के लिए प्रयुक्त होना चाहिए।[4]

इसी प्रकार देश, काल, वय, जाति आदि के अनुकूल ही वेष, व्यवहार आदि का वर्णन करना चाहिए। यथा अप्सराओं में मनुष्य की वेशभूषा तथा रसातल में मेघादि का वर्णन अनुचित है।[5]

-

---

१. *कोधं प्रभो संहर सहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति।*
तावत् स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेष मदन चकार।।
इत्युक्तवद्भ्रुकुट्यादिविकारवर्जितः कोधः -
सद्यः फलदः स्वर्गपातालगगनसमुद्रोल्लङ्घनाद्युत्साहश्च दिव्येष्वेव।
—वही, ७/६२ की वृत्ति।

२. *अदिव्येषु तु यावदवदाने प्रसिद्धमुचितं वा तावदेवोपनिबद्धव्यम्।*
अधिक तु निबध्यम[illegible]से -
'नायक वद् वर्तितव्यं न प्रतिनायक वदित्युपदेशे न पर्यवस्येत्।
—मम्मट, का० प्र० ७/६२ की वृत्ति।

३ *दिव्यादिव्येषु उभयथाऽपि। एवमुक्तस्यौचित्यस्य [illegible]व्यादीनामिव धीरोदात्ता–दीनामप्यन्यथावर्णनं विपर्यय।*
—वही, ७/६२ की वृत्ति।

४ *तत्रभवन् भगवन्नित्युत्तमेन न अधमेन मुनिप्रभृतौ न राजादौ, भट्टारकेति नोत्तमेन राजादौ प्रकृति विपर्ययापत्तेर्वाच्यम्।*
—वही, ७/६२ की वृत्ति।

५ *एव देश–काल–वयो–जात्यादीनां वेष–[illegible]धव्यम्*
— वही, ७/६२ की वृत्ति।

यहॉ उल्लेखनीय है कि **आचार्य आनन्दवर्धन** ने वृत्ति के अनौचित्य' रूप रस–विरोधी हेतु का वर्णन करते हुए कैशिकी आदि तथा उपनागरिका आदि वृत्तियों के अनौचित्य को ग्रहण किया है। **आचार्य मम्मट** ने यहा इन वृत्तियो का उल्लेख तो नहीं किया है किन्तु 'देश, काल आदि के अनुसार वेश तथा व्यवहार का वर्णन करना चाहिए' यह कहकर **आचार्य मम्मट** ने **आचार्य आनन्द वर्धन** के उल्लिखित विचार को अन्तर्भुक्त कर लिया हैं' यह कहा जा सकता है।

मम्मट प्रतिपादित रस–दोषों मे **दसवां रस–दोष** 'अनग का कथन' है। 'अनग' का तात्पर्य है 'रसानुपकारक तत्त्व'। प्रकृत रस के अपकर्षक प्रसग का वर्णन या प्रशसा करना दोष है। यथा **आचार्य राजशेखर** कृत 'कर्पूर मञ्जरी' नामक सट्टक में स्वय तथा नायिका विभ्रम लेखा कृत वसन्त वर्णन का अनादर करके बन्दी द्वारा वर्णित वसन्त वर्णन की राजा चण्डपाल द्वारा प्रशसा करना।[1] बन्दी की प्रशंसा करके स्वय तथा नायिका द्वारा वर्णित वसन्त वर्णन की उपेक्षा यहा अनास्वाद का कारण है। यह **मम्मट** की मौलिक उद्भावना है।

रस–दोषों का निरूपण करके **आचार्य मम्मट** ने अन्त में 'रसे दोषा स्युरीदृशा' कहकर यह स्पष्ट किया है कि ये रस–दोष मात्र प्रदर्शन के लिए है। अनौचित्य ही रस–दोष का मुख्य कारण है। नायिका के पादप्रहार आदि से नायक के कोध का वर्णन करना भी अनुचित होने के कारण दोष है। अनौचित्य को दोष का प्रमुख कारण मानते हुए अपने कथन को पुष्ट करने के लिए **आचार्य मम्मट** ने **ध्वनिकार आचार्य अनन्दवर्धन** के कथन को उद्धृत किया है।[2]

इस प्रकार **मम्मट** के रस–दोष–निरूपण का परिशीलन करने पर ज्ञात होता है कि इन्होंने अत्यन्त सारगर्भित, वैज्ञानिक तथा सूक्ष्म दृष्टि से रस–दोषों पर विचार किया है। रस के साक्षात् अपकर्षक तत्त्वों को रस–दोष नामक वर्ग में विभाजित करने का पूर्ण श्रेय **मम्मट** को ही है। यद्यपि रस–दोषों में से अधिकाश रस–दोषों का स्रोत इन्हें **ध्वन्यालोक** से ही प्राप्त हुआ है। परन्तु उनको प्रस्तुत करने में **मम्मट** ने अपनी विवेक–पूर्ण मौलिक विचार पद्धति का परिचय दिया है। इन्होंने गतानुगतिक की भाँति **आनन्द वर्धन** या **अभिनव गुप्त** का अनुकरण नहीं किया है। **मम्मट** ने अपनी मौलिक विचार दृष्टि से रस–दोषों का निरूपण किया है।

मम्मट ने ध्वनिकार तथा **अभिनव गुप्त** के विचारों को ग्रहण करके भी उसे अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। जहाँ समीचीन प्रतीत हुआ है' वहीं उनके उदाहरणों या भावों को ग्रहण किया है। जहाँ उदाहरण उचित प्रतीत नहीं हुए वहॉ स्वयं अपना उदाहरण प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ 'अनवसर में रस के विच्छेद' में **अभिनव गुप्त** ने 'वत्सराजचरित' का जो प्रसङ्ग उद्धृत किया है, **मम्मट** ने अङ्गी के अननुसंधान रूप रस–दोष में 'रत्नावली' के इसी प्रकार के प्रसग को उद्धृत किया है।

---

१ *अनङ्गस्य रसानुपकारकस्य वर्णन यथा–कर्पूर मञ्जर्यां नायिकया स्वात्मना च कृत वसन्त वर्णनमनादृत्य बन्दिवर्णितस्य राज्ञा प्रशंसनम्।*
–मम्मट, का० प्र० ७/६२ की वृत्ति।

२ *ईदृशा इति। नायिकापादप्रहारादिना नायककोपादिवर्णनम्। उक्तं हि–*
ध्वनिकृता–अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।। इति।।
–वही, ७/६२ की वृत्ति।

आनन्दवर्धन तथा **अभिनव गुप्त** ने जिन विषयों पर विस्तृत रूप से विचार किया है तथा **मम्मट** ने प्राय उस विवेचन को ग्रहण नहीं किया है। उदाहरणार्थ विरोधी व्यभिचारी भाव के ग्रहण तथा 'रस के अनवसर मे प्रथन' रूप दोष में **आनन्द वर्धन** तथा **अभिनव गुप्त** ने विस्तृत रूप से विचार किया है। परन्तु आचार्य मम्मट ने सारगर्भित दृष्टि अपनाते हुए मात्र प्रासगिक तथ्यों को ही ग्रहण किया है। यह भी उल्लेखनीय है कि वृत्ति के अनौचित्य रूप दोष में **आनन्द वर्धन** ने अपेक्षाकृत सक्षेप में विचार किया है जबकि **मम्मट** ने 'प्रकृति विपर्यय' नामक रस–दोष में विस्तृत रूप से नायकों के व्यवहार पर विचार किया है। तात्पर्य यह है कि **मम्मट** ने सारगर्भित दृष्टि से रस–दोषों का निरूपण किया है। यही कारण है कि परवर्ती काल में काव्य–शास्त्रकारों ने प्राय **मम्मट** का अनुकरण किया है।

आचार्य मम्मट के पश्चात् **आचार्य विश्वनाथ** ने रस–दोषों पर विशेष विचार किया है। इनका रस–दोष वर्गीकरण भी प्राय **मम्मट** के समान ही है।[1]

विश्वनाथ ने कतिपय रस–दोषों का उदाहरण **मम्मट** से ही साक्षात् रूपेण ग्रहण किया है। विभाव की कष्ट कल्पना से अभिव्यक्ति, अकाण्ड में प्रथन, अकाण्ड में उच्छेद, पुन· पुन दीप्ति, अङ्गी का अननुसधान [illegible] तथा अनङ्ग का कीर्तन या वर्णन नामक रस–दोषों के उदाहरण **आचार्य मम्मट के ही** उदाहरणों से ग्रहण किये गये हैं। **आचार्य** [illegible] ने उपर्युक्त रस–दोषों के अतिरिक्त रस–दोषों में जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं वे उदाहरण भी **मम्मट** से ही प्रभावित प्रतीत होते हैं। उल्लेखनीय है कि **मम्मट** के उदाहरणों में सम्पूर्ण छन्द को प्रस्तुत किया है जबकि **विश्वनाथ** ने एक पङ्क्ति मात्र उद्धृत की है।

प्रकृति विपर्यय' नामक रस–दोष में नायकों के भेद का निरूपण भी **आचार्य मम्मट** ने विस्तृत रूप से किया है जबकि **आचार्य विश्वनाथ** ने यहा भी सक्षिप्त दृष्टिकोण अपनाया है। सम्भवत· विस्तृत रूप से वर्णन करना **आचार्य विश्वनाथ** ने पिष्टपेषण मात्र समझा होगा।

'प्रकृतिविपर्यय' नामक रस–दोष में **विश्वनाथ** ने धीरोदात्त नायक राम के द्वारा बालि के बध तथा 'कुमारसम्भव' नामक कहाकाव्य में शिव और पार्वती के संयोग वर्णन को उदाहृत किया है।

विशेषतः उल्लेखनीय है कि [illegible] ने 'अर्थानौचित्यमन्यच्च' कहकर नवीन एक रस–दोष की भी कल्पना की है। **विश्वनाथ** का विचार है कि अर्थ अथवा अन्य किसी का औचित्य पूर्ण निबन्धन न होने पर भी रस–दोष उपस्थित होता है।प्रस्तुत कल्पित नवीन रस–दोष

को स्पष्ट करते हुए **आचार्य विश्वनाथ** कहते हैं कि देश, काल आदि के विरूद्ध वर्णन भी अनौचित्य है, क्योंकि उससे काव्य की असत्यता प्रतीत होती है राजकुमार आदि शिक्षणीय व्यक्ति का चित्त काव्य के प्रति आकृष्ट नहीं होता है।[2]

---

१ *रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायि सञ्चारिणोऽपि।*
परिपन्थि रसाङ्गस्य विभावादेः परिग्रह। आक्षेप कल्पित कृच्छादनुभाव विभावयो।।
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ तथा दीप्तिः पुनः पुनः। अङ्गिनोऽन· संधानमनङ्गस्य च कीर्तनम्।।
अ[illegible] प्रकृतीना विपर्ययः। अर्थानौ[illegible] दोषा रसगता मताः।।
–विश्वनाथ, सा० द० ७/१२ का उत्तरार्ध तथा १३,१४,१५।

२ *अन्यदनौचित्य देशकालादीनामन्यथा यद् वर्णनम्। तथा सति हि काव्यस्यासत्यता प्रतिभासेन [illegible]सम्भवः।*
–विश्वनाथ सा० द०, ७/१२ की वृत्ति।

देश, काल आदि के अनुसार वर्णन होने पर काव्य मे वर्णित सभी तथ्य सत्य तथा वास्तविक प्रतीत होते हैं। इसलिए शिष्य गण काव्य के अध्ययन के प्रति आकृष्ट होते हैं। यदि काव्य में वर्णित घटनायें देश, काल के अनुसार नहो तो सामान्य व्यक्ति को भी वे घटनाये असम्भव सी प्रतीत होती है। इससे काव्य के प्रति अरूचि उत्पन्न होती है। शास्त्रों की रचना का उद्देश्य 'विनेय' अर्थात् 'शिष्यों' को अध्ययन के प्रति आकृष्ट करना भी होता है। देश, काल के विरूद्ध वर्णन करते से उस उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होती है, यह तात्पर्य है।

उल्लेखनीय है कि **मम्मट** ने 'प्रकृति विपर्यय' नामक रस–दोष के निरूपण में ही उपर्युक्त दोष का उल्लेख कर दिया है।[1] **मम्मट** का विचार है कि देश, काल, आयु तथा जाति के अनुकूल वेश, व्यवहार आदि का वर्णन करना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि इनके प्रतिकूल किसी भी प्रकार का वर्णन रस–दोष उपस्थित करता है। **आचार्य मम्मट** ने 'ईदृशा' कहकर यह विचार व्यक्त [illegible] किया है कि उनके द्वारा उल्लिखित रस–दोषो के अतिरिक्त अन्य भी रस–दोष हो सकते हैं। **विश्वनाथ** ने इसी पर विचार करके एक नवीन रस–दोष की कल्पना कर ली है।

ध्यातव्य है कि **आचार्य आनन्द वर्धन** ने भी प्रकृतिगत अनौचित्य का विस्तृत रूप से उल्लेख किया है। **अभिनव गुप्त** ने इसका विशद विवेचन किया है।

इससे ज्ञात होता है कि **आचार्य [illegible]** ने पूर्वाचार्यों के मत का सङ्ग्रह करके एक नवीन कार्य करने का प्रयास किया है।

आचार्य [illegible] ने **आचार्य मम्मट** की अपेक्षा संक्षिप्त रूप से रस–दोषो का विवेचन [illegible] है। **मम्मट** की अपेक्षा इनके उदाहरण भी एक पङ्क्ति में ही हैं। कतिपय उदाहरण तो **मम्मट** के ही समान है।

आचार्य विश्वनाथ के रस–दोष विवेचन में यह एक विशेष उल्लेखनीय तथ्य है कि इन्होंने रस–दोष के भेदों में सर्वप्रथम रस की स्वशब्द वाच्यता को ग्रहण किया है। **आचार्य मम्मट** ने व्यभिचारी भाव की स्वशब्द वाच्यता को प्रथम स्थान पर रखा है।

रस की स्वशब्द वाच्यता' रूप भेद को सर्वप्रथम परिगणित करके **आचार्य विश्वनाथ** सम्भवतः यह व्यक्त करना चाहते हैं कि रस–दोषों में 'रस' की स्वशब्दवाच्यता सबसे अधिक वर्जनीय रस–दोष है। यह **आचार्य विश्वनाथ** की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है। उन्होंने इसके पश्चात् स्थायी भावों की स्वशब्द वाच्यता को रखा है। तत्पश्चात् व्यभिचारी भावों की स्वशब्द वाच्यता को उल्लिखित किया है।

विश्वनाथ के उपर्युक्त परिगणना से रस, स्थायी भाव तथा व्यभिचारी का महत्त्व भी व्यक्त होता है। काव्य में रस का सर्वाधिक महत्त्व है। अत उसे सर्वप्रथम रखा गया है। रस की सामान्यत. या विशेषतः स्वशब्दवाच्यता सर्वप्रथम त्याज्य है यह ज्ञात होता है।

रस दोषो में भी रस तथा स्थायी भाव आदि की स्वशब्द वाच्यता सर्वाधिक हेय है। इनमें भी रस की स्वशब्द वाच्यता, स्थायी तथा व्यभिचारी भाव की स्वशब्द वाच्यता की अपेक्षा अधिक गर्हित है यह ध्वनित होता है।

---

१. *एव [illegible]शकालवयोजात्यादीनां वेष [illegible] ध्यम्।*
–मम्मट, का० प्र० ७/६२ की वृत्ति।

आचार्य विश्वनाथ के पश्चात् **आचार्य जगन्नाथ** ने रस–दोषों पर विचार किया है। **पण्डितराज जगन्नाथ** ने व्यापक दृष्टि से दोषो के वर्गीकरण का निरूपण नहीं किया है। इन्होंने मात्र रस–दोषों का ही निरूपण किया है। ध्वनिकाव्य के प्रसंग में **जगन्नाथ** ने रस पर विचार करते हुए रस–दोषो का उल्लेख किय। है।[1]

पण्डितराज द्वारा उल्लिखित रस–दोष इस प्रकार हैं– वमन,स्थायी तथा सञ्चारी भाव का स्वशब्द से कथन, विभाव, अनुभाव की असम्यक् या विलम्ब से प्रतीति, समबल, प्रबल या प्रतिकूल रस का निबन्धन, विच्छिन्नदीपन, असमय पर रस का वर्णन तथा विच्छेद, प्रतिनायक का विस्तार से वर्णन, आलम्बन तथा आश्रय का वर्णन न होना एव प्रकृत रस के अनुपकारक का वर्णन।

रस–दोषो के प्रतिपादन मे **आचार्य मम्मट** का अनुकरण करते हुए भी **आचार्य जगन्नाथ** की प्रतिपादन–शैली मे मौलिकता है।

रस–दोषो मे दो नवीन नामकरण भी **पण्डित राज** ने किये हैं। **आचार्य मम्मट** ने व्यभिचारी,रस तथा स्थायी भावो की स्वशब्द वाच्यता को रस–दोषों मे प्रथम स्थान पर रखा है। उसमें व्यभिचारी, रस तथा स्थायी भाव तीनों को समाहित किया है। व्यभिचारी भावों तथा स्थायी भावो का स्वशब्द से कथन दोष है। रस का सामान्यत: रस पद से तथा शृङ्गार आदि शब्दों से कथन दोषाधायक होता है।

आचार्य मम्मट ने व्यभिचारी,भाव तथा स्थायी भाव के साथ ही 'रस' का भी उल्लेख कर दिया है। इन्होने व्यभिचारी भाव को रस से पूर्व परिगणित किया है। [illegible] ने महत्ता की दृष्टि से प्रस्तुत रस–दोष मे रस को सर्वप्रथम परिगणित किया और तत्पश्चात् क्रमानुसार स्थायीभाव और व्यभिचारी भाव को ।

आचार्य विश्वनाथ ने **आचार्य मम्मट** द्वारा प्रतिपादित रस दोषों में रस, स्थायी भाव तथा व्यभिचारी भाव को एक साथ ही परिगणित किया है। उन्हें पृथक्–पृथक् रूप से परिगणित नहीं किया हैं।

जगन्नाथ ने भी रस, स्थायी भाव तथा व्यभिचारी भाव तीनों की स्वशब्दवाच्यता का निरूपण किया है। परन्तु उन्होंने 'रस की स्वशब्द वाच्यता' रूप दोष को सर्वथा पृथक् रूप से परिगणित किया है।

रस की स्वशब्दवाच्यता को **जगन्नाथ** ने 'वमन' दोष कहा है। यह **पण्डितराज** कृत नवीन नामकरण है। वमन शब्द स्वय ही घृणास्पद है। इस नामकरण से ही यह द्योतित होता है कि प्रस्तुत दोष सर्वाधिक त्याज्य है।

वस्तुत काव्यात्मा रस व्यग्य होता है। इसका आस्वादन [illegible] द्वारा ही हो सकता है। रस कभी वाच्य नहीं होता है। अभिधावृत्ति द्वारा रसानुभूति असम्भव है रस को असाधारण तथा चामत्कारिक रूप व्यञ्जनावृत्ति ही प्रदान करती है।

रस को व्यङ्ग्य जानकर ही रस की स्वशब्दवाच्यता को काव्यत्व का अपकर्षक माना गया है। पण्डितराज ने 'रस' की स्वशब्द वाच्यता को 'स्थायी' तथा 'व्यभिचारी' भाव की स्वशब्दवाच्यता से पृथक् करके रस की स्वशब्द वाच्यता के प्रति विशेष ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया है जो **पण्डितराज** की मौलिक तथा सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है।

रस की स्वशब्द वाच्यता रूप दोष को 'वमन' दोष कहकर **पण्डितराज जगन्नाथ** ने इसकी परमहेयता को व्यञ्जित किया है।

'वमन' दोष रस का सामान्यतः 'रस' शब्द से तथा विशेषत 'शृङ्गार' आदि पदों से कथन होने पर उपस्थित होता है। वमनदोष का स्वरूप **मम्मट** द्वारा प्रतिपादित दोष के अनुसार ही है।

---

१ –*जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ५०/५१।*

आचार्य जगन्नाथ का 'विच्छिन्न दीपन' नामक रस–दोष भी कुछ विशिष्ट सा है। प्रकृत रस का किसी प्रसङ्गान्तर से विच्छेद होने के पश्चात् उसे पुन दीपित करने के लिए जब किसी अन्त कथा आदि का ग्रहण किया जाता है, तब 'विछिन्न दीपन' नामक रस–दोष होता है।

'विच्छिन्न दीपन' नामक रस–दोष के नाम से ही स्पष्ट होता है कि विच्छिन्न हुए रस को पुन दीप्त करना'। तात्पर्य यह है कि जो प्रधान वर्ण्य रस है, उसका किसी कारणवश यदि विच्छेद या विखण्डन हो जाता है तो पुन' किसी प्रसङ्ग को उपस्थित करके उस विखण्डित किवा विच्छिन्न रस को पुन' पुन दीपित करने से सहृदय को अरूचि होने लगती है जो रसास्वादन की अपकर्षक है।

पण्डितराज जगन्नाथ का 'विच्छिन्न दीपन' नामक दोष विचारणीय है। इसके स्वरूप पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि इस दोष में **आनन्द वर्धन** तथा **मम्मट** द्वारा प्रतिपादित 'असमय में रस का विच्छेद'[1] तथा 'परिपुष्ट हुए रस की दीप्ति'[2] नामक दोषों का अन्तर्भाव किया गया है।

विच्छिन्न दीपन दोष में [illegible] ने प्रधान रस के विच्छेद की चर्चा की है। इससे स्पष्ट होता है कि प्रकृत या प्रधान रस का विच्छेद तथा उसका पुन दीपन **आचार्य जगन्नाथ** की दृष्टि में रसापकर्ष है। यदि विवेच्य रस–दोष में प्रकृत या प्रधान रस को ग्रहण किया जाता है तो इस दोष का एक पक्ष ही दोष पूर्ण होगा दूसरा नहीं। तात्पर्य यह है कि प्रधान रसका अविच्छिन्न स्थिति या अनवसर में विच्छेद तो दोषपूर्ण होता है परन्तु उसका बारम्बार दीपन दोष नहीं होता। इस आधार पर कहा जा सकता है कि [illegible] ने यहा मौलिकता लाने का प्रयास तो किया है परन्तु गम्भीरता से विचार नहीं किया।
वस्तुतः अङ्गीरस को पुन पुन दीप्त करने पर रस का बारम्बार उद्दीपन दोष नहीं कहा जा सकता है।

इस प्रसङ्ग में उल्लेखनीय है कि **म.ाभारत** में प्रधान रस शान्त है तथा **रामायण** में प्रधान रस करूण है। इन दोषों उपजीव्य काव्यों मे बारम्बार प्रधानरसों शान्त तथा करूण का उद्दीपन किया गया है। जो दोषाधायक नहीं माना जाता है।

आचार्य जगन्नाथ ने मौलिकता लाने का प्रयास अवश्य किया है किन्तु 'विच्छिन्नदीपन' नामक रस–दोष को पूर्णतः रस–दोष मानना समीचीन प्रतीत नहीं होता। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि [illegible]राज ने 'अविच्छिन्न' स्थिति में इस का विच्छेद करने को भी एक रस–दोष माना है।

आचार्य जगन्नाथ प्रतिपादित विभाव, अनुभाव की असम्यक् प्रतीति **आचार्य मम्मट** द्वारा उल्लिखित विभाव अनुभाव की कष्ट कल्पना से अभिव्यक्ति रूप दोष है। इसी प्रकार **जगन्नाथ** द्वारा वर्णित समबल प्रबल या विरोधी रस के अङ्गों का वर्णन, अप्रासङ्गिक रस का ग्रहण, प्रतिनायक का वर्णन आलम्बन तथा आश्रय का अननुसधान एवं प्रकृत रस के अपकर्षकों का वर्णन क्रमशः **मम्मट** द्वारा निरूपित प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण, अनवसर में रस का विस्तार या प्रतिपादन, अप्रधान का वर्णन, अङ्गी का अनुसधान तथा अनङ्ग का अभिधान नामक रस–दोष के समान ही है। अविच्छेद्य स्थिति में रस को विच्छिन्न कर देना भी **मम्मट** के अनवसर में रस का विच्छेद नामक रस–दोष के समान ही है।

[illegible] ने अप्रासङ्गिक रस की अनौचित्य पूर्ण उपस्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा है कि – सन्ध्यावन्दन तथा धर्म वर्णन आदि के प्रसङ्ग में किसी कामिनी तथा कामुक के शृङ्गार का वर्णन करने पर वैरस्य उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार के वर्णन में अनवसर में शृङ्गार रस का ग्रहण हो जाता है जिससे सहृदय की रसानुभूति मे बाधा उपस्थित हो जाती है।

---

१ –*द्रष्टव्य, प्रस्तुत अध्याय, पृ०*१३६,१५१

२. –*वही, प्रस्तुत अध्याय, पृ०*१३५,१५०

उल्लेखनीय है कि सन्ध्या वन्दन आदि के प्रसङ्ग में शृङ्गार रस अप्रासङ्गिक है। अतः ऐसे स्थल पर शृङ्गार रस का ग्रहण उचित नहीं है।

आचार्य आनन्दवर्धन तथा **आचार्य मम्मट** ने भी अनवसर अथवा अकाण्ड में रस के प्रकाशन का जो उदाहरण दिया है, **आचार्य जगन्नाथ** का उदाहरण उसी के समान प्रतीत होता है।

आचार्य आनन्दवर्धन का विचार है कि जब किसी प्रलयकाल के समान सङ्ग्राम में वियोग शृङ्गार का उपक्रम किये बिना राम जैसे धीरोदात्त नायक द्वारा अनौचित्यपूर्ण शृङ्गार कथाओं का वर्णन कराया जाय तो अनवसर में रस का प्रकाशन रूप रस–दोष उपस्थित हो जाता है।

प्रस्तुत दोष को स्पष्ट करते हुए **मम्मट** ने भी उदाहरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने 'वेणीसंहार' नामक नाटक के उस प्रसङ्ग को उद्धृत किया है जिसमें भीष्म आदि महारथियों की मृत्यु के अवसर पर भानुमती के साथ दुर्योधन के संयोग शृङ्गार का वर्णन किया गया है। इसमें करूण रस के प्रसङ्ग में शृङ्गार–रस का वर्णन होने पर अनुचित स्थान पर शृङ्गार का प्रकाशन हो गया है जो रसानुभूति की क्षति कर देता है।

आचार्य आनन्द वर्धन तथा **आचार्य मम्मट** के उपर्युक्त उदाहरणों पर विचार करने पर स्पष्ट होता है कि **पण्डितराज** ने भी प्रायः इसी आधार पर अपना उदाहरण प्रस्तुत किया है। **आनन्द वर्धन** वीर रस के प्रसङ्ग में शृङ्गार रस का अनुचित रूप से ग्रहण दोषपूर्ण मानते हैं तथा **मम्मट** करूण रस के प्रसङ्ग में शृंगार का अनौचित्य पूर्ण वर्णन समीचीन नहीं मानते।

आचार्य जगन्नाथ ने सन्ध्यावन्दन आदि भावपूर्ण स्थलों में शृङ्गार के प्रकाशन को अनुचित माना है। प्रस्तुत स्थल में यह भी ध्यातव्य है कि सभी आचार्यों ने शृङ्गार के अनुचित ग्रहण को ही अपने उदाहरण में निरूपित किया है। सम्भवतः शृङ्गार रस के अनौचित्य पूर्ण ग्रहण को तीनों ही आचार्य सर्वाधिक उद्वेगजनक अर्थात् अपकर्षकारक मानते हैं।

यहाँ स्मरणीय है कि **आचार्य विश्वनाथ** ने भी रस–दोषों का वर्णन किया है। किन्तु उनका रस–दोष प्रतिपादन प्रायः **मम्मट** के समान है। उपर्युक्त प्रसङ्ग में भी उन्होंने **मम्मट** के उदाहरण को ही उद्धृत किया है। रस–दोषों का निरूपण करने के पश्चात् **पण्डित राज जगन्नाथ** ने रस भंग अथवा रसगत अनौचित्य का प्रतिपादन किया है। इनका विचार है कि अनौचित्य ही रस भंग का मूल कारण है। इसलिए उसकी प्रासंगिकता में ही सभी रस–दोषों को जानना चाहिए।

रस भंग का सामान्य अर्थ 'रसास्वादन' में बाधा या व्याघात है। जिस प्रकार पानक रस में बालुका कण गिरने से उसकी पेयगत स्वादिष्टता बाधित होती है। उसी प्रकार अनौचित्यपूर्ण निबन्धन से काव्यत्व का अपकर्षण होता है।[1]

रसभंग के इस प्रसंग में **आचार्य जगन्नाथ** ने अनौचित्यगत अरून्तुदता' को रसभंग का कारण माना है। यहाँ अरून्तुदता' का अर्थ पीड़ाजनकता, मर्मवेधकता तथा तीक्ष्णता है। प्रकृत स्थल में भी अनौचित्य पूर्वक रसों का निबन्धन हृदय को पीड़ा पहुँचाने वाला ही होता है। इसीलिए **पण्डितराज** द्वारा इस शब्द का प्रयोग वस्तुतः उनकी तीक्ष्ण मति का सूचक है। उन्होंने अपकर्षक या बाधक शब्द के पर्याय रूप में 'अरून्तुदता' पद का प्रयोग किया हैं।

पण्डितराज ने परम्परागत 'अपकृष्टता' आदि शब्दों का प्रयोग न करके सर्वथा नवीन शब्द का प्रयोग किया है। अरून्तुदता' पद रसास्वादन के विघात के पूर्ण भाव को व्यक्त करने में सर्वथा समर्थ भी है। रस के अपघातक तत्त्वों का ग्रहण सहृदय के मर्मस्थल अर्थात् हृदय को बेध देता है।

---

१. *अनौचित्यं तु रसभङ्ग हेतुत्वात्परिहरणीयम्। भङ्गश्च पानकादि रसादौ सिकतानिपात – जनितैवारून्तुदता।*

–जगन्नाथ, र० गं०, द्वितीय आनन, पृष्ठ–५१।

उल्लेखनीय है कि रस की 'स्वशब्द वाच्यता' रूप दोष को 'वमन' दोष कहकर भी **पण्डितराज** ने अपने भावपूर्ण सार्थक शब्द प्रयोग की कुशलता को प्रदर्शित किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार लोक तथा शास्त्र के अनुरूप देश, जाति, काल आदि का वर्णन ही औचित्य है इसके विपरीत निरूपण ही अनौचित्य है। इनके अनुसार लोक जिसे योग्य या उचित कहे, वही औचित्य है। **पण्डितराज** ने औचित्य' को 'योग्यता' कहा है। लौकिक व्यवहार के अनुसार जो उचित है, वहीं योग्यता या औचित्य है।[1] **आचार्य जगन्नाथ** ने उस अनौचित्य पूर्ण निबन्धन को वर्जित नहीं माना है , जिससे रस की पुष्टि होती है। अनौचित्य यदि रस का बाधक है तभी उसका त्याग करने का निर्देश दिया है।[2]

उल्लेखनीय है कि पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी काव्यगत औचित्य तथा अनौचित्य के विवेक में लोक को प्रमाण माना है। वर्णन सदैव ऐसा होना चाहिए जो लोक में सम्भव हो। यदि ऐसा वर्णन किया गया जो लोक सिद्ध नहीं है तो उसे पढकर काव्यमर्मज्ञ सहृदय को अरूचि उत्पन्न होती है।

रसगत अनौचित्य को सोदाहरण निरूपित करने के पश्चात् **जगन्नाथ** ने देश, जाति, वर्ण, प्रकृति आदिगत अनौचित्य का वर्णन किया है।

देश, जाति आदिगत अनौचित्य का निरूपण करते हुए **जगन्नाथ** ने प्रकृतिगत अनौचित्य को विस्तृत रूप से वर्णित किया है।

प्रकृतिगत अनौचित्य में **पण्डितराज** ने रत्यनौचित्य तथा क्रोधानौचित्य का विशेषतः प्रतिपादन किया है। रत्यनौचित्य के विषय में उनका विचार है कि आलिङ्गन आदि अनुभावों का वर्णन दिव्य नायकों के विषय में करना अनुचित है।

यद्यपि सभी नायकों में भय के अतिरिक्त रति आदि स्थायी भाव समान रूप से होते हैं, किन्तु व्रीडाजनक रति का जिसप्रकार मनुष्यों में वर्णन किया जाता है,उसी प्रकार का वर्णन उत्तम देवताओं के विषय में नहीं करना चाहिए।[3] तात्पर्य यह है कि लज्जाजनक आलिङ्गनादि अनुभावों को स्पष्टतः वर्णित करते हुए उत्तम देवताओं से सम्बद्ध रति को निरूपित नहीं करना चाहिए।

आचार्य जगन्नाथ ने इस प्रसङ्ग में अर्थात् रत्यनौचित्य के प्रसंङ्ग में जयदेव की तीक्ष्ण आलोचना की है। इन्होंने कहा है कि **जयदेव** इत्यादि कुछ कवियों ने 'गीतगोविन्द' आदि में उत्तम देवता विषयक संयोग का वर्णन अनुभावो के स्पष्टीकरण के साथ किया है। परन्तु उन्होंने मदमत्त हाथिओं की तरह सम्पूर्ण सहृदय समाज मे आदृत मर्यादा को तोड डाला है।[4]

---

१ क) *औचिती योग्यता।*

—जगन्नाथ, र० ग०, दि० आ० पृ० ६६।

ख) *योग्यता च युक्तमिदमिति लौकिक व्यवहार गोचरता।*

—वही, द्वि० आ०, पृ० ४७६।

२ *यावत् त्वनौचित्येन रसस्य पुष्टिस्तावत् तु न वार्यते, रस प्रतिकूलस्यैव तस्य निषेध्यत्वात्।*

—जगन्नाथ, र०ग०प्र०, आ०पृ० २१६।

३ *तत्र रत्यादीना भयातिरिक्त स्थायिभावाना सर्वत्र समत्वेऽपि रतेः –*
सम्भोग रूपाया मनुष्येष्विवोत्तम देवतासु स्फुटीकृत सकलानुभावं [illegible]।

—जगन्नाथ, र०ग०प्र०आ० पृ०,२१३।

४ *जयदेवादिभिस्तु गीतगोविन्दादि प्रबन्धेषु सकल सहृदय सम्मतोऽयं समयो मदोन्मत्त मतङ्गैरिव भिन्न इति न तद्दर्शनेनेदानीन्तनेन तथा वर्णयितुं साम्प्रतम्।*

—वही, प्रथम आनन, पृ०२१५।

आचार्य जयदेव में गीत गोविन्द' नामक काव्य–ग्रन्थ में राधा–कृष्ण विषयक रति का अश्लील रूप से निरूपण किया है।

आचार्य जगन्नाथ का विचार है कि परवर्ती आचार्यों को **जयदेव** का अनुकरण नहीं करना चहिए।[1] आधुनिक आचार्यों को **जयदेव** के समान पूर्वाचार्यों के विचार का अनादर नहीं करना चाहिए। उन्हें उत्तम देवताओ के व्रीडाजनक शृङ्गार का निरूपण नहीं करना चाहिए।

वस्तुत दिव्य पात्रों के प्रति हमारा पूज्य भाव होता है। यदि उनमें साधारण नायकों के समान सयोग विषयक अनुभावों को सर्वथा स्पष्ट रूप से वर्णित कर दिया जाये तो उससे सहृदय को रसानुभूति नहीं होगी। इस प्रकार के वर्णन से रसास्वादन के स्थान पर सहृदय सामाजिक को लज्जा तथा सकोच का ही अनुभव होगा। जो वैरस्य का सूचक है।

प्रस्तुतस्थलमें **पण्डितराज** ने यह भी उल्लिखित किया है कि रत्यनौचित्य जैसे प्रसङ्गों में साधारणी-करण द्वारा रसानुभूति नहीं हो सकती है।वास्तव मे जहा सहृदयजनों की रसानुभूति प्रमाण सिद्ध है, वही साधारणीकरण की कल्पना की जा सकती है[2]।

जहां लोक अथवा शास्त्र के द्वारा सहृदय सामाजिक का रसोद्बोध प्रमाणित है, वही साधारणीकरण भी सम्भव है। उल्लिखित रत्यनौचित्य शास्त्र सम्मत ही नहीं है। पूर्वाचार्यों ने इस प्रकार के रति वर्णन को उचित नहीं माना है। यह पहले ही कहा जा चुका है।

लोक व्यवहार में भी यदि देवता आदि पूज्य व्यक्तियों के रति वर्णन में खुलकर स्पष्टतया उनके व्रीडाजनक व्यवहार का वर्णन किया जाय तो सामाजिक के लिए अरूचिकर ही होगा।

पण्डितराज ने कहा है कि यदि सर्वत्र साधारणीकरण सम्भव हो तब तो उसके बल पर अपनी माता के विषय में अपने पिता का रति–वर्णन भी उचित व रसोद्बोधक माना जायेगा।[3]

उल्लेखनीय है कि **मम्मट** ने भी दिव्य उत्तम पात्रों के विषय में व्रीडाजनक संयोग शृङ्गार का वर्णन वर्जित माना है। उन्होंने भी इस प्रकार के वर्णन को माता–पिता के रति वर्णन के समान वर्जनीय स्वीकार किया है।

जयदेव ने गीतगोविन्द में जिस प्रकार दिव्य चरित्रों के संयोग का वर्णन किया है, वह अदिव्य पात्रों के अनुरूप हैं। दिव्यचरित्रों से सम्बद्ध होने के कारण इस प्रकार का वर्णन व्रीडाजनक ही प्रतीत होता है। इसीलिए **जगन्नाथ** ने इस पर कडा आकोश व्यक्त किया है। यहा तक की परवर्ती आचार्यों को वह जयदेवादि जैसे आचार्यों का अनुकरण न करने के लिए कहते हैं।

'गीतगोविन्द' की आलोचना करके **पण्डितराज** ने इसे एक प्रकार से 'प्रकृत्यनौचित्य' नामक रस–दोष के उदाहरण रूप मे प्रस्तुत कर दिया है।

रत्यनौचित्य तथा कोधानौचित्य के निरूपण में **पण्डितराज** ने **मम्मट** का ही प्रधानतः अनुकरण किया है। परन्तु **पण्डितराज** की विवेचन–शैली सर्वथा मौलिक है। साधारणीकरण का उल्लेख करके **पण्डितराज** ने इस प्रकार के अनौचित्य को और भी स्पष्ट कर दिया है।

---

1. *–द्रष्टव्य, तदेव, प्र० आ, पृ० २१५।*
2. *यत्र सहृदयाना रसोद्बोध. [illegible]सिद्धः तत्रैव साधारणीकरणस्य कल्पनात्।*
   –जगन्नाथ, र० ग०, प्रथम आनन, पृ० २१५।
3. *अन्यथा [illegible] [illegible]यक स्वपितृवर्णनेऽपिसहृदयस्य रसोदबोधापत्ते।*
   –जगन्नाथ र० प्र०, प्रथम आनन, पृ० २१६।

इस प्रकार **पण्डितराज** ने **आचार्य मम्मट** के प्रकृतिगत अनौचित्य **आचार्य विश्वनाथ** के अर्थानौचित्य नामक रस–दोष को ही प्रकृतिगत अनौचित्य निरूपित किया है किन्तु **आचार्य जगन्नाथ** ने रस–गत दोषों के साथ इसका उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने पृथक् रूप से प्रकृतिगत अनौचित्य का निरूपण किया है।

पण्डितराज ने अनौचित्य को स्पष्ट करते हुए देश, काल आदि के अनुचित सन्निवेश से उत्पन्न अपकर्षकत्व को पृथक् रूप से निरूपित करने का प्रयास किया है।

आचार्य मम्मट ने प्रकृतिगत अनौचित्य के अन्तर्गत ही देश, काल आदि से सम्बद्ध अनौचित्य का निरूपण किया है। उसे ही **जगन्नाथ** ने विस्तृत तथा विशिष्ट शैली में निरूपित किया है।

उल्लिखित काव्यशास्त्रकारों के अतिरिक्त रस–दोषों का स्वतंत्र रूप से निरूपण **हेमचन्द, वाग्भट द्वितीय** तथा **केशव मिश्र** ने किया है। इन आचार्यों ने प्राय **मम्मट** का ही अनुकरण किया है। **मम्मट** द्वारा उद्धृत उदाहरणों को ही उद्धृत किया है। यह भी उल्लेखनीय है कि आचार्यों ने **मम्मट** के समस्त रस–दोषों को ग्रहण नहीं किया है। **हेमचन्द** ने स्वशब्द वाच्यता तथा प्रतिकूल विभावादि ग्रह नामक रस–दोषों के अतिरिक्त मम्मट द्वारा प्रतिपादित आठ दोषों का निरूपण किया है।[1] **वाग्भट द्वितीय** ने स्वशब्द वाच्यता, प्रतिकूल विभावादि ग्रहण तथा प्रकृति विपर्यय नामक रस दोषों के अतिरिक्त सात रस–दोषों का निरूपण किया है[2] तथा **केशव मिश्र** ने पॉच रस–दोषों का ही निरूपण किया है, जो इस प्रकार है– स्वशब्दवाच्यता, अनुभाव–विभाव की कष्टकल्पना, प्रतिकूल विभावादि ग्रह, प्रकृति विपर्यय, वृत्ति का अनौचित्य।[3] इन आचार्यों के मत का निरूपण पिष्टपेषण मात्र है।

विद्यानाथ ने **प्रताप रूद्रयशोभूषण** नामक ग्रन्थ में 'स्वशब्दवाच्यता' नामक रस–दोष का सङ्केत किया है।[4] यहाँ प्रसङ्गानुकूल उल्लेखनीय है कि **अमृतानन्द योगी** ने **मम्मट** के दस रस–दोषों के अतिरिक्त 'रसाभास' तथा 'भावाभास' नामक रस–दोषों का भी उल्लेख किया है। परन्तु इनका लक्षण प्रस्तुत नहीं किया है।

इस प्रकार रस–दोषों पर काव्यशास्त्रकारों के मत की पृथक्–पृथक् पर्यालोचना की गयी। इससे **स्पष्ट होता है कि रस–दोषों का सर्वप्रथम निरूपण आनन्द वर्धन ने ही किया है तथा रस–दोषों को रस–दोषों के रूप में प्रस्तुत करने वाले प्रथम काव्यशास्त्रकार मम्मट ही है। आनन्दवर्धन** ने उन्हे रस–विरोधी तत्वों के रूप में प्रतिपादित किया है।

मम्मट के पश्चात् **विश्वनाथ** तथा विशेषत **जगन्नाथ** ने रस–दोषों का विवेचन किया है। परन्तु परवर्तीकाल में विश्वनाथ द्वारा निरूपित रस–दोषों को ही मान्यता मिली है।

---

१ –*हेमचन्द्र, काव्यानुशासन ३/३।*

२ –*वाग्भट्ट काव्यानुशासन पृ० ६७, ६८।*

३ –*केशव मिश्र, अलङ्कार – शेखर (काव्यमाला सीरीज) २१/१२।*

४ *रसभावादीनां स्वशब्दवाच्यता दुष्टैव।*

–विद्यानाथ, प्रतापरूद्रयशोभूषण, पृष्ठ ३२।

सहृदयगत रस-दोष

आचार्य आनन्दवर्ध के पश्चात् रस–दोषों पर गम्भीरता से विचार करने वाले **आचार्य अभिनवगुप्त** हैं। इन्होने **ध्वन्यालोक** की **लोचन टीका** में रस–विरोधी तत्वों पर अपना विचार प्रकट किया है। लोचन के अतिरिक्त नाट्य–शास्त्र की **भारती टीका** में भी रसोद्वेजक स्थितियों का उल्लेख किया है। जिसे सहृदय या भोक्ता की दृष्टि से रस–दोष कहा जाता है।प्रसगानुसार यहा **अभिनव भारती** में निरूपित रस–दोषों पर विचार अपेक्षि है।

आचार्य अभिनव गुप्त ने **भट्ट लोल्लट** के रस–सूत्र सम्बन्धी विवेचन करते हुए रस–विघ्नों की तथा उनके परिहार की सूक्ष्मता से व्याख्या की है। यहां इन रस–विघ्नों पर विचार किया जायेगा।

आचार्य अभिनव गुप्त ने रस का विवेचन करते हुए निष्कर्ष रूप से रस की परिभाषा प्रस्तुत की है। उनका विचार है कि सभी प्रकार से आस्वादात्मक एव निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्यभाव ही रस है।[1] तात्पर्य यह कि रस की सम्यक् अनुभूति के लिए किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होनी चाहिए। सहृदय की रसानुभूति में बाधक सात तत्त्वों का उल्लेख इन्होंने किया है जिसे सहृदय की दृष्टि से होने वाले रस–दोष कहा गया है। ये सातों विघ्न इस प्रकार हैं –

१ प्रतिपत्ति में अयोग्यता अर्थात् रस की सम्भावना का अभाव। २. स्वगत रूप से देशकाल का आवेश। ३ परगत रूप से देशकाल का आवेश ४. स्व–सुखादि से विवश हो जाना। ५. प्रतीति के उपायों की विकलता तथा उनकी अस्फुटता। ६. अप्रधानता तथा ७ संशय होना।[2]

उल्लेखनीय है कि **आचार्य विश्वेश्वर** ने स्वगत तथा परगत रूप से देशकाल के आवेश रूप विघ्न को एक साथ रखा है या एक माना है तथा उपायों की विकलता न उनकी अस्फुटता को पृथक्–पृथक् विघ्न माना है जबकि **पण्डित रामदहिन मिश्र** ने प्रथम को पृथक्–पृथक् विघ्न माना तथा द्वितीय को एक विघ्न के रूप में परिगणित किया है। यहा विचारणी है कि स्वगत रूप से (सामाजिक गत) तथा परगत रूप से (नटगत) उपस्थित विघ्न को पृथक् रखना ही समीचीन है क्योंकि ये दोनों सामाजिक तथा नटगत होने से पृथक् रखना ही समीचीन है क्योंकि ये दोनों सामाजिक तथा नटगत होने से पृथक रूप से स्पष्ट किये जा सकते है,जबकि उपायों की विकलता या अभाव ही अस्फुट प्रतीति का कारण होता है। अतः इनका एक साथ निरूपण या परिगणन किया जा सकता है। **डा० नगेन्द्र** का भी प्राय. यही विचार है।[3] इन रस–दोषों का स्वरूप द्रष्टव्य है –

प्रतीति में अयोग्यता या सम्भावना का अभाव – यह रस दोष वहाँ होता है जहाँ सहृदय वर्ण्य विषय असम्भव प्रतीत होने लगे, किसी पात्र का कार्य सामान्य जगत में देखा न जाय अथवा वर्ण्य

---

१ *सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एवरसः।*
– हिन्दी अभिनव भारती, पृ० ४७३।

२. *प्रतिपत्तावयोग्यता सम्भावनविरहो नाम स्वगतपरगतत्वनियमेन देशकाल विशेषावेशो निजसुखादिविवशीभाव प्रतीत्युपायवैकल्यम् स्फुटत्वभावोऽप्रधानता संशययोगश्च।*
– अभिनव–भारती, गायकवाड़ संस्करण, पृ० २८०।

३. *–द्रष्टव्य, डा० नगेन्द्र, र० सि०, पृ०–२६६।*

विषय के प्रति मन में प्रत्यय ही न हो सके वहा रस की अनुभूति नहीं हो सकती।[1] जिस प्रकार का वर्णन जिस स्थान पर सम्भव नहीं है या जो कार्य जिस सप्रात्र के लिए असम्भव है। इस प्रकार का वर्णन होने पर सहृदय तादात्म्य ही स्थापित नहीं कर पायेगा। इसलिए रसानुभूति हो ही नहीं पायेगी।

उल्लेखनीय है कि **आनन्दवर्धन** ने वृत्ति के अनौचित्य मे, **मम्मट** ने प्रकृति के विपर्यय में तथा **विश्वनाथ** ने अर्थानौचित्य रूप रस–दोष में इस विघ्न का उल्लेख किया है।

स्वगत भाव से देशकाल का आवेश वहा होता है जहा काव्य में सामाजिक को अपने सुख–दु.ख की प्रतीति होने लगे अथवा अभिनेता या पात्र के सुख दुख को वह अपना सुख–दुख समझने लगे।[2] सामाजिक देश व काल को यदि ध्यान में रखेगा अर्थात् यह घटना अमुक स्थान तथा अमुक समय की है, ऐसा ध्यान रखेगा तो रसानुभूति नहीं हो पायेगी। तात्पर्य यह कि सहृदय यदि काव्य में वर्णित या नाट्य में प्रेक्षित सुख–दुख तथा स्थान व समय को अपना समझने लगेगा तो रस की अनुभूति नहीं हो पायेगी क्योंकि रसानुभूति मे स्वगत तथा परगत भाव समाप्त होकर सहृदय तथा पात्र के बीच तादात्म्य स्थापित हो जाता है, जिसे साधारणीकरण कहते हैं। यदि साधारणीकरण नहीं हुआ तो प्रमाता सुख–दुख सभी का अनुभव करने लगेगा जबकि रस प्रकिया मे करूण, भयानक आदि रसों मे भी आनन्द की ही अनुभूति होती है। यह भी उल्लेखनीय है कि अपना सुख–दुख समझने, उन भावों को छिपाने, प्रकट करने, उसी के समान वर्णन की अभिलाषा करने से भी सहृदय रस का अनुभाव नहीं कर पायेगा।[3]

परगत भाव से देशकाल का आवेश रूप रस–विघ्न की स्थिति वहा होती है जहा स्वगत भाव के समान ही प्रमाता को पात्र में ही सुख–दुख का अनुभव होने लगे। तात्पर्य यह कि काव्य में वर्णित विभावादि नट के ही है, नट ही रति, शोक आदि का अनुभव कर रहा है, यदि प्रमाता ऐसा सोचने लगे तो रसानुभूति बाधित होगी। ऐसी स्थिति में सामाजिक नाट्य में अभिनीत घटनाओं को, स्थान तथा समय आदि को पात्रगत मानकर उससे तटस्थता स्थापित कर लेगा और तब वह [illegible] उनसे तादात्म्य स्थापित नहीं कर पायेगा। यह भी सम्भव है कि पात्र के सुख–दुख से वह स्वयं भी प्रभावित होने लगे।[4] इस प्रकार रसानुभूति नहीं हो पायेगीं व्यक्ति विशेष की निरपेक्षता से ही वास्तविक रसानुभूति हो सकती है।

---

१ *सवेद्यमसंभावयमान· संवेद्ये संविद विनिवेशयितुमेव न शक्नोति का तत्र विश्रान्तिरिति प्रथमों विघ्न.।*
—अभिनव गुप्त, अ० भा०, सहित ना० शा०, पृ० २७६।

२ *—तदेव, पृ० २७६।*

३ *यथासम्भव तदपगमभीरूतया...... तदगोपनेच्छवा वा [illegible]ण वा सवेदनान्तर समुदगम एव परमो विघ्नः।*
—तदेव, पृ० २७६।

४ *परगतत्वनियमभाजामपि सुखदु.खानां संवेदने नियमेन स्वात्मनि सुख–दुख मोहमाध्-यस्थ्यादिसविदन्तरोद्गमनसभावनादवश्यंभावी विघ्नः।*
—तदेव, पृ० २७६।

स्वसुखादि से विवश होना चतुर्थ रस विघ्न है। अपने सुख–दुख से विवश सामाजिक रस की अनुभूति नहीं कर सकता।[1] स्व सुख–दुख से आविष्ट होने पर वह अपने सुख–दुख में ही लीन रहेगा वस्तुत वह तो काव्य या नाट्य मे एकाग्रमन हो ही नहीं पायेगा। वह काव्य या नाट्य में वर्णित घटनाओं को समुचित रूप में अधिगम ही नहीं कर पायेगा तो रसानुभूति होना सम्भव ही नहीं। वह तो अपने सुख–दुख से ही प्रभावित रहेगा।

प्रकृत स्थल मे विचारणीय है कि स्वगत भाव से देशकाल का अनुभव रूप विघ्न इस विघ्न से पृथक् है। यहा सामाजिक अपने दु ख से दु खी या अपने सुख से आनन्दित है जबकि पूर्व प्रतिपादित विघ्न में नाट्य या काव्य में वर्णित सुख–दुख को वह अपना मान लेता है।

प्रतीति के उपायों की ।विकल.। तथा उनकी अस्फुटता पांचवा रस विघ्न है। काव्य में व्यंजना तथा नाट्य मे रंग कौशल और अभिनय रस की प्रतीति के साधन होते हैं। जब काव्य या नाट्य में इन साधनों का अभाव या अपूर्णता रहती है तो रस की सम्यक् अनुभूति नहीं होती।

रसानुभूति के उपायों की विकलता मे इसकी अभिव्यजना में सहयोगी तत्त्वों का अभाव या असमर्थता कि वा अयोग्यता का ग्रहण होता है। काव्य में यदि विभावादि का समुचित व स्फुट रूप में वर्णन न किया जाये तो रस व्यक्त नहीं हो पायेगा। इसी प्रकार नाट्य मे अभिनयादि की अकुशलता होने के कारण रस की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है।[2]

'अस्फुटता' का तात्पर्य है असन्दिग्ध प्रतीति अर्थात् विभावादि की या भावों की रस के अनुकूल प्रतीति न होना। यदि यह स्पष्टतया ज्ञात न हो पाये कि वर्णित विभावादि या अभिनीत भाव किस रस से सबद्ध हैं तो रसानुभूति में बाधा उपस्थित होगी।

विवेचनीय है कि प्रतीति के उपायों या साधनों की अयोग्यता तथा अस्फुटता रूप विघ्न कविगत ही होता है परन्तु भोक्ता होने के कारण इसे सहृदयगत माना जा सकता है। स्वशब्द वाच्यत्व नामक रसगत दोष में भी अभिव्यंजना की असमर्थता होती है।

[illegible] या रस के उद्बोधन की अप्रधानता भी रसानुभूति में बाधक होती है। इस प्रकिया में स्थायी भाव प्रधान होता है या विभाव,अनुभाव और सचारी भाव अप्रधान होते हैं। यदि काव्य या नाट्य में स्थायी भाव की प्रधानता का निरूपण या अभिव्यक्ति न होकर विभावादि की प्रधानता का वर्णन हो तो वहा रस बाधित हो जाता है।[3]

विचारणीय है कि यद्यपि विभावादि की प्रधानता का वर्णन दोषपूर्ण नहीं होता। परन्तु यहां स्थायीभाव की प्रधानता का तात्पर्य है कि आलम्बन आदि के अतिरजित या अलंकृत रूप सौन्दर्य का, उद्दीपन विभाव–नगर, पर्वत, प्रकृति आदि का अत्यन्त विस्तृत वर्णन होने पर स्थायी भाव गौण हो जाता है और उसकी प्रधानता क्षीण हो जाती है। जिससे रसानुभूति बाधित हो जाती है।

आचार्य आन- वधन तथा **मम्मट** ने भी सम्बद्ध होने पर भी अन्य वस्तु का विस्तारपूर्वक वर्णन तथा अगभूत तत्त्वो के अत्यन्त विस्तारपूर्वक वर्णन को दोष माना है।

---

१ *निजसुखादि विवशीभूतश्च कथं वस्त्वन्ते संविद विश्रामयेदिति।*
–तदेव, अ०भा०, पृ० २८०।

२. *किञ्च प्रतीत्युपायानामभावे कथं प्रतीति.। ..*
–तदेव, पृ २८०।

३. *अप्रधाने च वस्तुनि कस्य संविद्विश्राम्यति। .... तदतिरिक्त स्थाय्येव तथा चर्वणापात्रम्।*
–तदेवं, पृ० २८०।

आचार्य अभिनव गुप्त ने प्रकृत प्रसग में रसो की परस्पर प्रधानता तथा अप्रधानता का भी निरूपण किया है। गुण व अलकार की अपेक्षा रस की गौणता या अप्रधानता को भी दोष मानकर यहॉ वर्णित किया गया है। **अभिनव गुप्त** का विचार है कि पुरूषार्थ चतुष्टय से सम्बद्ध रस प्रधान तथा शेष अप्रधान हैं ऐसा माना जा सकता है परन्तु प्राय सभी रस सुख दायी होने के कारण सभी रस प्रधान है।[1] प्रबन्ध काव्य तथा नाट्य मे रस का निरूपण करते समय रसों की प्रधानता और अप्रधानता का ध्यान रखना चाहिए इसके कम मे विपर्यय होने पर रस–दोष उपस्थित हो जाता है।

संशय होना सप्तम रस विघ्न है। विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों का रस के साथ निश्चित सम्बन्ध ज्ञात न होने पर रसानुभूति में बाधा उपस्थित हो जाती है। तात्पर्य यह कि कोई विभाव विशेष या अनुभाव–विशेष किसी एक ही स्थायी भाव से सम्बद्ध होगा, ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं है। एक ही अनुभाव भिन्न–भिन्न रसो में हो सकता है। इसी प्रकार एक ही विभाव या व्यभिचारी भाव भी एक से अधिक रसो के साथ वर्णित हो सकता है। उदाहरणार्थ 'अश्रु' शृगार व करूण दोनों रसो को सम्भव है। ऐसी स्थिति मे यह अश्रुपात किस रस से सम्बन्ध है, यह निश्चित होने पर ही रसानुभूति सम्भव है अन्यथा नहीं। **मम्मट** ने विभाव–अनुभाव की कष्ट कल्पना से अभिव्यक्ति को रस–दोषों में परिगणित किया है। अभिनव गुप्त ने प्रकृति रस विघ्न की व्याख्या नहीं की है। रस विभाव आदि की प्रधानता तथा गौणता का विस्तृत विवेचन किया है।[2]

इस प्रकार सहृदय की दृष्टि से रसदोषों का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि **अभिनव गुप्त** ने प्रकृति रस विघ्न की व्याख्या नहीं की है। रस, स्थायी भाव, विभाव आदि की प्रधानता व गौणता का विस्तृत विवेचन किया है। जिससे प्रकृत रस–दोष प्रकारान्तर से वर्णित हो जाता है।

इस प्रकार सहृदय की दृष्टि से रस–दोषों का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि **अभिनव गुप्त** ने रसानुभूति के बाधक तत्वो का **आनन्दवर्धन** से पृथक् रूप में विचार किया है।

विचारणीय है कि उपर्युक्त रस विघ्नों को पूर्णतया सहृदयगत माना नहीं जा सकता तथापि रसानुभुति के बाधक तत्वो का विवेचन करने में **अभिनव गुप्त** ने एक नवीन दृष्टि प्रदान की है। इनके इस विवेचन से सहृदयगत की दृष्टि से भी रस दोषों पर विचार करने की दिशा प्राप्त हुई है क्योंकि रस का भोक्ता सहृदय ही होता है। इसलिए रस–विघ्नों का अनुभव भी उसी से सम्बद्ध होता है। परन्तु स्पष्टता के लिए व्यावहारिक रूप से दोनों का पृथक्–पृथक् विवेचन समीचीन है।

सहृदयगत दोष या **अभिनव गुप्त** द्वारा निरूपित उक्त रस विघ्न काव्य–शास्त्र में बहुत मान्य नहीं हुए क्योंकि परवर्ती काव्यशास्त्रकारों ने इनका वर्णन नहीं किया है।

---

१ *तत्र पुरूषार्थनिष्ठा काश्चित्सविद इति प्रधानम्। तद्यथा रति कामः तदनुषङ्गिधर्मार्थनिष्ठा। क्रोध . अर्थनिष्ठ। उत्साह समस्त धर्मादिपर्यवसितः। निर्वेद.............. मोक्षोपाय। . . . . . सर्वेऽमी सुख प्रधाना।*

—अभिनव गुप्त, अ० भा०, पृ० २८०।

२ *—तदेव, पृ० २८०—८३।*

रस दोषों के स्वरूप आदि का विवेचन करने के पश्चात् रस–दोषों के परिहार पर विचार करना अपेक्षित है। काव्य–शास्त्रकारों ने यश की कामना करने वाले कवि को निर्देश दिया है कि वह इन दोषों से अपनी काव्य–रचना को सर्वथा दूर रखने का प्रयत्न करे। वस्तुत पद वाक्यआदि दोषों की अपेक्षा रस–दोष अधिक गर्हित, त्याज्य कि वा हेय हैं। तात्पर्य यह है कि पदगत, वाक्यगत आदि दोष एक बार क्षम्य हो सकते हैं। परन्तु रस–गत दोष कदापि क्षम्य नहीं हैं। इसलिए इनसे काव्य–रचना को दूर रखने का यथासम्भव प्रयास कवि को करना ही चाहिए।

पदगत आदि दोषो के परिहार का विवेचन पहले हो चुका है।[1] अत यहाँ यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि दोषों मे सर्वाधिक हेय रस–दोषों के परिहार पर काव्य–शास्त्रकारों के क्या विचार है? रस–गत दोषो पर विशेष दृष्टिपात करने वाले आचार्यो ने क्या सम्पूर्ण रस–दोषों परिहार की चर्चा की है? अथवा कतिपय रस–दोषों के ही परिहार या निराकरण का निरूपण किया है?

कविगत रस-दोष-परिहार

रस–दोषों के आधारभूत रस–विरोधी तत्त्वों का सर्वप्रथम स्पष्ट निरूपण करने वाले **आचार्य आनन्द वर्धन** ने ही सर्वप्रथम रस–विरोधी तत्त्वों के परिहार पर भी विचार किया है। इन्होंने रस विरोधी तत्त्वों में से विरोधी रस सम्बन्धी विभावादि परिग्रह रूप दोष के परिहार का प्रतिपादन किया है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने परस्पर विरोधी रसों के विभाव आदि का विशेष प्रकार से निबन्धन करके इन रसो के विरोधी भाव को दूर करने का निर्देश दिया हैं। **ध्वनिकार** कहते हैं कि अभीष्ट रस के परिपुष्ट हो जाने पर विरोधी रस का बाध्य रूप में अथवा अङ्ग रूप में वर्णन करने पर रसभङ्ग दूर हो जाता है।[2]

आलोक वृत्ति में अभीष्ट रस की परिपुष्टि को **आचार्य आनन्द वर्धन** 'अपनी विभावादि सामग्री से परिपुष्ट विवक्षित रस' कहा है। तात्पर्य यह कि जो अभीष्ट, अभिलषित, विवक्षित अथवा प्रकृत या प्रधान रस अपने सम्बद्ध विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भाव से परिपोष को प्राप्त हो चुका है।[3]

जब प्रधानत वर्ण्य रस अपनी विभावादि सामग्री से पूर्णतः परिपोष को प्राप्त कर चुका है ऐसी स्थिति में विरोधी रस के अंगों अर्थात् विरोधी रस के विभाव, अनुभाव तथा सचारी भाव का दो प्रकार से निबन्धन करने पर रस भग नहीं होता प्रथम बाध्य रूप से द्वितीय अंग रूप से।[4]

---

१ *–द्रष्टव्य प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, द्वितीय, अध्याय पृ०–५१, ८६।*

२ *विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम्।*
बाध्यानामङ्भाव वा प्राप्तानामु[illegible]।।
–आनन्द वर्धन ध्वन्या० ३/२०।

३. *स्वसामग्र्या लब्धपरिपोषे तु विवक्षिते रसे।*
–तदेव, ३/२० की आलोकवृत्ति।

४. *स्वसामग्र्या लब्ध परिपोषे तु विवक्षिते रसे विरोधिनां विरोधिरसाङ्गानां बाध्यानामङ्भाव वा प्राप्ताना [illegible]।*
– आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३/२० की वृत्ति।

बाध्यत्व रूप से विरोधी रसों का ग्रहण करने का तात्पर्य है कि विरोधी रस के अगों का इस प्रकार निरूपण किया जाय कि वे परिपुष्ट प्रधान रस के द्वारा बाधित हो जाये। विरोधी रस के अगों के बाध्यत्व को स्पष्ट करते हुए **आचार्य आनन्दवर्धन** कहते हैं कि विरोधी रस प्रधान रस के द्वारा तभी बाधित हो सकता है जब प्रधान रस से वह अभिभव को प्राप्त कर ले अर्थात् प्रधान रस की अपेक्षा उसका महत्व या प्रभाव कम हो जाये।[1]

उल्लेखनीय है कि अभिभव विरोधी रस के हीनत्व होने पर ही सम्भव है क्योंकि समबल या अपेक्षाकृत शक्तिशाली शत्रु बाधित नहीं होता। तात्पर्य यह कि जब विरोधी रस प्रधान रस की अपेक्षा दुर्बल होगा तभी बाध्यता सम्भव है। यदि विरोधी रस प्रकृत रस के समान ही प्रभावशाली है अथवा प्रधान रस की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली है तो बाध्यत्व या अभिभवत्व सम्भव नहीं है। दुर्बल शत्रु ही बाध्य हो सकता है, समान बल वाला या अधिक बल वाला शत्रु बाधित नहीं हो सकता।

आलोककार आनन्दवर्धन ने विरोधी रस की अभिभव रूप या दुर्बल स्थिति को प्रस्तुत रस की परिपोषिका माना है।[2] इस प्रकार की स्थिति में विरोधी रस प्रधान रस का अपकर्षण नहीं करता वरन् उसका परिपोष ही करता है। दुर्बल शत्रु यदि राजा द्वारा बाधित होता है तो इससे राजा का उत्कर्ष ही द्योतित होता है।

यहा उल्लेखनीय है कि **आलोककार** ने आलोकवृत्ति में उदाहरणों को बाध्यत्व तथा अगत्व का निरूपण करने के पश्चात् उद्धृत किया है। परन्तु स्पष्ट बोध के लिए उदाहरणों का सम्बद्ध विषयों के साथ उल्लेख समीचीन है। बाध्यत्व तथा अगत्व को पूर्णत समझने के लिए तत्काल ही उनके उदाहरण उद्धृत करना अपेक्षाकृत अधिक उचित है।

विचारणीय है कि यदि पहले . ' . काव्य शास्त्रीय तत्वों की परिभाषा एक साथ प्रस्तुत की जाय तत्पश्चात् उन सब के उदाहरणों को एक साथ प्रस्तुत किया जाये तो काव्य शास्त्रीय तत्त्वो का बोध करने मे असुविधा होगी। जैसे [illegible] तथा अर्थालंकारों की परिभाषा को एक साथ प्रस्तुत कर दिया जाये और तत्पश्चात् इनके उदाहरणों को क्रमशः उद्धृत किया जाय तो परिभाषा का एक बार अध्ययन करने के पश्चात् पुनः उदाहरण को समझने के लिए दुबारा उनका अध्ययन करना पडेगा। इस प्रकार व्यर्थ ही प्रयास करना आवश्यक हो जायेगा जो उचित नहीं है।

ध्वनिकार ने परिपुष्ट प्रधान रस के विरोधी रस की बाध्यता को स्पष्ट करने के लिए दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इनमें प्रथम उदाहरण 'क्वाकार्यम् शशलक्ष्मणः०'[3] में अन्य अप्सराओं के साथ उर्वशी के स्वर्गचले जाने पर विरही राजा पुरूरवा के हृदय में उत्पन्न होने वाले विचारों का वर्णनकिया गया है। इसमें परस्पर विरोधी शान्त व शृगार रस के व्यभिचारी भावों की एक साथ उपस्थिति हो रही है। परन्तु शान्त रस

---

१. *बाध्यत्व ही विरोधिनां शक्याभिभवत्वेसति नान्यथा।*
– तदेव, ३/२० की वृत्ति।

२ *तथा च तेषामुक्ति प्रस्तुतरसपरिपोषायैव सम्पद्यते।*
– तदेव, ध्वन्या, ३/२० की वृत्ति।

३. *क्वाकार्यं शशलक्ष्मण क्वच कुलं भूयोऽपि दृश्यते सा।*
दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा।
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं पास्यति।।

के व्यभिचारी भाव शृगार रस के व्यभिचारी भावो के द्वारा अभिभूत या बाधित हो रहे हैं। स्पष्ट ज्ञान के लिए उद्धृत श्लोक का अर्थ द्रष्टव्य है–

उर्वशी के स्वर्ग चले जाने पर पुरूरवा विरहोत्कण्ठित होकर कहते हैं –

कहा यह कुकार्य और कहा चन्द्रवश!	(वितर्क)
वह पुन दिख जाती!	(औत्सुक्य)
मेरा शास्त्र–ज्ञान दोषों का दमन करने के लिए है।	(मति)
अहो! क्रोध में भी उसका मुख कितना कमनीय था!	(स्मरण)
धर्मज्ञाता विद्वान् क्या कहेंगे ?	(शका)
वह तो स्वप्न में भी दुर्लभ हो गयी!	(दैन्य)
उन्हें मन! स्वस्थ हो जाओ!	(धृति)
न जाने कौन भाग्यशाली युवा उसका अधरपान करेगा ?	(चिन्ता)

यहा वितर्क, मति, शका, तथा धृति ये व्यभिचारी भाव के शान्त रस के हैं तथा औत्सुक्य, स्मरण, दैन्य व चिन्ता शृंगार रस के व्यभिचारी भाव हैं।

उल्लेख्य है कि शान्त तथा शृगार रस का नैरन्तर्य तथा आलम्बन ऐक्य में विरोध होता है। उद्धृत छन्द में दोनो रसों का नैरन्तर्य तथा आलम्बनैक्य है। अर्थात् दोनों ही रस एक साथ प्रस्तुत हो रहे हैं। वितर्क व औत्सुक्य मति व स्मरण, शका व दैन्य तथा धृति व चिन्ता एक साथ उपस्थित हो रहे हैं। शान्त व विप्रलम्भ शृगार दोनो का आलम्बन उर्वशी है।

यहां शान्त रस के व्यभिचारी भाव शृंगार रस के व्यभिचारी भावों के द्वारा बाधित हो रहे हैं। यथा वितर्क औत्सुक्य से, मति स्मरण से, शका दैन्य से तथा धृति रूप व्यभिचारी भाव चिन्ता से अभिभूत हो रहा है।

वितर्क करने पर भी अर्थात् अपने कुल के अनुसार यह कार्य उचित नहीं है यह विचार करने पर भी उर्वशी के प्रति पुरूरवा की उत्सुकता कम नहीं होती। एक ओर पुरूरवा यह विचार करता है कि मैंने कामादि दोषों का दमन करने के लिए शास्त्रों का श्रवण या अध्ययन किया है तो दूसरी ओर उर्वशी के कान्ति मान मुख का स्मरण करता है। उसके हृदय में यह शंका भी उत्पन्न होती है कि मेरे इस प्रकार के उर्वशी पर अनुरक्ति सम्बन्धी व्यवहार को देखकर धर्मात्मा विद्वान् क्या कहेंगे? परन्तु उसके हृदय में यह भी भाव उत्पन्न होता है कि वह उर्वशी अब स्वप्न में भी दुर्लभ अर्थात् पूर्णतः अप्राप्य हो गयी। छन्द की अन्तिम पंक्तियों में वह हृदय को धैर्य धारण करने के लिए कहता है। परन्तु इसके साथ ही उसे यह भी चिन्ता है कि कौन भाग्यशालीपुरूष उसके अधरामृत का पान करेगा।

पुरूरवा के हृदय में उठते इन विरोधी विचारों का वर्णन होने पर शृगार में ही पूर्ण विश्रान्ति हो रही है। यहा सहृदय को शृंगार की अनुभूति होती है क्योंकि यहा शान्त रस की बाध्यत्वेन उक्ति है। शान्त रस विप्रलम्भ शृगार के व्यभिचारी भावों के द्वारा पूर्ण रूप से बाधित हो रहा है। इस प्रकार यहां विरोधी रसों की बाध्यत्व रूप से उक्ति होने के कारण दोष नहीं है।

बाध्यत्वेन कथन में अविरोध का द्वितीय उदाहरण कादम्बरी से ग्रहण किया गया है। कादम्बरी में महाश्वेता के प्रति अत्यधिक अनुरक्त पुण्डरीक को द्वितीय मुनिकुमार द्वारा उपदेश दिया जाता है।

कादम्बरी मे जिस समय पुण्डरीक महाश्वेता पर अत्यन्त मुग्ध हो जाता है।उस समय कपिंजल उसे मुनिजनोचित उपदेश देता है। वह कहता है कि तुम्हारा यह कार्य मुनियों के योग्य नहीं परन्तु पुण्डरीक महाश्वेता के प्रति आसक्ति या अनुराग की विवशता को प्रकट करता है।[1]

---

1. *यथा वा पु[illegible] महाश्वेतां प्रति प्रवृत्तनिर्भरानुरागस्य द्वितीय मुनिकुमारोपदेशवर्णने।*
– आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३/२० की वृत्ति से।

प्रकृत प्रसग मे मुनिकुमार कपिंजल अनेक बार पुण्डरीक को उपदेश देता है कि स्त्री के प्रति तुम्हारी यह अनुरक्ति तुम्हारे लिए उचित नहीं है। कपिजल के इस उपदेश से शान्त रस की अभिव्यजना होती है। कपिजल के उपदेश सुनकर भी पुण्डरीक महाश्वेता के प्रति पुण्डरीक का मोह दूर नहीं होता वरन् वह महाश्वेता के प्रति अपने अतिशय अनुराग को ही अत्यन्त विनम्रता से प्रकट करता है। पुण्डरीक का इस प्रकार का कथन शृगार की अभिव्यजना करता है। पुण्डरीक के कथन से कपिंजल का कथन बाधित हो जाता है। यहा विप्रलम्भ शृगार मे ही विश्रान्ति होती है।

यहा शान्त व शृगार की निरन्तर उपस्थिति हो रही है आश्रय में भिन्नता है। प्रथम उदाहरण में भी शान्त तथा शृगार की नैरन्तर्य उपस्थिति का निरूपण किया गया है। दोनो ही स्थलों में बाध्यत्व रूप से कथन होने के कारण शान्त व शृगार का उपादान दोषावह नहीं है।

'विरोधी रसों की बाध्यत्वेन' उक्ति के पश्चात् **आचार्य आनन्दवर्धन** 'विरोधी रसों के अगभाव' के विषय में व्याख्यान देते हुए कहते हैं कि विरोधी रस यदि प्रकृत रस के अगभाव को प्राप्त हो जाते हैं तो उनका विरोधी ही समाप्त हो जाता है।[1] यदि शत्रु स्वय ही अधीनता स्वीकार कर ले तो उससे राजा के साथ उसका विरोध तो समाप्त हो ही जायेगा साथ ही राजा का उत्कर्ष भी द्योतित होता है।

आनन्दवर्धन ने विरोधी रसो के अगभाव को दो प्रकार का माना है। स्वाभाविक तथा [illegible]।[2] इन दोनो के अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार के अंगभावत्व का उल्लेख भी आलोक वृत्ति में किया गया है।[1] जहा प्रकृत या प्रधान रस के प्रति दो विरोधी रसों की अगरूपता होती है। इस प्रकार तीन प्रकार की अगरूपता का निर्देश **आनन्द वर्धन** ने किया है।

विरोधी रसों का स्वाभाविक अगभाव वहा होता है, जहा विरूद्ध रस के व्यभिचारी आदि भाव स्वभाव से ही अथवा नैसर्गिक रूप से प्रकृत रस के अंग होते हैं। [illegible]र **आनन्द वर्धन** ने कहा है कि स्वाभाविक अगभाव होने पर विरोध होता ही नहीं जैसे विप्रलम्भ शृंगार में उसके अंगभूत व्याधि आदि व्यभिचारी भावों के कथन मे विरोध नहीं होता।[3]

उल्लेखनीय है कि व्याधि करूण रस का भी व्यभिचारी भाव है।[4] करूण व शृंगार रस विरोधी रस है और व्याधि दोनों का ही स्वाभाविक रूप से अंग है। इस प्रकार विप्रलम्भ शृंगार में

---

१. *अङ्.भाव प्राप्तानां च तेषा विरोधित्वमेव निवर्तते।*
— आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३/२० की वृत्ति।

२क) *अङ्.गभावप्राप्तिर्हि तेषा स्वाभाविकी समारोपकृता वा।*

ख) *इयं चाङ्.गभावप्राप्तिरन्या यदाधिकारिकत्वात् प्रधान एकस्मिन् वाक्यार्थे रसयोर्भावयोर्वा परस्पर विरोधिनोर्द्वयोरङ्.गभावगमनं तस्यामपि न दोषः।*
— वही, ३/२० की वृत्ति।

३ *तत्र येषा [illegible] एव। यथा विप्रलम्भ शृङ्गारे तदङ्.गानां व्याध्यादीनाम्।*
— वहीं, ३/२० की वृत्ति।

४ *द्रष्टव्य प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, तृतीय अध्याय पृ०११६–१२०।*

यदि व्याधि को ग्रहण किया जाय तो विरोधी रस का व्यभिचारीभाव होने पर भी उसका ग्रहण दोषपूर्ण नहीं होगा। शुक्लजी ने इस प्रकार के निबन्धन को दोष नहीं प्रत्युत् गुण जनक माना है।[1] तात्पर्य यह है कि दोनो रसो का स्वाभाविक रूप से जो व्यभिचारी भाव अग है उसका ग्रहण प्रकृत व विरोधी दोनों में किया जा सकता है। इस प्रकार के निबन्धन से रस का उत्कर्ष ही होगा। गुण रस के उत्कर्षक होते हैं।[2]

प्रस्तुत प्रसग मे करूण तथा शृगार रस के व्यभिचारी भाव उल्लेखनीय हैं।तैंतीस व्यभिचारी भावों में से आलस्य,उग्रता तथा जुगुत्सा के अतिरिक्त अन्य सभी व्यभिचारी भावों का शृगार रस में ग्रहण हो सकता है।[3] निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति श्रम, विषाद, जडता, उन्माद तथा चिन्ता ये करूण रस के व्यभिचारी भाव हैं।[4] आलोककार ने स्वाभाविक अगता का निम्नाकित उदाहरण प्रस्तुत किया है –

"भ्रमिमरतिमलसहृदयता प्रलयं, मूर्च्छां तम शरीरसादम्।
मरण च जलदभुजगज प्रसह्यं कुरूते विष वियोगिनीनाम्।।"

'अर्थात् मेघरूपी सर्प से उत्पन्न जलरूपी विष विरहिणियो के लिए चक्कर (भ्रमि), बेचैनी, हृदय में आलस्य का भाव, प्रलय अर्थात् चेतना नष्ट होना, मूर्च्छा, मोह, शरीर की कृशता या दुर्बलता तथा मृत्यु को उत्पन्न करता है।'

प्रस्तुत उदाहरण मे 'भ्रम' आदि व्याधि के अनुभाव हैं ये करूण रस के अग होते हुए ही स्वाभाविक रूप से विप्रलम्भ शृगार के भी अग हैं। इस प्रकार स्वाभाविक रूप से विप्रलम्भ के अग होने के कारण यहां अविरोध हैं।

स्वाभाविक रूप से अंगत्व होने पर किसी भी व्यभिचारी भाव का प्रधान तथा विरोधी रस के अंग रूप मे ग्रहण हो सकता है। यहां **ध्वनिकार** ने स्वाभाविक अगत्व से उत्पन्न अविरोध को और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि विरोधी रस के जो व्यभिचारी भाव प्रधान रस के स्वभावत अंग है उनका ग्रहण करने पर ही अदोष होता है। परन्तु विरोधी रस के जो भाव प्रकृत रस के स्वाभाविक अग नहीं हैं उनका वर्णन प्रधान रस के अंग रूप में करना अनुचित ही होगा।[5] इसे उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है यथा शृगार व वीर विरोधी रस हैं। उग्रता वीर रस का व्यभिचारी है परन्तु शृंगार रस का अंग नहीं है। अतः शृंगार रस के अंग रूप में उग्रता का ग्रहण दोषाधायक ही होगा।

---

१ *तत्र ये विराधिनोऽपि सन्तो भावाः स्वभावादेव प्रस्तुत रसस्याङ्भाव भजन्ते तेषां प्रतिपादन न दोषाय प्रत्युत् गुणायैव सम्पद्यते।*
– दीपशिखा टीका, पृ० २४२।

२ *उत्कर्ष हेतवस्ते [illegible]तयो गुणा।*
– मम्मट, का० प्र० ८/१।

३ *आलस्यौग्र्यजुगुप्साभिभावैस्तु परिवर्जिता।*
उद्भावयन्ति शृङ्गार सर्वे भावा स्वसङ्ज्ञया।।
– भरतमुनि, ना० शा० ७/१०८।

४ *निर्वेदमोहापस्मारव्याधिग्लानि स्मृति श्रमा।*
[illegible] व्यभिचारिण।।
– विश्वनाथ, सा० द० ३/२२५।

५ *तेषा च तदङ्गानामेवादोषो नातदङ्गानाम्।*
– आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३/२० की वृत्ति।

आचार्य भरत द्वारा वर्णित तैंतीस व्यभिचारी भावों मे आलस्य,उग्रता व जुगुप्सा के अतिरिक्त शेष तीस व्यभिचारी शृगार रस के व्यभिचारी भाव हैं। इन तीस व्यभिचारी भावों में 'मरण' भी है। अत इसका भी शृगार के अग रूप मे वर्णन किया जा सकता है। इस सम्भावना का निराकरण करते हुए **आनन्दवर्धन,आलोक वृत्ति** मे कहा है कि यद्यपि मरण रूप व्यभिचारी भाव विप्रलम्भ शृगार का भी अग हो सकता है परन्तु 'मरण' का विप्रलम्भ शृगार में ग्रहण प्रशसनीय नहीं है. क्योंकि आश्रय का विनाश होने पर रस का ही अत्यन्त विनाश उपस्थित हो जायेगा। यदि यह कहा जाये कि ऐसे स्थल पर करूण रस का परिपोषण होगा तो यह कहना उचित नहीं है क्योकि करूण रस प्रस्तुत रस नहीं है, और प्रस्तुत विप्रलम्भ शृगार का तो अत्यन्त विच्छेद हो जाता है। जहां करूण रस प्रधान है वहा मरण का वर्णन करने में विरोध नहीं है।[1]

आलोककार ने यहा विप्रलम्भ शृंगार में मरण रूप व्यभिचारी भाव के अङ्गत्व का विवेचन किया है। **भरत मुनि** के अनुसार 'मरण' भी विप्रलम्भ शृंगार का अग हो सकता है। इसी को दृष्टिगत रखते हुए **आनन्दवर्धन** ने इस प्रकार का विवेचन किया है, ऐसा माना जा सकता है।

विचारणीय है कि 'मरण' सामान्यत करूण रस का व्यभिचारी भाव है परन्तु विशेष स्थिति में इसे विप्रलम्भ शृगार का भी अग माना जा सकता है। करूण रस नि [illegible] तथा विप्रलम्भ सप्रत्याशक होता है। तात्पर्य यह कि जहां पुनर्मिलन की आशा न हो वहा करूण रस तथा जहां पुनर्मिलन की कोई आशा हो वहा विप्रलम्भ शृगार होता है।

उपर्युक्त स्थिति में यह भी विचार उत्पन्न होता है कि 'मरण' को विप्रलम्भ शृगार के अंग रूप में वर्णित करने से विप्रलम्भ शृगार का विच्छेद हो जाता है। परन्तु 'मरण' के वर्णन से करूण रस का परिपोष तो होगा ही। अत इस प्रसंग में मरण का विप्रलम्भ शृगार में वर्णन दोष नहीं है। इसी का निराकरण करते हुए **आनन्दवर्धन** कहते हैं कि ऐसा सम्भव नहीं है क्योंकि करूण रस प्रस्तुत या प्रधान प्रतिपाद्य नहीं है। प्रधान प्रतिपाद्य रस विप्रलम्भ शृंगार है तथा उसका विच्छेद हो चुका है। अत यहां करूण रस की परिपुष्टि का प्रश्न ही नहीं उठता है।

उल्लेख है कि **आनन्दवर्धन** ने विप्रलम्भ शृंगार का प्रधान रस के रूप में निरूपण होने पर ही ऐसे अंगत्व का विरोध किया है अर्थात् जब विप्रलम्भ [illegible] प्रकृत रस के रूप में निरूपित हो तब मरण को अंग रूप में निरूपित करने पर दोष उत्पन्न हो जाता है। आ[illegible]ककार का यही मन्तव्य है जब प्रधान रूप से वर्णित या आस्वाद्य रस का ही विनाश हो जाता है तो अप्रधान रस का आस्वादन ही नहीं हो सकता है। प्रधान रस का आस्वादन ही सहृदय को अभिप्रेत होता है।[2]

करूण रस जहां प्रधानत. वर्ण्य होता है वहा 'मरण' का वर्णन दोषावह नहीं होता वरन् मरण करूण रस का परिपोषक ही होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रकृत या प्रधान रस करूण होने पर मरण रूप व्यभिचारी का वर्णन विरोध जनक नहीं होता वरन् प्रकृत रस का उत्कर्षक या परिपोषक ही होता है।

---

१ *तदङ्गत्वे च सम्भवत्यपि मरणस्योपन्यासो न ज्यायान्।*
आश्रयविच्छेदे रसस्यात्यन्तविच्छेदप्राप्ते।
करूणस्य तु तथाविधे विषये परिपोषो भविष्यतीति चेत् न।
तस्याप्रस्तुत्वात्, प्रस्तुतस्य च विच्छेदात्।
यत्र तु करूण रसस्यैव काव्यार्थत्वं तत्राविरोध।
— ध्वन्या० ३/२० की वृत्ति।

२. *आश्रयस्य स्त्रीपु[illegible]ष्ठानस्यापाये रतिरेवोच्छिद्येत।*
— अभिनव गुप्त, लोचन टीका, (ध्वन्यालोक ३/२० की लोचन टीका काव्यमाला सीरीज) पृष्ठ — २०४

भरत मुनि ने 'मरण' को भी शृगार रस का व्यभिचारी भाव माना है। सम्भवत इसीलिए **आनन्द वर्धन** ने 'मरण' का विप्रलम्भ शृगार मे निषेध करने के पश्चात् भी कुछ विशेष परिस्थिति में शृगार में उसके अशत्व का निरूपण किया है। वे कहते हैं कि शृगार में भी जहा शीघ्र ही पुन समागम होने की सम्भावना हो वहा कभी–कभी शृगार रस मे भी 'मरण' का निबन्धन अत्यन्त विरोधी नहीं होता। परन्तु दीर्घकाल में मिलन होने पर उस रस के प्रवाह कामध्य में ही विच्छेद हो जाता है। अतः इस प्रकार के इतिवृत्त के कथन से रसभाव प्रधान काव्य के इच्छुक कवि को बचना चाहिए।[1]

विप्रलम्भ शृगार रस मे जहा 'मरण' में विश्रान्ति ही उत्पन्न नहीं होती वहा मरण का वर्णन किया जा सकता है। ध्यातव्य है कि मरण में विश्रान्ति होने पर करूण रस ही होगा। **आलोककार** ने ऐसे स्थलों पर कभी–कभी मरण का शृगार मे ग्रहण होने पर विरोध नहीं माना है।

लोचनकार अभिनव गुप्त ने प्रस्तुत प्रसग में **ध्वनिकार** के निरूपण को स्पष्ट करने के लिए 'रघुवश' महाकाव्य के एक छन्द को उद्‌धृत किया है।[2] यह छन्द 'रघुवश' के आठवे सर्ग का अन्तिम श्लोक है। इसमें अज ने जाह्नवी और सरयू के जलसंगम के तीर्थ पर शरीर का त्याग करके देवभाव को प्राप्त किया। तदन्तर उसका पहले सभी अधिक अलौकिक रूप वाली इन्दुमती से मिलन हुआ और उसने नन्दन वन के अन्दर विलास गृहों मे आनन्द को प्राप्त किया है। इसमें संयोग शृगार का वर्णन है। यहां वर्णित मरण रूप व्यभिचारी भाव शृगार रस का अग है।

आचार्य विश्वेश्वर ने इस प्रसंग में व्याख्यान दिया है कि इस उदाहरण से मरण की विप्रलम्भ शृगार के प्रति अगता सिद्ध नहीं होती व सयोग शृगार के प्रति अंगता प्रतीत होती है और वह भी बिल्कुल काल्पनिक है।[3]

आचार्य विश्वेश्वर के इस कथन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विप्रलम्भ शृगार के वर्णन मे मरण को अग रूप मे ग्रहण करना कतिपय उचित है। परन्तु शृगार के सयोग पक्ष में मरण का वर्णन न करना ही उचित है। [illegible] ने भी मरण को शृंगार रस के अग रूप में वर्णित करने से कवि अथवा रससिद्ध कवि को बचने का निर्देश दिया है।

---

१ शृङ्गारे वा [illegible]वे कदाचिदुपनिबन्धो नात्यन्तविरोधी। दीर्घकालप्रत्यापत्तौ तु तस्यान्तरा प्रवाहविच्छेदे एवेत्येवंविधेतिवृत्तोनिबन्धन रसबन्ध प्रधानेन कविनापरिहर्तव्यम्।

— आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३/२० की वृत्ति(काव्य माला सीरिज पृ० २०४।

२ क[illegible]चिदिति। यदि तादृशी भङ्गि घटयितु सुकवेः कौशलं भवति। यथा –
'तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वोर्देहन्यासादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः।
पूर्वाकराधिकचतु[illegible] सङ्गत कान्तयासौ, लालागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु।।'
अत्र स्फुटैव रत्यङ्गता मरणस्य।

— अभिनव गुप्त, लोचन (का० मा० सीरीज), पृ० २०४।

3. –ध्वन्यालोक की आलोकदीपिका व्याख्या, पृ० २२१।

आचार्य विश्वेश्वर ने इस प्रकरण में **पण्डितराज जगन्नाथ** के मन्तव्य को भी उद्धृत किया है।[1] **पण्डितराज** ने **रसगगाधर** नामक ग्रन्थ में शृगार रस के प्रसग में 'जातप्रायमरण' अर्थात् मरण जैसी स्थिति और 'चेतसा आकाङ्क्षितमरण' अर्थात् मन से आकाङ्क्षित मरण का वर्णन किया है। इन दोनों ही स्थितियों को स्पष्ट करने के लिए **पण्डितराज** ने जो छन्द प्रस्तुत किये हैं, वे द्रष्टव्य हैं –

"दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती शयने सम्प्रति सा विलोकितासीत्।
अधुना खलुहन्त सा कृशागी गिरमङ्गीकुरुते न भाषितापि।।"
"रोलम्बा परिपूरयन्तु हरितो झङ्कार कोलाहलैः,
मन्द मन्दमुपैतु चन्दनवनीजातो नभस्वानपि।
माद्यन्त कलयन्तु चूतशिखरे केलीपिका पञ्चमम्,
प्राणा सत्वरमश्मसारकठिना गच्छन्तु गच्छन्त्वमी।।"

इनमें प्रथम छन्द मे विरहिणी नायिका की स्थिति मरणासन्न सी हो गयी है व द्वितीय छन्द में विरहिणीनायिका मृत्यु की कामना करती है ये दोनों ही छन्द वियोग शृगार के उदाहरण हैं। यहा नायिका की मृतप्राय सी स्थिति तथा द्वितीय छन्द में नायिका द्वारा मृत्यु की कामना से विप्रलम्भ शृंगार के आस्वादन में बाधा नहीं पडती वरन् इससे वियोग शृगार का उत्कर्ष ही होता है।

भरतमुनि ने 'मरण' को शृगार का व्यभिचारी स्वीकार किया है। परन्तु [illegible] ने अपने ग्रन्थ **साहित्य दर्पण** में मरण को शृगार रस का व्यभिचारी भाव नहीं माना है। उन्होंने आलस्य, उग्रता, जुगुप्सा तथा मरण के अतिरिक्त सभी व्यभिचारी भावों को शृगार रस के व्यभिचारी भाव के रूप में ग्रहण किया है।[2]

जगन्नाथ द्वारा प्रस्तुत किये गये उपर्युक्त वर्णन को दृष्टिगत करने पर स्वतः स्पष्ट होता है कि **जगन्नाथ** ने विप्रलम्भ शृंगार में मरण रूप व्यभिचारी भाव को विशेष प्रकार से निबन्धित करने को दोषपूर्ण नहीं माना है।

विचारणीय है कि **आचार्य विश्वनाथ** ने शृंगार में 'मरण' रूप व्यभिचारी भाव का पूर्णतः निषेध स्वीकार किया है। **पण्डितराज** ने **विश्वनाथ** के मत का अनुकरण न करके **भरतमुनि** का समर्थन किया है परन्तु यह भी ध्यातव्य है कि इन्होंने शृंगार के सयोग पक्ष में इसे स्वीकार नहीं किया है क्योंकि इन्होंने वियोग शृगार में मरण रूप व्यभिचारी भाव की दो स्थितियों का निरूपण किया है। परन्तु संयोग शृंगार का कोई उदाहरण इस प्रसंग में उद्धृत नहीं किया है।

---

1. *–आलोक दीपिका टीका – पृ० २२१।*

2. *त्यक्तौग्र्यमरणालस्यजुगुप्सा व्यभिचारिणः।*
– विश्वनाथ, सा० द०, ३/१८६।

लोचनकार ने 'मरण' रूप व्यभिचारी भाव को सयोग शृगार के अग रूप में ग्रहण करने का उदाहरण प्रस्तुत किया है। **आचार्य अभिनव गुप्त** ने कहा है कि 'मरण' को शृगार रस के व्यभिचारी भाव के रूप में निरूपित करने के लिए कवि मे विशेष निपुणता होनी चाहिए।[1] तात्पर्य यह कि विलक्षण प्रतिभा का धनी कवि ही इस प्रकार का निरूपण करने मे कुशल होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि शृगार के अग रूप में 'मरण' को वर्णित करते समय विशेष सतर्कता अथवा सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है। सम्भवत. इसीलिए **आनन्दवर्धन** ने इस प्रकार के निबन्धन से प्राय दूर रहने का निर्देश दिया है।[2]

विश्वनाथ द्वारा शृंगार के अग रूप में मरण का निवेश करने पर **विश्वेश्वर** ने कहा है कि नवीन आचार्यों ने नायिका या नायक मे से किसी की मृत्यु हो जाने पर विप्रलम्भ की सीमा समाप्त होकर करूण की सीमा आ जाने से प्रवाह के विच्छिन्न हो जाने से मरण को विप्रलम्भ का अग नहीं माना है। परन्तु उनकी यह कल्पना **भरतमुनि** के अभिप्राय के विरूद्ध प्रतीत होती है।[3]

विश्वेश्वर ने **विश्वनाथ** द्वारा मरण को शृंगार के अग रूप में ग्रहण न करने पर उपर्युक्त सम्भावना व्यक्त की है। जो समीचीन प्रतीत होती है। विवेचनीय है कि **आनन्दवर्धन** ने वहीं मरण को विप्रलम्भ शृगार के अग रूप मे वर्णित करने के लिए कहा है जहा पुनर्मिलन शीघ्र होने वाला है। उल्लेखनीय है **कादम्बरी** में **बाणभट्ट** ने इसी प्रकार मरण को विप्रलम्भ के अंग रूप में निरूपित किया है। पुण्डरीक की मृत्यु के पश्चात् महाश्वेता से उसके शीघ्र पुनर्मिलन की आकाशवाणी हुई थी। इस प्रकार शीघ्र पुनर्मिलन की आकाशवाणी के कारण विप्रलम्भ में ही विश्रान्ति होती है करूण में नहीं। इसलिए विप्रलम्भ की सीमा समाप्त हो गयी है ऐसा नहीं कहा जा सकता।

अत· अचिर 'प्रत्यापत्ति' अर्थात् शीघ्र पुनर्मिलन का वर्णन होने पर मरण का विप्रलम्भ के अगरूप में वर्णन करना अनुचित नहीं है। कवियों ने इस प्रकार का निरूपण किया है जो उद्वेगजनक नहीं तथा वहा करूण रस में विश्रान्ति भी नहीं होती है।

आचार्य जगन्नाथ ने मरण जैसी स्थिति तथा मनसा आकाक्षित मरण के वर्णन को विप्रलम्भ शृगार में अनुचित नहीं माना है यह पहले कहा गया है।[4]

आचार्य विश्वनाथ ने इस विषय में सूक्ष्मतापूर्वक विचार नहीं किया यह निःसन्देह कहा जा सकता है। सम्भवतः इन्होंने मरण को वास्तविक या आत्यन्तिक 'मरण' के रूप में ही ग्रहण किया है। परन्तु यहा विचारणीय है कि विश्वनाथ का यह विवेचन या निरूपण विचारपूर्ण नहीं है।

आलोककार आनन्दवर्धन ने **आचार्य भरतमुनि** द्वारा मरण को शृंगार का व्यभिचारी भाव मानने के कारण ही प्रकृत प्रसंग को निरूपित किया है। यहां यह भी ध्यातव्य है कि इन्होंने विप्रलम्भ शृंगार के प्रसग मे ही इसे प्रस्तुत किया है जिससे व्यक्त होता है कि **ध्वनिकार** को भी विप्रलम्भ के अग रूप में मरण का वर्णन कुछ मान्य था परन्तु सयोग शृंगार में नहीं। उल्लेख्य है कि **लोचनकार** ने संयोग शृंगार के अंग रूप में मरण के वर्णन का उदाहरण प्रस्तुत किया है।[5] परन्तु उसमें संयोग शृगार को काल्पनिक मानना ही उचित है। अत विप्रलम्भ में ही इस प्रकार का निरूपण कभी–कभी किया जा सकता है।

---

१ *यदि तादृशी भङ्गिसुकवे कौशलं भवति*
—अभिनव गुप्त, लोचन टीका, पृ० २०४ (काव्यमाला सीरीज)।

२ *—द्रष्टव्य, आनन्दवर्धन, ध्वन्या० (का०मा०सी०) पृष्ठ – २०४।*

३. *—विश्वेश्वर, आलोक दीपिका, पृष्ठ–२२०।*

४ *—द्रष्टव्य, प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, तृतीय अध्याय, पृष्ठ–१०८।*

५. *—द्रष्टव्य प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, तदेव, पृ० १०८।*

स्वाभाविक अगत्व के पश्चात् समारोपित अगत्व विचारणीय है। **आनन्दवर्धन** ने समारोपित अगत्व को परिभाषित नहीं किया है। **लोचनकार** ने **आनन्दवर्धन** के द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों में अगत्व को निरूपित किया है।[1] इस आधार पर कहा जा सकता है कि जहा अलकारो के द्वारा विरोधी रस के अगो को प्रधान रस के अग रूप मे आरोपित कर लिया जाता है वहा समारोपित अगता होती है।

समारोपित अगता में विरोधी रस के अग प्रधान रस के स्वाभाविक अग नहीं होते वरन अलकारों के द्वारा उनकी प्रधान रस के प्रति अगता निरूपित की जाती है, ऐसा कहा जा सकता है।

समारोपित अगत्व के दो उदाहरण **आनन्दवर्धन** ने प्रस्तुत किये हैं।[2] जो दृष्टव्य हैं –

प्रथम उदाहरण इस प्रकार है –

"पाण्डुक्षामवदन हृदय सरस तवालस च वपु ।
आवेदयति नितान्त क्षेत्रियरोग सखि हृदन्त ।।

अर्थात् 'हे सखि तुम्हारा पीला मुरझाया हुआ मुख सरस हृदय, आलस्य से भरा शरीर तुम्हारे हृदय के भीतर नितान्त असाध्य रोग को सूचित कर रहा है।'

यहा 'पाण्डुक्षाम मुख' आदि करूण रस के अनुभावों से व्यभिचारी भाव 'व्याधि' की व्यजना हो रही है। **आलोककार** ने इसे समारोपित अगत्व मे उद्धृत किया है इस आधार पर ही प्रकृत श्लोक का व्याख्यान यहा प्रासगिक है।

प्रकृत श्लोक मे विप्रलम्भ शृगार प्रधान प्रतिपाद्य है। पाण्डुक्षामवदन आदि से करूण रस का व्यभिचारी भाव 'व्याधि' व्यजित हो रहा है। इस 'व्याधि' रूप व्यभिचारी भाव का श्लेष के द्वारा विप्रलम्भ शृगार में भी समारोप कर लिया जाता है। अत. समारोपित अंगत्व के कारण यहा विरोध नहीं है।

मम्मट ने इस श्लोक मे साधारण अगत्व स्वीकार किया है। तात्पर्य यह कि **मम्मट** के अनुसार 'पाण्डुक्षामवदन' आदि सामान्य रूप से करूण व विप्रलम्भ दोनों के ही अनुभाव हैं, इसलिए यहा अविरोध है।[3] इस प्रकार **मम्मट** का विचार ही समीचीन प्रतीत होता है। यदि सामान्य या साधारण रूप से यहा 'पाण्डुक्षामवदन' आदि विप्रलम्भ व करूण के स्वाभाविक रूप से अंग प्रतीत होते हैं श्लेष के द्वारा उनकी विप्रलम्भ के प्रति अगता की कल्पना करना उचित नहीं है।

आनन्दवर्धन को भी सम्भवत. यह आशंका थी कि पाण्डुत्वादि को करूण व विप्रलम्भ दोनों का स्वाभाविक अग माना जा सकता है इसीलिए उन्होंने समारोपित अगत्व का दूसरा उदाहरण प्रस्तुत किया है।[4]

---

१. कोपादिति बद्ध्वेति हन्यत इति च रौद्रानुभावा रूपक [illegible] तदनिर्वाहादेवाङ्गत्वम्।
– अभिनव गुप्त लो० टी०, (का० मा०), पृ० २०६

२ समारोपितायामप्यविरोधो यथा–पाण्डुक्षाममित्यादौ। यथा वा कोपात् कोमललोलबाहुलतिकापाशने इत्यादौ।
– आनन्दवर्धन, ध्वन्या० (का० मा०), २०५, २०६।

३. इत्यादौ साधारणत्वं पाण्डुतादीनामिति न विरुद्धम्।
– मम्मट, का० प्र० ७/३३२, उदाहरण की वृत्ति

४. यदि कश्चित् पाण्डुत्वादिक करूण विप्रलम्भयोः साधारणमितीयां स्वाभाविकीमङ्गप्राप्ति ब्रूयादत समारोपकृताया उदाहरणान्तरं प्रस्तौति –
– दीपशिखा टीका, पृष्ठ–२४५।

समारोपित अगत्व का द्वितीय उदाहरण द्रष्टव्य है –

"कोपात् कोमल लोलबाहुलतिकापाशेन बद्‌धवा दृढं
नीत्वा वासनिकेतन दयितया साय सखीना पुर।
भूयो नैवमिति स्खलत्कलगिरा ससूच्य दुश्चेष्टित
धन्यो, हन्यत एव निह्नुतिपुर प्रेयान् रूदत्या हसन्।।"

अर्थात् 'क्रोध से अपने कोमल तथा चचल भुजलता रूपी पाश में दृढता से बाधकर अपने निवासगृह में ले जाकर सायकाल सखियों के समक्ष उसकी बुरी चेष्टाओं को भली प्रकार सूचित करके, फिर कभी ऐसा न हो ऐसा लडखडाती हुई वाणी से कहकर, रोती हुई प्रियतमा के द्वारा हंसता हुआ तथा अपने अपराध को छिपाने वाला कोई भाग्यशाली प्रियतम ही पीटा जाता है।'

यहा विप्रलम्भ शृगार प्रस्तुत है। रौद्ररस अप्रस्तुत है। रौद्र रस के अनुभाव कोपात्, बध्वा, हन्यते इत्यादि को रूपक अलंकार के द्वारा विप्रलम्भ शृगार के अंग रूप मे समारोपित किया गया है। इसलिए यहा विरोधी रस की समारोपित अंगता होने के कारण विरोध नहीं है।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने प्रकृत श्लोक को द्वितीय उद्योत में रूपक आदि अर्थालंकारों के उचित प्रयोग के सन्दर्भ में उद्‌धृत किया है। **ध्वनिकार** का विचार है कि रूपक आदि अलकारो की विवक्षा आदि से अन्त तक अत्यन्त निर्वाह की इच्छा से नहीं करनी चाहिए।[1] इसी प्रसग में उन्होंने 'कोपात् कोमल०' – इस छन्द को प्रस्तुत किया है।

प्रकृत छन्द में बाहुलतिका–पाश से रूपक का निबन्धन प्रारम्भ किया गया है परन्तु अत्यन्त रस पुष्टि के लिए उसका निर्वाह अन्त तक नहीं किया गया है।

प्रस्तुत उदाहरण में समारोपित अगत्व के विषय में **लोचनकार** ने कहा है कि – रूपक के बल से विप्रलम्भ के अंग रूप में आरोपित रौद्र रस के अनुभावों का निर्वाह अधिक न होने के कारण ही उनकी अंगता है।[2] रौद्र रस में विश्रान्ति न होने के कारण रौद्र रस अप्रधान है तथा विप्रलम्भ प्रधान है।[3]

आनन्दवर्धन ने रूपक आदि अलकारों का रस की परिपुष्टि पर्यन्त निर्वाह न करने का निर्देश दिया है। यहा रूपक के बल से ही रौद्र के अनुभावों की अंगता विप्रलम्भ के प्रति हो रही है। रौद्र रस का भी रस की विश्रान्ति तक निर्वाह नहीं किया गया है। इसीलिए वह अप्रधान है। इस प्रकार समारोपित अङ्‌त्व होने के कारण यह दोष नहीं है।

---

१ *विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्‌गत्वेन कदाचन।*
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता।।
– आनन्दवर्धन, ध्वन्या०, २/१८।

२ *अत्र हि रूपकमाक्षिप्तमनिर्व्यूढ परं रस पुष्टये।*
– आनन्दवर्धन, ध्वन्या, (का०मा०), पृष्ठ २१३।

३. *रौद्रानुभावाना रूपकबलादारोपिताना तदनिर्वाहादेवाङ्‌गत्वम्।*
– अभिनवगुप्त, लो० टी० (का०मा०), पृ० २०६।

स्वाभाविक तथा समारोपित अगत्व का निरूपण करने के पश्चात् **आलोककार** ने एक विशेष प्रकार के अगत्व का निरूपण किया है जिसमे परस्पर विरोधी दो रस प्रधान रस के अग रूप मे वर्णित होते हैं परन्तु वहा रस–विरोध उपस्थित नहीं होता।[1]

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने उपर्युक्त अगत्व का विस्तृत रूप से विवेचन किया है। इसे स्पष्ट रूप से समझाने या प्रकट करने के लिए इन्होंने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है वह द्रष्टव्य है –

"क्षिप्तो हस्तावलग्न प्र[illegible]शुकान्त,
गृहणन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षित· सम्भ्रमेण।
आलिङ् गन्योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभि· साश्रुनेत्रोत्पलाभि,
कामीवार्द्रापराध स दहतु दुरित शाम्भवो व शराग्नि ।।"

अर्थात् 'त्रिपुरदाह के समय शम्भु के बाण से उत्पन्न आर्द्रापराध (तत्काल पराङ् गनोपभोगादि अपराध–युक्त) कामी के समान हाथ छूने पर झटक दिया गया, जोर से ताडित करने पर भी वस्त्र के छोर को पकडता हुआ केशों को पकडते समय हटाया गया, पैरों में पडा हुआ भी सम्भ्रम कोध या घबराहट के कारण न देखा गया और आलिगन (करने का प्रयत्न) करने पर आसुओं से परिपूर्ण नेत्र कमलवाली (कामी पक्ष मे ईर्ष्या के कारण और अग्निपक्ष में बचाव की आशा से रहित होने के कारण रोती हुई) त्रिपुर–सुन्दरियों द्वारा तिरस्कृत (कामी पक्ष में प्रत्यालिङ्.गन द्वारा स्वीकृत न करके तथा अग्निपक्ष में सम्पूर्ण शरीर को झटककर फेका गया। शम्भु का शराग्नि तुम्हारे दुखो को दूर करें।'

यहा शिव विषयक 'रति भाव' प्रधान रूप से व्यग्य है। शराग्नि के कारण व्याकुल त्रिपुरयुवतियों से 'करूण रस' तथा शराग्नि की तुलना आर्द्रापराध कामी से करने के कारण 'ईर्ष्या विप्रलम्भ' की अभिव्यक्ति हो रही है। प्रकृतस्थल में शिवविषयक रति में ही विश्रान्ति होती है करूण या विप्रलम्भ में नहीं। इसलिए करूण व विप्रलम्भ दोनों की अग रूप में स्थिति है।

उल्लेख्य है कि करूण तथा विप्रलम्भ में आलम्बनैक्य विरोध होता है यहा दोनों एक ही आलम्बन में वर्णित किये गये हैं। इसलिए विरोध हो सकता है परन्तु **आलोक कार** ने इसका समाधान करते हुए कहा है कि करूण तथा विप्रलम्भ दोनों अन्य अर्थात् शिवविषयक रति के अंग हैं इसलिए यहा अविरोध है।[2] यहां करूण तथा विप्रलम्भ दोनों शिव विषयक रति भाव के उत्कर्षक हैं। इसलिए दोषाभाव है।

---

१. *इयं चाङ्.गभावप्राप्तिरन्या यद[illegible]न एकस्मिन्वाक्यार्थे-*
रसयोर्भावायोर्वा परस्परविरोधिनोर्द्वयोरङ्.गभावगमन तस्यामपि न दोष·।
– आनन्दवर्धन, ध्वन्या० (का०मा०) पृष्ठ – २०६।

२. *कथं तत्राविरोध इति चेत्, द्वयोरपि तयोरन्यपरत्वेन व्यवस्थानात्।*
– आनन्दवर्धन, ध्वन्या०, (का०मा०) पृष्ठाव, २०६।

प्रकृत स्थल में यह शका उपस्थित होती है कि अन्य के अगत्व को प्राप्त करने पर भी उन विरोधी रसों का स्वभाव या वास्तविक रूप परिवर्तित नहीं हो सकता इसलिए उनमें स्वभाव कृत विरोध तो होगा।[1] उसका परिहार कैसे हो सकता ? तात्पर्य यह है कि करूण व विप्रलम्भ विरूद्ध रस है। यदि वे किसी के अग हो जाय तब भी उनका विरोध कैसे दूर किया जा सकता है? उपर्युक्त शंका का समाधान करने के लिए **आलोककार** कहते हैं कि विधि अश में दो विरोधियों का समावेश करना दोषपूर्ण है। परन्तु अनुवाद अश में उनका समावेश दोषपूर्ण नहीं होता।[2]

आलोककार के उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि यदि प्रधान वाक्यार्थ में दो विरोधी रसों का ग्रहण किया जाय तो विरोध होता है परन्तु अप्रधान वाक्यार्थ में यदि दो विरोधी रसों का समावेश किया जाता है तो उनका वर्णन दोषा वह नहीं होता। इस प्रसग में आलोककार ने निम्नाकित छन्द प्रस्तुत किया है –

'एहिगच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौन समाचर।
एवमा[illegible]। कीडन्ति धनिनोऽर्थिभि.।।'

अर्थात् 'आशारूपीग्रह में पडे हुए याचकों के साथ धनी लोग आओ, जाओ, पड जाओ, खडे हो जाओ, बोलो, चुप रहो इस प्रकार (कहकर) खेल करते हैं।'

यहा धनिक कीडा करते हैं यह विधि या प्रधान अश है तथा आओ, जाओ, आदि अनुवाद अंश या अप्रधान अंश है। यहा विरोधी कथन अनुवाद अश में उक्त है, विधि अंश में नहीं। इसलिए यहा दोष नहीं है।

उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त छन्द में 'एहि' तथा 'गच्छ', 'पत' तथा 'उत्तिष्ठ', 'वद' तथा मौनं समाचार' में विधि तथा प्रतिषेध रूप कथन हैं। 'एहि', 'पत', 'वद' ये विधिपरक या कार्य में सलग्न करने वाले वाक्य हैं तथा 'गच्छ', 'उत्तिष्ठ', 'मौन समाचर' ये निषेधपरक या कार्य से दूर करने वाले वाक्य हैं। ये दोनों विधि परक तथा निषेधपरक वाक्य परस्पर विरोधी हैं। यहा अनूद्यमान अश में इनका प्रयोग होने के कारण दोष उपस्थित नहीं होता। **आ[illegible]ककार** ने इस प्रसग में यह भी कहा है कि यदि किसी को यह शंका होती है कि अन्य रस या भाव का अंग होने पर भी उन विरोधी रसों का विरोध कैसे दूर हो सकता है? तो उसका समाधान यह है कि विधि अश में दो विरोधियों का समावेश करने पर दोष होता है, अनुवाद में नहीं।

आलोककार का विचार है कि प्रकृत उद्धृत छन्द में जिस प्रकार अनुवाद अंश में परस्पर विरूद्ध कथन होने पर कोई विरोध उपस्थित नहीं होता उसी प्रकार 'क्षिप्तो हस्तावलग्न:' में भी कोई विरोध नहीं हैं। इस श्लोक मे 'करूण' तथा 'ईर्ष्या विप्रलम्भ' वस्तुत: विधीयमान नहीं है। त्रिपुरारि शिव के प्रभावातिशय के मुख्य वाक्यार्थ होने और ईर्ष्या विप्रलम्भ तथा करूण के उसके अगरूप में स्थित होने से इनका परस्पर विरोध नहीं है।[3]

---

१ *नन्वन्यपरत्वेऽपि स्वभावो न निवर्तते स्वभावकृत एव विरोध ..*
– अभिनव गुप्त, लो० टी० (का० मा०), पृष्ठ – २०६।

२. *अन्यपरत्वेऽपि विरोधिनो: कथ विरोधनिवृत्तिरिति चेत्, उच्यते–विधौ विरुद्ध समावेशस्य दुष्टत्व नानुवादे।*
– आनन्दवर्धन, ध्वन्या० (का० मा०) पृष्ठ – २०६।

३ *अत्र हि [illegible]त्वेन समावेशे न विरोधस्तथेहापि भविष्यति। श्लोके ह्यस्मिन् ईर्ष्या विप्रलम्भ शृङ्गार करुणवस्तुनोर्न वि[illegible]। [illegible]स्य वाक्यार्थत्वात् तदङ्गत्वेन च तयोर्व्यवस्थानात्।*
–आनन्द वर्धन, ध्वन्यालोक, ३/२० की वृत्ति।

यहा पर शका उपस्थित होती है 'विधि' तथा 'अनुवाद' मीमासा शास्त्र में प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक शब्द है उनका रसो के विषय मे प्रयोग कैसे हो सकता है? यह भी उल्लेखनीय है कि विधि तथा अनुवाद वाच्य रूप होता है जबकि रस व्यग्य होता है। इसी आशका की सम्भावना से **आलोककार** ने कहा है कि रसो मे विधि तथा अनुवाद व्यवहार नहीं होता, यह नहीं कहा जा सकता है क्योकि उन रसो को वाक्यार्थ रूप में स्वीकार किया जाता है। वाच्यरूप वाक्यार्थ मे जो विधि और अनुवाद रूपता रहती है उसको उस वाच्यार्थ से आक्षिप्त व्यग्य रूप रसादि मे कौन रोक सकता है।[1]

प्रकृत प्रसग मे **लोचनकार** का विचार है कि रस सदैव व्यग्य होता है जबकि मीमासा में प्रयुक्त विधि तथा अनुवाद वाच्य रूप रहते हैं इसलिए इस आधार पर यहा यह कहना उचित नहीं है कि जो प्रधानतया वाच्य है वही विधि है तथा जो गौणतया वाच्य है वह अनुवाद है क्योंकि रस व्यग्य होता है, वाच्य नहीं। वस्तुत यहा विधि तथा अनुवाद से क्रमश प्रधान व अप्रधान अर्थ को ग्रहण करना चाहिए। रसों में प्रधान तथा गौण भाव हो सकता है अत इस प्रकार का प्रयोग किया जा सकता है। रस काव्य का प्रधान अर्थ होता है तथा जहा गौण रूप से उसका वर्णन होता है वहा रस की अनूद्यमानता होती ही है।[2]

आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है कि वाच्य रूप वाक्यार्थ यदि विधि व अनुवाद रूप हो सकता है तो उस वाच्य से व्यजित या आक्षिप्त व्यग्य मे विधि व अनुवाद रूपता क्यों नहीं हो सकती है ? **आचार्य शुक्ल** ने इस प्रसग मे व्याख्यान दिया है कि विधि तथा अनुवाद रूप विभावानुभाव रूप वाच्यार्थों से आक्षिप्त रसभावादि का भी विधि व अनुवाद रूप निश्चित है। **शुक्ल** महोदय कहते हैं कि प्रधान वाच्य रूप विभावादि से व्यजित रस प्रधान होता है तथा अप्रधान या अनूद्यमान विभाव आदि से व्यजित रस अप्रधान होता है। इस प्रकार वाच्य से व्यजित रस का भी प्रधान भाव है[3]।

अभिनव गुप्त ने कहा है कि अनूद्यमान विभावादि से व्यञ्जित या आक्षिप्त रस की भी अनूद्यमानता होती है।[4] इसी अश की व्याख्या करते हुए सम्भवत **आचार्य शुक्ल** ने अपना विचार प्रस्तुत किया है।

आनन्दवर्धन द्वारा प्रकृत प्रसग को उद्धृत करने का उद्देश्य यह है कि विरोधी रसों का समावेश विधि तथा अनुवाद अश को ध्यान में रखकर किया जा सकता है। अर्थात् विधि या प्रधान अर्थ में विरूद्ध रसों का समावेश नहीं करना चाहिए अनुवाद अश में करना चाहिए। इससे दोष परिहार हो जाता है।

---

१ *न च रसेषु विध्यनुवादव्यवहारो नास्तीति शक्यंवक्तुम्, तेषां वाक्यार्थत्वेनाभ्युपगमात्। वाक्यार्थस्य - वाच्यस्य च यौ विध्यनुवादौ तौ तदाक्षिप्तानां रसानां केन वार्येते।*
— आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३/० (का० मा०), पृ० २०७।

२ *ननु प्रधानतया यद् वाच्यं तद् विधिः। अप्रधानत्वे तु अनुवादः। न च रसस्य वाच्यत्व - त्वयैव सोढुमित्याशङ्कमानः परिहरति—न चेति। प्रधानाप्रधानमात्रकृतौ विध्यनुवादौ तौ च - व्यङ्ग्यतायामपि भवत एवेति भावः। मुख्यतया च रस एव काव्यवाक्यानामर्थ इत्युक्तम्। तेनामुख्यतया यत्र सोऽर्थस्तत्रानूद्यमानत्वं रसस्यापि युक्तम्।*
— अभिनव गुप्त, लो० टी०, (का० मा०), पृष्ठ—२०७।

३ *वाच्य रूपे वाक्यार्थे यदि विध्यनुवाद भाव कश्चिद् विधिरूपः कश्चिदनुवादरूप इति तत् - तदाक्षिप्ताना ताभ्या विभावानुभावरूपाभ्यां विध्यनुवादभावगताभ्या वाच्याभ्यामाक्षिप्ताना व्यञ्जिताना - रसाना रसभावानांस विध्यनुवादभाव केन वार्यते — प्रधानेन वाच्यरूपेण विभावादिना व्यञ्जितो - रस प्रधानोऽनुवादेनाप्रधानेन च व्यञ्जित अप्रधान इति वाच्य व्यञ्जितरसयोरपि - प्रधानाप्रधानभावौ रसङ्गतावेवेत्यर्थः।*
—दीपशिखा टीका पृ० २४८।

४ *यदि वानूद्यमान विभावादि समाक्षिप्तत्वादसयानूद्यमानत्वात्तदाह — वाक्यार्थस्येति।*
— अभिनव गुप्त, लो०टी (का०मा०), पृ० २०७।

अभिनव गुप्त ने प्रस्तुत प्रसंग मे 'मीमासा शास्त्र' के वाक्यों को प्रस्तुत किया है जिसमें विधि अश मे ही विरूद्ध वाक्यो का कथन होने के कारण उनके विकल्प को ग्रहण करना पडता है।[1]

'क्षिप्तो हस्तावलग्न०', छन्द में विधि या प्रधान अश मे कोई विरोध नहीं है वरन् अप्रधान अश में विरूद्ध रसों को ग्रहण किया गया है। इसलिए वहा कोई विरोध या दोष नहीं है।

अनूद्यमान रूप मे विरूद्ध के निरूपण को प्रस्तुत करने के पश्चात् आनन्दवर्धन पुन दूसरे प्रकार से उनके एकत्र समावेश का प्रतिपादन करते हैं।

आनन्दवर्धन कहते हैं कि जो रसादि को साक्षात् काव्य का अर्थ अंगीकार नहीं करते उनको भी रसादि की निमित्तता अवश्य स्वीकार करनी पडेगी। वहा भी 'क्षिप्तो हस्तावलग्न' इस श्लोक मे विरोध नहीं होगा क्योकि अनूद्यमान अर्थात् रस के अगभूत हस्तक्षेपादि विभाव करूण तथा विप्रलम्भ शृगार इन दोनों रसों के कारण हैं। ये उभय रस वस्तु अर्थात् करूण व विप्रलम्भ शृंगार विधीयमान अश–'शाम्भव शराग्नि' से उत्पन्न दाह के सहकारी हैं तथा इस विधीयमान अंश से 'शिव के प्रतापातिशय' मूलक भक्ति रूप भाव की प्रतीति उत्पन्न होती है। इसलिए यहा कोई विरोध नहीं है। आगे **ध्वनिकार** लिखते हैं कि दो विरूद्ध सहकारी कारण वाले मुख्य कारण से कार्य विशेष की उत्पत्ति देखी जाती है। एक कारण से एक साथ दो विरूद्ध कार्यों की उत्पत्ति दोषपरक होती है परन्तु दो विरोधी हेतुओं से एक कार्य की उत्पत्ति दोषपरक नहीं है।[2]

लोचनकार के अनुसार यहां **आनन्दवर्धन** ने विरूद्ध रसों का सहकारी कारण के रूप में अविरोध बताया है। सर्वथा विरूद्ध रसो का भी अग–अंगीभाव उचित है इस विषय मे विशेष प्रयास करने की कोई आवश्यकता नहीं है।[3]

विवेच्य प्रसग मे करूण तथा विप्रलम्भ शृगार दोनों ही प्रधान रूप में वर्ण्य भाव के अग हैं। अंग तथा अगी रूप मे प्रधान तथा अप्रधान का वर्णन किसी भी प्रकार से दोषपूर्ण नहीं होता।

लोचनकार–ने दो विरोधी सहकारी कारणो से कार्य विशेष की उत्पत्ति को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जल तथा अग्नि मे स्थित शीतलता तथा उष्णता दोनों परस्पर विरूद्ध होते हैं। परन्तु दोनों चावल को पकाने में सहायक होते हैं।[4] उसी प्रकार दो विरोधी कारणों से भी कार्य की उत्पत्ति सम्भव है।

---

१ *अतएवातिरात्रे षोडशिनं गृह्णन्ति न गृह्णन्तीति विरूद्धविधिविकल्प–पर्यवसायीति वाक्यविद ।*
– वही, लो० टी० (का० मा०), पृ० २०६।

२. *यैर्वा साक्षात् काव्यार्थता रसादीना नाभ्युपगम्यते तैस्तेषां तन्निमित्ता तावदवश्यमभ्युपगन्तव्या। तथाप्यत्र श्लोके न विरोधः। यस्मादनूद्यमानाङ्गनिमित्तोभयरसवस्तु सहकारिणो – विधोयमाना[illegible] विशेष प्रतीतिरूत्पद्यते। ततश्च न कश्चिद् विरोधः। दृश्यते हि– विरुद्धोभयसहकारिण कारणात् कार्य विशेषोत्पत्तिः। विरूद्धफलोत्पादनहेतुत्वं हि युगपदेकस्य – कारणस्य विरूद्धं न तु विरुद्धोभ[illegible]म्।*
– आनन्दवर्धन, ध्वन्या० (का०मा०), पृ० २०७–२०८।

३ *यदि वा मा भूदनूद्यमानतया विरुद्धयो रसयोः समावेश सहकारितया तु भविष्यतीति – सर्वथाविरुद्धयोर्युक्तोऽङ्गाङ्गिभावो नात्र प्रयासः कश्चिदिति दर्शयति–यैवैति।*
– अभिनव गुप्त, लो० टी० (का० मा०) पृ० – २०७।

४ *विरुद्ध यद्वारितेजोगतं शीतोष्ण तत्सहकारि तस्य तण्डुलादे, कारणं त[illegible]त्कार्यविशेषस्य - कोमलभक्तकरण लक्षणस्योत्पत्तिर्दृश्यते।*
– वही. लो० टी० (का० मा०), पृ० – २०७।

उल्लेख्य है कि अग रूपेण विवक्षित दो विरूद्ध रसों से प्रधान रस की उत्पत्ति तथा उत्कर्ष को स्पष्ट करने के लिए अन्य उदाहरण भी बताये जा सकते हैं यथा एक राजा के दो सेनापति परस्पर विरूद्ध होते हुए भी राजा के उत्कर्ष में सहायक होते हैं। इसी प्रकार 'क्षिप्तो हस्तावलग्न' में भी करूण तथा विप्रलम्भ शृगार विरूद्ध होते हुए भी प्रधान भाव का उत्कर्ष करते हैं।

आलोककार ने यहा यह भी स्पष्ट किया है कि दो विरोधी कारणों से कार्य विशेष की उत्पत्ति सम्भव है परन्तु एक ही कारण से एक ही समय में अर्थात् एक साथ दो विरोधी कार्यों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। तात्पर्य यह है कि कारण एक ही हो और उससे एक ही काल में दो विरूद्ध कार्यों की उत्पत्ति का वर्णन किया जाय तो यह कथन असगत या अनुचित होगा क्योंकि यह सम्भव नहीं है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने विरूद्ध पदार्थों का काव्य में वर्णन तो किया जा सकता है परन्तु इन विरूद्ध स्थितियों का अभिनय कैसे किया जा सकता है ? यह शका का उत्थापित करके इसका समाधान किया है। उनका विचार है कि अनूद्यमान अप्रधान वाच्यार्थ के विषय में 'एहि' 'गच्छ' आदि का जिस प्रकार अभिनय किया जाय उसी प्रकार 'क्षिप्तो हस्तावलग्न' में भी किया जाय। तात्पर्य यह है कि जो प्रधान अश का उत्कर्षक हो उसका अभिनय विशेष रूप से करना चाहिए जो अप्रधान या गौण है उसका उसी रूप में वर्णन करना चाहिए। 'क्षिप्तो हस्ता' में करूण रस शिव के प्रतापातिशय में विशेष उपयोगी है इसलिए करूण रस का अभिनय विशेषत. करना चाहिए। विप्रलम्भ शृगार को किंचित् प्रणयकोपोचित अभिनय से प्रकट किया जा सकता है। इस प्रकार विधितथा अनुवाद का आश्रय लेकर यहा विरोध परिहार हो जाता है।[1]

आलोककार ने प्रकृत छन्द में करूण रस के वर्णन की अदुष्टता या अविरोध को और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि किसी प्रशसनीय उत्कर्ष प्राप्त नायक के प्रभावातिशय के वर्णन में उसके शत्रुओं से सम्बद्ध जो करूण रस होता है वह विवेकशील सामाजिक को उद्वेजित नहीं करता अपितु आ[illegible]य का कारण बनता है। इसलिए विरोधी करूण रस के कुण्ठित शक्ति होने अर्थात् चित्तद्रुति रूप अपने कार्य को करने में असमर्थ होने पर कोई दोष नहीं होता। इसलिए प्रधान रस के विरोधी को ही रस–विरोधी कहा जा सकता है किसी गौण या अगभूत तत्त्व के विरोधी को रस विरोधी कहना समीचीन नहीं है।[2]
करूण रस चितद्रुति उत्पन्न करता है। यदि वह चितद्रुति–कारक नहीं है तो करूण रस में विश्रान्ति नहीं होती। जब वीर रस में ही विश्रान्ति हो रही हो और वहा करूण को कुण्ठशक्ति के रूप में ग्रहण किया जाये अर्थात् अपने कार्य में अक्षम्य रूप में ग्रहण किया जाये तो वहां वीर रस का ही उत्कर्ष होता है। करूण रस वीर रस में पर्यवक्षित हो जाता है।

---

१. *एवविधविरुद्धपदार्थविषय: कथमभिनय: प्रयोक्तव्य इति चेत् ? अनू[illegible]विधवाच्य विषये या – वार्ता सात्रापि भविष्यति। एव विध्यनुवादतयाश्रयेणात्र श्लोके परिहृतस्तावद् विरोध:।*
– आनन्दवर्धन, ध्वन्या० (का० मा०) पृ० २०८।

२ *किञ्च नायकस्याभिनन्दनीयोदयस्य कस्यचित् प्रभावातिशयवर्णने तत्प्रतिपक्षाणां य· करूणो – रस. स परीक्षकाणां न [illegible]ाति प्रत्युत् प्रीत्यतिशयनिमित्तताप्रतिपद्यते। इत्यतस्तस्य – कुण्ठ शक्तिकत्वात् तद्विरोधविधायिनो न कश्चिद् दोष·। तस्माद् वाक्यार्थीभूतस्य रसस्यभावस्य – वा विरोधी रसविरोधीति वक्तु न्याय· न त्वङ्.गभूतस्य कस्यचित्।*
– नही, ध्वन्या० (का० मा०), पृष्ठ–२०८।

काव्य मे जहा प्रधान रस या भाव को विरोधी रूप मे अन्य रस आदि का ग्रहण किया जाय वहीं दोष होता है। जहा अप्रधान या अग रूप से विवक्षित रस के विरोधी का वर्णन हो वहा रस–विरोध नहीं होता। यह पहले भी कहा गया है कि अनुवाद अंश में विरोधी कथन दोषपूर्ण नहीं होता।

आलोककार ने 'क्षिप्तो हस्तावलग्न' में दो प्रकार से विरोध का निरूपण किया है। इन दोनों में उन्होने करूण रस तथा विप्रलम्भ शृगार को अन्य का अग मानकर यह अविरोध निरूपित किया है। तात्पर्य यह है कि **आलोककार** से पहले कहा है कि दो विरोधी किसी अन्य के अग बन जाये तो विरोध नहीं होता अथवा दो विरूद्ध रस सहकारी रूप से प्रधान के साथ मिलकर कार्य करें तो भी रस–विरोध उपस्थित नहीं होता। **आलोककार, आनन्दवर्धन** 'क्षिप्तो हस्तावलग्न' इत्यादि में प्रकारान्तर से अविरोध प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि वाक्यार्थभूत किसी करूणरस के विषय को उसी प्रकार के वाक्यार्थरूप शृगार विषय के साथ किसी सुन्दर ढग से जोड देने पर वह रस का परिपोषक ही हो जाता है क्योंकि स्वभावत सुन्दर पदार्थ शोचनीय अवस्था को प्राप्त हो जाने पर पूर्व अवस्था के अनुभूत सौन्दर्य के स्मरण से और भी अधिक शोकावेग को उत्पन्न करते हैं।[1]

यह भी स्मरणीय है कि करूण रस जब प्रधान रूप से वर्ण्य है तो उसके विरोधी शृंगार रस के साथ उसका विशेष रूप से निबन्धन कर देने पर प्रधान करूण रस का परिपोष ही होता है। करूण रस का निरूपण करते हुए यदि पूर्वानुभूत शृंगार के स्मरण का वर्णन किया जाय तो करूण रस परिपुष्ट ही होता है। व्यक्ति की मृत्यु होने पर उसके साथ व्यतीत किये गये सुखपूर्ण क्षणों का स्मरण शोकावेग को और भी बढा देता है। **मम्मट** ने भी **ध्वनिकार** के अनुसार विरोधी रस को स्मरणीय रूप मे वर्णित करने पर दोष नहीं माना है।[2]

आलोककार ने इस प्रसग में जो छन्द उद्धृत किया है उसमें भूरिश्रवा की पत्नी युद्धभूमि में गिरे हुए उसके हाथ को देखकर विलाप करती है तथा संयोगकाल में उन हाथों के द्वारा किये गये कार्यों का स्मरण करती हैं।[3] यहा करूण रस मुख्यत· वर्ण्य है तथा शृङ्गार रस का उसके साथ विशेष प्रकार से निबन्धन किया गया है जो रस–विरूद्ध नहीं है। भूरिश्रवा की पत्नी द्वारा स्मरण किये गये अनुभावों से शोक बढ ही जाता है।

लोचनकार ने **आलोककार के इस** विरोध परिहार के विषय में कहा है कि यहां विप्रलम्भ को करूण के अग रूप में रखकर विरोध परिहार किया गया है।[4] इष्टता सदैव रमणीय होती है अर्थात् जो इष्ट या अभिलषित होता है वह सदैव सौन्दर्यमूलक व आनन्ददायक होता है। करूण रस में इष्ट का विनाश उपस्थित होने का वर्णन किया जाता है। इस प्रकार जो आनन्ददायक था उसके विनष्ट होने पर उसका स्मरण दुख के आवेग में वृद्धि कर देता है।

---

१ *अथवा वाक्यार्थीभूतस्यापि कस्यचित् करूण रस विषयस्य तादृशेन शृङ्गार वस्तुनाभङ्ग-विशेषाश्रयेण सयोजन रस परिपोषायैव जायते। यतः प्रकृतिमधुरा पदार्थाः शोचनीयतां प्राप्ताः प्रागवस्थाभाविभि संस्मर्यमाणविलासैरधिकतर शोकावेशमुपजनयन्ति।*
— आनन्दवर्धन, ध्वन्या० (का० मा०), पृष्ठ–२०८।

२ —मम्मट, का० प्र०, ७/६५।

३ *अय स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।*
नाभ्युरूजघनस्पर्शी नीवीविस्रसन करः।

४ *अधुना तु स विप्रलम्भः करूणस्याङ्गता प्रतिपन्नः कथ विरोधीति व्यवस्थाप्यते।*
— अभिनव गुप्त, लो० टी० (का० मा०), पृष्ठ–२०८।

'क्षिप्तो हस्तावलग्न' मे त्रिपुर युवतियो के करूण रस का वर्णन किया जा रहा है यहा शिव की शराग्नि के कार्यों से पूर्वानुभूत प्रणय कलह के वृत्तान्त का स्मरण किया जा रहा है जो करूण रस का उद्दीपन विभाव बनकर उसको और भी परिपुष्ट कर रहा है। इस प्रकार यह भी स्पष्ट होता है कि यहा विप्रलम्भ शृङ्गार करूण रस के अग रूप मे प्रतिपादित है। **मम्मट** ने इसी आधार पर इस छन्द में विरोध परिहार किया है।[1]

ध्वनिकार ने कहा है कि यहा आर्द्रापराध कामी जैसा व्यवहार करता है, शाम्भव शराग्नि ने उसी प्रकार का व्यवहार त्रिपुर युवतियो के साथ किया इस प्रकार यहा निर्विरोधत्व ही है।[2]

इसके पश्चात् ध्वनिकार ने एक अन्य उदाहरण भी प्रस्तुत किया है। इसमें भी शृङ्गार करूण का अग बनकर रतिभाव का उत्कर्ष करता है। उदाहरण द्रष्टव्य है –

"कामन्त्य क्षतकोमलाड्गुलिगलदरक्तै सदर्भा स्थली.
पादै. पातितयावकैरि[illegible] पतद्वाष्पम्बुधौतानना।
भीता भर्तृ[illegible] करास्त्वद्वैरिनार्योऽधुना
दावाग्नि परितो भ्रमन्ति पुनरप्युद्यदविवाहा इव।।"

अर्थात् घायल हुई कोमल अगुलियों से रक्त टपकाती हुई अतएव मानो महावर लगे हुए पैरों से कुशाकुरयुक्त भूमि पर चलती हुई, गिरते हुए आसुओं से मुख को धोये हुए भयभीत होने से पतियों के हाथ में हाथ पकडाये हुए, तुम्हारे शत्रुओं की स्त्रिया इस समय फिर दुबारा विवाह के लिए उद्यत सी दावाग्नि के चारो ओर घूम रही हैं।

यहां राजा विषयक रति भाव प्रधान है। करूण व शृङ्गार दोनों परस्पर विरूद्ध होते हुए भी रतिभाव के अग रूप मे स्थित होकर रतिभाव का उत्कर्ष करते हैं। यहा भी शृङ्गार रस करूण का उद्दीपक है।

उल्लेखनीय है कि 'आसुओं से मुख को धोये हुए' इसका शृङ्गार पक्ष में होमाग्नि से उत्पन्न अश्रु अथवा परिवार तथा गृह त्याग से उत्पन्न अश्रु यह अर्थ ग्रहण करना चाहिए।[3] तात्पर्य यह है कि शृङ्गार रस में वियोग की स्थिति में अश्रु का वर्णन समीचीन होता है परन्तु यहा सयोग शृङ्गार का वर्णन है। इसलिए अश्रु का ग्रहण समीचीन प्रतीत नहीं[illegible] इसी को स्पष्ट करने के लिए **लोचनकार** ने इस प्रकार की व्याख्या की है कि यहा अश्रु होम की अग्नि से उत्पन्न धुयें के कारण या गृहत्याग से उत्पन्न कष्ट का अनुभव करने के कारण उत्पन्न हो रहा है।

---

१ *इत्यत्र त्रिपुररिपुप्रभवातिशयस्य करूणोड्गं तस्य तु शृङ्गारः तथापि करूणेविश्रान्तिरिति तस्याड्गतैव।*
– मम्मट, का० प्र०, उदा० ३४२ तथा वृत्ति।

२ *तदत्र त्रिपुरयुवतीनां शाम्भवः शराग्निरार्द्रापराधः कामी यथा व्यवहरति तथा व्यवहृतवानित्यनेनापि प्रकारेणास्त्येव निर्विरोधत्वम्।*
– आनन्दवर्धन, ध्वन्या० (का० मा०), पृष्ठ–२०८।

३ *होमाग्निधूम्र कृतं वाष्पाम्बु यदि वा बन्धुगृहत्यागाद् भव भयम्।*
– अभिनव गुप्त, लो० टी० (का० मा०), पृ० – २०८।

रसादि के विरोधी रसादि के साथ समावेश तथा असमावेश का प्रतिपादन करने के पश्चात् **आचार्य आनन्द वर्धन** ने अङ्गी तथा अङ्ग भूत रसो के सन्निवेष पर विचार किया है। प्रस्तुत प्रसङ्ग मे **ध्वनिकार** के इस विवेचन पर दृष्टिपात भी अपेक्षित है क्योकि अङ्गी या प्रधान रस के साथ विरोधी या अविरोधी रसों का समीचीन सन्निवेश करने से रस–विरोध परिहार होता है।

ध्वनिकार ने इस प्रसङ्ग मे विचार व्यक्त किया है। प्रबन्ध काव्य में किसी एक रस को अङ्गी या प्रधान रूप मे तथा अन्य को अङ्ग रूप मे वर्णित करना चाहिए। अङ्गी रूप मे स्थित रस सर्वप्रबन्ध व्यापी होता है।अत उसके अङ्गरूप मे वर्णित अन्य रसों का निरूपण दोषावह या विरोधजनक नहीं होता हैं इस प्रसङ्ग मे वे कहते हैं कि जिस प्रकार किसी प्रबन्ध काव्य में एक प्रधान विषय तथा अन्य अवान्तर विषयो का ग्रहण दोषावह नहीं होता उसी प्रकार एक प्रधान तथा अन्य अप्रधान या अङ्गभूत रसों का ग्रहण भी विरोधमूलक नहीं होता है।[1]

अविरोधी तथा विरोधी रसो के अङ्गाङ्गीभाव पर विचार करते हुए **ध्वनिकार** ने आशा व्यक्त की है कि जिन रसो का परस्पर अविरोध है। जैसे वीर तथा शृगारादि का उनका तो अङ्गाङ्गी भाव सम्भव है परनतु जिन रसो का परस्पर बाध्य–बाधक भाव सम्बन्ध हैं। जैसे शृगार व वीभत्सादि का उनका अङ्गाङ्गी भाव कैसे सम्भव है।[2]

यहॉ उल्लेखनीय हैं कि विरोध दो प्रकार से हो सकता हैं एक **सहानवस्थान विरोध** तथा दूसरा **बाध्य बाधक भाव या वध्य–घातक भाव विरोध। सहानवस्थान विरोध** में दो विरोधी रस समान रूप से एक साथ नहीं रस सकते तथा बाध्य–बाधक भाव विरोध में एक रस के उपस्थित होते ही दूसरे रस का विघात हो जाता है।

वीर शृगार, शृंगार–हास्य, रौद्र–शृगार, वीर–अद्भुत, वीर–रौद्र, रौद्र–करूण तथा शृगार–अद्भुत रसों का सहानवस्थान में विरोध होता है।तात्पर्य यह कि उल्लिखित रसों का एक साथ उत्कर्ष प्रतिपादित नहीं किया जा सकता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि दोनों का पृथक्–पृथक् कुछ समय पश्चात् उत्कर्ष वर्णित किया जा सकता है।इसलिए इन रसों का परस्पर अविरोध ही होता है।

शृंगार- वीभत्स, वीर-भयानक, शान्त-रौद्र, शान्त-शृगार इन रसों का परस्पर बाध्य-बाधक भाव सम्बन्ध है। तात्पर्य यह है कि इन रसों में एक का उदय दूसरे की स्थिति को ही नष्ट कर देता है यथा जब शृगार की उपस्थिति होती है तो बीभत्स रस का विघात हो जाता है तथा जब उत्साह भाव उत्पन्न होता है, तो भय का विनाश हो जाता है।इसी प्रकार ससार के प्रति अनासक्ति रूप शान्त रस के उदित होने पर रौद्र तथा शृगार रस स्वत ही समाप्त हो जाते हैं। इसलिए इन रसों का परस्पर विरोध ही होता है।

---

१. *प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां नानारस निबन्धने।*
एको रसोऽङ्गीकर्तव्यस्तेषामुत्कर्षमिच्छता।।
रसान्तरसमावेश प्रस्तुतस्य रसस्य च।
नोपहन्त्यङ्गितां सोऽस्य स्थायित्वेनावभासिनः।।
कार्यमेकं यथा व्यापि प्रबन्धस्य विधीयते।
तथा रसस्यापिविधौविरोधो नैव विद्यते।।
—आनन्दवर्धन ध्वन्या० ३/२१,२२,२३।

२ *ननुयेषां रसानां परस्पराविरोधः यथा वीरशृङ्गारयोः शृङ्गारहास्ययोः-*
रौद्र [illegible] वीराद्भुतयोः वीररौद्रयोः रौद्रकरूणयोः शृङ्गाराद्भुतयोर्वा तत्र
[illegible]योः, वीरभयानकयोः, शान्तरौद्रयोः, शान्तशृङ्गारयोर्वा.....
—वही ध्वन्या (का०मा०) ३/२४ की अवतरणिका पृ० २१०।

सहानवस्थान मात्र से विरोधी रसों का प्राय अविरोध ही होता है। परन्तु बाध्य बाधक भाव से विरोधी रसो का विरोध ही होता है। इसलिए सहानवस्थान से विरोधी रसोका अङ्ग–अङ्गी भाव कैसे सम्भव है, यह शङ्का उत्पन्न होती है। इसी का समाधान करने के उद्देश्य से **ध्वनिकार** कहते हैं कि दूसरे रस के प्रधान होने पर उसके अविरोधी तथा विरोधी रस का अन्यन्त परिपोष नहीं करना चाहिए। इससे उनका अविरोध हो सकता है[1]।

'आलोकवृत्ति' मे **आनन्दवर्धन** कहते हैं कि यदि शृगारादि रस प्रबन्ध में प्रधानत व्यङ्ग हो तो उनके विरोधी या अविरोधी रस का परिपोषण नहीं करना चाहिए[2]। तात्पर्य यह कि प्रधानत व्यङ्ग्य रस की अपेक्षा अङ्गभूत विरोधी या अविरोधी रस का परिपोषण नहीं करना चाहिए।

उल्लेखनीय है कि अङ्गी रस की अपेक्षा अगभूत रस का परिपोष तो करना ही नहीं चाहिए परन्तु अविरोधी रस का भी उत्कर्ष नहीं करना चाहिए।

आचार्य आनन्द वर्धन ने अविरोधी या विरोधी रस के परिपोषण को दूर करने के लिए तीन उपायों का उल्लेख किया हैं जो द्रष्टव्य है,.

परिपोष का प्रथम परिहार है 'अविरोधी रस का अङ्गी प्रधानभूत रस की अपेक्षा अत्यन्त आधिक्य न करना' [3] अर्थात् अङ्गी रस की अपेक्षा अङ्गभूत अविरोधी रस का अतुयधिक उत्कर्षपूर्ण वर्णन नहीं करना चाहिए। इससे प्रधान रस क्षीण हो जाता हैं उल्लेखनीय है कि यदि दोनों रसों अर्थात् प्रधानभूत तथा अङ्गभूत अविरोधी रस का समान रूप से उत्कर्ष वर्णित हो तो भी दोष उपस्थित नहीं होगा। इसीलिए ध्वनिकार ने कहा है कि उन दोनो का समान उत्कर्ष होने तक भी विरोध नहीं होगा परन्तु जब उनमें से अङ्गी रस की अपेक्षा अविरोधी अङ्गभूत रस का उत्कर्षपूर्णवर्णन प्रारम्भ होगा तब दोष उपस्थित हो जायेगा।[4]

प्रकृत स्थल मे **ध्वनिकार** ने दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। जिनमें साम्य होने अर्थात् समान रूप से अङ्गी तथा अविरोधी रस का उत्कर्ष वर्णित या अपेक्षित होने के कारण दोष नहीं है उक्त उदाहरण द्रष्टव्य है।

> एकतो रूइअ पिआ अण्णतो समरतूरणिग्घोसो।
> तोहेण रणरसेण अ भडस्स दोलाइअ हिअअम्।।
> (सस्कृत छाया)—एकतो रोदिति प्रिया अन्यतः [illegible]घोषः।
> स्नेहेनरणरसेन च भटस्य दोलायित हृदयम्।।

अर्थात् 'एक ओर प्रियतमा रो रही है और दूसरी ओर युद्ध के बाजे का घोष हो रहा है। अत स्नेह और युद्धोत्साह से वीर का हृदय दोलायमान हो रहा है।' वर्णन में कोई दोष उपस्थित नहीं होता। यहाँ न शृगार का अधिक उत्कर्ष हो रहा है नही वीर का, दोनों ही अन्यूनाधिक रूप मे वर्णित हैं। यहाँ वीर तथा शृंगार दोनो रसो का समान रूप से उत्कर्ष द्योतित होता है अत इन दोनों के

---

१. *अविरोधी विरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे।*
परिपोष न नेतव्यस्तथा स्यादविरोधिता।।
—आनन्दवर्धन ध्वन्या० ३/२४।

२ *अङ्गिनिरसान्तरे शृङ्गारादौ प्रबन्धव्यङ्ग्ये सति, अविरोधी विरोधी वा रस परिपोष न–नेतव्य ।।*
—वही, ध्वन्या० (का०मा०) ३/२४ की वृत्ति।

३ *तत्राविरोधिनो रसस्याङ्गिरसापेक्षयात्यन्तमाधिक्यं न कर्त्तव्यमित्ययं प्रथम परिपोषपरिहार।*
—आनन्द वर्धन, ध्वन्या (का०मा०) ३/२४ की वृत्ति।

४ *उत्कर्ष साम्येऽपि तयोः विरोधासम्भवात्।*
—वही, ध्वन्या (का०मा०) ३/२४ की वृत्ति पृ० २१०।

द्वितीय उदाहरण[1] मे ईर्ष्याविप्रलम्भ तथा उसके विरोधी मन्त्र जापादि से व्यङ्ग्यशान्त रस की सम-प्रधानता है इसलिए रस-विरोध नहीं है।

विरोधी रसों के **परिपोष परिहार का द्वितीय प्रकार** है- 'अङ्गीरस के विरूद्ध व्यभिचारी भावों का अधिक निवेश न करना' अथवा निवेश करने पर शीघ्र ही अगी रस के व्यभिचारी रूप मे वर्णित कर देना।[2] प्रधानभूत रस के विरोधी रस के व्यभिचारी भावों का सन्निवेश करने से प्रधान रस या अङ्गी रस का पूर्ण परिपोष नहीं हो पाता। यदि व्यभिचारी भावों को अधिकता से ग्रहण करके उनके उत्कर्ष का निरूपण किया जाय तो प्रधान रस का उत्कर्ष कम होना स्वाभाविक हैं इसलिए उनका अधिक समावेश नहीं करना चाहिए। इसी प्रसङ्ग में **ध्वनिकार** यह भी कहते हैं कि यदि विरोधी रस के व्यभिचारी भावों को ग्रहण भी किया जाय तो उसे शीघ्र ही प्रधान रस के व्यभिचारी के रूप में परिवर्तित कर देना चाहिए। इससे विरोधी रस का उत्कर्ष न होकर प्रधान रस का ही उत्कर्ष होता है।

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि पहले तो विरोधी रस के व्यभिचारी भावों का प्रचुरता या अतिशयित रूप मे वर्णन ही नहीं करना चाहिए यदि इस प्रकार का निरूपण किया भी जाये तो उन व्यभिचारी भावों को प्रधान भूत रस के व्यभिचारी भावो के रूप में परिणत कर देना चाहिए।

यहाँ द्वितीय प्रकार के परिपोष परिहार में **ध्वनिकार** ने दो पक्ष प्रस्तुत किये हैं। **लोचनकार** कहते हैं कि यहाँ 'वा' पद से दूसरे विकल्प या पक्ष की दृढता या प्रबलता का ज्ञान होता है। यह भी स्पष्ट होता है कि ये दोनों विकल्प एक ही प्रकार में परिगणित हैं पृथक्-पृथक् नहीं। अन्यथा तीन के स्थान पर चार परिहार पक्ष बन जायेंगे।[3]

यहाँ दोनों को प्रस्तुत करते हुए **आलोक कार** ने उनकी एकरूपता को व्यक्त किया है। वस्तुत: 'वा' अथवा 'आदि' के द्वारा उसी पक्ष को प्रस्तुत किया जाता है किसी दूसरे को नहीं। यहा यह भी उल्लेखनीय है कि **आलोककार** ने तीनों प्रकारों में प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय यह स्पष्टत: कहा है। इसलिए भी द्वितीय प्रकार में ही उन दो पक्षों को ग्रहण करना अपेक्षित है। विचार करने पर भी स्पष्ट होता है कि वे दोनों पक्ष परस्पर सबद्ध ही हैं पृथक् नहीं।

लोचनकार ने ध्वनिकार के मत को सुस्पष्ट करते हुए 'अंगी रस के व्यभिचारी भाव की अनुवृत्ति' को 'अनुसन्धान' कहा है।[4] तात्पर्य यह कि विरोधी रस के व्यभिचारी भावों का निवेश होने पर शीघ्र ही अगीरस के व्यभिचारी भावों का अनुसन्धान प्रारम्भ कर देना चाहिए जिससे विरोधी रस के व्यभिचारी का वर्णन अवरूद्ध हो जाता है तथा उसका परिपोष नहीं हो पाता।

---

१ *कण्ठाच्छित्वाक्षमालावलयमिव करे हारमावर्तयन्ती*
कृत्वा पर्यङ्कबन्धं विषधरपतिना मेखलाया गुणेन।
मिथ्यामन्त्राभिजापस्फुरदधरपुटव्यञ्जिता व्यक्तहासा,
देवी सन्ध्याभ्यसूयाहसितपशुपतिस्तत्र दृष्टा तु वोऽव्यात्।।

२. *अङ्गिरसविरूद्धाना व्यभिचारिणा प्राचुर्येणानिवेशनम्, निवेशनेवा-*
ऽङ्गिरसव्यभिचार्यनुवृत्तिरिति द्वितीय:।
-आनन्दवर्धन ध्वन्या० ३/२४ की वृत्ति पृ०२११।

३. *अतएव वा ग्रहणमुत्तरपक्षदार्ढ्यं सूचयति-*
न विकल्पम्। तथा चैक एवायं प्रकार:। अन्यथा तु दौ स्याताताम्।
-अभिनव गुप्त, ध्वन्या० ३/२४ पर लोचन टीका (का०मा०) पृ० २११।

४. *अङ्गिनो रसस्य यो व्यभिचारी तस्यानुवृत्तिरनुसन्धानम्।*
-अभिनव गुप्त, लो० टी (का० मा०), पृ० २१२।

[illegible] ने यहा कोई उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया है। टीकाकार ने 'कोपात्कोमल' [1] इस छन्द को यहा उद्धृत किया है।[2] यहा अंगी रस शृगार तथा अगभूत रस रौद्र है। इसमें 'बद्धवा दृढ' इस पद से रौद्र के व्यभिचारी भाव क्रोध का निबन्धन है परन्तु इसका 'रूदत्या' और 'हसन्' इन पदों द्वारा शीघ्र ही रति के व्यभिचारी भाव ईर्ष्या, औत्सुक्य तथा हर्ष में पर्यवसान हो जाता है जिससे रौद्र का परिपोष नहीं हो पाता है। इस प्रकार रस–विरोध भी उपस्थित नहीं होता।

प्रस्तुत परिपोष–परिहार में विचारणीय है कि विरोधी रस के व्यभिचारी भावों को ग्रहण न करना उतना प्रबल परिपोष–परिहार नहीं है जितना विरोधी रस के व्यभिचारी भावों को प्रस्तुत कर के शीघ्र ही अगी रस के व्यभिचारी भावो का अनुसन्धान करना अर्थात् अगी रस में विरोधी रस के व्यभिचारी भाव का पर्यवसान करना। टीकाकार का विचार है कि 'वा' शब्द को ग्रहण करके **ध्वनिकार** ने द्वितीय पक्ष को दृढ या प्रबल किया है। वस्तुत. शत्रु के अनुचरो को उपस्थित ही न किया जाय तो राजा के उत्कर्ष की उतनी अभिव्यक्ति नहीं होती जितनी शत्रु के अनुचरों को उपस्थित करके शीघ्र ही उन्हें राजा के अनुचर बना देने पर। शत्रु के अनुचरों को शीघ्र ही राजा के सेवक के रूप में परिवर्तित करने से राजा के पराकम नीति आदि का उत्कर्ष द्योतित होता है।

परिपोष परिहार का तृतीय उपाय–अंगभूत रस का परिपोष करने पर भी बार–बार उसकी अगरूपता का ध्यान रखना है।[3] यदि अगभूत रस का वर्णन किया जाय तब भी बार–बार उसकी अगता का निरूपण किया जाय तो अंगभूत या अप्रधान रस की परिपुष्टि नहीं हो पाती **लोचनकार** ने इस प्रसग में 'तापस वत्सराज' मे वत्सराज के पद्मावती विषयक सयोग शृङ्गार को उदधृत किया है।[4] इसमें पद्मावती विषयक सयोग शृङ्गार का वर्णन करने पर भी उसकी अंगता का निरूपण किया गया है जिससे उसी में विश्रान्ति नहीं होती।

ध्वनिकार परिपोष परिहार के तीन मार्गों का निर्देश या प्रतिपादन करने के पश्चात् कहते हैं कि इसी शैली से परिपोष परिहार के अन्य प्रकार भी स्वयं समझ लेना चाहिए। जैसे किसी विरोधी रस की अगी रस की अपेक्षा न्यूनता कर लेनी चाहिए यथा–शान्त रस के प्रधान होने पर शृङ्गार की न्यूनता अथवा शृङ्गार के प्रधान होने पर शान्त की न्यूनता निरूपित कर देनी चाहिए।[5]

---

१. *–द्रष्टव्य–ध्वन्या० २/१६ की वृत्ति।*

२ *यथा–'कोपात्कोमललोल' इति श्लोकेऽङ्गभूतायां रतावङ्गत्वेन यः क्रोधं उपनिबद्धस्तत्र – बद्ध्वा दृढं इत्यमर्षस्य निवेशितस्य क्षिप्रमेव रूदत्येति हसन्निति च – रत्युचितेर्ष्यौत्सुक्यहर्षानुसन्धानम्।*
– अभिनव गुप्त, लो० टी० (का०मा०) पृष्ठ–२१२।

३ *अङ्गत्वेन पुन· पुन· प्रत्यवेक्षा परिपोषं नीयमानस्याप्याङ्गभूतस्य रसस्येति तृतीय ।*
– आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३/२४ की वृत्ति।

४. *अत्र [illegible] वत्सराजस्य पद्मावती विषयः सम्भोग श्रृंगार उदाहरणीकर्त्तव्य.।*
– अभिनव गुप्त, लो० टी० (का०मा०), पृष्ठ २१२।

५. *अनया दिशान्येऽपि प्रकाराः उत्प्रेक्षणीयाः। विरोधिनस्तु रसस्याङ्ग रसोपेक्षया [illegible] – सम्पादनीयाः। यथा शान्तेऽङ्गिनि शृङ्गारस्य शृङ्गारे वा शान्तस्य।*
– ध्वन्या, ३/२४ की वृत्ति।

यहां यह शका उपस्थित होती है कि परिपोष हुए बिना किसी रस का रसत्व ही सम्भव नहीं है। जब परिपोषण होता है तभी रस को रस कहा जाता है। इससे प्रधान रस के अतिरिक्त जो भी रसादि हैं उनका यदि परिपोषण ही नहीं किया जायेगा तो वे रस कहे ही नहीं जायेंगे। इस आशंका का समाधान करते हुए **ध्वनिकार** ने अगीरसापेक्षया अर्थात् अगी रस की अपेक्षा उस अगभूत रस का परिपोषण नहीं करना चाहिए, यह कहा है स्वत. होने वाले अर्थात् स्वाभाविक रूप से साधारणतया जो परिपोष होता है उसे तो स्वीकार किया ही जायेगा उसका परिहार नहीं होगा परन्तु विशेष परिपोषण अर्थात् प्रधान रस से अधिक परिपोषण का प्रयत्न नहीं करना चाहिए अन्यथा रस–विरोध उपस्थित हो जाता है।[1]

अंगीरस की अपेक्षा अगभूत या अप्रधान रस का अधिक उत्कर्षपूर्ण या चमत्कारपरक वर्णन न करना ही आपेक्षिक प्रकर्ष है। अंगी या प्रधानभूत रस ही मुख्यत· व्यंग्य है तथा इसका उत्कर्षपूर्ण वर्णन ही सहृदय को अभिलषित होता है। इसकी अपेक्षा अगभूत रस का अधिक वर्णन करने पर दोष उपस्थित हो जाता है।

ध्वनिकार ने आपेक्षिक प्रकर्ष के द्वारा प्रबन्ध काव्य में रसों के अग–अगी भाव का प्रतिपादन किया है। उनका विचार है कि जो आचार्य रस से शृङ्गार आदि रसों को ग्रहण करते हैं तथा एक रस में दूसरे रस का अंगत्व स्वीकार नहीं करते हैं, उन्हें भी प्रबन्ध काव्यों में अनेक रसों के अङ्गत्व को मानना होगा क्योकि प्रबन्ध काव्यों में अनेक रसों का वर्णन होता है और वहां सभी रस समान रूप से वर्णित या उल्लिखित नहीं होते हैं। कोई रस प्रबन्धव्यापी होता है तो कोई उसकी अपेक्षा कम वर्णित होता है। इस प्रकार वहा आपेक्षिक प्रकर्ष होता ही है। अत प्रबन्ध में रसों का अंगागी भाव निश्चित रूप से होता है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार प्रधान रस के विरोधी तथा अविरोधी रसों का अंग–अंगी भाव या उपकार्य उपकारक भाव से ग्रहण होने पर अविरोध या दोष राहित्य होता है।[2]

ला ·ध कार ने इस विषय में कहा है कि जो आचार्य रसों का अंग–अंगी भाव या उपकार्य–उपकारक भाव नहीं स्वीकार करते उनके अनुसार रस वही है जो स्वयं चमत्कार रूप हो। यदि उसकी स्वचमत्कार में विश्रान्ति नहीं होती तो वह रस ही नहीं है। जो रस अंगभूत होगा उसकी स्वचमत्कार में विश्रान्ति ही नहीं होगी अत: वह रस ही नहीं कहा जायेगा। जो रस होगा अर्थात् जिसकी स्वचमत्कार में विश्रान्ति होगी वह किसी का अंग नहीं होगा। इस प्रकार रसों का अंग–अंगीभाव नहीं हो सकता। ध्वनिकार के मत को स्थापित करते हुए **·ाध कार** कहते हैं कि जिन आचार्यों का ऐसा विचार है उन्हें भी प्रबन्ध काव्य में किसी रस की प्रकृष्टता अर्थात् प्रबन्धव्यापकता तथा अन्य रसों की प्रबन्ध के अल्प भाग में ही व्यापकता को मानना ही होगा क्योंकि यदि ऐसा नहीं होगा तो इति वृत्ति का निर्माण ही नहीं हो पायेगा। तात्पर्य यह कि यदि एक ही रस की प्रकृष्टता का वर्णन होगा तो कथावृत्त ही नहीं बन पायेगा। प्रबन्ध में अनेक घटनाओं का वर्णन अपेक्षित होता है जो मूलकथा को सरस बनाने में सहायक होती हैं। यदि एक ही रस का वर्णन किया जाये तो सरसता

---

१. *परिपोषरहितस्य रसस्य कथं रसत्वमितिचेत् उक्तमत्राङ्गिरसापेक्षयेति। अंगिनो हि रसस्य-यावान् परिपोषस्तावांस्तस्य न कर्त्तव्य:। स्वतस्तुसम्भवी परिपोष: केन वार्यते।*
– आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३/२४ की वृत्ति।

२. *एतच्चापेक्षिकं प्रकर्षयोगित्वमेकस्य रसस्य बहुरसेषु प्रबन्धेषु–*
रसानामङ्गाङ्गिभावम–पगच्छताप्यशक्यप्रतिक्षेपमित्यने· प्रकारेणाविरोधिनाञ्च ।
रसानामङ्गाङ्गिभावेन समावेशे प्रबन्धेषु स्यादविरोध:।
– आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३/२४ की वृत्ति।

भी नहीं आ पायेगी और सर्वाधिक महत्वपूर्ण तो यह है कि प्रबन्ध की रचना ही नहीं हो पायेगी।[1]

विचारणीय है कि प्रबन्धकाव्य में अनेक रसों का वर्णन अपेक्षित होता है। उसमें प्रधान रूप से एक रस को ग्रहण किया जाता है तथा अन्य रसो को अग रूप मे वर्णित किया जाता है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि एक रस मूल रूप से सम्पूर्ण प्रबन्ध मे वर्णित होता है और अन्य रसों का वर्णन कुछ समय के लिए होता है तथा लुप्त होता जाता है। अन्य रस व्यभिचरित रूप से स्थित होते हैं। इन रसों के वर्णन से काव्य रोचकता भी बनी रहती है तथा मूल रस भी पुष्ट होता रहता है। रस का रसान्तर में अगत्व स्वीकार न करने वाले आचार्य भी रसों के इस तारतम्य को अस्वीकार नहीं कर सकते। तारतम्य अर्थात् एक रस की अपेक्षा दूसरे का अधिक प्रकर्ष रूपेण वर्णन करना है।

पुनश्च यह भी विचारणीय है कि प्रबन्ध में यदि सभी रसों को समान रूप से वर्णित किया जाता है तो विश्रान्ति या परिपोषण ही नहीं हो पायेगा वरन् सहृदय को सन्देहपूर्ण स्थिति होने के कारण विरसता का अनुभव होने लगेगा। अत रसो का आपेक्षिक प्रकर्ष स्वीकार करके ही प्रबन्ध में रसानुभूति हो सकती है।

आपेक्षिक प्रकर्ष ही प्रकारान्तर से अग–अगी भाव है अथवा यह कहा जा सकता है कि आपेक्षिक प्रकर्ष ही रसो का तारतम्यपूर्वक वर्णन है जिसमे एक रस प्रधान या अगी होता है तथा अन्य रस अगभूत होते हैं। यह तो पहले भी कहा जा चुका है कि जिसका उत्कर्षपूर्ण वर्णन हो वह अगी रस तथा उसकी अपेक्षा जिन रसो का अल्प प्रकर्ष हो, वह अंगभूत रस है।

प्रस्तुत प्रसंग में उल्लेखनीय है कि 'रस' पद से कतिपय आचार्य शृङ्गारादि रसों को स्वीकार करते हैं तथा कतिपय आचार्यों का विचार है कि स्थायीभावों को ही उपचार वश 'रस' शब्द से अभिहित किया जाता है। आचार्यों के इस विचार का आधार नाट्य शास्त्र की निम्नांकित कारिका है –

"बहूना समवेताना रूप यस्य भवेद् बहु।
स मन्तव्यो रस. स्थायी (रसस्थायी) शेषाः सचारिणो मतः।।"
ना०शा० ७/१२०।

प्रकृत कारिका में 'रस स्थायी' या 'रसस्थायी' पद की व्याख्या दो प्रकार से की जाती है। 'रस' तथा 'स्थायी' पद को पृथक्–पृथक् मानने वाले आचार्यों के मत में प्रस्तुत कारिका का अर्थ इस प्रकार होगा – अनेक भावों में जिसका रूप बहु अर्थात् प्रबन्ध व्यापक हो वह स्थायी या प्रधान रस है तथा शेष व्यभिचारी अर्थात् अगभूत रस हैं। इस मत में रसों के स्थायी या अंगीरूप तथा संचारी या अंगरूप दोनों स्वीकार किये गये हैं। **अभिनव गुप्त** ने **भागुरि मुनि** को इस मत का समर्थक माना है।[2] इस मत में रसों का अग–अगी भाव स्वीकार किया गया है।

---

1. *उपकारोपकारकभावो रसाना नास्ति स्वचमत्कार- विश्रान्तत्वादन्यथा रसत्वायोगात्, तदभावे च कथमङ्गाङ्गितेत्यपि येषा मतं तैरपि कस्यचिद्रसस्य- प्रकृष्टत्वं भूयः प्रबन्धव्यापकत्वमन्येषा चाल्पप्रबन्धानुगामित्वम-[illegible]वृत्तसङ्घटनाया- एवान्यथानुपपत्तेः भूयः प्रबन्धव्यापकस्य च रसान्तरैर्यदि न काचित्सङ्गतिस्तादिति वृत्तस्यापि- न स्यात्सङ्गति[illegible]मेवोपकार्यापकारकभावः।*
   –अभिनव गुप्त, लो० टी० (का० मा०) पृष्ठ – २१२।

2. *तथा च भागुरिरपि, किं रसानामपि स्थायिसंचारितास्तीति अक्षिप्याभ्युपगमेनैवोत्तरमवोचद्- बाढमिति।*
   – अभिनव गुप्त, लो० टी (का० मा०) पृष्ठ – २१३।

'रस' तथा 'स्थायी' पद को पृथक्–पृथक् न मानकर एक पद 'रस स्थायी' मानने वाले आचार्य रसों का अग–अगीभाव नहीं मानते हैं। इनके अनुसार स्थायी भावो का अग–अगीभाव होता है रसो का नहीं। इन आचार्यों का मत है कि एक स्थायीभाव एक रस का स्थायीभाव होने पर भी दूसरे रस का सचारी भाव हो सकता है। **भरतमुनि** के उपर्युक्त श्लोक का अर्थ इस मत के अनुसार इस प्रकार होगा– काव्य मे अनेक भावो मे से जिसका अधिक विस्तृत वर्णन होता है वह स्थायी भाव होता हैं तथा वही रसनीय या आस्वादन योग्य होता है, इसलिए उसको 'रस स्थायी' अर्थात् प्रधान रस कहते हैं।तात्पर्य यह कि 'स्थायी भाव' ही रसनीय होने के कारण 'रस' कहा जाता है। शेष सभी भाव व्यभिचारी या सचारी होते हैं क्योकि उनका विस्तृत रूप से वर्णन नहीं होता। इस प्रकार एक रस का स्थायी भाव दूसरे रस का व्यभिचारी भाव हो जाता है अथवा यह भी कहना समीचीन है कि रस का व्यभिचारी भाव दूसरे रस का स्थायीभाव हो जाता है।

लोचनकार ने स्थायी तथा सचारी भावो के परस्पर स्थायी व सचारी होने की व्याख्या की है। वे कहते हैं कि एक रस मे स्थायीभाव होने पर भी वह दूसरे रस का सचारी भाव हो सकता हैं।जैसे कोध रौद्र रस का स्थायी भाव होने पर भी वीर रस मे व्यभिचारीभाव होता है अथवा एक रस में जो व्यभिचारी भाव है,वही दूसरे रस मे स्थायीभाव हो सकता है, जैसे तत्त्वज्ञान विषयक निर्वेद, शान्तरस मे स्थायीभाव होता है। यद्यपि अन्य जगह वह व्यभिचारी भाव ही है अथवा कहीं एक व्यभिचारी भाव भी दूसरे व्यभिचारी भाव की अपेक्षा स्थायी हो जाता है।जैसे 'विकमोर्वशीय' नाटक के चतुर्थ अक मे उन्माद का वर्णन है।[1]

ध्वनिकार ने रसों के अग–अगी भाव को स्वीकार न करने वाले आचार्यों के मत में भी आपेक्षिक प्रकर्ष के द्वारा अग–अगी भाव का निरूपण किया है। जो ऊपर उल्लिखित है। 'रस' शब्द से 'स्थायी भाव' मानने वालो के विषय मे **ध्वनिकार** का विचार है कि इस मत वाले स्थायीभाव को उपचार वश 'रस' शब्द से ग्रहण कहते हैं।इनके मत मे स्थायी भावो का अगत्व तो सम्भव ही है।अत अग–अगी भाव मानने में इन आचार्यों को कोई आपत्ति नहीं है। तात्पर्य यह कि स्थायी भाव का अंगत्व या व्यभिचारित्व मानने में इन्हे कोई आपत्ति नहीं है।[2]

स्पष्ट है कि इस प्रकार उपर्युक्त दोनों ही मतों में रस का अंग–अंगी भाव सिद्ध है। इसी प्रकार अग–अगी भाव से रसों का निरूपण करने पर प्रधान रस के विरोधी तथा अविरोधी दोनों ही रसों के परिपोष को बाधित किया जा सकता है।अर्थात् अंगभूत रसों का परिपोष–परिहार किया जा सकता है, यह ध्वनिकार का विचार है।

परवर्ती काल में **आचार्य मम्मट** ने **ध्वनिकार** के प्रस्तुत विवेचन से प्रभावित होकर ही सम्भवत काव्य प्रकाश के सप्तम उल्लास के अन्त में रस–दोषों के परिहार का निरूपण करने के पश्चात् कहा है कि 'रस' शब्द से यहा स्थायी भाव ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार **मम्मट** ने द्वितीय मत का ही प्रकारान्तर से समर्थन भी किया है। **भरतमुनि** ने भी भाव व्यजक अध्याय में ही पूर्वोल्लिखित श्लोक 'बहूना समवेताना०' को प्रस्तुत किया है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि यहा 'रस स्थायी' पद को एक पद के रूप में

---

१ *अन्ये तुस्थायितया पठितस्यापिरसस्य रसान्तरे व्यभिचारित्वमस्ति, यथा कोधस्य वीरे व्यभिचारितया– पठितस्यापि स्थायित्वमेव रसान्तरे, यथा तत्त्वज्ञानविभावकस्य निर्वेदस्य शान्ते, व्यभिचारिणो– वा सत एव व्यभिचार्यन्तरापेक्षया स्थायित्वमेव, यथा विकमोर्वश्यामुन्मादस्य चतुर्थेऽङ्के इति।*
– अभिनवगुप्त, लो० टी० (का० मा०) पृष्ठ– २१३।

२ *मतान्तरे तु रसानां स्थायिनो भावा उपचारात् रस शब्देनोक्तास्तेषामङ्गत्वं निर्विरोधमेव।*
– आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३/२४ की वृत्ति।

ही ग्रहण करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि स्थायी भाव को ही उपचार वश रस कहा जाता है यह मानना चाहिए। ऐसा मानने पर अग–अगी भाव मानने में कोई बाधा नहीं है। **आनन्दवर्धन** ने विचारपूर्ण शैली में पूर्वप्रत् मे अर्थात् रसो में अगत्व स्वीकार न करने वालों के मत में भी अगत्व का निरूपण करके एक विशेष विचार–दर्शन को दिशा प्रदान की है। **मम्मट** ने सारगर्भित रूप से द्वितीय मत में अपनी सहमति प्रकट की है यह कहा जा सकता है।

प्रस्तुत प्रसंग में इन उपर्युक्त मतो का विवेचन अपेक्षित है। सार रूप में यह समझना चाहिए कि **आनन्दवर्धन** का विचार है कि अग–अगी भाव रूप में रसों का निरूपण करने पर प्रधान रस का उत्कर्ष होता है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' नामक ग्रन्थ के तृतीय उद्योत में ही आगे प्रधान रस के साथ वर्णित विरोधी रस के विरोध परिहार का निरूपण किया है। रसों के परस्पर विरोध का निरूपण पूर्व प्रतिपादित है।[1] **ध्वनिकार** कहते हैं कि प्रधान रस का जो विरोधी रस एकाधिकरण मे विरोधी हो उसको पृथक् आश्रय मे वर्णित कर देना चाहिए इससे प्रधान रस के परिपोष में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।[2]

विरोधी रसों के प्रकार को प्रतिपादित करते हुए **मम्मट** ने उनके दो भेद किये हैं – एकाधिकरण में विरूद्ध तथा नैरन्तर्य से विरोधी।[3] एकाधिकरण्य में विरोधी रस भी दो भागों में विभक्त हो जाते हैं – आलम्बनऐक्य से विरूद्ध तथा आश्रयैक्य से विरूद्ध। **ध्वनिकार** ने आश्रयैक्य विरोधी रसों के परिहार की चर्चा यहा की है। उनका विचार है कि प्रधान वर्ण्य रस की दृष्टि से जो एकाधिकरण या आश्रय–विरोधी रस हो, उनका भिन्न आश्रय में ग्रहण कर लेना चाहिए। जैसे वीर व भयानक रस एक आश्रय में नहीं रह सकते। इसलिए वीर के आश्रयभूत कथानायक के विपक्षी अर्थात् शत्रु या प्रतिनायक में भयानक रस का सन्निवेश कर देना चाहिए।[4]

आचार्य आनन्दवर्धन ने विरोधी रस के भिन्न आश्रय में वर्णन किये जाने को प्रकृत रस परिपोषक ही माना है। वे कहते हैं कि प्रकृत रस के एकाश्रय में विरोधी रस का भिन्न आश्रय में वर्णन करना तथा उस विरोधी रस का परिपोषण करना भी दोष–पूर्ण नहीं होता है क्योंकि शत्रुगत भय का अतिशय वर्णन करने पर नायक के नीति, पराकम आदि का उत्कर्ष द्योतित होता है।[5]
वस्तुत. एक ही व्यक्ति में भय तथा उत्साह

---

१ *–द्रष्टव्य – प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, तृतीय अध्याय पृ० ११६–१२०।*

२. *विरूद्धैकाश्रयो यस्तु विरोधी स्थायिनोभवेत्।*
स विभिन्नाश्रय. कार्यस्तस्य पोषेऽप्यदोषता।।
– आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३/२५।

३. *एकाधिकरण्यविरोधी नैरन्तर्यविरोधीचेति द्विधो विरोधी।*
– वही, ३/२५ की वृत्ति।

४ *तत्र प्रबन्धस्थेन स्थायिनाङ्गिना सेनौचित्यापेक्षया विरूद्धैकाश्रयो यो विरोधी यथा वीरेण–भयानक. स विभिन्नाश्रयः कार्य.। तस्य वीरस्य य आश्रय. कथानायकस्तद्विपक्षविषये – सन्निवेषयितव्यः।*
– वही, ३/२५ की वृत्ति।

५. *तथा सति च तस्यविरोधिनोऽपि यः परिपोषः स निर्दोषः। विपक्षविषयेहि भयातिशयवर्णने– नायकस्य नयपराकमादिसम्पत् सुतरामुद्योतिता भवति।*
– वही, ३/२५ की वृत्ति।

उपस्थित नहीं हो सकता यह सामान्य सी बात है क्योंकि उत्साही व्यक्ति में यदि भय उत्पन्न हो गया तो वीर रस का उच्छेद हो जाता है। उसी प्रकार यदि भयभीत व्यक्ति में उत्साह उत्पन्न हो गया तो भयानक रस का बोध ही नहीं होगा। इसीलिए **ध्वनिकार** ने कहा है कि नायक में वीर रस का सन्निवेश करने पर प्रतिनायक मे भयानक रस का सन्निवेश करना चाहिए। इस प्रकार के वर्णन से दोष उपस्थित नहीं होता।

प्रधान रस की अपेक्षा विरोधी रस का उत्कृष्ट रूप से वर्णन करना यद्यपि दोषपूर्ण होता है तथापि प्रतिनायक के भय का अतिशय रूप से वर्णन करना दोष पूर्ण नहीं होता क्योंकि इससे नायक का उत्कर्ष ही प्रदर्शित होता है। इसलिए एकाश्रय में विरोधी रसों का भिन्न–भिन्न आश्रय में निरूपण करने से रस–विरोध उपस्थित नहीं होता।

प्रधान रस से एकाधिकरण में विरूद्ध रस का दूसरे आश्रयमें ग्रहण करने से वह प्रधान रस का अग हो जाता है।इस प्रकार अप्रधान रूप से वह प्रधान का ही उत्कर्ष करता है।

नैरन्तर्य रूप से प्रधान रस के विरूद्ध रस के अविरोध को दूर करने का उपाय भी **आचार्य आनन्द वर्धन** ने बताया है। उनका विचार है कि जिस रस के एक आश्रय में निबन्धन करने पर दोष नहीं है परन्तु अव्यवहित या अव्यवधान से एक ही काल में निरन्तर दोनों का निरूपण करना दोषपूर्ण होता है।उन दोनों प्रधान व अप्रधान के मध्य मे दोनो के अविरोधी रस के सन्निवेश के द्वारा उनको व्यवधान युक्त करके बुद्धिमान कवि को वर्णन करना चाहिए।[1]

ध्वन्यालोककार ने 'आलोक' वृत्ति में नैरन्तर्य रूप से विरूद्ध रसों के अविरोध को सुस्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि प्रबन्ध काव्य मे जो रस एकाधिकरण में विरोध रहित हैं, परन्तु नैरन्तर्य रूप से वर्णन करने में विरोधी हैं उनका दूसरे रस के व्यवधान से निबन्धन करना चाहिए।[2]

यहा **आलोककार** ने प्रबन्ध शब्द का उल्लेख किया है। **लोचनकार** का इस विषय में विचार है कि प्रबन्ध काव्य में इस प्रकार का वर्णन अधिक होता है इसलिए प्रबन्ध शब्द का प्रयोग किया गया है।[3] तृतीय उद्योतमेइस प्रसग में ही **आचार्य आनन्दवर्धन** ने कहा है कि इस प्रकार के निबन्धन से एक वाक्य में स्थित रसों का विरोध भी दूर हो जाता है।[4] इसको आगे सोदाहरण स्पष्ट किया गया है।

---

१ *एकाश्रयत्वे निर्दोषोनैरन्तर्ये विरोधवान्।*
रसान्तरव्यवधिना रसो व्यंग्यो सुमेधसा।।
– आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३/२६।

२ *य पुनरेकाधिकरणत्वे निर्विरोधो नैरन्तर्ये तु विरोधी स रसान्तरव्यवधानेन प्रबन्ध निवेशयितव्यः। यथा शान्त शृङ्गारौ नागानन्दे निवेशितौ।*
– वही, ३/२६ की वृत्ति।

३ *प्रबन्ध इति बाहुल्यापेक्षम्। मुक्तकेऽपि कदाचिदेव भवेदपि। [illegible] एकवाक्यस्थ्योऽपि– इति।*
– अभिनव गुप्त लो० टी० (का० मा०) पृष्ठ २१६।

४.क) *एकवाक्यस्थयोरपि रसयोरुक्तयानीत्या विरूद्धता निवर्तते।*
– आनन्दवर्धन, ध्वन्या, ३/२७ की वृत्ति।

ख) *द्रष्टव्य प्रस्तुत शोधप्रबन्ध, अध्यायपंचम, पृ० १६३*

आनन्दवर्धन ने नैरन्तर्य विरोध के अविरोध पूर्ण वर्णन के लिए **नागानन्द** नाटक को उद्धृत किया है।[1] इस नाटक मे जीमूतवाहन विषयक शान्त व शृङ्गार दोनो रसों का वर्णन किया गया है। परन्तु इन दोनो को एक साथ वर्णित न करके इनके मध्य अद्‌भुत रस का सन्निवेश किया गया है। **लोचनकार** ने इसका स्पष्ट निरूपण किया है।[2] **नागानन्द** नाटक में 'रागस्यास्पदमित्यवैमि न च मे ध्वन्सीति न प्रत्यय' इत्यादि से लेकर शखचूड की प्राण रक्षा के लिए गरूड को अपना शरीर समर्पित करने तक नायक जीमूतवाहन के शान्त रस का वर्णन किया गया है परन्तु मलयवती विषयक उसके शृङ्गार का वर्णन यहा शान्त रस विरोधी है। इन दोनों के मध्य इन दोनों के ही अविराधी अद्‌भुत रस का 'अहो गीतमहो वादित्रम्' आदि के द्वारा समावेश किया गया है। **लोचनकार** का विचार है कि 'व्यक्ति व्यञ्जनधातुना' आदि का वर्णन अद्‌भुत रस की पृष्टि के लिए किया गया है। इस प्रकार नैरन्तर्य विरोधी रसों के बीच में अविरोधी रस का सन्निवेश करके विरोध परिहार किया गया है।

आनन्दवर्धन ने इसी प्रकरण में शान्त रस की पृथक् सत्ता का विवेचन किया है। उल्लेखनीय है कि **भरतमुनि** ने शान्त रस की गणना रसों के साथ नहीं की है उन्होंने आठ स्थायी भावो मे भी शान्त रस के स्थायी भाव 'निर्वेद' का उल्लेख नहीं किया है। इन्होंने व्यभिचारी भावों में निर्वेद को परिगणित किया है। इसलिए कतिपयः **धनंजय** व **धनिक** आदि आचार्य शान्त को रस स्वीकार नहीं करते।[3] इसी सम्भावना से **आनन्दवर्धन** ने प्रकृत स्थल में शान्त रस का पृथक् रस के रूप में निरूपण किया है।

आलोककार कहते हैं कि तृष्णानाश से उत्पन्न सुख की परिपुष्टि रूप लक्षण या स्वरूप वाले शान्त रस की प्रतीति होती ही है इसीलिए कहा गया है– कि ससार में जो काम सुख है और जो अलौकिक महान सुख है ये दोनों तृष्णाक्षय रूप सुख की सोलहवीं कला के तुल्य भी नहीं है।[4]

जहा विषयों के प्रति पूर्णत अनासक्ति से उत्पन्न सुख का वर्णन होता है वहा शान्त रस होता है। विषयों के प्रति अनासक्ति या इच्छाओं की निवृत्ति से जो आनन्द प्राप्त होता है वह सहृदयों के द्वारा अनुभूत होता ही है इसमें कोई सन्देह नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि शान्त रस की सत्ता है। प्राचीन आचार्यों ने भी काम रूप पुरुषार्थ की सिद्धि से उत्पन्न लौकिक सुख तथा स्वर्गीय सुख को तृष्णाक्षय से उत्पन्न सुख की अपेक्षा हीन बताया है। इससे भी स्पष्ट होता है कि शान्त रस की अनुभूति होती है उसका निषेध नहीं किया जा सकता।

---

१. *यथा शान्तशृङ्गारौ नागानन्दे निवेशितौ।*
– तदेव, ध्वन्या० ३/२६ की वृत्ति।

२ *यथेति। तत्र हि राग स्यास्पदमित्यवैमि नहि मे ध्वन्सीति प्रत्यय.।*
इत्यादिनोपक्षेपात्प्रभृति परार्थशरीरवितरणात्मक निर्वाहणपर्यन्तः शान्तो रसस्तस्य–
विरूद्धो मलयवतीविषयः शृङ्गारस्तद्‌भयाविरूद्धमद्‌भुतमन्तराकृत्य कमप्रसरसम्भावनाभिप्रायेण –
य विना निबद्ध 'अहो गीतमहो वादित्रम्' इति। एतदर्थमेव व्यक्तिव्यञ्जनधातुना–इत्यादि –
नीरसप्रायमप्यत्र निबद्धमद्‌भुतरसपरिपोषकतयात्यन्तसरसतावहमिति।
– अभिनव गुप्त, लो० टी०, (का० मा०) पृ० २१६।

३. *–दशरूपक, ४/३६ तथा वृत्ति।*

४. *शान्तश्च तृष्णाक्षयसुखस्य यः परिपोषस्तल्लक्षणो रसः प्रतीयतएव। तथाचोक्तम् 'यच्च कामसुखं–*
लोके यच्च दिव्य महत् सुखम्'। तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशी कलाम्।।
– आनन्दवर्धन, ध्वन्या० (का० मा०) पृष्ठ–२१६–२२०।

उपर्युक्त विषय मे आलोककार पुन कहते हैं कि सर्वजनसाधारण को शान्त रस का अनुभव नहीं होता इसलिए शान्त रस की स्थिति नहीं माननी चाहिए ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि जो विशिष्ट अर्थात् अलोक सामान्य महापुरूष हैं वो शान्त रस का अनुभव करते हैं।[1] महापुरूषो की चित्तवृत्ति तृष्णानिवृत्ति रूप होती ही है इसलिए उनके अनुभव के आधार पर शान्त रस की सिद्धि होती है। इसे प्रतिक्षेपित नहीं किया जा सकता अर्थात् इसका निवे[illegible] नहीं किया जा सकता। इसकी स्थिति अवश्यभावी है यह तात्पर्य है।

लोचनकार ने इसी की व्याख्या करते हुए कहा है कि यदि यह शका उत्थापित होती है कि शान्त रस की प्रतीति होती है परन्तु वह सबको प्रिय नहीं होती इसलिए उसका इतना महत्त्व नहीं है तो यहा यह भी स्मरणीय है कि वीतरागी व्यक्ति को शृङ्गार में कोई आनन्द प्राप्त नहीं होता।[2] तात्पर्य यह है कि रसों की अनुभूति व्यक्तिगत होती है प्रत्येक व्यक्ति अपनी रूचि के अनुसार रसों का आनन्द प्राप्त करता है। रसिक व्यक्ति को शृङ्गार रस से पूर्ण वर्णन में आनन्द प्राप्त होता है तो सासारिक मोह–माया से मुक्त व्यक्ति को शान्त रस के पूर्ण वर्णन में आनन्दानुभूति होती है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने शान्त रस को महापुरूषों अथवा अलोक सामान्य की अनुभूति का विषय बताकर एक प्रकार से शान्त के उत्कर्ष रूप को ही द्योतित किया है।

शान्त रस के विषय में यह शंका भी उपस्थित होती है कि शान्त रस धर्म प्रधान होता है। इसलिए दयावीर मे इसका अन्तर्भाव करना समीचीन है। इस शका का समाधान करते हुए **आलोककार** कहते हैं कि वीर रस मे उसका अन्तर्भाव करना उचित नहीं है क्योंकि वीर रस अहकारमय रूप से स्थित होता है और शान्त रस की स्थिति अहकार प्रशम रूप में होती है।[3] इस प्रकार शान्त व वीर प्राय विरोधी से प्रतीत होते हैं क्योकि एक में अहकार ही प्रधान तत्त्व है तो दूसरे में अहकार शून्यता का अत्यधिक महत्त्व है। इसलिए वीर रस मे शान्त रस का अन्तर्भाव करना उचित नहीं है।

आनन्दवर्धन कहते हैं कि यदि वीर व शान्त रस में उपर्युक्त भेद रहते हुए भी उनकी एकता या एकरूपता को माना जाये तो वीर व रौद्र को भी एक ही मानना होगा।[4] वस्तुत रौद्र तथा वीर दोनों मे अहकार की प्रधानता होती है।यदि अहकारयुक्त तथा अहंकार रहित वीर तथा शान्त रस में ऐक्य की कल्पना की जा सकती है तो रौद्र व वीर को भी एक मानने में कोई विघ्न या आपत्ति नहीं हो सकती। रौद्र व वीर की तो अनायास ही ऐक्यता सम्भव हो जायेगी क्योंकि दोनों का स्वरूप प्रायः एक सा है। परन्तु ऐसा होता नहीं है। इससे तो रसों के भेद की व्यवस्था ही नष्ट हो जायेगी।

---

१ *यदि नाम सर्वजनानुभवगोचरता तस्य नास्ति नैतावताऽसावलोक सामान्य महानुभाव–चित्तवृत्तिविशेषः प्रतिक्षेप्तु शक्यः।*

– आनन्दवर्धन, ध्वन्या, ३/२६ की वृत्ति।

२ *ननु प्रतीयते सर्वस्य श्लाघास्पद न भवति। त[illegible]णां शृङ्गारो न स लाघा इति सोऽपि–रस[illegible]व्यवता[illegible]ति तदाह–यदिनामेति।*

– अभिनव गुप्त, लो० टी० (का० मा०) पृ० २२०।

३ *न च वीरे तस्यान्तर्भाव कर्त्तु युक्तः। तस्याभिमानमयत्वेन व्यवस्थापनात्। अस्य चाहकार – प्रशमैकरूपतया स्थिते।*

– आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३/२६ की वृत्ति।

४ *[illegible]विशेषसद्भावेऽपि यद्यैक्य परिकल्पते त[illegible]न्योरपि तथा प्रसग।*

– वही, ३/२६ की वृत्ति।

प्रकृत स्थल मे **आचार्य आनन्दवर्धन** ने यह भी प्रतिपादित किया है कि दयावीर आदि चित्तवृत्तियाँ यदि अहकार से रहित हो तब उसे शान्त रस का भेद कहा जा सकता है और अहकारयुक्त होने पर तो वे वीर रस का ही प्रभेद रहती हैं। ऐसी व्यवस्था करने से उनमे कोई विरोध नहीं होगा।[1]

वीर रस के सभी भेदो मे से मात्र दयावीर का ही यहा उल्लेख किया गया है। **लोचनकार** ने इस विषय मे कहा है कि– **भरतमुनि** ने वीर रस के दानवीर, धर्मवीर तथा युद्धवीर ये तीन ही मुख्य भेद माने हैं। इसका तात्पर्य यह है कि दयावीर कदाचित् शान्त रस मे अन्तर्भावित हो सकता है।[2] वस्तुत यदि दया वीर मे पुण्यफल आदि की भावना हृदय मे न हो, अनासक्तभाव से दया की जाय तो दयावीर शान्तरस का भेद हो सकता है। इसमे कोई विरोध नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि शान्त रस है तथा विरोधी रस का समावेश रहने पर भी अविरूद्ध रस के व्यवधान से प्रबन्ध मे उसका निबन्धन करने पर रस–विरोध उपस्थित नहीं होता जैसा कि 'नागानन्द' नाटक मे बताया गया है। यहा यह भी उल्लेखनीय है कि रसों के विरोध तथा अविरोध का विवेचन रस अध्याय मे ही करने योग्य था परन्तु रस दोष परिहार से साक्षात् सम्बद्ध होने के कारण यहा पुनः इस पर विचार किया गया।

विरोधी रसो मे अविरोधी रस द्वारा व्यवधान उपस्थित करके अविरोध का सम्पादन किया जा सकता है उपर्युक्त पङ्क्तियो से यह स्पष्ट होता है। इसी तथ्य को स्थिर या दृढ करने के लिए **ध्वनिकार** कहते हैं कि एक वाक्य मे स्थित होने पर भी दूसरे अविरोधी रस से व्यवधानयुक्त दो विरोधी रसों का समावेश होने पर उनका विरोध समाप्त हो जाता है।[3]

उल्लिखित कारिका की वृत्ति मे **आनन्दवर्धन** कहते हैं कि दूसरे रस से व्यवधान हो जाने पर प्रबन्ध में स्थित विरोधी रसो का विरोध भी मिट जाता है, इसमे किसी प्रकार का भ्रम नहीं है क्योंकि उपर्युक्त नीति से एक वाक्यस्थ रसो का भी विरोध नहीं रहता है।[4] तात्पर्य यह है कि जब एक वाक्य में भी विरोध समाप्त हो सकता है तो प्रबन्ध मे विरोध होने की कोई सम्भावना ही नहीं है। पूर्वोक्त 'एकाश्रयत्वे०' इस कारिका के आधार पर एक वाक्य में भी पूर्वोक्त रीति से अविरोध उत्पन्न हो सकता है। इसलिए प्रबन्ध में तो अवश्य ही पूर्वोक्त रीति से अविरोध उपस्थित हो सकता है।

---

१. *दयावीरादीना तु चित्तवृत्तिविशेषाणा सर्वाकारमहकार रहितत्वेन शान्तरसप्रभेदत्व इतरथा तु– वीररसप्रभेदत्वमिति व्यवस्थाप्यमाने न कश्चिद् विरोधः।*
– वही, ३/२६ की वृत्ति।

२ *तथा च मुनि– 'दानवीर धर्मवीर युद्धवीरं तथैव च। दयावीरमपि प्राहब्रह्मा त्रिविधसमतम्।।' इत्यागमपुर सर त्रैविध्यमेववाभ्यधात्।*
– अभिनव गुप्त, लो० टी० (का०मा०) पृ० २२१।

३. *रसान्तरान्तरितयोरेकवाक्यस्थयोरपि।*
निवर्तते हि रसयो समावेश विरोधिता।।
– आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३/७।

४ *रसान्तरव्यवहितयोरेक प्रबन्धस्थयो विरोधिता निवर्तत इत्यत्र न काचिद् भ्रान्ति। यस्मादेकवाक्यस्थयोरपि रसयोरुक्तया नीत्याविरूद्धता निवर्तते।*
– आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३/२७।

एक वाक्य में भी स्थित विरोधी रसों के अविरोध को दूर करने के लिए उनके मध्य अविरोधी रस का सन्निवेश करना चाहिए इसे स्पष्ट करने के लिए **आनन्दवर्धन** ने छन्द प्रस्तुत किये हैं। जो द्रष्टव्य –

'भूरेणुदिग्धान्[illegible]ध्या ।
गाढ शिवाभि· परिरम्यमाणान् सुराङ् गनाश्लिष्टभुजान्तराला· ।।
सशोणितै· कव्यभुजा स्फुरद्भि· पक्षैः खगानामुपवीज्यमानात् ।
सवीजिताश्चन्दन वारिसेकै सुगन्धिभि क[illegible]दुकूलैः ।।
विमानपर्यङ् कतले निषण्णा· कुतूहलाविष्टतया तदानीम् ।
निर्दिश्यमानान् ललनाङ् गुलीभिर्वीरा· स्वदेहान् पतितानपश्यम् ।।'

अर्थात् 'नवीन पारिजातमाला के पराग से सुरभित वक्षस्थलवाले,, सुराङ् गनाओं से आलिङ् गत वक्षस्थलवाले, चन्दनजल से सिक्त सुगन्धित कल्पलता के बने दुकूलों द्वारा पखा किये जाते हुए विमान के पलङ् गों पर बैठे हुए युद्ध में मारे गये वीरो ने कौतुहलवश ललनाओं (देवाङ्,नाओं) द्वारा अंगुलियों से दिखाये जाते हुए पृथ्वी की धूल में सने, सियारिनों से लिपट, मांसभक्षी पक्षियों के रक्त से सने हुए तथा हिलते हुए पखों से हवा किये जाते रणक्षेत्र में पडे अपने–अपने शरीरों अर्थात् शवों को देखा।'

प्रस्तुत विशेषक[1] में 'वीराः', 'कर्त्ता' तथा 'देहान्' कर्म है। 'भूरेणुदिग्धान्' आदि कर्म के विशेषणो तथा 'नवपारिजात' आदि कर्त्ता के विशेषणों को क्रमश· ग्रहण किया गया है। 'भुरेणुदिग्धान्' से बीभत्स रस तथा 'नवपारिजातमाला·' से शृंगार रस की प्रतीति होती है। सम्पूर्णवाक्य में बीभत्स तथा शृङ्गार रस का वर्णन किये जाने से वीर रस का व्यवधान प्रतीत नहीं होता परन्तु इन दोनों विशेषणों के विशेष्य के द्वारा वीर रस की अभिव्यक्ति होती है; क्योंकि युद्ध स्थल में मृत पडे हुए शरीरों से युद्ध के प्रति वीरों के उत्साह का बोध होता है तथा युद्ध में मृत्यु के परिणामस्वरूप स्वर्गलाभ की प्राप्ति भी रणोत्साहमूलक ही है। इससे वीर रस की अभिव्यक्ति होती है। वीभत्स तथा शृङ्गार रस नैरन्तर्य से विरोधी है उनके मध्य वीर रस का व्यवधान होने से यहां उनका अविरोध प्रकट होता है।

आचार्य मम्मट ने प्रस्तुत विशेषक को उद्धृत किया है।[2] 'काव्य प्रकाश' की **बालबोधिनी** टीका में कहा गया है कि यहा पहले वीभत्स, फिर वीर तत्पश्चात् शृङ्गार तथा उसके पश्चात् पुन· वीर रस की अभिव्यक्ति होती है जिससे रस–विरोध दूर हो जाता है।[3]

ध्वनिकार ने कहा है कि यहां शृङ्गार और वीभत्स अथवा उनके अंगों अर्थात् रति व जुगुप्सा आदि स्थायी भावो का वीर रस के व्यवधान से समावेश विरूद्ध नहीं है।[4]

---

१ *द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभ श्लोकैर्विशेषकम्।*
कलापकं चतुर्भि· स्यान्तदूर्ध्वं कुलक स्मृतम्।।
– वामन, झलकीकार, बालबोधिनी टीका, प्रथम संस्करण पृष्ठ – १५५।

२ *–मम्मट, का० प्र०, ७/६४ की वृत्ति।*

३ *एव च प्रथमतो बीभत्सः, ततो वीरः, ततश्च शृङ्गारः ततः पुनर्वीरः इति व्यवधानम्।*
–बा० बो०, पृ०–४५२।

४ *अत्र हि [illegible]भत्सयोस्तदङ् गयोर्वा वीररस व्यवधानेन समावेशो न विरोधी।*
– आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३/२७ की वृत्ति।

इस प्रकार **आलोककार आनन्द वर्धन** ने रसों के परस्पर विरोध को दूर करने के उपायों का निरूपण किया है। मुक्तक तथा प्रबन्ध काव्य दोनो में ही विरोधी रसों का विशेष रूपेण निबन्धन करने से रस-विरोध दूर हो सकता है। प्रस्तुत विवेचन से यह भी स्पष्टतया ज्ञात होता है।

रसो के विरोध को दूर करने के उपायो का प्रतिपादन करने के पश्चात् **ध्वनिकार** ने विशेषत शृङ्गार रस में इसका ध्यान रखने का निर्देश दिया है।[1] उनका विचार है कि शृङ्गार सुकुमारतम अर्थात् सभी रसो मे सर्वाधिक सुकुमार होता है। यह किंचित् भी विरोध को सहन नहीं कर सकता। इसलिए इस रस का वर्णन करते समय विरोध-अविरोध का विशेष ध्यान रखना चाहिए।[2]

आचार्य आनन्दवर्धन का विचार है कि शृङ्गार रस के वर्णन या निरूपण मे कवि के द्वारा किया गया तनिक सा भी प्रमाद तत्काल ही ज्ञात हो जाता है। कवि को शृङ्गार रस का प्रतिपादन करते समय पर्याप्त प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि शृङ्गार रस में किंचित् भी असावधानी करने से कवि सहृदय विद्वानों के मध्य तिरस्कृत होता है।[3]

आलोककार पुन कहते हैं कि शृङ्गार रस सभी के अनुभव का विषय होता है। सांसारिक व्यक्तियों को शृङ्गार का निश्चित रूप से अनुभव होता है इसलिए वह सौन्दर्य की दृष्टि से प्रधानतम है। तात्पर्य यह है कि सभी सासारिक व्यक्तियों की शृङ्गार रस में अभिरूचि होती है वह प्राय. सर्वप्रिय होता है इसलिए अन्य रसों की अपेक्षा वह अधिक सौन्दर्यशाली होता है।

सभी रसों की अपेक्षा शृङ्गार रस अधिक कमनीय तथा रूचिकर होता है। इसलिए **ध्वनिकार** कहते हैं कि शिष्यों को शिक्षणीय विषयों में प्रवृत्त करने के लिए अथवा काव्य की शोभा के लिए शृङ्गार के विरोधी शान्त आदि रसों के वर्णन में शृङ्गार के विभाव आदि का सन्निवेश करना दोष-पूर्ण नहीं होता है।[4]

'अविरोधी विरोधी वा०'[5] इत्यादि कारिकाओं में विरूद्ध रसों के अविरोध का निर्देश दिया गया था यहा पुन अविरोध को प्रदर्शित करने के लिए दो अन्य उपायों का उल्लेख **ध्वनिकार** ने किया है। शृङ्गार के व्यभिचारी आदि का शृङ्गार विरोधी शान्तादि रसों के साथ वर्णन पूर्वोक्त रीति से ही निर्दुष्ट नहीं होता वरन्

---

१. *विरोधमविरोधं च सर्वत्रेत्थं निरूपयेत्। विशेषस्तु शृङ्गारे सुकुमारतमो ह्यसौ।।*
-तदेव, ध्वन्या, ३/२८।

२. *स हि रतिपरिपोषात्मकत्वाद्रतेश्च स्वल्पेनापिनिमित्तेन भङ्गसम्भवात्सुकुमारतमः सर्वेभ्यो रसेभ्यो-मनागपि विरोधिसमावेशं न सहते।*
- वही ३/२८ की वृत्ति।

३. *अव[illegible]न् रसे तत्रैव संत्कविः।*
भवेत् तस्मिन् प्रमादो हि झटित्येवोपलक्ष्यते।।
तत्रैव च रसे सर्वेभ्योऽपि रसेभ्यः सौकुमार्यातिशय -
योगिनि कविरवधानवान् प्रयत्नवान् स्यात्। तत्र हि प्रमाद्यतस्तस्य सहृदयमध्ये -
क्षिप्रमेवावज्ञानविषयता भवति।।
- वही, ३/२९ तथा वृत्ति।

४ *विनेयानुन्मुखीकर्तुंकाव्यशोभार्थमेव वा। तद्विरूद्धरस स्पर्शस्तदङ्गाना न दुष्यति।।*
- वही, ३/३०।

५ *-आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक ३/२४, २५,२६।*

शिष्यो को शिक्षणीय विषयो के प्रति आकृष्ट करने तथा काव्य की शोभा–वृद्धि के लिए भी शृङ्गार रस के व्यभिचारी आदि भावो का शृङ्गार विरूद्ध रसों में ग्रहण किया जाता है ऐसा **ध्वनिकार** का विचार है।[1]

उल्लेख्य है कि शिष्यों को उन्मुख करने तथा काव्य शोभा के लिए ये दो उपाय पूर्वोक्त अविरोधी विरोधी आदि कारिकाओ मे बताये गये विरोधी रसो के अविरोध के उपायों से पृथक् दो अन्य उपाय हैं परन्तु ये उपाय केवल शृङ्गार रस के निबन्धन की दृष्टि से बताये गये हैं। सभी रसों के निबन्धन से इन उपायों का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। शृङ्गार की अन्य रसों से विशिष्टता का प्रतिपादन करते हुए **आनन्द वर्धन** ने प्रस्तुत उपायों का निर्देश दिया है। इस प्रकार **आनन्दवर्धन** ने विशेषत शृङ्गार रस के अगों का इसके विरोधी रसो के साथ सन्निवेश करने से उत्पन्न विरोध को दूर करने के लिए दो नवीन उपायों की कल्पना की है।

शृङ्गार के विरोधी रसों में शृङ्गार के विभाव आदि का स्पर्श दोषपूर्ण नहीं होता है **ध्वनिकार** के प्रस्तुत विचार की व्याख्या करते हुए **लोचनकार** ने कहा है कि शान्त रस आदि के विभाव आदि का भी शृङ्गार रस की शैली से निरूपण करना चाहिए।[2] उनका इस प्रकार वर्णन हो कि वे शृङ्गार के विभावादि जैसे प्रतीत होने लगे।[3] ऐसा **बाल प्रिया** टीका के रचनाकार **महादेव शास्त्री** महोदय का विचार है। तात्पर्य यह है कि शान्त आदि शृङ्गार रस–विरोधी रसों का वर्णन करते समय शान्तादि रस के विभावों को इस प्रकार ग्रहण करना चाहिए कि वे एक प्रकार से शृङ्गार रस के विभावादि के समान प्रतीत हों। इससे शृङ्गार रस का स्पर्श मात्र होने से काव्य आकर्षक हो जाता है।

प्रस्तुत प्रसग में **लोचनकार** ने एक स्वरचित छन्द उद्धृत किया है जो द्रष्टव्य है –

'त्वा चन्द्रचूडं सहसा स्पृशन्ती प्राणेश्वरं गाढवियोगतप्ता।
सा चन्द्रकान्ताकृतिपुत्रिकेन सम्विद्विलीयापि विलीयते मे।।[4]

---

१ *शृङ्गारविरुद्धरस स्पर्श। शृङ्गाराङ्गाणां यः स न केवलमविरोधलक्षणयोगे सति न–दुष्यति, यावद , विनेयानुन्मुखीकर्त्तुं काव्यशोभार्थमेव वा क्रियमाणो न दुष्यति।*
–ध्वन्या, ३/३० की वृत्ति।

२ *तया भङ्ग्या रसान्तरगता अपि विभावानुभावाद्या वर्णनीया यया शृङ्गाराङ्गभावमुपागमन्।*
–अभिनव गुप्त, लो० टी० (का०मा०) पृ० २२२।

३ *यया शृङ्गाराङ्गभावमुपागमन्निति। यया भङ्ग्या वर्णनया [illegible] प्राप्नुवन्तो भवन्तीत्यर्थः।*
– बाल प्रिया टीका, पृ० – ३६७।

१ *–अभिनव गुप्त, लो० टी० (का० मा०) पृ० २२२।*

यहा शान्त रस प्रधान रूप से व्यग्य है। शान्त के विभावादि का शृङ्गार की पद्धति से निरूपण किया गया है। इस प्रकार निरूपण करने से यह सहृदयो को अधिक रूचिकर प्रतीत होता है। यदि सामान्यत शान्त रस की ही पद्धति से इसका निरूपण किया गया होता तो यह वर्णन उतना उत्कर्षक न होता। इससे स्पष्ट होता है कि विरोधी रसो मे शृङ्गार के किचित् स्पर्श से काव्य शोभा बढ जाती है।

विश्वेश्वर ने प्रस्तुत छन्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि– इस श्लोक मे चन्द्रचूड शिव की स्तुति है शृङ्गार की पद्धति मे चन्द्रचूड शिव को पति, और अपनी बुद्धिवृत्ति को चन्द्रकान्त मणि से निर्मित पुतली के समान सुन्दर, अपनी अर्थात् स्तोत्र रचयिता की पुत्री तथा शिव की पत्नी रूप माना गया है। वह बुद्धिवृत्ति प्रियतम शिव से बहुत काल से वियुक्त होने के कारण अत्यन्त वियोग सन्तप्ता है। शिव के ध्यान में तनिक देर के लिए चित्त एकाग्र होने से चन्द्रचूड शिव का स्पर्श पाकर वह तदाकारापन्न होने से स्वरूपविहीन, पति के आलिगन मे सर्वात्मना विलीन सी होकर चन्द्रचूड़ के स्पर्श से द्रवित होकर चन्द्रकान्तपुत्तलिका के समान विलीन हो जाती है।[१]

प्रकृत स्थल में यह उल्लेखनीय है कि यहा **लोचनकार** के छन्द में शान्त ही प्रधान व्यग्य है, शृङ्गार नहीं। शान्त रस के विभाव आदि का इस प्रकार वर्णन किया गया है कि वे शृङ्गार के विभावादि के समान प्रतीत होते हैं। बुद्धिवृत्ति को एक वियोगिनी नायिका के रूप में वर्णित किया गया है परन्तु यहा शृङ्गार की तनिक भी अभिव्यजना नहीं होती है।

ध्वनिकार का विचार है कि विरोधी रसों में शृङ्गार के स्पर्श का प्रयोजन अथवा उद्देश्य शिष्यों को पठनीय विषयों के प्रति आकृष्ट करना है। वे कहते हैं कि शिष्यगण शृङ्गार रस के अगों अर्थात् विमावादि द्वारा प्रवृत्त कराये जाने पर सदाचार के उपदेशों को आनन्दपूर्वक ग्रहण कर लेते हैं। मुनियों ने शिक्षणीय जनो के हित के लिए ही सदाचारोपदेश रूप नाटकादि गोष्ठी की अवतारणा की है।[१]

शिष्यों को यदि सदाचार परक उपदेश देते समय उनमें शृङ्गार का पुट दे दिया जाय तो वे उपदेश उन शिष्यो को रूचिकर प्रतीत होते हैं। इसी स्थान पर यदि उन उपदेशों को शास्त्र सम्मत दृष्टि से मात्र शान्त रस से सबद्ध विभावादि के द्वारा प्रस्तुत किया जाये तो शिष्यों को उन उपदेशों को सुनने में वह रूचि नहीं होगी।

आनन्दवर्धन ने उपर्युक्त कथन को पुष्टि करते हुए कहा है कि मुनिगण अर्थात् **भरतमुनि** आदि ने शिष्यों को उपदेश देने के लिए नाटकादि को माध्यम बनाया है। तात्पर्य यह है कि साहित्य कान्तासम्मित उपदेशक होता है। उपदेशादि को भी सरस बनाकर प्रस्तुत करने से उसके प्रति ध्यान शीघ्र आकृष्ट होता है तथा उसे ग्रहण करने में भी रूचि उत्पन्न होती है। इसी बात को ध्यान में रखकर **भरत** आदि मुनियों ने सदाचारपरक उपदेश देने के लिए सदाचार उपदेशमूलक नाटकों का निरूपण किया है जिससे शिष्य इन्हें भलीभाति सीख सकें। यह अनुभव सिद्ध है कि 'सदा सत्य बोलो' आदि उपदेशपरक वाक्यों को बारम्बार कहने से उनका ग्रहण उतने शीघ्र नहीं होता जितना नाटकादि द्वारा इन्हें व्यक्त करने पर। नाटकादि में अभिनीत चरित्रो के द्वारा व्यक्ति स्वत. वैसा होने की प्रेरणा प्राप्त करता है।

---

१ –विश्वेश्वराचार्य कृत ध्वन्यालोक की हिन्दी व्याख्या पृष्ठ–२४२।

२ शृङ्गार रसाङ्गैरुन्मुखीकृता सन्तो हि विनेयाः सुखं विनयोपदेशान् गृह्णन्ति। सदाचारोपदेशरूपा हि नाटकादिगोष्ठी, विनेयजनहितार्थमेव मुनिभिरवतारिता।
– आनन्द वर्धन, ध्वन्या०, ३/३० की वृत्ति।

विवेच्य ध्वनिकारिका में स्थित 'काव्यशोभार्थमेव' की व्याख्या करते हुए **आनन्दवर्धन** कहते हैं कि शृङ्गार सबके मन को हरण करने वाला तथा सुन्दर होने से उसके अंगों का समावेश काव्य में सौन्दर्य की अतिशय वृद्धि करने वाला होता है, इस प्रकार भी विरोधी रस में शृङ्गार का समावेश विरोधी नहीं है।[1]

लोचनकार का विचार है कि 'शोभातिशय को पुष्ट करना' **ध्वनिकार** के इस कथन का तात्पर्य है कि शृङ्गार के विभाव आदि का विरोधी रस के साथ ग्रहण करने से उपमादिविशेष अलकारों का पोषण होता है अर्थात् शृङ्गार का इस प्रकार का वर्णन अलकारों की सुन्दरता को बढा देता है। काव्य शोभा को अतिशयित करने वाले धर्म ही अलकार कहे जाते हैं।[2]

शृङ्गार के विभावादि का विरोधी रसों में शृङ्गार की शैली से निरूपण करने से काव्य की शोभा बढ जाती है यह पहले भी प्रतिपादित किया जा चुका है।

प्रस्तुत अविरोध को स्पष्ट करते हुए **आलोककार** एक छन्द उद्धृत किया है जो द्रष्टव्य है –

'सत्य मनोरमा रामा सत्यं रम्या विभूतय ।
कि तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोल हि जीवितम् ।।

अर्थात् 'यह उचित है कि स्त्रियाँ बडी मनोरम होती हैं यह भी उचित है कि ऐश्वर्य बहुत रमणीय होता है, परन्तु जीवन तो मतवाली स्त्री के कटाक्ष के समान अत्यन्त अस्थिर है।'

प्रकृत उदाहृत छन्द में शान्त रस मुख्यत व्यग्य है। 'मनोरमा', 'रामा' शृङ्गार रस का आलम्बन विभाव है तथा मत्ताङ्गना का कटाक्ष शृङ्गार रस का अनुभाव है परन्तु इन दोनों का ग्रहण करने से भी शृङ्गार की प्रतीति यहा नहीं होती। मताङ्गना के कटाक्ष रूप अनुभाव की अस्थिरता का उपमान रूप में ग्रहण किया है। इससे जीवन की अस्थिरता की तुलना की गयी है। इससे स्पष्ट होता है कि जिस जीवन के लिए मनोहर स्त्री या ऐश्वर्य की कामना की जा रही है वह जीवन ही अत्यन्त अस्थिर है। जब जीवन ही अस्थिर है तो रमणीय स्त्री आदि का क्या प्रयोजन। इस प्रकार शृङ्गार के अंगों के स्पर्श से यहा शिष्यों को वैराग्य का विषय भली–भाति समझ में आता है।

लोचनकार ने कहा है कि प्रियतमा का कटाक्ष सभी को अभिलषित होता है। उसमें प्रवृत्ति जागृत करके शिष्यों को उसी प्रकार वैराग्य विषय की ओर आकृष्ट किया जा सकता है जिस प्रकार कटु औषधि को गुड़ मिलाकर सरलतापूर्वक बालकों को खिलाया जा सकता है।[3]

---

१ *किञ्चशृङ्गारस्य सकलजनमनोहराभिरामत्वात् तदङ्गसमावेश काव्ये शोभातिशयपुष्णातीत्यनेनापि – प्रकारेण विरोधिनि रसे शृङ्गाराङ्ग समावेशो न विरोधी।*
— आनन्द वर्धन, ध्वन्या०, ३/३० की वृत्ति।

२ *शोभातिशयमिति। अलङ्[illegible] पुष्यति सुन्दरीकरोतीत्यर्थः। यथोक्तम् 'काव्यशोभायाः– कर्त्तारो धर्मा गुणास्तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा' इति।*
—अभिनव गुप्त, लो० टी० (का० मा०) पृ० २२३।

३ *प्रियतमा कटाक्षो हि [illegible]य इति च तत्प्रीत्या प्रवृत्तिमान् गुडजिह्विकया – प्रसक्तानुप्रसक्तवस्तुतत्त्व सम्वेदनेन वैराग्ये पर्यवस्यति विनेयः।*
—अभिनव गुप्त, लो० टी० (का० मा०) पृ० २२३।

यह भी उल्लेख्य है कि 'सत्य मनोरमा०' इस छन्द में शृङ्गार के विभाव आदि के ग्रहण से काव्य–शोभा में भी वृद्धि होती है। यहा शान्त रस के विभाव का शृङ्गार की शैली में कथन नहीं किया गया है। परन्तु उपमान रूप में शृङ्गार के अनुभाव का ग्रहण काव्य शोभा में वृद्धि करता है। ध्यातव्य है कि **लोचनकार** ने कहा है कि शान्त आदि विरोधी रसों के विभावादि का शृङ्गार की पद्धति से निरूपण करने पर काव्य शोभा वृद्धि होती है।

लोचनकार ने प्रस्तुत प्रसग में कहा है कि यहा जगत की अनित्यता रूप शान्त रस के विभावों का वर्णन करते हुए किसी विभाव का शृङ्गार की पद्धति से निबन्धन नहीं किया गया है परन्तु 'सत्य' इस शब्द से मानो दूसरे के हृदय मे प्रवेश कर कवि कहना चाहता है कि मैं वैराग्य के प्रति असत्य रूप से या व्यर्थ ही रूचि प्रकट नहीं कर रहा हू अपितु जिस जीवन के लिए रामा आदि की कामना की जा रही है वह जीवन ही अस्थिर या चल है।[1]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि विरोधी रसों के साथ शृङ्गार के अगों का किसी भी प्रकार से कथन करना काव्य में चमत्कार का आधान करता है। इसमें किसी भी प्रकार का विरोध या दोष उपस्थित नहीं होता है यह **ध्वनिकार** का विचार है।

आचार्य मम्मट ने रस–दोष परिहार के प्रकरण में 'सत्यमनोरमा०' छन्द को प्रस्तुत करके **आनन्द वर्धन** के तद् सम्बद्ध मत का खण्डन किया है जिसका विवेचन **मम्मट** के मत के निरूपण के समय किया जायेगा।

विरोधी रसो के अविरोध का निरूपण करने के पश्चात् अन्त में **आनन्दवर्धन** उपसंहार करते हुए कहते हैं कि इस प्रकार पूर्वोक्त रीति से रस, भाव आदि के विरोध तथा अविरोध के विषय को समझकर प्रतिभाशाली सत्कवि को काव्य रचना करते समय कभी भ्रम में नहीं पडना चाहिए।[2] तात्पर्य यह है कि रसों मे स्थित विरोध को दूर करने के जिन उपायों का **ध्वनिकार** ने प्रतिपादन किया है उनका परिशीलन करके एक रस सिद्ध या रस में निपुण कवि को काव्य–रचना करते समय इन सबका सावधानीपूर्वक निर्वाह करना चाहए। उसे रसों के विरोध या अविरोध के विषय में कभी भ्रमित होकर दोषपूर्ण रचना नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार **ध्वनिकार** ने अपने पूर्वोक्त निरूपण का प्रयोजन भी सिद्ध या प्रदर्शित किया है।

---

१. *अत्र हिशान्तविभावे सर्वस्यानित्यत्वे वर्ण्यमाने न कस्यचिद्विभावस्य शृङ्गारभङ्गया निबन्धः- कृतः, किंतु सत्यमिति परहृदयानुप्रवेशेनोक्तं, न खल्वलीक वैराग्य कौतुकरूचिं प्रकटयाम,- अपि तु यस्य कृते सर्वमभ्यर्थ्यते तदेवेदं चलमिति,*
— तदेव, लो० टी० (का० मा०) पृ० २२३।

२ *विज्ञायेत्थ रसादीनामविरोधविरोधयोः।*
विषयं सुकविः काव्य कुर्वन्मुह्यति न क्वचित्।।
इत्थमनेनानन्तरोक्तेन प्रकारेण रसादीनां रसभावतदाभासाना परस्परं विरोधस्या विरोधस्य च - विषयं विज्ञाय सुकविः काव्यविषये प्रतिभातिशययुक्त काव्यं कुर्वन् न क्वचिन्मुह्यति।
— आनन्द वर्धन, ध्वन्या० ३/३१ तथा वृति।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने रस–विरोधी तत्त्वो में सर्वप्रथम परिगणित 'विरोधी रस सम्बन्धी विभावादि–परिग्रह' रूप रस–विरोधी तत्त्व के परिहार का विस्तृत रूप से विवेचन किया है यह प्रतिपादित किया गया। वस्तुत विरोधी रसों का काव्य में सन्निवेश अत्यन्त उद्[illegible] होता है। अत इनके परिहार पर विचार करना सर्वथा अपेक्षित था। विरोधी रसो का किस प्रकार समावेश किया जाय कि ये दोष उपस्थित न हो यह भी अत्यन्त विचारणीय विषय था। इसलिए **ध्वनिकार** ने सूक्ष्म दृष्टि से इसका विवेचन किया है। इनका यह विवेचन परवर्ती काव्यशास्त्रकारों के लिए एक प्रकार से उपजीव्य बन गया है।

ध्वनिकार के एतत् सम्बन्धी विचारों का अनुशीलन करने से स्पष्ट होता है कि रस विरोधी तत्वो में से एक तत्व के परिहार का निरूपण **ध्वनिकार** को अपेक्षित था। वस्तुत. विचार करने से स्पष्ट होता है कि अन्य विरोधी तत्त्वों का यत्किचित् प्रयास से ही परिहार हो सकता है परन्तु प्रधान–रस के विरोधी रसों का परिहार इतना सरल कार्य न था। इसलिए **आनन्दवर्धन** ने इस विषय को स्पष्ट करने का पूर्ण प्रयास किया है।

ध्वनिकार ने प्रधान रस के विरोधी रसों को समायोजित करने के उपायों का निर्देश करते हुए एक ही नहीं वरन् दो विरोधी रसों के भी अविरोध को सोदाहरण प्रस्तुत किया है।

उल्लेखनीय है कि **आनन्दवर्धन** ने बाध्यत्व तथा अगत्व रूप से प्रधान रस के विरोधी रसों के अविरोध का प्रतिपादन करने के पश्चात् आश्रयैक्य तथा नैरन्तर्य से विरोधी रसों के अविरोध का भी निरूपण किया है।

परवर्ती काव्यशास्त्रकार **मम्मट** ने कतिपय स्थलों पर **ध्वनिकार** से अपना मत वैभिन्न प्रकट किया है किन्तु यह नि सन्देह कहा जा सकता है कि **मम्मट** का रस–दोष परिहार प्रकरण **आनन्दवर्धन** पर ही आधृत है। यथा स्थल इस विषय पर विचार किया जायेगा।

आचार्य आनन्दवर्धन के पश्चात् कवि सम्बद्ध रस–विरोधी तत्त्वों के परिहार का निरूपण **मम्मट** ने किया है। ध्यातव्य है कि **आनन्दवर्धन** के 'रस–विरोधी तत्त्व' ही **मम्मट** के 'रस–दोष' हैं।

आचार्य मम्मट ने विरोधी रस के विभावादि के ग्रहण में अदोषता का प्रतिपादन करने के साथ ही 'व्यभिचारी भाव की स्वशब्दवाच्यता' की अदुष्टता का भी निरूपण किया है। उल्लेखनीय है कि व्यभिचारी रस तथा स्थायी भाव की स्वशब्द वाच्यता रूप दोष **मम्मट** की मौलिक कल्पना है। 'प्रतिकूल विभावादि ग्रह' में अदुष्टता का प्रतिपादन करने के पश्चात् इन्होंने रसों के परस्पर विरोध को दूर करने के लक्ष्यों पर भी विचार किया है।

सर्वप्रथम 'व्यभिचारी भाव की स्वशब्दवाच्यता' की अदुष्टता का निरूपण **मम्मट** ने किया है। उनका विचार है कि–कहीं–कहीं स्ववाचक शब्द से कहा गया व्यभिचारी भाव भी दोष–पूर्ण है केवल व्यभिचारी भाव का स्वपदेन कथन कहीं–कहीं दोष नहीं होता।[1]

'क्वचित्' पद की व्याख्या करते हुए **बाल बोधिनीकार** कहते हैं कि जिन व्यभिचारियों के विलक्षण या असाधारण अनुभावादि सम्भव नहीं है उनका स्वशब्द से कथन दोष नहीं है। टीकाकार के इस कथन का आधार **मम्मट** का उदाहरण तथा उस पर लिखी गयी वृत्ति है। **मम्मट** ने इस प्रसंग में जो उदाहरण प्रस्तुत किया है वह द्रष्टव्य है –

"औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया–
तैस्तैर्बन्धुजनस्य वचनैर्नीताभिमुखं पुनः।
दृष्ट्वाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे–
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा [illegible] व।।[2]

---

1. *न दोषः स्वपदेनोक्तावपि सञ्चारिणः क्वचित्।*
– मम्मट, का० प्र०, ७/६३ का पूर्वार्द्ध।

2. *–मम्मट, का० प्र०, उदाहरण – ३३०।*

प्रस्तुत छन्द में 'औत्सुक्य' तथा 'ह्रिया' रूप व्यभिचारी भावों का स्वशब्द से उपादान है। इनका स्वपद से कथन दोषपूर्ण नहीं है क्योंकि 'औत्सुक्य' के अनुभाव 'त्वरा' तथा 'ह्रिया' के अनुभाव 'व्यावर्त्तन' से 'औत्सुक्य' तथा 'लज्जा' की त्वरित व असन्दिग्ध प्रतीति नहीं हो सकती। 'त्वरा' से भय, रोष आदि की तथा 'व्यावर्तन' से 'कोप' आदि की भी अनुभूति हो सकती है। तात्पर्य यह कि 'त्वरा' व 'व्यावर्त्तन' कमश 'औत्सुक्य' व 'लज्जा' के असाधारण अनुभाव नहीं है। इसलिए प्रकृत स्थल में उनके द्वारा 'भय' तथा 'कोप' आदि भी सम्भव हो सकते है, जिससे रसानुभूति नहीं हो पायेगी क्योंकि 'त्वरा' से भय है या रोष है? या 'औत्सुक्य' है ? इस प्रकार का सन्देहास्पद ज्ञान होने लगेगा जो रसानुभूति में बाधक है। इसी प्रकार 'व्यावर्तन' से कोप है ? अथवा लज्जा है ? इस प्रकार की सदिग्ध अनुभूति होगी। **मम्मट** ने कहा है कि यहा 'औत्सुक्य' पद के समान उसका अनुभाव उस प्रकार की अर्थात् 'औत्सुक्य' के समान असदिग्ध प्रतीति नहीं करा सकता।[1]

मम्मट ने विशेषत. 'औत्सुक्य' की स्वपदवाच्यता को निर्दिष्ट करने के लिए उपर्युक्त छन्द उद्‌धृत किया है क्योंकि 'औत्सुक्य' रूप व्यभिचारी भाव का कोई असाधारण अनुभाव प्राप्त नहीं है। लज्जा या ह्रिया को व्यक्त करने के लिए असाधारण अनुभाव प्राप्त हो सकते हैं यह बात और है कि प्रकृत छन्द में 'व्यावर्तन' से लज्जा की त्वरित व असंदिग्ध प्रतीति नहीं हो पा रही है।

'औत्सुक्य' का असाधारण अनुभाव नहीं है अपने इस मत को पुष्ट करने के लिए **मम्मट** ने एक अन्य उदाहरण भी प्रस्तुत किया है जो **अमरूक** कवि द्वारा रचित है। इसमें भी **अमरूक** कवि ने 'औत्सुक्य' का स्वपद से ही उपादान किया है। जबकि व्रीडा प्रेम आदि व्यभिचारी भावों को विवलितत्वादि अनुभावों से व्यक्त किया है।[2]

मम्मट द्वारा 'दूरात्सुकम्' इस **अमरूक** कवि विरचित पद्य को उद्‌धृत करने से दो तथ्य स्पष्ट होते हैं। प्रथम तो यह कि **मम्मट** व्यक्त करना चाहते हैं कि प्रसिद्ध रस–सिद्ध कवियों ने भी इस प्रकार का प्रयोग किया है। इसलिए 'औत्सुक्य' का स्वशब्दोपादान दोष नहीं है। **मम्मट** चाहते तो पूर्व उद्‌धृत 'औत्सुक्येन' इसी छन्द को पुष्टि के प्रस्तुत कर सकते थे परन्तु प्रामाणिक कवि के द्वारा पुष्ट किया गया कथन अधिक महत्व रखता है। इसलिए 'रत्नावली' नाटिका से उद्‌धृत छन्द में प्रयुक्त 'औत्सुक्य' के स्वशब्दोपादान को **अमरूक** कवि के छन्द में प्रयुक्त औत्सुक्य के स्वशब्दोपादान से पुष्ट या दृढ़ किया है।

---

१ *अत्रौत्सुक्यशब्द इव तदनुभावो न तथा प्रतीतिकृत्।*
अतएव 'दूरात्सुकम्' इत्यादौ व्रीडाप्रेमाद्यनुभावां विवलितत्वादीनामिवोत्सुकत्वानुभावस्य–
सहसाप्रसरणादिरूपस्य तथा प्रतिपत्तिकारित्वाभावादुत्सुकमितिकृतम्।
– मम्मट, का० प्र० ३३० उदा० की वृत्ति।

२ *दूरात्सुकमागते विवलितं सम्भाषिणि स्फारितं,*
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने किञ्चाञ्चितभ्रूलतम्।
मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे वाष्पाम्बुपूर्णेक्षणं,
चक्षुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि।।
– मम्मट, का० प्र०, उदाहरण–२६।

प्रस्तुत प्रतिपादन से दूसरा तथ्य यह व्यक्त होता है कि 'औत्सुक्य' के समान ही दूसरे व्यभिचारी भावों का भी कथन स्वपद से किया जा सकता है ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'औत्सुक्य' का कोई असाधारण अनुभाव नहीं है। इसलिए इसकी स्वशब्दवाच्यता दोष नहीं हैं अथवा 'औत्सुक्येन०' इस छन्द में ह्रिया का भी कोई असाधारण अनुभाव नहीं है जिससे उसकी अभिव्यक्ति हो सके। इसलिए उदधृत 'औत्सुक्येन०' इस छन्द मे 'औत्सुक्य' तथा ह्रिया की स्वशब्दवाच्यता दोष नहीं है। परन्तु जिन व्यभिचारी भावों के असाधारण अनुभाव सम्भव हैं उनको अनुभावों द्वारा ही व्यजित करना चाहिए अन्यथा दोष उपस्थित हो जायेगा। 'दूरात्सुकम्' मे व्रीडा, प्रेम आदि व्यभिचारी भावों को विवलितत्वादि अनुभावों के द्वारा ही व्यक्त किया गया है।[1]

'औत्सुक्य' रूप व्यभिचारी भाव कुछ विशिष्ट है इसका कोई भी असाधारण अर्थात् असदिग्ध अनुभाव नहीं है। इसीलिए **मम्मट** ने इसकी स्वशब्दवाच्यता को दोषपूर्ण नहीं माना। **अमरूक** कवि द्वारा स्वशब्द से औत्सुक्य का कथन **मम्मट** के कथन की परिपुष्टि करता है।

स्वशब्दवाच्यता में विशेषत. औत्सुक्य रूप व्यभिचारी भाव की स्वशब्दवाच्यता की निर्दुष्टता का निर्देश **मम्मट** की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है।

मम्मट ने प्रतिकूल विभावादिग्रह रूप रस–दोष की भी अदोषता का निरूपण किया है। यह निरूपण प्राय **आनन्द वर्धन** द्वारा निरूपित विरोधी रस की अदोषता या अविरोध पर आधृत है परन्तु कतिपय स्थलों मे **मम्मट** ने **ध्वनिकार** के मत का खण्डन भी किया है। **मम्मट** कृत उपर्युक्त अदोषता विवेच्य है।

प्रतिकूल विभावादि की बाध्य त्वरूप से उक्ति से उनके अविरोध का निरूपण करने के पश्चात् **मम्मट** ने 'पाण्डुक्षामम्' तथा 'सत्यं मनोरमा०' इन दो छन्दों में **ध्वनिकार** के द्वारा दिये गये व्याख्यान का खण्डन किया है जो विचारणीय है –

मम्मट कहते हैं कि विरोधी रस के व्यभिचारी भाव, अनुभाव तथा विभाव का बाध्यत्व रूप से कथन गुणधायक होता है। वृत्ति में वे कहते हैं कि– प्रकृत रस के विरोधी व्यभिचारी आदि भावों का बाध्यत्व रूप से कथन करना मात्र अदोष ही नहीं वरन् प्रकृत रस का परिपोषक हो जाता है।[2] वृत्ति में प्रयुक्त 'परम' पद 'केवल' या 'मात्र' का तथा 'यावत्' पद 'प्रत्युत', या 'वरन्' का वाचक है।[3]

'बाध्यत्वेन उक्ति' का तात्पर्य है कि विरोधी रसों के विभावादि को इस प्रकार ग्रहण किया जाय कि प्रकृत रस द्वारा उसकी बाध्यता का स्पष्ट ज्ञान हो।[4] तात्पर्य यह कि विरोधी रसों की बाध्यता असदिग्ध हो तभी निर्दोषता होगी अन्यथा नहीं।

---

१ *'दूरात्सुकम्' इत्यादौ व्रीडाप्रेमाद्य: भावाना विवलितत्वादीनामिवोत्सुकत्वानुभावस्य सहसाप्रसरणादि–रूपस्य तथा प्रतिपत्तिकारित्वाभावादुत्सुकमिति कृतम्।*

—मम्मट, का० प्र०, ७/६३ की वृत्ति।

२ *[illegible]धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा।*
बाध्यत्वेनोक्तिर्न परमदोष:, यावत्प्रकृतरसपरिपोषकृत्।।

—मम्मट, का० प्र०, ७/६३ का उत्तरादर्घ तथा वृत्ति।

३. *परम् केवलम्। यावदित्यादि प्रत्युत –*

—वामन झलकीकार, बा० बा० टी० पृ० ४४७।

४ *तथा निर्देष्टव्य यथा बाध्यतावगम: स्यादित्यर्थ:।*

— वही, पृ० ४४७।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने भी विरोधी रसों की अदुष्टता या अविरोध का निरूपण करते हुए विरोधी विभावादि की बाध्यत्वेन उक्ति होने पर अविरोध का निर्देश दिया है।

मम्मट ने प्रकृत अविरोध को स्पष्ट करने के लिए 'क्वाकार्यं शशलक्ष्मण०' यह उदाहरण प्रस्तुत किया है। [illegible]**वधन** ने भी विरोधी रस के व्यभिचारी आदि भावों की बाध्यत्वेन उक्ति में यही उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस छन्द में शान्त रस के'वितर्क'आदि व्यभिचारी भाव विप्रलम्भ शृङ्गार के'स्मरण'आदि व्यभिचारी भावों के द्वारा बाधित होते हैं तथा अन्त में विप्रलम्भ शृङ्गार के व्यभिचारी भाव'चिन्ता' में ही विश्रान्ति होती है। इसका विस्तृत विवेचन **ध्वनिकार** के तद्विषयक विवेचन में किया जा चुका है।[1]

मम्मट ने 'क्वाकार्य०' छन्द में बाध्यत्वेन विरोधी रस के व्यभिचारी भावों के कथन को प्रकृत विप्रलम्भ शृङ्गार परिपोषक माना है।[2] इस प्रकार **मम्मट** ने विरोधी रस के अनुभाव विभावादि का बाध्यत्व रूप से कथन गुण माना है।तात्पर्य यह कि विरोधी रस के विभावादि का बाध्यत्वेन कथन प्रकृत रस को परिपुष्ट ही करता है। यहा रस से भाव शबलता आदि को ग्रहण करना अपेक्षित है।

उल्लेखनीय है कि **मम्मट** ने भावशबलता रूप ध्वनि में प्रकृत उदाहरण को उद्धृत किया है। देवादि विषयक रति तथा प्रधान रूप से व्यजित व्यभिचारी को'भाव' कहा जाता है।[3] जहा प्रतीयमान उत्तरोत्तर भाव पूर्व वर्णित भावो को दबाकर या मर्दित करके चमत्कार उत्पन्न करते हैं वहा भाव शबलता होती है। 'क्वाकार्य शशलक्ष्मण०' में भावशबलता का ही परिपोष हो रहा है। वृत्ति में प्रकृत रस परिपोष का तात्पर्य यही हैं। यहा शृङ्गार के व्यभिचारी भावो से शान्त रस के व्यभिचारी भाव उपमर्दित हो रहे हैं। इस प्रकार यहां बाध्यत्व उक्ति से भाव शबलता का परिपोष हो रहा है यह तात्पर्य है।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने समारोपित अगत्व में 'पाण्डु क्षामम्' यह श्लोक उद्धृत किया है। उल्लेख्य है कि समारोपित अगत्व वहां होता है जहा अलकारों द्वारा विरोधी रस के विभावादि को प्रकृत रस के अग रूप में निरूपित किया जाता है।

'पाण्डु क्षामम्' में विप्रलम्भ प्रकृत रस है। पाण्डुक्षाम वदन आदि अनुभावों से करूण रस का व्यभिचारी भाव 'व्याधि' व्यजित हो रहा है। **ध्वनिकार** का विचार है कि करूण रस से सम्बद्ध अनुभावों का श्लेष अलकार के द्वारा विप्रलम्भ शृङ्गार में आरोप करने से करूण रस विप्रलम्भ का अग हो जाता है। इस प्रकार समारोपित अंगत्व के कारण यहा विरोधी रस 'करूण' का समावेश दोषपूर्ण नहीं है। **ध्वनिकार** के मत का पहले भी निरूपण किया जा चुका है।[4]

---

१ —द्रष्टव्य, प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, अध्याय[illegible] पृष्ठ.१६[illegible]।

२ अत्र वितर्कादिषु उद्गतेष्वपि चिन्तायामेव विश्रान्तिरिति, प्रकृत रस परिपोषः।

— मम्मट, ७/६३ की वृत्ति।

३ रतिर्देवादि विषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः।

—मम्मट, का० प्र० ४/३५ उत्तरार्द्ध।

४. —द्रष्टव्य, प्रस्तुतशोध प्रबन्ध, अध्याय पंचम - १७७

मम्मट ने 'पाण्डुक्षामम्' में 'पाण्डुता' आदि को साधारण रूप से करूण व विप्रलम्भ दोनों का अंग स्वीकार करके यहा विरोध माना ही नहीं है।[1] **ध्वनिकार** ने भी स्वाभाविक अगत्व को दोष रहित माना है।[2]

सारबोधिनीकार ने **भरत** के मत की उद्धृत करते हुए यहा विरोध परिहार पर विचार व्यक्त किया है। **भरत** ने व्याधि, उन्माद, अपस्मार, जडता, प्रसरण आदि को विप्रलम्भ शृङ्गार में भी ग्रहण किया है। इसलिए [illegible]**टीकार** कहते हैं कि यहा 'पाण्डुता' आदि अनुभाव करूण के समान ही विप्रलम्भ, शृङ्गार भी उत्कर्षकारक हैं इसलिए यहा दोष नहीं है। 'उत्कर्षकारक' कहने का तात्पर्य यह कि पाण्डुता आदि से विप्रलम्भ शृङ्गार व करूण दोनों ही परिपुष्ट होते हैं इसलिए इन दोनों को सामान्यत दोनों ही रसों में ग्रहण किया जा सकता है। इसमे कोई विरोध या दोष नहीं है। उल्लेख्य है कि **सारबोधिनीकार** के मत को **वामन झलकीकार** ने उद्धृत किया है।[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पाण्डुत्वादि करूण तथा विप्रलम्भ दोनों में सम्भव है। **भरत** का विचार भी इसमे प्रमाण है। इसलिए 'पाण्डुता' आदि को मात्र करूणगत न मानकर उनको करूण तथा विप्रलम्भ दोनो में स्वाभाविक रूप से ग्रहण करना ही समीचीन है। इस प्रकार 'पाण्डुक्षामम्०' श्लोक को **ध्वनिकार** प्रतिपादित स्वाभाविक अगत्व रूप अविरोध का उदाहरण माना जा सकता है परन्तु समारोपित अंगत्व मानना उचित नहीं है यही व्यक्त होता है।

काव्य प्रकाशकार ने बाध्यत्व रूप से सचारी भाव के कथन को उदाहरण द्वारा पहले ही स्पष्ट कर दिया है। 'सत्य मनोरमा०'[4] इस श्लोक के द्वारा विरूद्ध विभाव की बाध्यत्व रूप से उक्ति दोषपूर्ण नहीं होती यह स्पष्ट किया है। 'सत्यं मनोरमा०' छन्द से एक ओर तो प्रतिकूल विभाव की बाध्यत्वेन उक्ति की निर्दुष्टता प्रतिपादित की गयी है दूसरी ओर **मम्मट** ने इस छन्द से सम्बद्ध **आनन्दवर्धन** के मत का खण्डन भी किया है।

मम्मट का विचार है कि प्रकृत छन्द में पूर्वार्द्ध का बाध्यत्व रूप में कथन है। तात्पर्य यह है कि यहा पूर्वार्द्ध में 'रामा' तथा 'विभूति' यह पुरूषनिष्ठ शृङ्गार रस के विभाव हैं तथा उत्तरार्द्ध में 'जीवन की अस्थिरता' यह शान्त रस का विभाव है। यद्यपि ये दोनों विरूद्ध हैं तथापि पूर्वार्द्ध का उत्तरार्द्ध के द्वारा बाध हो जाता है। इसलिए इन दोनों का एक साथ ग्रहण दोष पूर्ण नहीं है वरन् गुणावह है।

उल्लेखनीय है कि शान्त रस ही प्रधानतः वर्ण्य है। शान्त रस के विभावों द्वारा अप्रधान शृङ्गार के विभाव बाधित हो रहे हैं। बाध्यत्वेन कथन होने के कारण यहा दोषरहित है।

---

१. *इत्यादौ साधारणत्व पाण्डुतादीनामिति न विरूद्धम्।*
— का० प्र०, ७/६३ की वृत्ति।

२. *—द्रष्टव्य, प्रस्तुत अध्याय पृ० १६७।*

३ *'करूण इव शृङ्गार प्रकर्षेऽपि पाण्डुतादीनामनुभावानामुचितत्वात्। अतएव व्याध्युन्मादापस्मार-जाड्यप्रसारणादिभिर्विप्रलम्भोऽभिनेतव्यः इति भरतः। तेनात्र विरोध एव नास्तीत्यलं तत्समर्थन-प्रयासेनेत्याह, इत्यादाविति'' इत्याहुः।*
—वामन झलकीकार, बा० बो० टीका, पृ० ४४८।

४ *—का० प्र०, उदा० ३३३।*

प्रस्तुत छन्द मे 'मत्तागनापाग' शृङ्गार रस का अनुभाव है। इससे स्त्रीनिष्ठ शृङ्गार के अनुभाव की प्रतीति हो सकती है परन्तु यहा यह शृङ्गार के अनुभाव रूप में अपेक्षित नहीं है वरन् 'जीवन' के उपमान रूप मे वर्णित किया गया है। इसलिए यहा शृङ्गार की प्रतीति नहीं होती यह भी विचारणीय है कि प्रसिद्ध उपमान से उपमेय की तुलना करने पर उपमेय का उत्कर्ष ही द्योतित होता है क्योंकि प्रसिद्ध उपमान उपमेय की अपेक्षा अधिक उत्कर्षपूर्ण होता है। प्रकृत स्थल मे 'जीवन' के उपमान रूप मे मतवाली स्त्री के 'कटाक्ष' का वर्णन होने से व्यक्त होता है कि 'मत्तागनापाग की अस्थिरता' 'जीवन की अस्थिरता' से अधिक है। इस प्रकार यह कथन शृङ्गार की अभिव्यक्ति तो कराता ही नहीं वरन् 'मतागनापाग की निस्सारता या क्षणभगुरता' को व्यक्त करके उसकी ओर से अनासक्त रहने को द्योतित करता है जो शान्त रस का पोषक है। **मम्मट** इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि प्रसिद्ध उपमान रूप में ग्रहण किये गये 'मतांगनापाग' की अस्थिरता 'जीवन' की अस्थिरता से अधिक है। यह कथन शान्त रस को ही पुष्ट करता है, शृङ्गार की यहां प्रतीति ही नहीं होती है।[1]

'मत्तागनापाग' रूप शृङ्गार के अनुभाव से शृङ्गार तथा 'जीवन की अस्थिरता' से करूण रस अभिव्यक्त हो रहा है। इसीलिए **मम्मट** ने स्पष्टत कहा है कि – यहां शृङ्गार की प्रतीति ही नहीं होती क्योकि यहा उसके योग्य विभाव आदि की प्रतीति नहीं हो रही है।[2] इस प्रकार यहा शान्त रस की ही अभिव्यक्ति हो रही है शृङ्गार की नहीं। शृङ्गार की अभिव्यक्ति का कोई कारण यहां उपस्थित नहीं है। तात्पर्य यह है कि शृङ्गार के विभाव, अनुभाव किसी का भी यहा कथन नहीं किया गया है। ध्यातव्य है कि कटाक्ष को यहा शृङ्गार के अनुभाव रूपमें कदापि ग्रहण नहीं किया गया है वरन् वह चंचलता या अस्थिरता रूप साधर्म्य के कारण 'जीवन' के उपमान रूप में ही विवक्षित है। इस प्रकार शृङ्गार के किसी भी अंग की उपस्थिति न होने के कारण शृङ्गार की अभिव्यक्ति ही सम्भव नहीं है। यहा शान्त रस ही प्रधानत व्यक्त है तथा शृङ्गार के अनुभाव का उपमान रूप में ग्रहण उसका परिपोष ही करता है।

इस प्रकार विवेच्य 'सत्य मनोरमा०' छन्द में **मम्मट** ने **तीन तथ्य** उपस्थित किये हैं। **पहला** यह कि यहा शृङ्गार के विभाव 'रामा·' तथा 'विभूतय' का बाध्य रूप में कथन है। अर्थात् शृङ्गार के विभाव शान्त रस के विभाव 'अस्थिरता' से बाध्य हो रहे हैं इसलिए शान्त रस की प्रतीति हो रही है तथा बाध्यत्व रूप से विरोधी रसों का कथन होने के कारण यहा रस–दोष उपस्थित नहीं हो रहा है।

द्वितीय तथ्य यह है कि मत्तांगना से शृङ्गार की प्रतीति मानना उचित नहीं है क्योंकि यद्यपि यह शृङ्गार का अनुभाव है तथापि यहा शृङ्गार के अनुभाव रूप में इसको ग्रहण नहीं किया गया है। प्रसिद्ध उपमान होने के कारण उपमेय की अपेक्षा इसकी अतिशयता भी निश्चित है। इस प्रकार 'कटाक्ष की अस्थिरता' 'जीवन की अस्थिरता' से भी अधिक है, यह व्यजित होने पर यह उपमान शान्त रस को और भी पुष्ट करता है।

---

१ *जीवितादपि, अधिकमपाङ्गभङ्गस्यास्थिरत्वमिति प्रसिद्ध भङ्गुरोपमानतयोपात्त शान्तमेव–पुष्णाति न पुन· शृङ्गारस्यात्र प्रतीतिः*

–मम्मट, का० प्र०, –/६३ की वृत्ति।

२ *न पुन· शृङ्गारस्यात्र प्र[illegible]ङ्गाप्रतिपत्ते।*

– वही, ७/६३ की वृत्ति।।

तृतीय तथ्य यह है कि यहा किसी भी प्रकार शृङ्गार की अभिव्यक्ति मानी नहीं जा सकती है क्योंकि यहा शृड्गार के किसी भी विभाव, अनुभाव का ग्रहण शृङ्गार की प्रतीति के लिए नहीं किया गया है। पूर्वार्द्ध मे शृङ्गार के विभाव शान्त से बाधित हो रहे हैं तथा उत्तरार्द्ध में शृङ्गार के अनुभाव का शान्त के उपमान रूप मे ग्रहण किया गया है। इसलिए शान्त ही प्रधानत. व्यक्त हो रहा है शृङ्गार नहीं अत विरोध है ही नहीं। पूर्वार्द्ध मे बाध्यत्वेन उक्ति से ही विरोध परिहार हो गया।

आचार्य आनन्दवर्धन ने 'सत्यं मनोरमा' इस श्लोक में शान्त तथा शृगार की एकत्र उपस्थिति का **दो प्रकार से समाधान** किया है।[1] **प्रथम** यह कि शृङ्गारादि की प्रतीति से यहा शृङ्गार की प्रतीति होने पर भी उसके द्वारा शिष्यों को अभिमुख करके शान्त रस में प्रवृत्त किया जाता है जिस प्रकार कड़ुवी औषधि में गुड मिलाकर बालको को खिलाया जाता है। तात्पर्य यह है कि शृङ्गार रस का अनुभव सभी को प्रिय होता है। अन्य रसो की अपेक्षा शृङ्गार के प्रति सभी अधिक आकर्षित होते हैं। इसलिए शिष्यों को शान्त रस की ओर प्रवृत्त करने के लिए विद्वान् व्यक्ति शृङ्गार का आश्रय लेते हैं।

शान्त के साथ शृङ्गार रस के निबन्धन से शान्त रस की शोभा वृद्धि भी होती है। **आनन्दवर्धन** का **द्वितीय समाधान** यह है कि शृङ्गार रसराज है और उसे शान्त रस के उत्कर्ष के लिए वर्णित करने से शान्त रस का महत्त्व और भी बढ जाता है। इस प्रकार काव्य की शोभा वृद्धि होती है। यह पहले भी उल्लिखित है।[2]

मम्मट ने **ध्वनिकार** के उपर्युक्त मत से अपनी असहमति प्रकट की है। इन्होंने **आनन्दवर्धन** द्वारा प्रस्तुत किये दोनो समाधानों की व्यर्थता सिद्ध की है।[3]

शान्त तथा शृङ्गार रस का नैरतर्न्य से वर्णन करना दोष पूर्ण होता है। शान्त व शृङ्गार का एक साथ व्यवधान रहित सन्निवेश करने से दोष उपस्थित होता है। प्रकृत श्लोक में शान्त व शृङ्गार का इस प्रकार निरूपण नहीं किया गया है। यहा शृङ्गार की अनुभूति ही नहीं होती क्योंकि पूर्वार्द्ध में शृङ्गार रस शान्त रस के द्वारा बाधित हो जाता है तथा उत्तरार्द्ध में शृङ्गार के अनुभाव का शृङ्गार के अनुभाव रूप में नहीं, वरन् 'जीवन की अस्थिरता' के उपमान रूप में ग्रहण किया गया है। इसलिए यहां शृङ्गार की अभिव्यक्ति कराने वाले किसी तत्व का निरूपण न करने से शृङ्गार की अनुभूति असम्भव ही है। इस प्रकार शिष्यों को अभिमुख करने के लिए शृङ्गार का ग्रहण किया गया है। यह परिहार उचित नहीं है।

काव्य की शोभा वृद्धि के लिए भी शान्त व शृङ्गार का यहां एकत्र सन्निवेश मानना **मम्मट** को अभिप्रेत नहीं है। वे कहते हैं कि रसान्तर अर्थात् शान्त रस की उपस्थिति तथा मत्तांगना में स्थित अनुप्रास अलकार से ही काव्य की शोभा वृद्धि हो जाती है। इसकी शोभा बढाने के लिए यहा शृङ्गार का उद्बोधन मानना समीचीन नहीं है।

---

१ *विनेयानुन्मुखीकर्त्तुं काव्यशोभार्थमेव वा।*
तदविरूद्धरससस्पर्शस्तदङ्गानां न दुष्यति।।
— आनन्द वर्धन, ध्वन्या० ३/३०।

२. *—द्रष्टव्य, प्रस्तुत अध्याय पृ०.२०२.।*

३ *न तु विनेयोन्मुखीकरणमत्र परिहार, शान्त— [illegible]भावात्।*
नापि काव्यशोभाकरणम्, रसान्तरादनुप्रासमात्राद्वा तथाभावात्।
काव्य—प्रकाश, ७/६३ के उपरान्त।

विचारणीय है कि प्रधान रस के अतिरिक्त अन्य किसी रस का किंचित् सम्पर्क मात्र काव्य की शोभा का उत्कर्ष नहीं कर सकता है। जब तक अप्रधान रस के अगो का भी ग्रहण न किया जाय तब तक प्रधान रस के साथ उसके सबध का निश्चित ज्ञान नहीं हो पाता। प्रधान के साथ उसके अगत्व आदि का बोध न होने पर वह रस काव्य–शोभा मे अपना कोई प्रभाव नहीं दिखा पाता। 'सत्य मनोरमा' मे शृङ्गार के विभाव 'रामा' आदि का पूर्वार्द्ध में कथन किया गया है। उससे ज्ञात होता है कि इनका बाध्यत्व रूप से कथन किया गया है। उत्तरार्द्ध मे शृङ्गार के अनुभाव का शृङ्गार के अनुभाव नहीं वरन् उपमान रूप मे वर्णन किया गया है। अत उत्तरार्द्ध से शृङ्गार की अनुभूति असम्भव है। इसीलिए **मम्मट** ने कहा है कि यहा शान्त रस से तथा अनुप्रास अलकार से ही काव्य की शोभा वृद्धि हो जाती है।

मम्मट ने नामोल्लेख न करते हुए **ध्वनिकार** के मत का खण्डन किया है। प्रस्तुत छन्द में ध्वनिकार ने शृङ्गार की वास्तविक स्थिति को स्पष्ट किया है जिससे ज्ञात होता है कि यहा शान्त ही प्रधानतया व्यग्य है। शृङ्गार के विभावो तथा उपमान रूप मे ग्रहण किये गये अनुभावों का वर्णन शान्त रस की अनुभूति मे सहायक है।

रस–दोषो के अपवादो का निरूपण करने के पश्चात् **आचार्य मम्मट** ने रस–विरोध को दूर करने के अन्य उपायों को प्रदर्शित किया है। उल्लेखनीय है कि **आनन्दवर्धन** ने रस–विरोध के उपायों का निर्देश दिया है।[1] **मम्मट** का प्रस्तुत विवेचन **आनन्दवर्धन** पर ही आधृत है।

मम्मट के विरोधी रसो के सन्निवेश सम्बन्धी विवेचन को स्पष्ट करने से पूर्व रसों के विरोध पर एक दृष्टिपात आवश्यक है। **रसों का विरोध** दो प्रकार का होता है–**दैशिक** तथा **कालिक**। **दैशिक** रस–विरोध के भेद होते हैं–**आलम्बन ऐक्य** में तथा **आश्रय–ऐक्य** में। कालिक विरोध नैरन्तर्य रूप से विरोधी रसों का निबन्धन करने से उपस्थित होता है।

उल्लेखनीय है कि वीर तथा शृङ्गार रस का आलम्बनैक्य मे विरोध होता है। तात्पर्य यह कि जिसके कारण वीर रस उत्पन्न हो रहा है उसी समय उसी के कारण शृङ्गार रस की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। यदि इस प्रकार का निरूपण किया जाय तो वह दोष पूर्ण होगा। इसी प्रकार वीर व भयानक रस का आश्रयैक्य में विरोध होता है। इसलिए जिसमें वीर रस की उत्पत्ति हो रही है उसी आश्रय में भयानक रस की उत्पत्ति दोषावह है।

नैरन्तर्य विरोध कालिक विरोध है। शान्त व शृङ्गार का नैरन्तर्येण विरोध होता है। अर्थात् शान्त व शृङ्गार का अव्यवधान से एक साथ वर्णन दोष–पूर्ण होता है।

मम्मट कहते हैं कि जो रस आश्रयैक्य से विरोधी है उनका भिन्न आश्रय में वर्णन करना चाहिए तथा जो रस नैरन्तर्य से विरोधी है उन्हे किसी अन्य अर्थात् अविरोधी रस से व्यवहित कर देना चाहिए।[2]

मम्मट ने प्रकृत कारिका की व्याख्या करते हुए कहा है कि वीर तथा भयानक रस का एकाश्रय में विरोध है इसलिए भयानक रस को प्रतिनायक गत रूप से वर्णन करना चाहिए।[3] तात्पर्य यह है कि वीर रस का नायक में तथा भयानक रस का प्रतिनायक मे वर्णन करना चाहिए। इससे विरोध–परिहार हो जाता है।

---

१. *–द्रष्टव्य, प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, अध्यायपंचम, पृ०-१६३-६४*

२ *आश्रयैक्ये विरुद्धो य स कार्योभिन्नसंश्रय।*
रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रस ।।
–मम्मट, का० प्र०, ६४।

३ *वीरभयानकयोरेकाश्रयत्वेन विरोध इति प्रतिपक्षगतत्वेन भयानको निवेशयितव्य*
– वहीं, ३/६४।

ध्वनिकार का विचार है कि इस प्रकार का सन्निवेश करने पर विरोधी रस का परिपोषण भी निर्दोष होता है क्योकि शत्रुविषयक भय के अतिशय वर्णन से नायक की नीति तथा पराक्रम आदि का उत्कर्ष द्योतित होता है।[1]

बालबोधिनीकार ने प्रस्तुत प्रसग मे **उद्योतकार** के मत को उद्धृत किया है। **उद्योतकार** ने कहा है कि वीर व्यक्ति उत्साह से परिपूर्ण होता है, उसमे भय सम्भव ही नहीं है। प्रतिपक्ष में भय का वर्णन नायक के पराक्रम के उत्कर्ष को प्रकट करता है जिससे वीर रस का परिपोष होता है। इसी प्रकार प्रतिपक्ष में शोक का भी वर्णन हो सकता है।[2]

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने पूर्वोक्त विषय मे विस्तृत रूप से विचार किया था। सम्भवत इसीलिए **मम्मट** ने सक्षेप मे इसका निरूपण किया है। वैसे इसका स्वरूप भी स्पष्ट है क्योंकि यह सामान्यत सभी के अनुभव मे है कि शत्रु गत भय से नायक गत वीर रस पुष्ट होता है। शत्रु जितना अधिक भयभीत होगा नायक का पराक्रमोत्कर्ष उतना ही अधिक द्योतित होगा। इस प्रकार एक ही आश्रय मे रहने से दोष उपस्थित होने पर ऐसे रसों का भिन्न आश्रय मे सन्निवेश करना चाहिए।

नैरन्तर्य रूप से जिन रसों का ग्रहण दोषपूर्ण होता है उसके दोष रहित निबन्धन के विषय मे **मम्मट** वृत्ति मे कहते हैं कि– शान्त तथा शृङ्गार रस का नैरन्तर्येण विरोध होता है इसलिए उन दोनो के मध्य किसी दूसरे अविरोधी रस का वर्णन कर देना चाहिए।[3] तात्पर्य यह है कि शान्त व शृङ्गार का एक साथ एक ही समय मे निबन्धन करने पर दोष उपस्थित हो जाता है। इसलिए इन दोनो की निरन्तरता को बाधित करने के लिए या निरन्तरता में व्यवधान उपस्थित करने के लिए किसी अन्य अविरोधी अर्थात् शान्त व शृङ्गार की एक ही काल मे प्राप्त अनुभूति व्यवधान युक्त हो जाती है।

नैरन्तर्य रूप से रसो के विरोध को प्रदर्शित करते हुए **मम्मट** ने **नागानन्द** नाटक का उद्धरण प्रस्तुत किया है। **नागानन्द** नाटक में नायक 'जीमूतवाहन' के शान्त व शृङ्गार रस के मध्य अद्भुत रस का समावेश किया गया है जिससे रस–दोष उपस्थित नही होता।

उल्लेखनीय है कि **नागानन्द** नाटक का उदाहरण **आनन्दवर्धन** ने प्रस्तुत किया है। **मम्मट** ने उसी को उद्धृत किया है। **आनन्दवर्धन** के मत का निरूपण करते समय इस पर विचार किया गया है।[4]

---

१ *तथा सति च तस्य विरोधिनोऽपि य परिपोष स निर्दोष.। विवक्षविषये हि भयातिशयवर्णने– नायकस्य नयपराक्रमादिसम्पत् सुतरामुद्योतिता भवति।*
– आनन्द वर्धन, ध्वन्या०, ३/२५ की वृत्ति।

२ *उक्तमिदमुद्योते उत्साहातिशयवान् वीर.। न हि तत्र भयसम्भव·। प्रतिपक्षे तु भयनिबन्धो – नायकपराक्रमातिशयायेति वीरस्य परिपोष·। तदीय भयतु तत्र व्यभिचारि। एवं प्रतिपक्षे– शोकोपनिबन्धोऽपि द्रष्टव्य. . ।*
– वामन झलकीकार, वा० बो० टीका पृ० ४५०।

३. *शान्त शृङ्गारयोस्तु नैरन्तर्येण विरोध इति रसान्तरमन्तरे कार्यम्।*
–मम्मट, का० प्र०, ३/६४ की वृत्ति।

४ *–द्रष्टव्य – प्रस्तुत शोधप्रबन्ध, अध्यायपंचम पृ०-१६५*

विरोधी रसों के मध्य अविरोधी रस के सन्निवेश से विरोध को दूर करने के विषय मे नागानन्द नाटक को उद्धृत किया गया है। इससे यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि इस प्रकार का अविरोध केवल प्रबन्ध काव्यो मे ही सम्भव है मुक्तक काव्यो मे सम्भव नहीं। इस भ्रम का निराकरण करने के लिए ध्वनिकार ने एक विशेषक उद्धृत करके उसमें प्रकृत अविरोध का निर्देश किया है।[1] **मम्मट** ने भी उन्हीं का अनुसरण करते हुए कहा है कि – केवल प्रबन्ध मे ही नहीं अपितु एक वाक्य मे भी रसान्तर का व्यवधान कर देने से विरोध समाप्त हो जाता है।[2]

मम्मट ने प्रकृत स्थल मे 'भूरेणु दिग्धान्' इस विशेषक को ही उद्धृत किया है जिसे **ध्वनिकार** ने उद्धृत किया था।[3] कोई नवीन उदाहरण इस प्रसग मे उद्धृत नहीं किया गया है। प्रकृत उदाहरण में वीभत्स तथा शृङ्गार रस के मध्य वीर रस का व्यवधान होने से रस–दोष समाप्त हो जाता है। इस पर पहले भी विचार किया गया है।[4]

उल्लेखनीय है कि **ध्वनिकार** की अपेक्षा **मम्मट** का प्रस्तुत विवेचन सक्षिप्त व सारगर्भित है। **आनन्दवर्धन** ने 'रसान्तरान्त०' इस कारिका तथा इसकी वृत्ति के द्वारा जो तथ्य प्रस्तुत किया है।[5] **मम्मट** ने उसे एक पङ्क्ति मात्र से कह दिया है।

एकाधिकरण्य तथा नैरन्तर्य रूप से रस–विरोध को दूर करने के मार्गों का निरूपण करने के पश्चात् **मम्मट** तीन अन्य उपायों का भी उल्लेख करते हैं। जिनका अवलम्बन लेकर रसों के परस्पर विरोध को दूर किया जा सकता है।

रस–विरोध को दूर करने का प्रथम प्रकार या मार्ग प्रधान रस के साथ विरोधी अप्रधान रस स्मर्यमाण रूप में उपस्थित हो, द्वितीय प्रकार विरोधी अप्रधान रस , साम्य रूप से विवक्षित हो तथा तृतीय प्रकार दो विरोधी रस किसी तीसरे प्रधान रस के अङ्ग रूप में वर्णित हो।[6]

स्मर्यमाण रूप विरोधी अप्रधान रस के विरोध का परिहार किस प्रकार हो सकता है इसे स्पष्ट करने के उद्देश्य से **मम्मट** ने 'अयस रशनोत्कर्षी०' [7] इस छन्द को प्रस्तुत किया है। इसमे करूण रस प्रधान है। उसके विरोधी अप्रधान शृङ्गार रस का स्मरण रूप में ग्रहण होने के कारण यहां विरोध नहीं है। ध्वनिकार ने भी यही उदाहरण प्रस्तुत किया है। [8] **मम्मट** का विचार है कि यहां पूर्वावस्था अर्थात् रशनोत्कर्षण आदि

---

१. *–द्रष्टव्य – ध्वन्या० ३/२७ की वृत्ति।*

२ *न परं प्रबन्धे यावदेकस्मिन्नपि वाक्ये रसान्तर–व्यवधिना विरोधो निवर्तते।*
–का० प्र० ७/६४।

३. *–ध्वन्या०, ३/२७ की वृत्ति।*

४ *–द्रष्टव्य – प्रस्तुत अध्याय पृ०–१९८*

५ *–ध्वन्या० ३/२७ तथा वृत्ति।*

७ *स्मर्यमाणो विरूद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षित।*
अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम्। का० प्र० ७/६५

८.क) *–द्रष्टव्य का० प्र० उदा० ३३८।*

ख) *–प्रस्तुत अध्याय पृ०–१८४*

का स्मरण यद्यपि प्रकृत रस विरूद्ध शृगार रस से सम्बद्ध है अर्थात् शृगार रस का अनुभाव है तथापि उसका स्मर्यमाण रूप से कथन होने के कारण वह प्रकृत करूण रस का अपकर्षण नहीं वरन् पोषण ही करता है।[1] **ध्वनिकार** ने भी कहा है कि स्वभावत सुन्दर पदार्थ शोचनीय अवस्था को प्राप्त हो जाने पर पूर्व अवस्था के सौन्दर्य के स्मरण से और भी अधिक शोकावेग को उत्पन्न करते है।[2] इस प्रकार यहॉ शृगार रस करूण रस के उद्दीपक रूप मे उपस्थित है। वह करूण रस की अनुभूति मे उत्कर्ष उत्पन्न करता है। इसीलिए वह अप्रधान भी है तात्पर्य यह कि करूण रस का उद्दीपक होने के कारण यहॉ शृगार रस करूण रस का अङ्ग हो गया है।

आचार्य मम्मट ने साम्य विवक्षा का अर्थात् विरोधी अप्रधान रस की प्रधान रस के साथ समान स्थिति का वर्णन होने या अगी तथा अगभूत दोनो ही रसो का समान रूप से उत्कर्ष निरूपित होने पर भी रसो मे अविरोध होता है, प्रतिपादन भी किया है। **मम्मट** के प्रस्तुत विवेचन का आधार भी **ध्वन्यालोक** ही है। **ध्वनिकार** ने भी समान उत्कर्ष होने पर रसो के अविरोध का प्रतिपादन किया है।[3]

मम्मट ने यहॉ 'दन्तक्षतानि०'[4] इस छन्द को उदाहृत किया है। इसमे इन्होने दो प्रकार से 'साम्यविवक्षा का निरूपण किया है। प्रथम पक्ष मे अनुभाव की साम्य विवक्षा तथा द्वितीय पक्ष मे उद्दीपन विभाव की साम्य रूप से विवक्षा है। **आचार्य मम्मट** ने अनुभाव तथा विभाव की साम्य–विवक्षा का उल्लेख नहीं किया है परन्तु उन्होने प्रस्तुत छन्द मे साम्यविवक्षा का वृत्ति मे दो प्रकार से व्याख्यान दिया है।[5] जिसके आधार पर अनुभाव तथा विभाव की साम्य–विवक्षा का उल्लेख किया गया है।

अनुभाव की साम्य–विवक्षा का **मम्मट** ने इस प्रकार व्याख्यान दिया है यहॉ कामुक के दन्तक्षतादि जिस प्रकार आनन्ददायक या चमत्कारयुक्त प्रतीत होते हैं उसी प्रकार भगवान बुद्ध के शरीर पर स्थित सिहिनी के दन्तक्षत आदि उनके लिए आनन्ददायक व चमत्कार युक्त हैं।

यहॉ नखक्षत आदि धारण रूप अनुभावो के साम्य से कामुकनिष्ठ तथा [illegible] रसो का साम्य प्रतीत होता है। इस प्रकार यहा शृंगार तथा दयावीर रसो की साम्य विवक्षा है।

---

१ *अत्र पूर्वावस्थास्मरण शृ[illegible] करूणं परिपोषयति।*
—का० प्र० ७/६५ की वृत्ति।

२ *—ध्वन्या० ३/२० की वृत्ति।*

३ *उत्कर्ष साम्ये ऽपि तयो विरोधासम्भवात् यथा—एकतोरोदिति.... .*
—ध्वन्या ३/२४ की वृत्ति।

४ *दन्तक्षतानि करजैश्च विपाटितानिप्रोद्भिन्न सान्द्रपुलके भवत. शरीरे।*
दत्तानि रक्तमनसा मृगराजवध्वा जातास्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि।।
—मम्मट, का० प्र० उदा० ३३६।

५ *अत्र कामुकस्य दन्तक्षतादीनि यथा चम[illegible]—*
तथा जिनस्य। यथा वा पर. शृङ्गारी तदवलोकनात्सस्पृहस्तद्वत् —
एतद्दृशोमुनय इति साम्यविवक्षा।।
—का० प्र० ७/६५ की वृत्ति।

विभाव की साम्य विवक्षा का भाव यह है कि जिसप्रकार कोई शृगारी दूसरे शृगारी के नखक्षत आदि को देखकर यह अभिलाषा करता है कि मुझे भी यह सौभाग्य प्राप्त हो अर्थात् ललनादि द्वारा मैं भी नखक्षत आदि से युक्त होऊँ उसी प्रकार बुद्ध के शरीर पर सिहिनी द्वारा किये गये नरवक्षत आदि को देखकर दूसरे मुनिज न भी कामना करते हैं कि हम भी बुद्ध के समान दयालु व त्यागी हो। यहा बुद्ध के नरवक्षत आदि उद्दीपन विभावो के रूप मे स्थित है। यहाँ उद्दीपन विभाव के साम्य से दोष नहीं है। यहा दयावीर व शृगार रस की साम्य विवक्षा है।

वीर व शृगार रस परस्पर विरूद्ध होते हैं। परन्तु यहाँ शृगार रस उपमान रूप में दयावीर का अंग है इसलिए कोई विरोध नहीं है। शृङ्गार तथा दयावीर दोनो का समान उत्कर्ष यहाँ विवक्षित है, इसलिए यहाँ अविरोध है।

बालबोधिनीकार का विचार है कि यहाँ दयावीर रस ही प्रधान रूप से व्यग्य है। यहाँ दयावीर बुद्ध द्वारा किया गया यह कर्म आश्चर्य जनक नहीं है इसलिए यहाँ अद्भुत रस नहीं है।[2] तात्पर्य यह कि महात्मा बुद्ध के लिए दयापूर्ण कार्य करना किसी विस्मय का विषय नहीं है। इसी प्रकार यहाँ बुद्धविषयक रति भी कवि अभिप्रेत नहीं है। इसलिए दयावीर ही यहाँ अगी या प्रधान रस है। इसके साथ साम्य विवक्षा से वर्णित शृगार रस विरोध-धायक नहीं है।

स्मर्यमाण तथा साम्य विवक्षा से ग्रहण किये गये विरोधी रसो के अविरोध का विवेचन करने के पश्चात् **मम्मट** ने तृतीय प्रकार के विरोधी रसो के अविरोध का प्रतिपादन किया है। जिसमे दो विरूद्ध रस किसी प्रधान रस के अग होते हैं और इस प्रकार उनमे अविरोध होता है। दोनो विरोधी रसों में से कोई भी प्रधान नहीं होता वरन् इन दोनो का प्रधान या अगी रस के प्रति अङ्गत्व होता है यह तात्पर्य है।

मम्मट ने इस तृतीय प्रकार के अविरोध को स्फुट करने के लिए दो छन्द प्रस्तुत किये हैं। इन उदाहरणों के [illegible] मे उन्होंने वृत्ति प्रस्तुत की है। उसके आधार पर इस विरोध के दो रूपो का ज्ञान होता है। इसमे विरोधी रसो का अङ्गत्व दो प्रकार से होता है यह कहा जा सकता है। प्रथम प्रकार के अंगत्व में दोनों रस साक्षात् रूप से एक समान या तुल्य रूप में प्रधान रस के अंग होते हैं, जिस प्रकार दो सेनापति समान रूप से राजा के अग होते हैं। द्वितीय प्रकार के अगत्व मे दोनो विरोधी रसो मे से एक दूसरे रस का अंग होकर प्रधानभूत रस का अंग होता है। अर्थात् एक से परिपुष्ट दूसरा रस प्रधान रस का अग बनता है। जिस प्रकार सेनापति का सेवक सेनापति का अग होने के पश्चात् राजा का अग होता है ये दोनो प्रकार के

---

2 *दयावीरस्यजिनस्य नेदृश कर्भ विस्मयजनकमिति नात्राद्भुतोरस नापि च – जिनविषया रतिरत्राभिप्रेतेति दयावीर एव प्रधानभूतो रस इति बोध्यम्।*
–वामन, झलकीकार, बालबोधिनी टीका पृष्ठ ४५१।

अगत्व द्रष्टव्य है। प्रथम प्रकार की स्थिति या अगत्व में **मम्मट** ने 'कामन्त्य०'[1] इस छन्द को उद्धृत किय है। **आनन्दवर्धन** ने भी रस–अविरोध प्रकरण में प्रस्तुत उदाहरण को उद्धृत किया है। उनके द्वारा भी द विरोधी रसो के अगत्व मे इसे प्रस्तुत किया गया है। यह भी कहा जा सकता है कि 'क्षिप्तो हस्तावलग्न०' के अंगत्व से भिन्न प्रकार के अंगत्व का निर्देशन कराने के लिए **आनन्द वर्धन** से प्रस्तुत 'कामन्त्यः०' छन्द को प्रस्तुत किया है और **आचार्य मम्मट** ने वृत्ति द्वारा दोनो ही छन्दो में स्थित अगत्व को स्फुटतया प्रकट या प्रदर्शित करने का सफल प्रयास किया है।

'कामन्त्य' इस छन्द मे किसी राजा की स्तुति या प्रशसा करते हुए कवि राजा से कहता है कि आपके शत्रुओं की स्त्रियो दुबारा विवाह के लिए उद्यत–सी दावाग्नि के चारो ओर घूम रही है। जो अवस्था विवाह के समय होती है उसी प्रकार की अवस्था इस समय आपके शत्रुओं की स्त्रियों की हो रही है।

मम्मट कहते हैं कि यहा राजा की प्रशसा से राजाविषयक रति भाव प्रतीत होता है। यहाँ करूण के समान शृगार भी रतिभाव का अग है इसलिए करूण व शृगार में विरोध नहीं है।[3]

प्रकृत छन्द में विरोधी करूण व शृगार दोनों ही रतिभाव के उसी प्रकार अग है जिस प्रकार राजा के दो सेनापति परस्पर विरोधी होते हुए भी राजा के कार्य में सहयोगी होते हैं। प्रस्तुत छन्द में राजा द्वारा पराजित होने से जङ्गलो मे भ्रमण करने के कारण शत्रु राजा की स्त्रियों की दशा चिन्तनीय हो गयी है इससे करूण रस उत्पन्न होता है। दावाग्नि के चारों ओर घूमती हुई शत्रु–स्त्रियों की अवस्था में कवि ने कल्पना की है कि मानों वे पुन विवाह के लिए उद्यत सी हैं यहाँ यह व्यक्त होता है कि राजा का प्रताप या पराक्रम ऐसा है कि उसके शत्रुओ की स्त्रियो की ऐसी दशा हो गयी है। इससे राजा विषयक रति भाव ही प्रधानतः व्यङ्ग्य हो रहा है। करूण व शृगार दोनों विरोधी रस समान रूप से राजा विषयक रति भाव के अग हैं स्मरणीय है कि करूण व शृगार दोनों में आलम्बनैक्य विरोध है। यहाँ शत्रु की स्त्रियां ही करूण व शृगार के आलम्बन हैं परन्तु उनमे विरोध ही है।

विचारणीय है कि प्रकृत उदाहरण में करूण एव शृगार दोनों साक्षात् रूप से रतिभाव के अंग हैं साक्षात् अर्थात् दोनों में से कोई एक प्रधान रस का अंग नहीं है वरन् दोनों ही प्रधानभूत रस के अग है। यहां यह आशंका उत्पन्न हो सकती है कि परस्पर विरोधी दो रस प्रधान रस के अग कैसे हो सकते हैं? इसको दूर करने की अपेक्षा से **मम्मट** ने 'एहिगच्छ०' यह छन्द उद्धृत किया है। **आनन्दवर्धन** ने भी इसी प्रसङ्ग में प्रकृत छन्द को प्रस्तुत किया है। **आचार्य [illegible]वर्धन** ने 'एहिगच्छ' छन्द को प्रस्तुत करते समय उपर्युक्त आशंका व्यक्त की है।[4] **मम्मट** ने यद्यपि इस आशका को स्पष्ट करने के लिए इसे 'यथा' कहकर उल्लिखित किया है जिससे व्यक्त होता है कि इन्होंने भी प्रस्तुत शका के समाधान के लिए ही इस छन्द का उल्लेख किया है।

---

१ –प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, प्रस्तुत अध्याय, पृ० १८५

२ –वही, पृ० . १७६

३ अत्र चाटुकेराजविषयारति प्रतीयते। तत्र करूण इव शृङ्गारोऽप्यङ्गमितितयोर्नविरोध !
–मम्मट, का० प्र० ७/६५ की वृत्ति।

४ –द्रष्टव्य – प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, प्रस्तुत अध्याय, पृ०..१८०– ८१

'एहिगच्छ' छन्द मे आगमन तथा गमन रूप विरोधी किया 'कीडा' रूप प्रधान कार्य की अग है।[1] यहाँ उल्लेखनीय है कि ये दोनो ही कियाए समान रूप से कीडा का अग हैं तथा दोनो कियाए प्रधान कार्य के अग रूप मे विवक्षित हैं। इसी प्रकार दो विरोधी रस प्रधानभूत रस के अगत्व को प्राप्त करते हैं। दो विरोधी रसो की प्रधान रस के प्रति अगता को प्रकट करने के लिए **ध्वनिकार** तथा **मम्मट** ने दो विरोधी कियाओ की प्रधान कार्य के प्रति अगता को उदाहृत किया है।

ध्वनिकार ने प्रकृत छन्द के विषय मे लिखा है कि विधि या प्रधान अश मे विरोध–पूर्ण कथन दोषा-धायक होता है परन्तु अनुवाद या अप्रधान अश में विरोधियो का वर्णन या कथन दोषपूर्ण नहीं होता है।[2]

आचार्य मम्मट ने प्रधान रस के विरोधी रसों की साक्षात् अगता को प्रकृत छन्द से दृढ किया है। जिस प्रकार आगमन, गमन आदि विरोधी होते हुए 'कीडा' की अगता को प्राप्त करते हैं उसी प्रकार 'कामन्त्य' मे करूण व शृगार दोनों स्वभावत विरूद्ध होते हुए भी प्रधान रतिभाव के अग हैं।

दो विरोधी रसो की अगता की द्वितीय स्थिति या प्रकार को स्फुट करने के उद्देश्य से **मम्मट** ने 'क्षिप्तो हस्तावलग्न' इस छन्द को उद्धृत किया है। **अमरूक** कवि द्वारा रचित इस छन्द को **आचार्य आनन्दवर्धन** ने भी दो विरोधी रसों की प्रधान के प्रति अगता होने पर अविरोध को स्पष्ट करने के लिए उल्लिखित किया है।[3]

प्रकृत छन्द मे त्रिपुरदाह के समय शिव के प्रभावातिशयका वर्णन प्रधान रूप से व्यङ्ग्य है। त्रिपुरयुवतियों की दुर्दशा से व्यञ्जित करूण रस प्रधान रूप से व्यङ्ग्य प्रभावातिशय का अग हैं इस प्रकार प्रधानभूत प्रतापातिशय का करूण रस साक्षात् तथा शृगार परस्परया अग है। जिस प्रकार सेनापति साक्षात् तथा सेनापति का भृत्य या सेवक परम्परया राजा का अग होता है।

मम्मट कहते हैं कि यहा त्रिपुररिपु के प्रभावातिशय का करूण अग है तथा करूण का अग शृंगार है तब भी करूण रस में विश्रान्ति न होने के कारण करूण का अगत्व ही है।[4]

विवेचनीय है कि यद्यपि यहा शृगार की अपेक्षा करूण रस प्रधान है तथापि करूण रस मे विश्रान्ति या पर्यवसान नहीं होता इसलिए शृगार की अपेक्षा प्रधान होने पर भी वह अंगी रस नहीं है वह प्रभावातिशय का अग ही है। प्रभावातिशय यह अंगीभूत है। **वामन** झलकीकार महोदय के अनुसार यद्यपि शृगार की अपेक्षा करूण अगी है तथापि करूण में प्रकर्ष रूप से या पूर्ण रूप से पर्यवसान नहीं होता करूण भी रतिभाव का प्रकर्षण या उत्कर्ष करने के कारण अग ही है।[5]

---

१ *इत्यत्र एहीति कीडन्ति, गच्छेति कीडन्तीति कीडनापेक्षयोरागमनगमनयोर्नविरोध।*
–का० प्र० ७/६५ की वृत्ति।

२ *–द्रष्टव्य प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, प्रस्तुत अध्याय, पृ० स० १२०-८१*

३ *–सविस्तार द्रष्टव्य, प्रस्तुत अध्याय, पृ० १६६*

४ *इत्यत्र त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य करूणोऽङ्गम्, तस्य तु शृङ्गार तथापिन करूणे- विश्रान्तिरीति तस्याङ्गत्वेन।*
–मम्मट, का० प्र०, ७/६५ की वृत्ति।

५ *यद्यपि शृङ्गारापेक्षया करूणोऽङ्गी तथापि तत्र प्रकर्षपर्यवसान नास्ति तेनापि- भावप्रकर्षणादित्यङ्गमेव तदिति तात्पर्यम्।*
–वामन झलकी कार, बा० बो० पृ० ४५८।

मम्मट ने करूण के अंगत्व का कारण भी यहा बताया है। उनका विचार है कि जिस प्रकार पहले प्रणयी आचरण करता था उसी प्रकार वाणाग्नि ने किया । इस प्रकार शृगार से पोषित करूण के द्वारा मुख्य या प्रधान रस का ही प्रकर्ष होता है।[1]

यहा पूर्वावस्था की प्रतीति होने के कारण शृगार करूण रस का उद्दीपन विभाव बन जाता है। इस प्रकार शृगार करूण रस का साक्षात् अग है तथा प्रभावातिशय का परम्परया अग है। करूण रस उद्दीपन विभाव के रूप मे प्रभावातिशय का अग है तथा वह साक्षात् रूप से ही प्रभावातिय का अग है। इस प्रकार शृगार उद्दीपन विभाव बनकर करूण का तथा करूण रस उद्दीपन विभाव बनकर प्रभावातिशय का अग है। यहा कामुक जैसा आचरण करता है वैसा ही शराग्नि करता है इस उपमान के बल से शृगार करूण का अग है। कामुक उपमान तथा शराग्नि उपमेय के रूप में विवक्षित है।

प्रस्तुत छन्द मे यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि शृंगार करूण का साक्षात् अंग है परन्तु प्रधानभूत 'रतिभाव' का अग नहीं है सम्भवत· इसी शका का समाधान करते हुए **मम्मट** ने यहा न्य[illegible] को उद्धृत किया है।[2]

न्याय--सिद्धान्त के अनुसार गुण अर्थात् अग या अप्रधान किवा विशेषण अन्य से अर्थात् अपने अग से परिपोषण रूप सस्कार करके प्रधान का अगत्व प्राप्त करता है। इसी प्रकार अर्थात् अपने अग या विशेषण से युक्त होकर ही वह प्रधान का अत्यधिक उपकार करने में समर्थ होता है।

'क्षिप्तो हस्तावलग्न०' में प्रधान का अंग करूण रस अपने अगभूत शृगार से परिपुष्ट होकर ही प्रधान का अग बनता है। इस रूप में ही करूण प्रभावातिशय का अधिक उत्कर्ष कर सकता है। तात्पर्य यह कि शृंगार साक्षात् रूप से प्रभावातिशय रूप प्रधान का उल्कर्षक नहीं है इसलिए वह प्रधान का अग भी नहीं है यह कहना उचित नहीं है क्योकि प्रधान का साक्षात् उत्कर्षक करूण शृगार से परिपोषण प्राप्त करके ही प्रधान का उत्कर्ष करता है। इसलिए शृंगार भी प्रधान का उत्कर्ष करता है और शृगार भी प्रधान का अग है।

बालबोधिनीकार ने इस विषय में कहा है कि इस न्याय से शृंगार से उपकृत करूण का तथा उपकार विशेष को धारण करने वाले शृंगार का प्रभावातिशय के प्रति अंग त्व है।[3]

बा[illegible]टीकार ने यहाँ भी **महेश्वर भट्टाचार्य** के मत को उद्धृत किया। **महेश्वर भट्टाचार्य** का विचार हैकि यहां विशिष्ट वैशिष्ट्य की रीति से शृंगार व करूण रतिभाव के अग है।[4] तात्पर्य यह कि शृगार से विशिष्ट अर्थात् प्रधम के प्रति अगत्व यहां है।

---

१ *अथवा प्राक् यथा कामुक आचरतिस्म तथा [illegible] शृङ्गारपोषितेन करुणेन-*
मुख्य एवार्थ उपोदबल्यते।
--मम्मट, का० प्र० ७/६५ की वृत्ति।

२ *गुण कृतात्मसस्कार· प्रधानं प्रतिपद्यते।*
[illegible]कारे हि तथा भूयसि वर्तते।।
--मम्मट, का० प्र० ७/६५ की वृत्ति।

3. *एवंचानेन न्यायेन शृङ्गारोपकृतस्य करुणस्योपकारविशेषाधायकतया--*
शृ[illegible]न प्रभावातिशयाङ्त्वमुपपन्नमितिभाव।
--वामन झलकीकार, बा० बो० पृ० ४६०।

४. *अनेन च शृङ्गारविशिष्टकरूणवैशिष्ट्यं भावस्य दर्शितमिति विशिष्टस्य वैशिष्यमिति--*
रीत्या विशिष्टवैशिष्ट्यबोधो दर्शित· रति महेश्वर भट्टाचार्य·।
--तदेव, बा० बो० पृ ४६०।

उल्लेखनीय है कि 'क्षिप्तो हस्तावलग्न०' की वृत्ति मे पहले **आचार्य मम्मट** ने कहा है कि प्रभावातिशय का करूण अग है तथा करूण का अग शृगार है इस प्रकार का अगत्व 'विशेष्ये विशेषणम् तत्रापि च विशेषणान्तरम्' नियम से होता है। अर्थात् प्रभावातिशय मे करूण विशेषण या अग है तथा प्रभावातिशय के विशेषण करूण का भी शृगार विशेषण या अग है। इस प्रकार, करूण शृगार तथा प्रभावातिशय का परस्पर अग–अगीभाव है।

इस प्रकार **मम्मट** ने 'क्षिप्तोहस्तावलग्न' में दो प्रकार से होने वाले अग–अगीभाव को प्रस्तुत किया है। प्रथम पक्ष मे करूण तथा शृगार साक्षात् व परम्परया प्रधान के अग हैं तथा द्वितीय पक्ष मे शृगार करूण का अग है तथा करूण प्रधानभूतरतिभाव का अग है।

मम्मट की उपर्युक्त व्याख्या का आधार **ध्वन्यालोक** ही है। **ध्वनिकार** ने 'क्षिप्तो हस्तावलग्न०' की व्याख्या करते हुए उपर्युक्त दोनों स्थितियों का सकेत दिया है।

प्रधान रस के प्रति दो विरोधी रसों की अंगता का **ध्वनिकार** ने विस्तृत रूप से निरूपण किया है। उन्होने अप्रधान वाक्यार्थ मे दो विरोधी रसो का ग्रहण दोष नहीं माना है।[1]

प्रधान रस के साक्षात् अङ्गभूत रस के अगभूत रस की प्रधान रस के प्रति अगता का वर्णन भी **ध्वनिकार** ने किया है उनके अनुसार वाक्यार्थभूत करूण रस के विषय को उसी प्रकार के वाक्यार्थभूत शृगार विषय के साथ सुन्दर ढग से प्रस्तुत करने पर प्रधान रस का परिपोषण ही होता है। यहा स्मर्यमाण शृगार को **ध्वनिकार** ने प्रधान के साक्षात् अगभूत करूण रस का उद्दीपक माना है।[2] इसी आधार पर **आचार्य मम्मट** ने 'क्षिप्तो हस्ता०' मे अग अगी भाव की द्वितीय स्थिति का प्रतिपादन किया है। उल्लेखनीय है कि 'क्षिप्तो हस्तावलग्न०' मे भी करूण रस प्रधानभूत 'भाव' का साक्षात् अग है तथा शृगार करूण रस के उपमान रूप मे विवक्षित है तथा इसी रूप में अर्थात् रस के अग के रूप मे वह परम्परया प्रभावातिशय रूप प्रधान व्यग्य 'भाव' का अग है।

मम्मट प्रतिपादित अग–अगी भाव की दोनो स्थितियो मे भेद यह है कि प्रथम प्रकार मे दोनो करूण व शृगार समान रूप से प्रभावातिशय रूप 'भाव' के अग हैं तथा द्वितीय प्रकार में करूण साक्षात् तथा शृगार परम्परया प्रधानभूत भाव का अग है। दोनों ही रूपों में करूण व शृंगार दोनों ही प्रधानभूत प्रभावातिशय के अंग हैं।

बालबोधिनीकार ने द्वितीय स्थिति को प्रथम स्थिति का ही कारण माना हैं।उनके अनुसार करूण के अंगत्व को स्पष्ट करने के लिए ही **मम्मट** ने 'अथवा' कहकर द्वितीय स्थिति या अंग–अगी भाव को प्रस्तुत किया है। **बालबोधिनीकार** ने 'अथवा' पद का अर्थ 'यत' माना है।[3] इस प्रकार इन्होने वृत्ति को सयुक्त रूप से ग्रहण किया है।

विचारणीय है कि **मम्मट** ने करूण की प्रधान के प्रति अङ्गता का ही दो प्रकार से निरूपण किया है परन्तु इसी विवेचन से करूण तथा शृगार दोनो की दो प्रकार से प्रधान के प्रति अगता का भी प्रतिपादन **आचार्य मम्मट** ने किया है। शृंगार की परम्परया प्रधान के प्रति अगता का निरूपण विशेष प्रकार से करने का प्रयास भी **आचार्य मम्मट** ने किया है।

साहित्य–दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने 'क्षिप्तो हस्तावलग्न०' मे साम्य–विवक्षा मानी है उन्होने 'कामीव' पद के द्वारा साम्य–बल से शृंगार व करूण मे साम्य–विवक्षा मानी है।

---

१ *–दृष्टव्य – ध्वन्यालोक – ३/२० की वृत्ति।*

२ *–द्रष्टव्य– वही ३/२० की वृत्ति।*

३ *उक्तेऽर्थ हेतुं दर्शयति अथवेत्यादि। अथवेति यत इत्यर्थे।*

–वामन झलकीकार बा० बो०, पृ० ४५८।

विवेचनीय है कि **आचार्य मम्मट** ने "दन्तक्षतानि" इस छन्द मे साम्य विवक्षा को स्पष्ट किया है। अर्थात् **आचार्य मम्मट** ने 'दन्तक्षतानि०' छन्द में शृंगार व दयावीर की साम्य–विवक्षा मानी है। इन्होंने 'दन्तक्षतानि०' मे रसो की स्थिति का 'क्षिप्तो हस्तावलग्न०' मे स्थित रसो की स्थिति का भेद स्पष्ट किया है। **उद्योतकार** कहते हैं कि 'दन्तक्षतानि०' इस छन्द मे शृगार तथा दयावीर दोनों की साम्यता है और 'क्षिप्तो हस्तावलग्न' मे 'कामीव' इस उक्ति की साम्य से ही प्रतीति होती है।[1]

साम्य विवक्षा मे दोनो ही प्रधान व अगभूत रस समान रूप से उत्कर्षक होते हैं जैसे 'दन्तक्षतानि०' मे शृगार व दानवीर दोनो समान रूप से विवक्षित हैं यहा शृगार अग तथा दयावीर प्रधान रस है।

'क्षिप्तो हस्तावलग्न०' में शृगार करूण का अग है। 'कामीव' के द्वारा शृगार को उपकारक के रूप मे स्पष्टत उल्लिखित किया गया है। जबकि 'दन्तक्षतानि०' में "दन्तक्षत" इत्यादि के द्वारा शृगार की कल्पना की गयी है। वहा स्पष्टत शृगार को उपमान रूप मे ग्रहण नहीं किया गया है। वरन् वह अगी भूत दयावीर के समकक्ष निरूपित है अर्थात् दोनों की साम्यता का निरूपण किया गया है। 'क्षिप्तो हस्तावलान०' मे शृगार के उपमानत्व की प्रतीति शराग्नि से उसकी साम्यता होने के कारण ही होती है। दोनों की साम्यता का स्पष्टत कथन किया गया है जबकि दन्तक्षतानि में साम्यता की कल्पना की जाती है। दन्तक्षत आदि के द्वारा कामी को प्राप्त दन्तक्षत की कल्पना की जाती है। दन्तक्षत आदि कार्य शृंगार में होते हैं। इस आधार पर ही कामी की यहॉ कल्पना की जाती है। इसलिए 'क्षिप्तो हस्तावलग्न०' में साम्य विवक्षा मानना उचित नहीं है।

इस प्रकार रस–दोष के अपवाद तथा रसों के अविरोध का प्रतिपादन **आचार्य मम्मट** ने किया है। यहॉ यह शङ्का उत्पन्न होती है कि पहले चतुर्थ उल्लास में रस–प्रकरण में रस को वेद्यान्तर सम्पर्क शून्य कहा गया है।[2] उस रस का किसी दूसरे रस के साथ विरोध या अग –अंगीभाव कैसे हो सकता है? तात्पर्य यह कि किसी रस की अनुभूति के समय उससे भिन्न किसी की भी प्रतीति नहीं होती है इस स्थिति मे एक साथ दो रसों की स्थिति कैसे होगी? यदि दो रसो की एक साथ उपस्थिति नहीं हो सकती तो उनका विरोध व अग–अगी भाव कैसे सम्भव है? इस शंका का समाधान करते हुए **मम्मट** कहते हैं कि 'रस' शब्द से यहा स्थायी भाव उपलक्षित होता है।[3]

स्थायी भावो का परस्पर अंग–अगी भाव सम्भव होने के कारण ही **आचार्य मम्मट** ने 'रस' पद से स्थायी भाव को उपलक्षित माना है। 'रस्यते इति रस.०' अर्थात् जिसका आस्वादन किया जाता है वह रस है इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्थायी भाव को भी रस कहा जाता है।

रसो की प्रधानता तथा अग–अगीभाव के विषय मे **भरतमुनि** का विचार उल्लेखनीय है। इनके अनुसार एकत्रित बहुत सी चित्त वृत्तियो में से जिसका

---

१ *अत्राहुरुद्योतकारा. "दन्तक्षतानीत्यतस्त्वस्ययान् भेद । तत्र प्रतीतयो साम्यम् अत्र–कामीवेत्युक्तेः साम्येनैव प्रतीतिरिति इति।*
–वामन झलकीकार, बा० बो० पृ० ४६० पर।

२ *लोके प्रमदादिभ ...... शृङ्गारादिको रस।*
–मम्मट, का० प्र० ४/२७,२८ की वृत्ति।

३ *प्राक्प्रतिपादितस्य रसस्य रसान्तरेण न विरोधो नाङ्गाङ्गिभावो भवति इति रस–शब्देनात्र स्थायिभाव उपलक्ष्यते।*
–मम्मट, का० प्र० ७/६५ की वृत्ति।

स्वरूप व्यापक होता है उसे स्थायी रस या अगी रस कहते हैं तथा शेष को व्यभिचारी रस अर्थात् अगभूत रस माना जाता है। वे आगे कहते हैं कि एक रस में दूसरा रस भी व्यभिचरित होता है, अर्थात् रसों का परस्पर अग–अगी भाव भी होता है। जैसे हास्य स्थायी भाव शृगार में, रति शान्त मे, क्रोध वीर रस मे, भय शोक मे, जुगुप्सा भयानक रस मे दिखायी पडता है। उत्साह तथा विस्मय रूप स्थायीभाव सभी रसो मे व्यभिचरित होता है।[1]

'अय सरशनोत्कर्षी' इत्यादि मे रति स्थायी भाव का अधिक समय तक स्थायित्व नहीं है परन्तु **आचार्य भरत** के उपर्युक्त कथन के आधार पर उसकी भी स्थिति मानी जाती है। यहॉ रति रूप स्थायीभाव का किञ्चित् प्राधान्य ही विवक्षित है। प्रधान रूप से करूण रस ही यहॉ व्यग्य है।

ऊपर उल्लिखित छन्द मे करूण प्रकृत या प्रधान रस है क्योंकि वह शृगार की अपेक्षा अधिक व्यापक है। इस प्रकार **भरतमुनि** के पूर्व उल्लिखित मत या विचार के अनुसार सर्वाधिक व्यापक रस ही अगी रस होता है। इसलिए करूण को यहा स्थायी रस माना समीचीन है।

प्रकृत विवेचनीय छन्द मे शृगार के अनुभाव करूण के उद्दीपन विभाव हैं इस रूप में वे करूण रस के परिपोषक हैं। यद्यपि शृगार रस की पूर्णत प्रधानता नहीं है तथापि किञ्चित् प्रधानता होने पर भी उसका स्थायित्व माना गया है। करूण रस स्थायी रस का अगीरस है तथा शृगार सञ्चारी रस या अंगभूत रस है। उपर्युक्त 'बहुनासमवेतानां०' इस भरतोक्त कारिका मे स्थित 'रसस्थायी' पद की दो प्रकार से व्याख्या की जाती है। जो द्रष्टव्य है।

प्रथम मत के अनुसार चित्तवृत्ति रूप अनेक भावों में से जिसका रूप बहुअर्थात् प्रबन्ध व्यापक होता है वह स्थायी या अगीभूत रस है शेष सञ्चारी या अगभूत है। इस प्रकार इस मत के अनुसार 'रस स्थायी' को 'रस. स्थायी' यह माना गया है। अर्थात् स्थायी का तात्पर्य अगी या प्रधान है।

द्वितीय मत के अनुसार चित्तवृत्ति रूप अनेक भावों में से जिसका व्यापक रूप प्राप्त होता है। वह स्थायी भाव है शेष सब व्यभिचारी या सञ्चारी हैं। इस मत के अनुसार 'रसस्थायी' को एक पद माना गया है। इस प्रकार 'स्थायी' का अर्थ यहा 'स्थायीभाव' अर्थात् रति आदि माना जाता है।
अतः स्पष्ट है कि प्रथम मत में साक्षात् रसों का तथा द्वितीय मत में स्थायी भावों का अग–अगी भाव प्रतिपादित किया गया है।

आचार्य मम्मट ने द्वितीय मत को ही मान्यता दी है। तात्पर्य यह है कि प्रधान रूप से व्यङ्ग्य चित्तवृत्ति रूप भाव स्थायी भाव है तथा शेष सञ्चारी भाव है। उल्लेखनीय है कि स्थायी भाव ही प्रधान या अगी है तथा सञ्चारी ही अग है। इसका आधार यह है कि **मम्मट** रस को वेद्यान्तर सम्पर्क शून्य मानते हैं। इसलिए 'रस' से 'स्थायी भाव' यही अर्थ ग्रहण करते हैं।

---

1 *बहूनां समवेताना रूप यस्यभवेद् बहु.।*
स मन्तव्यो रसस्थायी शेषाः सञ्चारिणोमता।।
रसान्तरेष्वपि रसा भवन्ति व्यभिचारिण.।
तथाहि हास. शृङ्गारे रति शान्ते च दृश्यते।।
क्रोधोवीरे भयशोके जुगुप्सा च भयानके ।
उत्साहविस्मयौ सर्वरसेषु व्यभिचारिण ।।
–भरत, ना० शा० ७/११६–१२१।

उल्लेखनीय है कि **आचार्य आनन्दवर्धन** ने प्रधान रस के अविरोधी तथा विरोधी रसों के परिपोष परिहार के अवसर पर 'रस' शब्द को 'रस' शब्द से ही तथा 'स्थायी' शब्द से ग्रहण करने वालों के मत को उल्लिखित किया है।

इस प्रकार **मम्मट** के रस–दोष–परिहार प्रकरण का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि इन्होंने व्यभिचारी की स्वशब्दवाच्यता तथा प्रतिकूल विभावादि ग्रह रूप रस–दोषों की अदोषता या परिहार का निरूपण किया है। इसी कम मे इन्होंने रस–विरोध को दूर करने के उपायों पर भी विचार किया तथा अन्त मे 'रस' शब्द का प्रस्तुत प्रकरण मे क्या अर्थ है? यह भी स्पष्ट किया है।

'व्यभिचारी भाव, रस तथा स्थायीभाव की स्वशब्दवाच्यता' रूप रस–दोष में केवल व्यभिचारी भाव की स्वशब्द वाच्यता का अपवाद प्रस्तुत किया है रस या स्थायी भाव का नहीं। यहां यह भी विचार बनता है कि रस तथा स्थायी भाव से पूर्व व्यभिचारी भाव की गणना करने का सम्भवत यही कारण रहा होगा कि व्यभिचारी भाव की स्वशब्दवाच्यता कहीं कहीं निर्दोष भी हो सकती है परन्तु रस व स्थायी भाव कहीं भी स्वशब्द से वाच्य नहीं होने चाहिए।

व्यभिचारी भावों में भी असाधारण व्यभिचारी भावों की ही स्वशब्दवाच्यता निर्दुष्ट हो सकती है। प्रत्येक की नहीं। **आचार्य मम्मट** ने विशेषत. 'औत्सुक्य' रूप व्यभिचारी की स्वशब्द वाच्यता का उल्लेख किया। अपने कथन को पुष्ट करने के लिए रसिक कवि **अमरूक** की रचना को भी प्रस्तुत किया है।

आचार्य मम्मट ने 'प्रतिकूल विभावादिग्रह' रूप दोष में बाध्यत्व उक्ति के द्वारा अदोषता सिद्ध की है यह निरूपण **आचार्य आनन्दवर्धन** पर आधृत है परन्तु **आचार्य मम्मट** ने अपनी शैली में इसे प्रस्तुत किया है। 'पाण्डुक्षामम्० तथा 'सत्यँमनोरमा०' इन छन्दों से सम्बद्ध **ध्वनिकार** के विचार से **आचार्य मम्मट** ने असहमति प्रकट की है।

मम्मट ने 'पाण्डुक्षामम्०' में स्वाभाविक अंगत्व का निरूपण किया जबकि **ध्वनिकार** ने इस छन्द को समारोपित अगत्व का उदाहरण माना है। इसी प्रकार 'सत्य मनोरमा०' में **ध्वनिकार** छात्रों को आकर्षित करने तथा काव्य–शोभा के लिए शृगार का स्पर्श मानते हैं तात्पर्य यह कि **ध्वनिकार** के अनुसार शृगार का विरोधी रस के साथ किञ्चित् स्पर्श होने पर काव्य की सुन्दरता बढ जाती है तथा इससे छात्रों को भी शान्त आदि रस में उन्मुख किया जाता है।

'सत्यं मनोरमा० में **आचार्य मम्मट** ने पूर्वार्द्ध में शृंगार का बाध्यत्व रूप में कथन तथा उत्तरार्ध में शृगार को शान्त के उपमान रूप मे स्वीकार किया है। इस प्रकार 'सत्य मनोरमा०' में **आचार्य मम्मट** ने शृगार के स्पर्श या किञ्चित् भी अनुभूति को नहीं माना है।

ध्वनिकार द्वारा प्रतिपादित स्वाभाविक व समारोपित अगत्व का **मम्मट** ने पृथक् रूपेण निरूपण नहीं किया। **आनन्दवर्धन** के मत का खण्डन करते हुए इन्होंने 'पाण्डुक्षाम०' में स्वाभाविक अंगता मानी है। समारोपित अंगत्व का कोई उदाहरण **आचार्य मम्मट** ने प्रस्तुत नहीं किया है। **आचार्य मम्मट** ने दो विरोधी रसों की प्रधान रस के प्रति अगता का निरूपण किया है।

रस–विरोध को दूर करने के उपायो पर चर्चा करते हुए **मम्मट** ने यद्यपि ध्वनिकार के निरूपण को ही आधार बनाया है तथापि **ध्वनिकार** की अपेक्षा **मम्मट** का विवेचन पर्याप्त सारगर्भित तथा व्यवस्थित है। आश्रयैक्य तथा नैरन्तर्य विरोधी रसों के अविरोध प्रतिपादन के लिए **ध्वनिकार** को जहां तीन कारिकाओं की रचना करनी पड़ी है वहा **मम्मट** ने मात्र एक कारिका द्वारा ही इन दोनों को स्पष्ट करने मे सफलता प्राप्त की है। एक वाक्य में स्थिति नैरन्तर्य के अविरोध को **मम्मट** ने वृत्तिमें ही सन्निविष्टकर लिया है। यह भी उल्लेखनीय है कि इन्होंने नैरन्तर्य रूप से स्थित विरोधी रसो के अविरोध में **आनन्दवर्धन** के उदाहरणों को ही उद्धृत किया है। परन्तु आश्रयैक्य रूप से स्थित रसो के अविरोध मे जो उदाहरण **ध्वनिकार** ने प्रस्तुत किया है, **मम्मट** ने ग्रहण नहीं किया इस विषय मे मम्मट ने कोई उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया है।

प्रधानरस के साथ स्मर्यमाण रूप मे वर्णित विरोधी रस साम्य रूप से विवक्षित रस तथा अग–रूप में वर्णित दो विरोधी रसो की अदोषता को प्रतिपादित करते हुए **मम्मट** ने भिन्न–भिन्न स्थानो पर बिखरी हुई सम्बद्ध विषय वस्तु को एक स्थान पर सङ्कलित करने का प्रयास किया है। यहा उनकी तर्कपूर्ण विवेचनात्मक शैली का भी दर्शन होता है।

उल्लेखनीय है कि **ध्वनिकार** ने विरोधी रसों का प्रधान के साथ अग–अगी भाव निरूपित करते हुए दो विरोधी रसों की प्रधान के प्रति अगता तथा स्मर्यमाण रूप मे वर्णित विरोधी रस की अदोषता का प्रतिपादन किया है। प्रधान रस के विरोधी तथा अविरोधी रसो के परिपोष परिहार की व्याख्या करते हुए साम्य–विवक्षा का सकेत दिया है। **मम्मट** ने उक्त तीनो अविरोधी रसों के परिपोष–परिहार की व्याख्या करते हुए साम्य–विवक्षा का सकेत दिया है/**मम्मट** ने उक्त तीनो अविरोध के उपायो को एक कारिका के सग्रहित करके उसकी व्याख्या की है।

मम्मट ने स्मर्यमाण रूप से वर्णित विरोधी रस की अदुष्टता का वही उदाहरण प्रस्तुत किया है जो **ध्वनिकार** ने किया है परन्तु साम्य विवक्षा मे इन्होने नवीन उदाहरण प्रस्तुत किया जबकि **ध्वनिकार** ने इस प्रसङ्ग में दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। परन्तु **मम्मट** ने इन दोनों को ही ग्रहण न करके 'दन्तक्षतानि०' यह छन्द उद्धृत किया है।

प्रधान रस के प्रति दो विरोधी रसों के अगत्व का निरूपण करते समय **आचार्य मम्मट** ने **ध्वनिकार** का आधार ग्रहण करते हुए भी मौलिकता का सन्निवेश किया है।

आचार्य आनन्द वर्धन ने इस प्रसग में 'क्षिप्तो हस्तावलग्न्' इस छन्द की विस्तृत व्याख्या की है। इसी प्रकरण में अन्त में उन्होने 'कामन्य' इस छन्द को भी उद्धृत किया है। **ध्वनिकार** ने 'कामत्य०' इस छन्द के द्वारा 'क्षिप्तो हस्तावलग्न०' से भिन्न स्थिति में दो रसों की प्रधान के प्रति अगता को व्यक्त किया है। **मम्मट** ने इसी आधार पर 'कामन्त्य०' में शृगार व करूण को समान रूप से रतिभाव का अग स्वीकार किया है। स्मरणीय है कि यह अंगत्व सेनापति द्रवयत् है।

उल्लेखनीय है कि **ध्वनिकार** ने 'क्षिप्तो हस्तावलग्न.०' छन्द में अनुवाद या अप्रधान अश में स्थित विरोधी रसों की अविरूद्धता को प्रकट करने के लिए 'एहिगच्छ०' इस छन्द को प्रस्तुत किया था जबकि **आचार्य मम्मट** ने 'कामन्त्य.०' छन्द में शृगार व करूण रस की समान रूप से रतिभाव के प्रति अंगता के लिए 'एहिगच्छ०' इस छन्द को प्रस्तुत कियाहै।

ध्वनिकार को आधार बनाकर भी **मम्मट** ने अपनी मौलिक दृष्टि से रस–दोष के अपवादों या रस–विरोध को दूर करने का प्रयास किया है।

'रस' शब्द यहां स्थायी भाव का वाचक है, यह स्पष्ट करके **आचार्य मम्मट** ने प्रस्तुत प्रकरण मे अग–अंगी भाव को सार्थक कर दिया है/अन्यथा [illegible] स्वरूप वाले रस का अंग–अंगी भाव सम्भव ही न होने के कारण रसों का अंग–अगी भाव सम्बद्ध सम्पूर्ण विवेचन ही निरर्थक हो जाता।

प्रस्तुत प्रकरण मे 'रस' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने की प्रेरणा भी **आचार्य मम्मट** को **ध्वनिकार** से ही प्राप्त हुई है। **ध्वनिकार** ने 'रस' के दोनो अर्थों अर्थात् 'अगी रस' तथा 'स्थायीभाव' को ग्रहण किया है परन्तु **आचार्य मम्मट** ने 'रस' से 'स्थायी भाव' को ग्रहण करके एक प्रकार से रस के महत्त्व को ही सूचित किया है। **आचार्य मम्मट** के प्रकृत रस–दोष अपवाद आदि सम्बद्ध विवेचन का महत्त्व इसी से प्रकट हो जाता है कि परवर्ती काल में काव्यशास्त्रकारो ने प्राय: इसी रूप मे इन तत्त्वो का निरूपण किया है।

अन्य तत्त्वों के विवेचन के समान ही **आचार्य मम्मट** ने प्रकृत प्रकरण मे भी अपनी सूक्ष्म, मौलिक, तर्कपूर्ण तथा सारगर्भित विवेचन शैली का परिचय दिया है जो परवर्ती काव्य–शास्त्रकारो के लिए अनुकरणीय बन गयी।

मम्मट के पश्चात् **विश्वनाथ** ने रस–दोष–परिहार का विशद् विवेचन किया है। यद्यपि इनका विवेचन **मम्मट** पर ही आधृत है तथापि कतिपय स्थलो मे मौलिकता है।[1] विरूद्ध रसों के अविरोध का निरूपण करते हुए साम्य विवक्षा मे इन्होने पृथक् उदाहरण[2] प्रस्तुत किया है। इस उदाहरण मे वीर रस का सचारी कोध वर्णनीय है, परन्तु वीर का विरोधी शृगार साम्य से विवक्षित है। प्रकृत स्थल मे राग, प्रस्वेद, उरूताडन, ओष्ठो को दातो मे दबाना आदि जो कोध के अनुभाव हैं। वे ही शृगार के भी अनुभाव हैं ये विशेषण 'कोध' तथा 'नायिका' दोनो पक्ष मे श्लिष्ट हैं। अनुभावो की समानता के द्वारा यहां शृगार रस विवक्षित है। अत दोष उपस्थित नहीं होता है।

प्रधान रसादि मे विरोधी रसो कै अगत्व को स्पष्ट करते हुए भी **विश्वनाथ** ने एक नवीन उदाहरण[3] प्रस्तुत किया है। जिससे शान्त, शृगारतथा रौद्र तीनो परस्पर विरूद्ध रस प्रधानभूत शिवविषयक रतिभाव के अग हैं। इसी के द्वितीय भेद में इन्होंने 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः०' उदाहरण को प्रस्तुत किया है। उल्लेखनीय है कि **विश्वनाथ** ने यहा शृगार रस को साम्य विवक्षा से आया हुआ माना है। उनका विचार है कि यहा साम्य विवक्षा से आक्षिप्त शृगार रस करूण रस का अग हैं। भगवत् विषयिणी कविमता रति प्रधान रूप से वर्णित है। उसके पुष्ट होने तथा भगवान शिव के प्रति उत्साह के अपरिपुष्ट होने के कारण करूण रस रतिभाव (शिव विषयक) का अग है। कामीव इस साम्य बल से शृगार रस करूण रस का अग है।[4] **आचार्य मम्मट** ने यहा 'कामीव' के द्वारा शृगार रस को उपमान रूप मे ग्रहण किया है। इसलिए यहा साम्य–विवक्षा नहीं मानी है।

१क) *क्वचिदुक्तौ स्वशब्देन न दोषा व्यभिचारिण ।*
अनुभावविभावाभ्या रचना यत्र नोचिता ।।
— विश्वनाथ, सा०द०, ७/२६ ।

ख) *सञ्चार्यादेर्विरूद्धस्य बाध्यत्वेन वचो गुणः।*
विरोधिनोऽपि स्मरणे साम्येन वचनेऽपिवा ।।
—विश्वनाथ, सा० द०, ७/३० ।

ग) *भवेद्विरोधा नान्योन्यमङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तयो ।*
—विश्वनाथ, सा० द० ७/३१ पूर्वार्द्ध।

२ *सरागया सुतघनधर्मतोयया कराहति ध्वनितपृथरूपीठया ।।*
मुहुर्मुहुर्दशनविलाङ्घतोष्ठया रूषा नृपा प्रियतमेव भेजिरे ।।
—विश्वनाथ, सा० द०, ७/३० की वृत्ति।

३ *एक ध्यान निमीलनान्मुकुलितप्राय द्वितीयं पुन पार्वत्या वदनाम्बुजस्तनभरे सम्भोगभावालसम्। अन्यद् दूरविकृष्टचाप मदन कोधानलोद्दीपित शम्भोर्भिन्नरस समाधिसमये नेत्र त्रय– पातु व ।।*
—वही, ७/३० की वृत्ति।

४ *अत्र कविगता भगवद्विषया रति प्रधानम्। तस्या परिपोषकतया भगवतस्त्रिपुरध्वस– प्रत्युत्साहस्यापरिपुष्टतया रसेपदवीनप्राप्ततया भावमात्रस्य करूणोऽङ्गम्। तस्य च कामीवेति साम्यबलादायात शृङ्गार ।*
—विश्वनाथ, सा० द० ७/३१ की व्याख्या।

रसो के अग–अगी भाव का निरूपण करने के पश्चात् **विश्वनाथ** ने यह शंका उत्थापित की है कि रस विभावादि समूह विषयक ज्ञान स्वरूप ही होता है तो एक रस का तत्सदृश दूसरे रस से विरोध सम्भव ही नहीं है तथा उनका अग–अगी भाव भी नहीं हो सकता। पूर्ण होने के कारण स्वतन्त्रता पूर्वक दोनो ही रस पृथक्–पृथक् विश्रान्त होगे इस प्रकार शका उत्थापित करके उसका समाधान करते हुए वे कहते हैं कि जिन रसो मे स्वतन्त्रता से पूर्ण विश्रान्ति नहीं होती या जो पूर्ण रस तथा पूर्ण भाव से रहित होने के कारण अप्रधान होते हैं। उन्हे प्राचीन विद्वान 'सचारी रस' कहते हैं। अपने मत पुष्टि के लिए उन्होने अपने पितामह के भाई **चण्डीदास** की कारिका प्रस्तुत की है जिसमें कहा गया है कि अगी अर्थात् रसादिक यदि दूसरे रस मे अगभूत हो जाय या बाध्य होकर आयें अथवा ससर्गी अर्थात् साम्यरूप से विवक्षित हों तो वह रस पूर्णतया आस्वादित नहीं होता। अत उसे 'खण्डरस' कहते हैं।[1]

उल्लेखनीय है कि आचार्य मम्मट रसादि की अलौकिकता तथा वेद्यान्तर सम्पर्क शून्यता को उल्लिखित करते हुए प्रकृत स्थल में 'रस' शब्द से 'स्थायी भाव' को ग्रहण करने की बात कही है। यहा यह भी विवेचनीय है कि **ध्वनिकार** तथा उनका अनुकरण करते हुए **मम्मट** ने रसों के अविरोध को प्रकट करने के लिए जिन उपायों का वर्णन किया है। वे सभी **विश्वनाथ** द्वारा उद्धृत कारिका मे स्थित है। **चण्डीदास** के विचार से ऐसी स्थिति में स्थित रसों का आस्वादन पूर्णतया नहीं होता है किन्तु **ध्वनिकार** व **मम्मट** द्वारा उद्धृत छन्दों मे रसास्वादन होता है। अत उन्हें 'खण्ड रस' की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है।

रसो के अविरोध का निरूपण करने के लिए उनके आश्रयैक्य तथा नैरन्तर्य रूप विरोध का समाधान **विश्वनाथ** ने **मम्मट** से भिन्न रूप से किया है। इस विषय में इन्होंने किसी कारिका को उल्लिखित नहीं किया है। इन्होंने 'कपोले जानक्या०'[2] छन्द को प्रस्तुत करके यह शका उठायी है कि यहां विरूद्ध रसों–शृंगार तथा वीर का समावेश कैसे किया गया है ? तत्पश्चात् इसी के समाधान स्वरूप आश्रयैक्य तथा नैरन्तर्य विरूद्ध रसो के उचित समावेश का निरूपण किया है।

विश्वनाथ ने अन्त में 'रस शब्द से स्थायी भाव ग्रहण करना चाहिए' ऐसा कहकर अनुकरण की स्थिति में दोष सम्भावना का खण्डन किया है। इसमें उदाहरण स्वरूप 'दुश्च्यवन नौमीत्यादि जल्पति कश्चन' इस पङ्क्ति को प्रस्तुत किया है। यहा श्च्यवन शब्द इन्द्र के लिए अप्रयुक्त है किन्तु अनुकरण के कारण यहां दोष नहीं है।[3]

पण्डितराज जगन्नाथ ने रस–विरोध–परिहार में यद्यपि **मम्मट** तथा **विश्वनाथ** का ही अनुकरण किया है तथापि इनके नामकरण तथा उदाहरण सर्वथा भिन्न हैं।

---

1. *अङ्ग[illegible] संसर्गी यद्यङ्गी स्याद्रसान्तरे।*
   नास्वाद्यते समग्रं तत्तत· खण्डरस स्मृत ।।
   – वहीं, ३/३१ की वृत्ति।

2. *कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुषि स्मरस्मेरस्फारोड्डमरपुलकं वक्त्र कमलम्।*
   मुहुः पश्यन् श्रृण्वन् रजनीचर सेनाकलकल जटाजूटग्रन्थिं द्रढधति रघूणा परिवृढः।।
   –विश्वनाथ, सा० द०, ७/३० की वृत्ति।

3. *अनुकारे च सर्वेषा दोषाणां नैव दोषता।*
   – विश्वनाथ, सा० द० ७/३१ (उत्तरार्द्ध)।

जगन्नाथ ने दो प्रकार के रस विरोध का उल्लेख किया है– स्थिति विरोध तथा ज्ञान विरोध। एक अधिकरण मे दूसरे का न रहना स्थिति विरोध है इसे 'तदधिकरणा वृत्ति' कहते हैं। यथा जिस प्रकार जिस स्थान पर घट विद्यमान रहेगा उसी स्थान पर घट का अभाव नहीं रह सकता। घट तथा घटाभाव में **स्थिति विरोध** है।

ज्ञान विरोध वहा होता है जहा एक विषय के ज्ञान के द्वारा दूसरे विषय का ज्ञान प्रतिबद्ध हो जाता है। इसे 'तत्ज्ञान प्रतिबध्य ज्ञानकत्व' कहते हैं। यथा यदि किसी नायिका के विषय में यह ज्ञान हो कि वह अगम्या है ? तो उसी के विषय मे यह गम्या है यह ज्ञान बाधित हो जाता है। दो ज्ञान एक ही समय में एक ही विषय के बारे मे नहीं हो सकते।

रस–विरोधो में स्थिति विरोध का परिहार **मम्मटाचार्य** आदि द्वारा आश्रयैक्य–विराध–परिहार के समान ही है। इसी प्रसग मे उन्होने **मम्मट** के समान यह भी कहा है कि यहा 'रस' शब्द 'स्थायी' भाव का वाचक है क्योकि रस वस्तुत सहृदय में रहता है नायकादि में नहीं, अनन्त स्वरूप अखण्ड रस का किसी के साथ विरोध नहीं हो सकता है।

ज्ञान–विरोधी का परिहार करते हुए इन्होंने कई उपायों का निरूपण किया है। जिसमे प्रथम उपाय पूर्णत नैरन्तर्य विरोध परिहार के समान है। जिस प्रकार दो विरोधी व्यक्तियों के मध्य कोई सन्धिकर्त्ता उपस्थित होता है उसी प्रकार दो विरोधी रसो के बीच एक तीसरे रस का समावेश करना चाहिए जो दोनों का अविरोधी हो।इस प्रसंग मे [illegible] ने 'भूरेणु दग्धान' के समान ही उदाहरण प्रस्तुत किया है।[1] इसमें भी शृगार तथा अद्भुत रस के मध्य स्वर्गलाभ से अभिव्यजित वीर रस को मध्यस्थ किया गया है। मध्यस्थ का तात्पर्य है कि जब परस्पर विरोधी रसों का बोध हो उसी समय उसके अविरोधी रस का भी बोध होना। ज्ञान विरोध परिहार के द्वितीय उपाय मे इन्होने अड्गाड्गी भाव तथा पोष्य–पोषक भाव से विरोध दूर करने का निरूपण किया है।[2] इस प्रसड् में उन्होंने बाध्य–बाधक भाव विरोध तथा उसके परिहार का भी निरूपण किया है। इनका विचार है कि किसी रस का बाध्य होना है – उस रस के विरोधी रस के प्रबल अगों की उपस्थिति के कारण उसकी अपनी निष्पत्ति न हो पाना है।[3] अत. यदि विरोधी रस के अग विद्यमान हों परन्तु इतने प्रबल न हों कि प्रकृत रस की अभिव्यजना को समाप्त कर दें तो रस का विराध नहीं रहता। उस विरोधी रस के होने पर कोई हानि नहीं है, क्योंकि वह दोषाधायक नहीं है।

---

1. *सुराड्नाभिराश्लिष्ट व्योम्नि वीरा विमानगाः।*
   विलोकन्ते निजान्दे[illegible]राभिरावृत्ताम् ॥
   – जगन्नाथ, र० ग० पृ० ४७।
2. *–द्रष्टव्य,जगन्नाथ, र० ग० पृ०– ४७–४६।*
3. *बाध्यत्व च रसस्य, प्रबलैर्विरोधिनो रसस्याड्गैर्विद्यमानेष्वपि स्वाड्गेषु निष्पत्ते प्रतिबन्ध।*
   –जगन्नाथ, रस० ग०पृष्ठ–४६।

तृतीय उपाय मे उन्होने साधारण विशेषणो के द्वारा विरोधी रसों की अभिव्यक्ति के दोष रूप न होने का निदर्शन किया है। उनके अनुसार यदि दो विरोधी रसो मे समान रूप से श्लिष्ट विशेषणो का प्रयोग किया जाये तो दोष उपस्थित नहीं होता है। इसके उदाहरण में उन्होंने जिस छन्द को प्रस्तुत किया है, उसमें 'वसुन्धरा' के लिए प्रयुक्त विशेषणो से 'युवती' की विशेषताओं की भी अभिव्यक्ति होती है, इसलिए विरोध नहीं है। **जगन्नाथ** द्वारा प्रतिपादित प्रकृत उपाय का उदाहरण **मम्मट** आदि द्वारा प्रस्तुत साम्य–विवक्षा रूप रस–विराध परिहार के समान ही प्रतीत होता है।[1]

मम्मट का प्रकारान्तर से अनुकरण करने पर भी मौलिकता लाने के प्रयास मे इनका विवेचन कुछ क्लिष्ट ही हो गया है। यह भी उल्लेखनीय है कि दोषों में मात्र रस–दोषों का विवेचन करने वाले **जगन्नाथ** ने रस–दोषों के अपवाद या रस–दोष परिहार का स्पष्टत विवेचन नहीं किया है। इन्होंने रस–विरोध परिहार का विवेचन किया है।

पण्डितराज के पश्चात् रस–दोष परिहार पर कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ है। अधिकाशत **काव्य प्रकाश** आदि ग्रन्थो की टीकाए लिखी गयी है। स्वतन्त्र रूप से लिखे गये ग्रन्थों में भी इस विषय पर कोई विशेष विवेचन प्राप्त नहीं होता है।

---

१ *नितान्त यौवनोन्मत्ता गाढरक्ताः सदाहवे।*
वसुन्धरा समालिङ्ग्य शेरते वीर तेऽरयः।।
— तदेव, र०गं०, पृ०–४६

सहृदयगत रस–दोषों का परिहार

कविगत रस–दोषो के परिहार पर विचार करने के पश्चात् **अभिनव गुप्त** द्वारा निरूपित सहृदयगत रस–दोषों का परिहार भी विवेचनीय है।**अभिनव गुप्त** ने इन रस–दोषो के स्वरूप का निरूपण करने के साथ ही इनके परिहार पर भी दृष्टि डाली है, जो द्रष्टव्य है।

प्रतिपत्ति में अयोग्यता या रस की सम्भाव[illegible] का अभाव नामक रस–दोष को दूर करने के लिए समुद्रलघन आदि अलौकिक या लोकोत्तर कार्यों में राम आदि नायकों का नटादि मे ग्रहण करना चाहिए। अलौकिक कार्यों मे सामान्य व्यक्ति को नायक नहीं बनाना चाहिए क्योंकि लोक मे सामान्य व्यक्तियों द्वारा समुद्र लघन आदि अलौकिक कार्य नहीं देखा जाता है। राम आदि नायको के प्रति लोक मानस का बद्धमूल विश्वास है कि ये अलौकिक कार्यों को करने में सक्षम हैं। इसलिए रामादि नायको द्वारा इस प्रकार के कार्यों का वर्णन होने पर रस की सम्भावना समाप्त नहीं होती।[1]

उल्लेखनीय है कि **आनन्दवर्धन** ने वृत्ति के अनौचित्य तथा उनका अनुकरण करते हुए **मम्मटादि** ने 'प्रकृति विपर्यय' नामक रस–दोष के परिहार में उपर्युक्त तथ्य ही प्रस्तुत किया है। इन आचार्यों का भी विचार है कि समुद्र लघन आदि कृत्यो का वर्णन दिव्य पात्रों के सन्दर्भ मे करना चाहिए सामान्य पात्रों के सन्दर्भ में नहीं।

स्वगत रूप से तथा परगत रूप से देश–काल का आवेश रूप रस–दोष का परिहार प्रकारान्तर से साधारणीकरण ही है। साधारणीकरण के द्वारा स्वगत व परगत का भाव नष्ट हो जाता है। सहृदय सामाजिक व्यक्ति–ससर्ग से तथा देशकाल के बन्धन से मुक्त हो जाता है। प्रमाता को यह ज्ञात ही नहीं होता कि इसी को यहीं से तथा यही सुख व दु ख होता है। वह स्व और पर के भाव से तथा देश व काल विशेष[illegible]अनुभूति से निरपेक्ष होकर रस की अनुभूति करता है।

इस दोष के निराकरण के लिए नट के रूप को आच्छादित करने का उपाय करना चाहिए इसलिए मण्डप, मंच आदि की उचित ढग से व्यवस्था होनी चाहिए।[2]

---

१ *तदपसारणे हृदयसवादो लोकसामान्यवस्तु विषयः। अलोकसामान्ये[illegible] तु– चेष्टितेष्वखण्डितप्रसिद्धिजनित [illegible]रकारी प्रख्यातरामादिनामधेयपरिग्रह। अतएव निस्सामान्योत्कर्षोपदेश[illegible]त्पत्तिप्रयोजने नाटकादौ प्रख्यातवस्तुविषयत्वादि– नियमेन निरूपयिष्यत।*

–अभिनव गुप्त, अ०भा०, पृ० २७६।

२ *तदपाकरणे नटरूपताधिगमस्तत्पुरस्सर· प्रतिशीर्षकादिना – त[illegible]नप्रकारोऽभ्युपायोऽलौकिकभाषादिभेदलास्याङ्गरङ्गपीठमण्डप– गतकक्ष्यादिपरिग्रहनाट्यधर्मिसहित·। तस्मिन् हि 'तस्यैवात्रैवैतस्यैव च सुखं वा' इति न भवति। [illegible] निह्नवात्। तत स एष स्वपरनियतताविघ्नापसरणप्रकारोव्याख्यात।*

–तदेव, पृ० २७६–८०।

स्व सुखादि से विवश होने पर जो रस–दोष उत्पन्न होता है उसका निराकरण साधारणीकरण ही है। साधारणीकरण के द्वारा सहृदय सामाजिक व्यक्ति–ससर्ग से उपर उठ जाता है। **अभिनव गुप्त** ने कहा है कि–उस विघ्न के निराकरण के लिए (नाटकादि मे) प्रत्येक पदार्थ मे रहने वाले साधारणीकरण के प्रभाव से सबके भोग्य होने योग्य शब्दादि विषयो से युक्त गाने बजाने तथा विभिन्न प्रकार के नृत्यादि में चतुर गणिकादि के द्वारा सामाजिक के मनोरजन का आश्रय लिया जाता है, जिससे शुष्क मना अरसिक व्यक्ति भी हृदय की निर्मलता, सरसता को प्राप्त कर सहृदय बन जाता है।[1]

अभिनव गुप्त के उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट होता है कि साधारणीकरण ही इस विघ्न को दूर करने का उपाय है। वस्तुत काव्य या नाट्य आदि मे प्रस्तुत वर्णन को अलकारादि के द्वारा या नटादि के द्वारा इस प्रकार निरूपित या अभिनीत किया जाता है कि काव्य को पढते समय या नाट्य आदि को देखते समय पाठक या दर्शक व्यक्तिगत सुख को भूलकर काव्य या नाट्य मे लीन हो जाता है।

प्रतीति के उपायों की विकलता तथा उनकी अस्फुटता रूप रस–विघ्न के अपाकरण का उपाय अभिनव गुप्त ने अभिनय कौशल को माना है। अभिनय कौशल के द्वारा रस की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। काव्य मे रसाभिव्यक्ति के सभी उपायो यथा विभावादि का निरूपण स्पष्टतया होने से रसानुभूति में बाधा उपस्थित नहीं होती है। विभावादि के समुचित सन्निवेश से काव्य मे तथा नट के अभिनय कौशल से नाट्य मे प्रकृत रस–विघ्न का निराकरण हो सकता है।[2]

रस की अप्रधानता रूप रस–विघ्न का परिहार करने के लिए काव्य या नाट्य में स्थायी भाव के वर्णन को प्रधानता देनी चाहिए। **अभिनव गुप्त** ने स्थायी भाव की प्रधानता का विस्तृत व सूक्ष्म विवेचन किया है। उन्होने सभी रसो को सुखद माना है स्थायी भाव की विभाव आदि की अपेक्षा प्रधानता का वर्णन किया है। विभावादि की समप्रधानता को महत्त्व दिया है। काव्य या नाट्य में प्रधानभूत रस का विस्तृत वर्णन ही समीचीन होता है। इससे व्यक्त होता है कि प्रधान की अपेक्षा अप्रधान रस का विस्तृत वर्णन न करके प्रकृत रस–विघ्न का निराकरण किया जा सकता है।[3]

विभावादि का असंदिग्ध रूप से वर्णन करके संशययोग रूप रस–दोष को दूर किया जा सकता है। विभावादि का इस प्रकार वर्णन होना चाहिए जिससे वे वर्णित या संबद्ध रस के ही विभावादि के रूप में स्फुटतया प्रतीत हों। आचार्य अभिनव गुप्त प्रकृत रस–दोष के परिहार का स्पष्ट निरूपण नहीं किया है। परन्तु पूर्वोक्त रस–दोषों के परिहार पर की गयी विस्तृत व्याख्या से सशय योग रूप रस–दोष का परिहार भी प्राय हो ही जाता है।

---

1 *तत्प्रत्यूह व्यपोहनाय प्रतिपादनार्थनिष्ठै साधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्वसहिष्णुभि – [illegible] रातोद्यमान विचि[illegible]दग्धगणिकादिभिरूपरञ्जन समाश्रितम्। [illegible] हृदयवैमल्य प्राप्त्या सहृदयीकियते।*

– तदेव, पृ० २८०।

2 *तस्मात्तदुभयनि[illegible]ऽभिनया लोकधर्मिवृत्तिप्रवृत्त्युपस्कृता समभिषिच्यन्ते। अभिनयनं हि– सशब्दलि[illegible]व्यापारविसदृशमेव, प्रत्यक्षव्यापारकल्पमिति निश्चेष्याम।*

– अभिनव गुप्त, अ०भा०, पृ० २८०।

3 *रूपकभेद पर्यायेण सर्वेषा प्राधान्यमेषां लक्ष्यते।. . . किन्तु[illegible] एव रसास्वादस्योत्कर्ष।*

–तदेव, पृ० २८०–८५।

षष्ठ अध्याय : रस-दोष : गुणादिगत

गुण और गुणगत रस-दोष

रीति और रीतिगत रस-दोष

वृत्ति और वृत्तिगत रस-दोष

प्रवृत्ति और प्रवृत्तिगत रस-दोष

अलंकार और अलंकार गत रस-दोष

गुणादिगत रस-दोष का परिहार

काव्य घटक गुण, रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति तथा अलकारगत रस–दोषो पर विचार करने से पूर्व इनके स्वरूप, काव्य मे इनका स्थान तथा काव्यात्मा रस से इनका सम्बन्ध विचारणीय है। यहा उल्लिखित तथ्यों पर विचार द्रष्टव्य है।

गुण और गुणगत रस-दोष

गुणो का काव्यशास्त्रीय रूप मे निरूपण सर्वप्रथम **नाट्य–शास्त्र** मे प्राप्त होता है यद्यपि पूर्ववर्ती आचार्यों का नामोल्लेख **भरतमुनि** तथा **पाणिनि** ने किया है [1] परन्तु उनके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। अत **भरतमुनि** के गुण–विवेचन को ही काव्यशास्त्र का प्रथम गुण–विवेचन मानना युक्ति सगत है।

भरतमुनि ने काव्य–दोषो के विपर्यय को गुण कहा है। [2] विपर्यय का अर्थ **आचार्य अभिनव गुप्त** ने अभाव बताया है। **भरतमुनि** निरूपित गुणो के स्वरूप–विवेचन पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि सभी गुण दोषाभावात्मक–मात्र नहीं है। यह भी विचारणीय है कि **भरत** के प्रत्येक गुण को उनके प्रत्येक दोष का विपरीत रूप या विपरीत धर्म भी नहीं माना जा सकता।

डा० नगेन्द्र ने कहा है कि **भरत** ने गुण को दोष का वैपरीत्य ही माना है। [3] किन्तु यह वैपरीत्य सामान्य है, विशिष्ट नहीं। **आचार्य अभिनव गुप्त** ने माधुर्य तथा औदार्य इन दो गुणो को दोषो का अभाव कहा है।[4] परन्तु इन गुणों के स्वरूप पर विचार करने पर ज्ञात होता है. कि इन गुणों के लक्षण मे दोष अभाव की अनिवार्यता नहीं है।

आचार्यआनन्द वर्धन तथा उनका अनुकरण करने वाले आचार्य माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुणो की भावात्मक सत्ता मानते हैं तथा ये आचार्य गुणो को दोषों का अभाव रूप नहीं मानते। आ[illegible] ने गुणाभाव को दोष मानकर गुणो की भावात्मक सत्ता का [illegible] किया है। डॉ० सुशील कुमार डे का विचार है कि जनसामान्य को गुणों की अपेक्षा दोष ज्ञान शीघ्र हो जाता है। इसलिए सरलता के लिए अर्थात् जनसामान्य को शीघ्र समझ में आने के लिए **भरत** ने गुणों को दोष विपर्यय कह दिया है।[5]

भरतमुनि ने दस गुणों का निरूपण किया है।[6] इन्होंने भेद नहीं किये हैं परन्तु गुणों के स्वरूप को देखकर स्पष्ट होता है कि इनके [illegible] द्वारा निरूपित गुणों को तीन वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है – शब्दगत, अर्थगत तथा शब्दार्थोभयगत। प्रसाद, माधुर्य, ओज तथा समता को शब्द, अर्थव्यक्ति, उदारता एव समाधि को अर्थगत तथा सौकुमार्य कान्ति व श्लेष को शब्दार्थोभयगत माना जा सकता है।

---

१ क) –भरतमुनि, ना०शा० (ओ०इ०, बडौदा १६३४), १/२६, पृ० ३।

ख) पाराशर्य शिलालिभ्या भिक्षुनटसूत्रयो।

–अष्टाध्यायी ४/३/११०।

२ –भरतमुनि, ना० शा०, १६/६५ (काशी सस्करण)।

३ –डॉ० नगेन्द्र, हिन्दी काव्यालकार सूत्र की भूमिका, पृ० ५६।

४. अथ गुणेषु प्रतिजानीते–'एषा विपर्ययाद् गुणा भवन्ति, एतद्दोष विघात एव गुणो भवतीत्यर्थ। किमविशेषेता नेत्याह माधुर्यौदार्यलक्षण मङ्को येषाम्। एतदुक्तभवति–एतद् दोष विहीन– श्रुतिमुख दीप्तरस च यदि भवति तावत् गु[illegible] च हीनमपि काव्य लक्षणयोगा– व्यभि[illegible]।

–अभिनव गुप्त, अ० भा०, पृ० ३३३–३४।

५ डॉ० सुशील कुमार डे– हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स, वैल्यूम द्वितीय, पृ० १२

६. श्लेष: प्रसाद समता समाधिर्माधुर्यमोज:, पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरूदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते।।

–भरतमुनि ना० शा० १६/१६

भरत के **नाट्यशास्त्र** के पश्चात् गुणो का विवेचन **भामह** के **[illegible]ालंकार** में प्राप्त होता है। गुणो के विषय मे **भामह** का विचार सर्वथा मौलिक प्रतीत होता है। इन्होने मात्र तीन गुणो को मान्यता दी है माधुर्य, प्रसाद तथा ओज। उल्लेखनीय है कि **भामह** ने इन्हे गुण सज्ञा प्रदान नहीं की है। उन्होंने भाविक नामक प्रबन्धगुण का उल्लेख किया है।[१] परन्तु माधुर्य आदि के साथ उसका निरूपण नहीं किया है। माधुर्यादि का आधार पदो के समास को माना गया है।[२] अर्थात् माधुर्यादि के स्वरूप निरूपण मे पदो मे स्थित समास को आधारमाना है।उल्लेखनीय है कि परवर्ती आचार्यो ने भाविक को अलकार माना[३]।

रीति–विवेचन के प्रसग में भी **भामह** ने कतिपय गुणो का उल्लेख किया है। रीति मे श्रेष्ठता लाने के लिए **भामह** प्रसन्न ऋृजु, कोमल, श्रुतिपेशल, अग्राम्य तथा अनाकुल शब्दार्थ का प्रयोग उचित मानते हैं। इस प्रकार **भामह** ने प्रसाद, ऋृजुता, कोमलत्व, श्रुति पेशलत्व, अग्राम्यत्व एव अनाकुलत्व नामक गुणों का उल्लेख किया है।

भामह ने भाविकगुण के हेतु के रूप मे भी कई गुणो का उल्लेख किया है। ये गुण हैं– चित्र, अर्थत्व, उदात्त अर्थत्व, अद्‌भुत् अर्थत्व, कथा की स्वाभिनीतता तथा शब्दों की अनुकूलता।[४]
आचार्य भामह ने कतिपय दोषों को परिस्थिति विशेष मे गुण हो जाने की भी चर्चा की है। जिन्हें परवर्ती काल मे दोष–गुण या वैशेषिक गुण भी कहा गया है।[५]

भामह के पश्चात् **दण्डी** ने गुणों पर विस्तृत रूप से विचार किया है।इन्होने प्राय **भरतमुनि** का ही अनुकरण किया है। इनके अनुसार गुणों की सख्या दस ही है। यद्यपि **दण्डी** का गुण विवेचन **भरत** पर आधृत है तथापि इसमें मौलिकता का अभाव नहीं है। **भरत** के शब्दगत गुणो में **दण्डी** ने अर्थ को भी महत्त्व दिया है जहाँ **भरत** ने शब्द तथा अर्थ दोनों को समान महत्त्व दिया है। वहाँ **दण्डी** ने अर्थ को या शब्द मात्र को महत्त्व दिया। इस प्रकार **भरत** के द्वारा वर्णित गुणों के स्वरूप से **दण्डी** के गुणो का स्वरूप बदल जाता है। उदाहरणार्थ **भरत** का श्लेष गुण शब्दार्थोभयगत है जबकि **दण्डी** ने श्लेष गुण को महत्व दिया तथा इसका स्वरूप भी भरत से भिन्न है।[६]

---

१. *भाविकत्वमितिप्राहुः प्रबन्ध विषयं गुणम्।*
–भामह, काव्यालङ्कार, ३/५३।

२. *–वही, २/१/२/३।*

३. *–विश्वनाथ, सा० द०, १०/१२२।*

४. *–भामह काव्या० १/५४।*

५. *वैशेषिकास्तु ते न्यूनं दोषत्वेऽपि हि ये गुणाः।*
–भोज, स० क०, पृष्ठ ४६ प्रकाशक–जीवानन्द विद्या सागर, कलकता, द्वितीय सस्करण।

६ क) *[illegible]ल्पप्राणाक्षरोत्तरम्।*
–दण्डी, काव्यादर्श १/४३।

ख) *ईप्सितेनार्थ जातेन सम्बद्धाना परस्परम्।*
श्लिष्टता या पदानां स श्लेष इत्यभिधीयते।।
–भरतमुनि, ना०शा० १६/६८।

आचार्य वामन ने गुणों की भावात्मक सत्ता स्वीकार की है। दोषो को इन्होने भावात्मक माना है। गुणो को काव्य मे अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है। गुणो के भाव तथा अभाव के आधार पर ही वैदर्भी गौडी व पांचाली रीतियो के स्वरूप का निर्णय किया।[1]

वामन ने **भरत** तथा **दण्डी** के दस गुणो को मान्यता प्रदान करते हुए शब्दगत तथा अर्थगत रूप मे विभाजित करके गुणों की सख्या बीस कर दी है। इन्होंने गुणों का भेद करने का भी प्रयास किया है। प्रत्येक गुण का शब्द व अर्थ गत रूप मे भेद किया है।[2] इन गुणो का स्वरूप विवेचन करने पर ज्ञात होता है कि **वामन** ने कतिपय गुणो की सर्वथा स्वतन्त्र रूप से कल्पना की है, कुछ गुणो को **भरत** तथा **दण्डी** के गुण–स्वरूपो मे स्थित विशिष्टता के आधार पर निरूपित किया है तथा कहीं **भरत** और **भामह** द्वारा दी गयी पृथक्–पृथक् परिभाषाओ मे से ही गुणो के स्वरूप को निरूपित कर दिया है। उदाहरणार्थ ओज तथा प्रसाद इन विरोधी गुणो की सहस्थिति की कल्पना[3] तथा कान्ति व उदारता गुण की परिभाषा मौलिक है।[4]

---

१ *समग्रगुणा वैदर्भी ओज कान्तिमती गौडीया,*
माधुर्य सौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली ।
–वामन, काव्यालकार–सूत्र, १/२/ ११–१३।

२. *वामन का० सू०, तृतीय अधिकरण*

३ *सत्वनुभव सिद्ध ।।*
स तु संप्लवस्त्वनुभवसिद्ध तद्विदा रत्नादिविशेषवत्।
अत्र श्लोक–
'करूणप्रेक्षणीयेषु सप्लव. सुखदुखयो.।
यथानुभवत. सिद्धस्तथैवोज प्रसादयो' ।।
साम्योत्कर्षौ च ।।
साम्यमुत्कर्षश्चौज: प्रसादयोरेव।
साम्य यथा– 'अथ न विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे तृपतिककुद्र दत्त्वा यूने सितातपवारणम्।
प्रसादस्योत्कर्ष ।
–तदेव, का० सू०, ३/१/६ एव १० की वृत्ति सहित

४ *विकटत्वमुदारता।। औज्ज्वल कान्ति ।।*
अग्राम्यत्वमुदारता।। दीप्तरसत्व कान्ति ।।
–तदेव, का० सू० ३/१/२३, २५ तथा ३/२/१३, १५।

सर्वप्रथम आचार्य **आनन्द वर्धन** ने गुण के सड्घटनाश्रयत्व सिद्धान्त को अस्वीकार करके उसकी रस–धर्मता का प्रतिपादन किया है। गुणो के स्वरूप पर सूक्ष्मता से विचार करते हुए इन्होने अलकारो से इसकी भिन्न धर्मता का भी प्रतिपादन किया। आनन्द वर्धन ने यह भी स्पष्ट किया कि गुण वस्तुतः रस के धर्म हैं। कभी–कभी उपचारवश इन्हें रस के व्यजक शब्द व अर्थ के धर्म भी कह दिया जाता है।[1] आचार्य आनन्द वर्धन ने तीन गुणो को मान्यता दी माधुर्य ओज और प्रसाद। यद्यपि **भामह** ने भी तीन गुणों को ही मान्यता दी है परन्तु स्वरूपत **आनन्द वर्धन** के गुण **भामह** के गुणो से भिन्न है। **भामह** ने अल्प समास व दीर्घ समास पद रचना के आधार पर गुणो का स्वरूप निर्धारित किया और **आनन्द वर्धन** ने चित्तवृत्ति की द्रुति, दीप्ति आदि के आधार पर गुणो का निरूपण किया है।

आचार्य राजशेखर ने **काव्य–मीमासा** के प्रारम्भ मे 'गुणौपादानिक' नामक अध्याय की चर्चा की है परन्तु, पुस्तक का यह अश उपलब्ध नहीं है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि इन्होने गुणो पर विस्तृत रूप से विचार किया होगा। पाठगुण विवेचन कम में प्रसाद तथा ओज गुण की चर्चा प्राप्त होती है।[2]

आचार्य कुन्तक ने माधुर्य, प्रसाद लावण्य तथा आभिजात्य नामक गुणो का उल्लेख किया है। इन्होने सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम इन तीन मार्गों का उल्लेख करके उनके गुणों का वर्णन किया है।[3] उल्लेखनीय है कि प्रत्येक मार्ग मे गुणों का स्वरूप परिवर्तित हो जाता है। जैसे विचित्र मार्ग के माधुर्य गुण का स्वरूप सुकुमार मार्ग के माधुर्य गुण से भिन्न है।[4] इन गुणो के अतिरिक्त **आचार्य कुन्तक** ने औचित्य तथा सौभाग्य नामक दो साधारण गुणो की भी कल्पना की है।[5]

आचार्य कुन्तक ने पूर्वाचार्यों के अनुसार गुण का निरूपण न करते हुए भी प्रकारान्तर से उन्हें स्वीकार किया है। जैसे सुकुमार मार्ग के लावण्य गुण मे **दण्डी** के सुकुमारता गुण के लक्षण को प्रकारान्तर से स्वीकार किया है। विचित्र मार्ग के माधुर्य गुण मे दण्डी के अस्पृष्ट शैथिल्य ओज को स्वीकार किया है।

भोजराज ने **सरस्वती कण्ठाभरण** में गुणों पर विचार किया है। इन्होंने गुणों को तीन भागो में विभक्त किया है। वाह्य, आभ्यन्तर तथा वैशेषिक। शब्दगत गुण 'वाह्य' अर्थगत गुण 'आभ्यन्तर' है, जो दोष विशेष परिस्थितियों में गुण बन जाते हैं। वे वैशषिक हैं जिन्हें 'दोष गुण' भी कहा जा सकता है।[6]

---

१ *तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिन ते गुणा स्मृता ।*
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारो मन्तव्या कटकादिवत् ।।
–ध्वन्या० २/२६।

२ *–राजशेखर, काव्य–मीमासा, ७, पृष्ठ–३३, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज, बडौदा।*

३ *–कुन्तक, वक्रोक्तिजीवित, ४/३०–३३, ४४–४८ तथा ५० वी कारिका*

४ क) *असमस्त मनोहारिपदविन्यास जीवितम्। माधुर्यं सुकुमारस्य मार्गस्य प्रथमो गुण।*

ख) *वैदग्ध्यस्यन्दि माधुर्यं पदानापन्न बध्यते। याति यत्त्यक्तशैथिल्य बन्धबन्धुरताड़ताम्।।*
– तदेव, व० जी० १/३० तथा ४४।

५ *–तदेव, व० जी० १/५३–५७।*

६. *–भोजराज, सरस्वती कण्ठाभरण पृष्ठ–४६, काव्य माला सीरीज, निर्णयसागर प्रेस।*

भोजराज ने शब्द गुण के चौबीस प्रकार माने हैं और उन्हीं नामो से उन्होने चौबीस अर्थगुण भी माने हैं। **आचार्य भोज** के गुणो का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि इन्होने पूर्वाचार्यों के सभी गुणो को अपने गुणो मे समाहित कर लिया है। इन्होने वैशेषिक गुणो के भी चौबीस भेद बताये हैं।

भोज ने इसे सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया है। इन गुणो के अतिरिक्त **भोज** ने प्रबन्धगत गुणो का भी उल्लेख किया है।

अग्निपुराण मे गुण धारणा सर्वथा नवीन रूप में है। यहाँ गुण को काव्य मे कान्ति का आधान करने वाला धर्म कहा गया है। गुणो को दो वर्गों मे विभाजित किया गया है– सामान्य तथा वैशेषिक। सामान्य गुण के भी तीन उपभेद किये गये हैं। शब्दगत, अर्थगत, उभयगत[1] **अग्निपुराणकार** ने अन्य आचार्यों के अलकारो को भी गुण वर्ग मे परिगणित कर लिया है।[2]

आचार्य क्षेमेन्द्र ने कविकण्ठाभरण नामक ग्रन्थ मे काव्य–गुणो पर विचार किया है। उन्होने सर्वथा मौलिक रूप से गुणो का निरूपण किया है। **आचार्य क्षेमेन्द्र** ने तीन गुण माने हैं– शब्द वैमल्य, अर्थ वैमल्य तथा रस वैमल्य।[3] गुणो की परिभाषा **क्षेमेन्द्र** ने प्रस्तुत नहीं की है उदाहरण मात्र प्रस्तुत किया है। यदि उदाहरणो के आधार पर **क्षेमेन्द्र** कृत गुणो का स्वरूप निर्धारित किया जाय तो शब्द वैमल्य की प्रसाद से अर्थ वैमल्य की **वामन** के अर्थगत प्रसाद[4] से समानता दिखाई देती है। रस की विमलता को गुण मान लेना समीचीन प्रतीत नहीं होता।

उल्लेखनीय है कि **आचार्य क्षेमेन्द्र** ने गुणो की विपरीत स्थिति के आधार पर तीन दोषों की कल्पना की है। जिसमे 'रस–कालुष्य' रूप दोष का स्वरूप 'प्रकृति–विपर्यय' नामक रस–दोष के समान है।

आचार्य मम्मट ने **आचार्य आनन्द वर्धन** द्वारा स्थापित गुण–धारणा को दृढता प्रदान की है। इन्होने भी गुणो की रस–धर्मिता को मान्यता दी है। इन्होने गुणों को रस का उत्कर्षक कहने के साथ ही रस के साथ उनकी अचल स्थिति को भी स्पष्ट किया।[5] **मम्मट** के टीकाकारो ने इनकी व्याख्या करते हुए कहा है कि **मम्मट** के गुण–स्वरूप निरूपण से स्पष्ट है कि गुण रस के धर्म हैं। रस से पृथक् उनकी स्थिति नहीं रहती इस के साथ उनकी अव्यभिचरित स्थिति है तथा वे सदैव रस का उपकार ही करते हैं।[6]

---

1 –अग्निपुराण, ३४६/१,२,३

2 –तदेव, ३४६/२,३

3 *तत्र शब्द वैमल्यमर्थ वैमल्य रस वैमल्यमिति त्रय· काव्य गुणा।*
–क्षेमेन्द्र, कविकण्ठाभरण, ४/१।

४ क) *शैथिल्य प्रसाद·।*
अर्थवैमल्य प्रसाद·।।
–वामन, का० सू०, ३/१/६ तथा ३/२/३।

ख) *–क्षेमेन्द्र, औ० वि० च०, ४/१ की वृत्ति।*

5 *ये रसस्याङ्गिनो धर्मा· शौर्यादय इवात्मन।*
उत्कर्ष हेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणा·।।
–मम्मट का० प्र० ८/६६।

6 *एवं च रसस्य उत्कर्ष हेतुत्वे सति रसधर्मत्व, तथात्वे सति–*
रसाव्यभिचारि स्थितित्वम्, अयोग व्यवच्छेदेन रसोपकारकत्व–
चेति लक्षण त्रयं गुणाना द्रष्टव्यम्।
–मम्मट का० प्र० ८/६६ पर गोविन्द ठक्कुर की काव्यप्रदीप।

आचार्य मम्मट ने उपर्युक्त कारिका की वृत्ति में गुणो को शब्द या वर्ण पर आश्रित होने के सिद्धान्त का खण्डन किया हें। इन्होने कहा कि अनुकूल या उचित वर्णों से गुण की व्यञ्जना अवश्य होती है। परन्तु गुण वर्णमात्र पर आश्रित नहीं रहते।[1] वर्ण आदि को मधुर कहना मात्र औपचारिक प्रयोग है। **आचार्य मम्मट** ने गुणो का स्वरूप **आचार्य आनन्द वर्धन** के समान ही चित्त की वृत्ति के आधार पर किया है। **मम्मट** के पश्चात् **विश्वनाथ** ने **आनन्द वर्धन** तथा **मम्मट** का अनुकरण करते हुए ही गुण का विवेचन किया है। यद्यपि विश्वनाथ ने मम्मट का ही अनुकरण किया है परन्तु गतानुगतिक की भॉति नहीं।

आचार्य **मम्मट** ने माधुर्यादि गुणों को चित्त की द्रुति आदि का कारण माना है। परन्तु **विश्वनाथ** ने इस मान्यता का खण्डन किया है। उनका विचार है कि कार्यकारण सम्बन्ध मे दो वस्तुओ की पृथक् सत्ता होनी चाहिए तात्पर्य यह कि कार्य व कारण पृथक्–पृथक् होना चाहिए। चित्त की द्रुति आस्वाद स्वरूप आह्लाद से भिन्न नहीं है। **मम्मट** ने भी माधुर्य को आह्लाद स्वरूप माना है। इस प्रकार आह्लाद रूप माधुर्य अपने स्वरूप से अभिन्न द्रुति का कारण कैसे हो सकता है? उन्होने कहा कि चित्त का द्रवीभाव रसादि रूप आह्लाद से अभिन्न है और यह अनुभव सिद्ध है। इस स्थिति में माधुर्यादि को चित्त की द्रुति आदि का कारण नहीं माना जा सकता ।[2] यह **विश्वनाथ** की मौलिक उद्भावना है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने नव्य न्याय शैली में गुण–विवेचन किया है। इन्होंने गुण के रसधर्मत्व का खण्डन वेदान्त दर्शन के आधार पर किया है। काव्य की आत्मा रस को निर्गुण मानकर गुण की रसधर्मता को स्वीकार नहीं किया है। यहॉ इन्होने प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों के सिद्धान्त पर सिद्ध किया है कि गुण रसाश्रित नहीं है।[3]

पण्डितराज ने माधुर्य आदि तीन गुण मानने वाले रसवादी आचार्यों के मतवैभिन्न को प्रस्तुत करके अपना सिद्धान्त स्थापित किया है। इन्होने शब्दार्थगत दस गुणों के साथ–साथ माधुर्यादि तीन गुणो का भी विवेचन किया है। प्राचीन आचार्यों के दस गुणो का उल्लेख करके उनकी कुछ नवीन परिभाषाओं को भी प्रस्तुत किया है।[4]

अतः माधुर्य, प्रसाद, ओज – इन गुणोके स्वरूप पर एक विहङ्गम दृष्टिपात अपेक्षित है।

मम्मट ने गुण तीन हैं यह दृढ़ता पूर्वक कहा है। उन्होंने पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित गुणों मे से कतिपय को इन्हीं गुणों में अन्तर्भुक्त कर लिया, कुछ को गुण माना ही नहीं तथा कुछ की दोष मान लिया है।[5]

---

१ *अतएव माधुर्यादयो रसधर्मा समुचितैर्वर्णैः व्यञ्जन्ते न तु वर्ण मात्राश्रयाः।*
–मम्मट, का० प्र० ८/६६ की वृत्ति।

२ *माधुर्य द्रुतिकारणम् इति, तन्न, द्रवीभावस्य आस्वाद स्वरूपाह्लादाभिन्नत्वेनतत्कार्य्थत्वाभावात्।*
– विश्वनाथ, सा० द० वृत्ति पृ० ५३५।
(स० हेमचन्द्र भट्टाचार्य, देवलेनकलकत्ता चतुर्थ सस्करण)

३ *रसगङ्गाधर, प्रथमआनन, पृष्ठ ८८–८९, मुद्रक, विद्या विलास प्रेस, बनारस।*

४ *र० ग०, प्रथम आनन, पृ० ८९–९७, मुद्रक विद्याविलास प्रेस, बनारस।*

५. केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परेश्रिता.।
अन्ये भजन्ति दोषत्व कुत्र चिन्न ततो दश ।।
–मम्मट, काव्य प्रकाश, ८/७२।

माधुर्य गुण को परिभाषित करते हुए **मम्मट** ने इसे चित्त की द्रुति का हेतु बताया है तथा इसे आह्लाद स्वरूप कहा है। यह गुण संयोग शृगार मे द्वेष आदि से उत्पन्न कठोरता को चित्त से दूर कर उसमे द्रुति उत्पन्न करता है।[1]

मम्मट का विचार है कि शृगार रस में चित्त की द्रुति का कारणभूत आह्लाद ही माधुर्य गुण है। इससे ज्ञात होता है कि जिन रौद्र आदि रसो मे माधुर्य गुण नहीं होता। वहाँ भी आह्लाद होता है परन्तु चित्त की द्रुति न होने के कारण माधुर्य गुण नहीं होता।[2] उल्लेखनीय है कि गुण आह्लाद का हेतु नहीं वरन् स्वय आह्लाद स्वरूप है जहाँ चित्त की द्रुति का कारणभूत आह्लाद है वहीं माधुर्य गुण होगा अन्यत्र नहीं । वस्तुत आह्लाद तो सभी रसो मे होता ही है।

आनन्द वर्धन ने भी माधुर्य गुण को शृगार रस का गुण माना है। शृगार रस अन्य रसों की अपेक्षा चित्त मे अधिक आह्लाद की सृष्टि करता है। इसलिए उसे मधुर कहा जाता है। ध्वनिकार ने कहा है कि यद्यपि माधुर्य शृगार रस का गुण है तथापि उपचार से इसे रस के व्यजक शब्द एव अर्थ का धर्म भी कहा जाता है। मम्मट ने भी इसका समर्थन किया है। इन्होने माधुर्यादि व्यजक वर्गों का भी उल्लेख किया है।[3]

मम्मट ने माधुर्य गुण की उत्तरोत्तर प्रकर्षावस्था को भी प्रतिपादित किया है। उनका विचार है कि माधुर्य गुण सयोग शृगार, करूण, विप्रलम्भ शृगार व शान्त रस में उत्तरोत्तर प्रकर्षावस्था मे रहता है।[4] सयोग शृगार की अपेक्षा करूण मे, करूण की अपेक्षा विप्रलम्भ शृगार मे तथा विप्रलम्भ की अपेक्षा शान्त रस में माधुर्य गुण उत्कृष्ट रूप से रहता है। **मम्मट** के विचारो पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि माधुर्य गुण की **प्रकर्षावस्था** में **मम्मट आनन्द वर्धन** के अनुगामी नहीं है। **आनन्द वर्धन** विप्रलम्भ की अपेक्षा करूण में माधुर्य का उत्कर्ष मानते हैं जबकि **मम्मट** करूण की अपेक्षा विप्रलम्भ मे माधुर्य की उत्कृष्टता स्वीकार करते है।[5]

आनन्द वर्धन ने शान्त रस मे माधुर्य की सत्ता नहीं मानी है। **अभिनव गुप्त** ने शान्त में ओज के साथ माधुर्य का भी सन्निवेश माना है।[6]

---

१ *आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम्।*
—मम्मट, का०प्र० ८/६८।

२ *शृङ्गार एव मधुर· पर प्रह्लादनो रसः।*
तन्मय काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति।।
—आनन्दवर्धन, ध्वन्या २/३०।

३ क) *गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्ति· शब्दार्थयोर्मता·।*
ख) *मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू। अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा।।*
योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययो। टादि· शषौ वृत्तिदैर्ध्यं गुम्फ उद्धत ओजसि।।
श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थ प्रत्ययो भवेत्। साधारण समग्राणा स प्रसादो गुणो मत।।
— मम्मट, का० प्र०, ८/७१, ७४—७६।

४ *करूणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्।*
— मम्मट, का० प्र०, ८/६८।

५ *शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करूणे च प्रकर्षवत्।*
माधुर्यमार्द्रता याति यतस्तत्राधिक मन।।
—आनन्द वर्धन, ध्वन्यालोक, २/३१।

६ *—अभिनव भारती, पृ०—८० काव्य माला सीरीज।*

ओज गुण चित्तवृत्ति के विस्तार का गुण है। यह माधुर्य से विपरीत होता है। **मम्मट** ने इसे परिभाषित करते हुए कहा है कि ओज चित्त की दीप्ति रूप विस्तार का कारण है यह वीर रस मे स्थित होता है।[1]

ओज गुण की उत्तरोत्तर प्रकर्षावस्था के विषय में मम्मट कहते हैं कि वीभत्स व रौद्ररस में ओज का क्रमश आधिक्य प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि रौद्ररस मे चित्त सर्वाधिक दीप्त होता है। इसलिए वीर रस की अपेक्षा बीभत्स रस मे तथा बीभत्स की अपेक्षा रौद्ररस मे ओज गुण का उत्कर्ष होता है।[2]

उल्लेखनीय है कि **आनन्द वर्धन** ने रौद्रादि मे ओज गुण की स्थिति बतायी थी। **अभिनव गुप्त** ने लोचन में 'आदि' पद से वीर तथा अद्‌भुत रस को ग्रहण किया है। **मम्मट** ने अद्‌भुत के स्थान पर बीभत्स रस मे ओज गुण की सत्ता स्वीकार की है। **डा० राघवन** ने अभिनव गुप्त का समर्थन करते हुए अद्‌भुत में ही चित्त के अत्यधिक विस्तार को स्वीकार किया है।[3]

प्रसाद गुण की सभी रसों मे सत्ता मानी गयी है। **मम्मट** ने इस की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहा है कि सूखी लकडी मे आग की तरह एव स्वच्छ वस्त्र मे जल की तरह जो गुण तत्काल ही रस से चित्त को व्याप्त कर लेता है इसे प्रसाद गुण कहते है।[4]

आचार्य मम्मट ने प्रसाद गुण के लक्षण मे रस से चित्त को व्याप्त करने के दो दृष्टान्त प्रस्तुत किये हैं। इससे प्रसाद गुण मे ओज तथा माधुर्य गुण की विशेषताओ के समावेश का ज्ञान होता है। तात्पर्य यह कि प्रसाद गुण में ओज व माधुर्य दोनों गुणों का स्वभाव समाहित है। सूखी लकडी में अग्नि की तत्काल व्याप्ति रूप दृष्टान्त से ओज का तथा स्वच्छ वस्त्र मे जल भी व्याप्ति से माधुर्य गुण की विशेषताओ को प्रकट किया है। ये दोनो दृष्टान्त **अभिनव गुप्त** ने प्रस्तुत किये है।[5] प्रथम दृष्टान्त ओज गुण प्रधान रसों की अनुभूति के समय चित्त के प्रज्वलित होने का तथा द्वितीय दृष्टान्त माधुर्य गुण प्रधान शृगारदि रसो की अनुभूति के समय हृदय के आर्द्र हो जाने के भाव को व्यञ्जित करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि रस की अनुभूति दशा मे चित्त की तीन प्रकार की अवस्थायें हो जाती है। शृगार, करूण तथा शान्त रस की अनुभूति काल मे चित्त आर्द्र होता है, वीर, रौद्र तथा बीभत्स रस की अनुभूति के समय चित्त का विस्तार होता है तथा हास्य, अद्‌भुत व भयानक रसो की अनुभूति के समय चित्त का विकास होता है।

---

१ *दीप्तात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति।*
—मम्मट, का०प्र०, ८/६६।

२ *बीभत्स रौद्ररसयोस्तस्याधिक्य क्रमेण च*
—मम्मट का० प्र० ८/७० पूर्वार्द्ध।

३ *भोजाज़ शृङ्गार प्रकाश – पृ० ३५७*

४ *शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छजलवत्सहसैव य.।*
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थिति।। –
—मम्मट का० प्र० ८/७०–७१।

५ *अभिनव गुप्त, ध्वन्यालोक लोचन, पृष्ट—८२, काव्यमाला सीरीज*

काव्य–गुणो को रस–धर्म मानने का सिद्धान्त ही विचारको को मान्य है। इस दृष्टि से विवेचनीय है कि काव्य–शास्त्रकारो ने काव्य गुणो को काव्य मे किस प्रकार महत्त्व प्रदान किया है?

भरत ने गुण को शब्द तथा अर्थ पर आश्रित माना है। परन्तु विचारणीय है कि वाचिक अभिनय रस पर आश्रित होता है अर्थात् रस के अनुकूल शब्द व अर्थ का प्रयोग नाट्य मे किया जाता है। गुण वाचिक अभिनय पर आश्रित है। प्रकारान्तर से **भरत** ने गुण को रसाश्रित ही माना है। यहॉ यह भी उल्लेखनीय है कि **भरत** ने उदारता गुण को शृगार व अद्भुत रस से युक्त माना है।[1] इस प्रकार **भरतमुनि** भी परम्परया गुण के रस आश्रितत्व को स्वीकार करते हैं।

दण्डी ने काव्य मे गुण तत्त्व को सर्वाधिक महत्त्व देते हुए उसे प्रधान तत्त्व के रूप मे प्रतिपादित किया है। उन्होंने रस की अपेक्षा गुण को अधिक महत्त्व प्रदान किया। उन्होने रस को अलकार का अङ्ग माना है।

दण्डी के समान वामन ने भी गुण की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है उसे रस–सापेक्ष नहीं माना। इन्होंने रस को कान्ति गुण का अङ्ग बना दिया है।[2] इस प्रकार इन्होंने गुण को काव्य मे मुख्य स्थान दिया तथा रस को गौण।

आनन्द वर्धन ने सर्वप्रथम गुण को काव्यात्मा रस का धर्म बताया तथा व्यवस्थित रूप से इसका निरूपण किया। इन्होंने तार्किक पद्धति से गुणों की रसधर्मिता का प्रतिपादन किया है। परवर्ती **मम्मट** आदि आचार्यों ने इनकी ही गुण विषयक मान्यता को स्वीकार किया है। **जगन्नाथ** ने इस विषय पर कुछ स्वतन्त्र रूप से विचार किया है। उनका विचार है कि रस काव्य की आत्मा है तथा आत्मा निर्गुण होती है। इसलिए गुण को काव्यात्मा रस का धर्म मानना उचित नहीं है। परन्तु **पण्डितराज** ने शब्दार्थ के साथ रस को भी गुण का आधार मान लिया है इस प्रकार प्रकारान्तर से वे गुण की रस धर्मता को स्वीकार ही करते हैं।

प्रस्तुत प्रसग मे उल्लेखनीय है कि **भोज** तथा **विद्यानाथ** गुण को रस व शब्दार्थ दोनो का धर्म मानते हैं। **भोज** ने चौबीस गुणों को तीन वर्गों मे विभाजित किया है – रसारम्भक, रसाभाव आरब्ध तथा शुद्ध शब्दार्थगत प्रथम दो वर्गों में गुण रस से अनिवार्यत सम्बद्ध है तथा तृतीय वर्ग शब्द व अर्थ से सम्बद्ध है। **विद्यानाथ** ने गुणों को शब्द गत मानकर भी उन्हे आत्मा का उत्कर्ष करने वाले शौर्य आदि के समान माना है। **इस प्रकार वे भी गुणों को शब्दगत तथा रसगत दोनों रूपों मे मान्यता देते हैं। डा० नगेन्द्र ने भी गुण की रस तथा शब्दार्थगत मान्यता को प्रतिपादित किया है। उनका विचार है कि–गुण, रस तथा शब्दार्थ दोनों का ही धर्म है। रस का धर्म होने के कारण वह चित्तवृत्ति रूप है और शब्दार्थ का धर्म होने के कारण उसे वर्ण और शब्द पर आश्रित भी मानना पडेगा। गुण के स्वरूप–निरूपण में वर्ण, समास आदि का अनिवार्य आधार मानना इसका प्रमाणहै।**[3] वस्तुतः गुणों को रस तथा शब्दार्थ दोनो का धर्म मानना ही उचित है।

माधुर्यादि गुणों की रसगत स्थिति का विवेचन पूर्व प्रतिपादित है। शृगारादि रसो मे माधुर्य, वीर आदि रसों में ओज तथा सभी रसो मे प्रसाद की स्थिति होती है। वर्ण 'गुण' के व्यञ्जक होते हैं। वर्णों के द्वारा गुणो की स्थिति का ज्ञान होता है। यहॉ दिवेचनीय है कि गुणो के अभाव या गुणो की अनुचित स्थिति किस प्रकार रसानुभूति में बाधक होती है?

---

१ दिव्य भावपरीत यच्छृङ्गारादभुत योजितम्।
अनेक भावसयुक्तमुदारत्व प्रकीर्तितम्।। भरतमुनि ना० शा० १६/११०

२ दीप्तरसत्व कान्ति। वामन, काव्यालङ्कार सूत्र, ३/२/१५

३. डॉ० नगेन्द्र, भारतीय काव्य–शास्त्र की भूमिका, भाग २ पृ० ६३, प्रकाशक. सस्करण प्रथम

विचारणीय है कि शृगारादि रसों मे माधुर्य गुण होता है। यदि इन रसो में ओज गुण व्यञ्जक वर्णों का प्रयोग हो तो रस का पूर्ण परिपाक नहीं हो पायेगा जो दोष पूर्ण होगा। इसी प्रकार ओज गुण से युक्त वीर, रौद्र आदि रसो मे कठोर वर्णों का प्रयोग न होकर माधुर्य गुण व्यञ्जक वर्णों का प्रयोग रसोद्वेजक होगा। गुण रस के धर्म हैं। यदि ओजादि गुणो का तत्प्रतिकूल रसो मे ग्रहण होगा तो प्रतिकूल विभावादिग्रह नामक रस–दोष के समान 'प्रतिकूल गुण–ग्रह' नामक दोष होगा जो रस से साक्षात् सम्बद्ध होने के कारण रस–दोष ही होगा। इस दोष में माधुर्य, प्रसाद तथा ओज की विपरीत स्थिति को ग्रहण किया जायेगा।

रीति और रीतिगत रस-दोष

आचार्य वामन ने **रीति** की विशेष व्याख्या की है। इन्होने रीति को काव्य की आत्मा माना है तथा गुण से इसका नित्य सम्बन्ध माना है। अत **'रीति'** पर विचार प्रासगिक है।

रीङ् गतौ धातु मे क्तिन् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न **'रीति'** पद मार्ग, प्रणाली, गति, प्रस्थान, पद्धति आदि का वाचक बन जाता है। रीति पद का प्रयोग **ऋग्वेद** में प्राप्त होता है। **ऋग्वेद** में यह गति, धारा, मार्ग आदि अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है।[1]

काव्य शास्त्रीय अर्थ में 'रीति' पद का सर्वप्रथम प्रयोग **आचार्य वामन** ने ही किया है। इनके पूर्व मार्ग तथा प्रवृत्ति शब्दो का प्रयोग हुआ है। **राजशेखर** ने भी कहा है कि सुवर्णनाभ नामक आचार्य ने रीति विषयक ग्रन्थ की रचना की थी किन्तु उनका ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता है। यहाँ प्रमुख काव्य शास्त्रों में रीति विवेचन द्रष्टव्य है –

भरत ने रीति पद से किसी काव्य तत्त्व का विवेचन नहीं किया है किन्तु प्रवृत्ति तथा गुणों का निरूपण करके रीति के आधारतत्त्वों का सड्.केत अवश्य दिया है। **भरत** ने प्रवृत्ति के अन्तर्गत देश तथा आचार का भी ग्रहण किया है।[3] **भरत** द्वारा भू भाग के आधार पर किया गया प्रवृत्ति निर्धारण ही रीति सिद्वात का प्रेरणा स्त्रोत रहा है। यह कहा जा सकता है।

भामह ने भी 'रीति' पद का साक्षात् प्रयोग नहीं किया है किन्तु काव्य भेदो मे गौड तथा वैदर्भ मार्ग का विवेचन किया है।[4] इन मार्गो मे वे शब्द तथा अर्थ की वक्रता को महत्त्व देते हैं। इन्होने कहा है कि वक्रोक्ति तथा अर्थ चमत्कार से रहित वैदर्भ मार्ग भी कर्णसुखद गेय वस्तु मात्र बनकर रह जाता है।[5]

१.क) महावरीति शवसा सरत् पृथक्।
—ऋग्वेद, २/२८/१४।

ख) वातेवाजुर्या नद्येव रीतिः।
—वही, २/३६/५।

ग) तामस्य रीतिपरशोरिव।
—वही, ५/४८/४।

२ रीतिनिर्णय सुवर्णनाभः।
—राजशेखर, का०मी० पृ० ३।

३ पृथिव्यां नाना देशवेषभाषाचारवार्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्तिः।
—भरतमुनि, ना० शा०, १३/३७।

४ —भामह, काव्यालकार, १/३५।

५ वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृति।
अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजुकोमलम्।
भिन्नगेयमिवेद तु केवलं श्रुतिपेशलम्।।
—भामह, काव्यालङ्कार, १/३४।

भामह के पश्चात् **दण्डी** ने रीति का विवेचन किया है। इन्होंने भी 'रीति' पद का प्रयोग न करके 'मार्ग' शब्द से ही उसे अभिहित किया है। **दण्डी** ने वैयक्तिक भाषा–शैली को 'मार्ग' (रीति) भेद का आधार माना है। इसलिए इन्होने काव्य रचना के मार्ग को असख्येय माना है। मार्गों मे वैदर्भी तथा गौडी मार्ग को प्रमुख माना है।[1] स्थान–स्थान पर वैदर्भ तथा गौड मार्ग को सम्बद्ध प्रदेश विशेष से जोडना इन पर पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रभाव को सूचित करता है। **दण्डी** ने यह भी स्वीकार किया है कि प्रदेश विशेष किसी शैली (मार्ग) विशेष का आधार नहीं बन सकता है। **भरत मुनि** द्वारा प्रतिपादित दस काव्य गुणो को इन्होने वैदर्भ मार्ग का प्राणभूत कहा है। गौड मार्ग मे प्राय इन गुणो का विपर्यय होता है।[2]

'रीति'को काव्यात्मा के रूप मे प्रतिष्ठित करके काव्य शास्त्रीय तत्त्वो मे सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करने वाले **वामन हैं**। इन्होंने'रीति'को विशिष्ट पद रचना मानकर गुणो से इसका नित्य सम्बन्ध स्थापित किया है।[3] **भरतमुनि** द्वारा प्रतिपादित दस काव्य गुणों की सख्या शब्दगत तथा अर्थगत भेद करके वामन ने बीस कर दी है। वैदर्भ तथा गौड मार्ग के अतिरिक्त पाचाल मार्ग का भी प्रतिपादन किया है।[4] इन्होने ही सर्वप्रथम 'रीति' पद का प्रयोग किया है जिसे पूर्वाचार्यों ने प्रवृत्ति तथा मार्ग पद से सज्ञित किया था। **आचार्य वामन** ने रीतियो का भेद करने मे गुणो को आधार माना है। वैदर्भी रीति में सभी गुण प्राप्त होते हैं, गौडी में मुख्यत. ओज तथा कान्ति गुण प्राप्त होते हैं तथा पाचाली रीति मे माधुर्य एव सुकुमार गुण का विशेष समावेश होता है।[5] प्रदेश के आधार पर रीतियो के भेद को ये सयोग मात्र मानते हैं।[6]

---

१ क) *अस्त्यनेको गिरा मार्ग सूक्ष्मभेद. परस्परम्।*
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्यते प्रस्फुटान्तरौ।।
–दण्डी, काव्यादर्श, १/४०।

ख) *तद भेदास्तु न शक्यन्ते प्रतिकविस्थिता।*
–तदेव, १/१०१।

ग) *इतीद नादृतं गौडेरनुप्रासस्तु तत्प्रियः।*
अनुप्रासादपि प्रायो वैदर्भरिदभीप्सितम्।।
–तदेव १/५४।

२ –तदेव, १/४१, ४२ ।

३ *विशिष्ट पद रचना रीति। विशेषोगुणात्मा।*
–वामन, काव्यालकार, १/२/७८।

४ *सा त्रिद्या वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति।*
–तदेव, १/२/६।

५ *समग्रगुणा वैदर्भी ओज कान्तिमतीगौडीया,*
माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली।
–तदेव, १/२/११–१३।

६ *–तदेव, १/२/६, १० की वृत्ति।।*

वामन के उपरान्त **रुद्रट** ने लाटीया नामक एक अतिरिक्त रीति की कल्पना की। इससे रीतियों की सख्या चार हो गयी। रीतियो के भेद मे · भी **रुद्रट** ने नवीन अवधारणा उपस्थित की है। इन्होने पदों की समस्तता तथा असमस्तता को रीति विभाजन का आधार बताया है। इनके अनुसार समास के सर्वथा अभाव से युक्त वैदर्भी रीति दो या तीन पदो के समास से युक्त पाचाली रीति, पाच या सात पदो के समास वाली लाटी रीति तथा समास बहुल रचना गौडी रीति है।[1] रीति को रसोचित या विषयोचित भाषा शैली के अनुसार निवेशित करने का सकेत भी **रुद्रट** ने दिया है। इन्होने कहा है कि माधुर्य एव सौकुमार्य प्रधान शृगार, प्रेय, करूण, भयानक और अद्भुत रसो का निवेशन वैदर्भी तथा पाचाली रीति में किया जाता है। कठोर एव ओज प्रधान रौद्र आदि रसो का सन्निवेश लाटी और गौडी रीति में किया जाता है।[2]

राजशेखर ने आलङ्कारिक शैली में रीतियों का विवेचन किया है। इन्होंने रीति के साथ प्रवृत्ति तथा वृत्ति का सम्बन्ध भी स्थापित किया है।[3] **राजशेखर** के अनुसार काव्य पुरूष तथा साहित्य विद्या वधू ने भारत का भ्रमण किया। जिस दिशा मे इन्होंने जिस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया वहाँ इनका अनुकरण करने पर उस प्रकार की रीति प्रचलित हुई। इन्होने रीतियों को साक्षात् सरस्वती का अधिष्ठान तथा रस का परिस्रावक अनिवार्य तत्त्व माना है।[4] इनके अनुसार वचन विन्यास का कम रीति है।[5] समास के साथ ही अनुप्रास भी इनके अनुसार रीति का मूल तत्त्व है। वैदर्भी मे माधुर्य गुण तथा पाञ्चाली और गौडी मे ओजगुण का प्राधान्य स्वीकार किया है। इस प्रकार रीति से सम्बद्ध प्राय सम्पूर्ण विचार **राजशेखर** ने किया है।

---

१ *वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव।*
पाञ्चाली लाटीया गौडीया चेति नामतोऽभिहिता।
लघुमध्यायतविरचनसमास भेदादिमास्तत्र।।
द्वित्रिपदा पाञ्चाली लाटीया पञ्च सप्त वा यावत्।
शब्दाः समासवन्तो भवति यथाशक्ति गौडीया।।
—रुद्रट, काव्यालकार, २/४—५।

२.क) ***इह वैदर्भीरीति पाञ्चाली वा विचार्य रचनीया।***
मधुराललिते कविना कार्ये वृत्ति तु शृङ्गारे।
—तदेव, १४/३७।

ख) ***वैदर्भी पाञ्चाल्यौ प्रेयसि करूणे भयानकाद्भुतयो।***
लाटीयगौडीये रौद्रे कुर्याद् यथौचित्यम्।।
—तदेव, १५/२०।

३ *—राजशेखर काव्य मीमासा, पृ० १६—२१।*

४.क) ***वैदर्भी गौडीया पाञ्चालीचेति रीतयस्तिस्त्र।***
आसु च साक्षान्निवसति सरस्वती तेन लक्ष्यन्ते।।
—राजशेखर, काव्य—मीमासा पृ० ७५।

ख) ***सति वक्तारि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने।***
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु।।
—वही, । पृ० २१।

५ *—वचन—विन्यास कम रीति, पृ० २१।*

भोज भी रीति विवेचना मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इन्होने रीति को तीन सन्दर्भों में विवेचित किया है। **दोष खण्ड** मे 'अरीतिगत दोष' के अन्तर्गत **अलकार खण्ड** मे एक शब्दालकार के रूप मे तथा **अनुभाव खण्ड** मे तीन बुद्ध्यारम्भ अनुभावो मे से एक बुद्ध्यानुभाव के रूप मे प्रतिपादित किया है।[1] इन्होने अलकार प्रकरण मे छ रीतियां मानी हैं – वैदर्भी, गौडिया, आवन्तिका, लाटीया, मागधी तथा पाञ्चाली।[2]

कुन्तक ने 'रीति' के वर्गीकरण का आधार कविस्वभाव को माना है। इन्होंने रीति के लिए 'मार्ग' पद का ही प्रयोग किया तथा सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम रूप से उसके तीन भेद किये हैं। वैदर्भी को 'सुकुमार मार्ग', गौडी रीति को 'विचित्र मार्ग' तथा पाचाली रीति को 'मध्यम मार्ग' का नाम दिया है। कविस्वभाव पर आधृत होने के कारण मार्ग भी अनन्त हो जाते हैं ऐसा मानने वाले **कुन्तक** कहीं **दण्डी** से प्रभावित दिखाई पडते हैं। इन्होने माधुर्य, प्रसाद, लावण्य तथा आभिजात्य चार गुणो को सभी मार्गो मे सन्निविष्ट करने के लिए कहा है किन्तु सभी मार्गों मे इनका निवेशन विशेष प्रकार से होता है।

ध्वनिकार **आनन्दवर्धन** ने 'सघटना' 'रीति' कहा है। इन्होंने रसभावादि ध्वनि के व्यजक वर्ण, पद, वाक्य, प्रबन्ध आदि के साथ सघटना को निरूपित किया है। रीति या सघटना को भी रसादि ध्वनि का व्यजक माना है। ध्यातव्य है कि ध्वनिवादी आचार्यों ने रसादि ध्वनि को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है तथा अलकार, गुण, रीति आदि को उसका अगभूत स्वीकार किया है। रीतियो का वर्गीकरण इन्होने भी **समास** के आधार पर किया है गुणों को रीति का आश्रय माना है। इनका विचार है कि गुणों के आश्रय में स्थित रहकर ही सघटना या रीति रस को अभिव्यक्त करती है।[3] ध्वनिकार ने रीतियो के भेद का आधार देश, भाषा, शैली या कवि के स्वभाव को न मानकर वक्ता, वाच्य, विषय तथा काव्य प्रभेद को माना है।[4]

'रीति 'को रसाभिव्यक्ति का साधन बताकर ध्वनिकार ने **वामन** आदि के रीति को आत्मस्थानीय तत्त्व मानने का एक प्रकार से खण्डन ही किया है। इस विषय में उन्होंने कहा है कि ध्वनि तत्त्व की व्याख्या करने मे असमर्थ होने के कारण वामन आदि ने रीतियों को प्रचलित किया है।[5]

---

१. *–भोज सरस्वतीकण्ठाभरण, १/२८–३०।*

२. *–भोज शृङ्गार–प्रकाश, द्वितीय वैल्यूम, पृ० ३७०।*

३ *गुणानाश्रित्य तिष्ठन्तीमाधुर्यादीन व्यनक्ति सा। रसान्.....*
–आनन्द वर्धन ध्वन्यालोक ३/६।

४ क) *–तन्नियमे हेतुरौचित्य वक्तृवाच्ययो ।*
ख) *–विषया[illegible] ता नियच्छति।*
काव्य प्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा।।
– तदेव, ३/६, ७।

५. *स्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम्।*
अशक्नुषद्भिर्व्याकर्तुं रीतय सम्प्रवर्तित ।।
– आनन्द वर्धन, ध्वन्या० ३/४६

आचार्य मम्मट ने वृत्यनुप्रास मे रीतियो का निरूपण किया है। इन्होंने प्रस्तुत स्थल मे **उपनागरिका, परूषा** तथा **कोमला** नामक वृत्तियो का निरूपण करके इन्हे ही कमश – **वैदर्भी, गौड़ी** तथा **पाचाली** रीतिया बताया है।[1] इन्होने वृत्ति को नियत वर्णगत तथा रसविषयक व्यापार माना है।[2] **मम्मट** के पश्चात् **विश्वनाथ** ने विस्तृत रूप से रीतियो पर विचार किया है। इन्होने वर्ण तथा शब्द योजना दोनो को रीति का आधार माना है। इस प्रकार इन्होने समास तथा गुण दोनो को रीति निर्माण के साधन के रूप मे स्वीकार किया है।[3] ध्वनिकार के समान **विश्वनाथ** ने भी रीति को रस का उपकारक माना है।[4]

जगन्नाथ ने रीति निरूपण मे **मम्मट** का अनुकरण किया है। इन्होने रीति को रसाभिव्यजक मानने का खण्डन किया है। इनका विचार है कि वर्ण रचना विशेष माधुर्यादि गुणो की व्यजक हो सकती है रस की नहीं।[5]

इस प्रकार 'रीति' तत्त्व पर काव्य शास्त्रकारो के विवेचन का परिशीलन करने पर स्पष्ट होता है कि रीति तत्त्व को प्राय सभी आचार्यो ने शब्दार्थ योजना के रूप मे ग्रहण किया है। **वामन** ने पद सघटना को रीति मानकर गुणो से उनका साक्षात् सम्बन्ध स्वीकार किया है। ध्वनिकार ने रीति को सघटना कहकर रसादि ध्वनि के व्यजक के रूप मे उसे गौणता प्रदान की है। **वामन** ने रीति को आत्मस्थानीय माना है। ध्वनिकार के पश्चात् प्राय सभी काव्यशास्त्रकारो ने रीति को अलकार, गुण आदि के समान गौण तत्त्व ही माना है और अगभूत रूप में ही काव्यात्मभूत रस की अभिव्यजना मे सहायक स्वीकार किया है।

'रीति' तथा 'रस' के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि रीति व रस परस्पर परम्परया सम्बद्ध हैं। तात्पर्य यह कि रीति का गुणो के साथ नित्य सम्बन्ध है तथा गुण का रस के साथ नित्य सम्बन्ध है। इस प्रकार गुण से साक्षात् सम्बन्ध रीतिकारस से पारम्परिक सम्बन्ध है।

रीति के स्वरूप तथा वर्गीकरण का आधार गुण है। **आचार्य रूद्रट** ने स्पष्टत रीति को रस से जोड दिया है। उन्होने कहा है कि पांचाली तथा वैदर्भी रीति मे सौकुमार्य तथा माधुर्य से युक्त शृगार, प्रेय, करूण, भयानक तथा अद्‌भुत रस का समावेश होना चाहिए। इन्होने गौडी तथा लाटी रीति मे कठोर तथा ओज प्रधान रौद्रादि रसो का समावेश होना स्वीकर किया है।

---

१ *एकस्याप्यसकृत्परः माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते।*
ओज प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा कोमला परै।।
[illegible] वैदर्भीप्रमुखा रीतयोर्मता।
—मम्मट, का० प्र०, ९/७९, ८० तथा ८१।

२ *वृत्तिर्नियत वर्णगतो रस विषयो व्यापार ।। तदेव, ९/७९ की वृत्ति।*

३ *पदसघटना रीतिरङ्ग सस्थाविशेषवत्। उपकर्ती रसादीना।*
—विश्वनाथ, साहित्य दर्पण ९/१।

४ *रीतयोऽवयवसंस्थान विशेषवत् काव्यस्यात्मभूत रसमुत्कर्षयन्त – काव्यस्योत्कर्षका इत्युच्यन्ते।*
—विश्वनाथ, सा० द० १/३।

५ *वर्ण रचनाविशेषाणा माधुर्यादि गुणाभिव्यञ्जकत्वमेव न रसाभिव्यञ्जकत्वम् गौरवान्मानाभावाच्च।*
—जगन्नाथ, रस० गङ्गाधर, प्रथम आनन।

गुणो के आधार पर वैदर्भी, पाचाली तथा गौडी रीतियो से सम्बद्ध रस का निर्धारण किया जा सकता है। वैदर्भी रीति को **वामन** ने समग्रगुणो से युक्त माना है। इस आधार पर वैदर्भी मे सभी रसो को ग्रहण किया जा सकता है परन्तु **रूद्रट** ने वैदर्भी रीति मेरौद्र,वीर आदि रसो को ग्रहण नहीं किया है। वैदर्भी में **आचार्य मम्मट** ने भी माधुर्य व्यजक वर्णों का प्रयोग स्वीकार किया है। उल्लेखनीय है कि **आचार्य मम्मट** ने माधुर्य व्यजक उपनागरिका वृत्ति को ही वैदर्भी रीति माना है। माधुर्य गुण से युक्त होने के कारण वैदर्भी रीति माना है। इस प्रकार माधुर्य गुण से युक्त होने के कारण **वैदर्भी रीति** मे **शृंगार**, **करूण**, **हास्य** आदि रसो का सन्निवेश होना चाहिए।

गौड़ी रीति ओज गुण प्रधान होने के कारण **रौद्र**, **वीर** आदि रसो से युक्त होती हैं। इसमें कठोर वर्णों का प्रयोग होता है। मम्मट ने परूषा वृत्ति को गौडी रीति कहा है।

पाचाली रीति में **आचार्य वामन** तथा **आचार्य रूद्रट** ने माधुर्य गुण को स्वीकार किया है। **आचार्य मम्मट** ने माधुर्य तथा रौद्र गुण से भिन्न कोमल वर्णों के प्रयोग मे पाचाली रीति स्वीकार की है। तात्पर्य यह कि जहा माधुर्य व ओजगुण व्यजक वर्णों से भिन्न कोमल वर्ण प्रयुक्त हो वहा पाचाली रीति होती है। इस प्रकार शृगार, हास्य, करूण,अद्भुत आदि रसो को **पाञ्चाली रीति** मे भी सन्निविष्ट किया जा सकता है। इन रसों में जब कोमल वर्णों का प्रयोग हो तो पाञ्चाली रीति मानी जायेगी ऐसा कहा जा सकता है।

रीति तथा रस के सम्बन्ध पर विचार करने के उपरान्त रीतिगत और रस–गत दोषों के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार भी प्रासगिक है। रीति का रस के साथ परस्परया सम्बन्ध है, यह पूर्व उल्लिखित है। पद सघटना से रीतियो का निर्धारण होता है,वर्णों के प्रयोग से गुणो का ज्ञान होता है,और गुणो का निर्धारण होने पर रीतियो का निर्धारण होता है,यह भी पूर्व प्रतिपादित है। यहाँ विचारणीय है कि वैदर्भी आदि रीतियों में तत्सम्बद्ध गुणों का प्रयोग ही रसानुग्राहक होता है, उससे विपरीत स्थिति में दोष होता है। यथा वैदर्भी रीति मे जहाँ शृगारादि रस प्रधान रूप से होते हैं वहाँ माधुर्य गुण व्यजक वर्णों का प्रयोग समीचीन है,वहाँ ओज गुण का प्रयोग दोषाधायक होगा। इसी प्रकार गौड़ी रीति में कठोर वर्णों का प्रयोग ही समीचीन होगा। ओज गुण व्यजक वर्णों का प्रयोग होने पर ही गौडी रीति मानी जायेगी।

विचारणीय है कि यदि वैदर्भी आदि रीतियों में स्थित गुणों का निर्धारण विदर्भ आदि स्थानों के अनुसार किया जाय *और* वैदर्भी आदि रीतियों में तत्सम्बद्ध स्थान की विशेषतायें न हों तो रसानुभूति का विघात होगा। उदाहरणार्थ – भोजपुरी गीतों में माधुर्य तथा प्रसाद गुण प्रधान हैं तो आल्हागीतों में ओजगुण। यदि आल्हा गीतों में कठोर वर्णों का प्रयोग न होकर माधुर्य व्यजक वर्णों या पदों का प्रयोग हो तो आल्हा गीत की स्वाभाविकता प्रभावित होगी जिससे रस–विघात होगा।

रीतिगत रस–दोषों पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि रीतिया प्रकारान्तर से गुणो से सम्बद्ध हैं। माधुर्य आदि व्यजक वर्णों के आधार पर गुणों का निर्धारण होता है। उसी प्रकार वैदर्भी आदि रीतिया भी माधुर्य व्यजक वर्णों पर आधृत होती है। इसलिए रीतिगत रस–दोषो को भी गुणगत दोषों के समान रस का साक्षात् अपकर्षक माना जा सकता है।

वृत्ति और वृत्तिगत रस-दोष

'वृत्ति' तथा 'रीति' को समान अर्थों मे निरूपित किया जाता है। अत यहाँ 'वृत्ति' के स्वरूप पर विचार के साथ ही 'रीति' और 'वृत्ति' के परस्पर सम्बन्ध पर विचार भी प्रासगिक है। 'वृत्ति' को रस से साक्षात् सम्बद्ध भी कहा जाता है। वृत्ति रसास्वादन मे सहायक होती है। वर्तनार्थक √वृतु धातु से क्तिन् प्रत्यय लगने पर निष्पन्न 'वृत्ति' शब्द सामान्यत 'क्रिया' या 'व्यापार' अर्थ का वाचक है। इसी अर्थ में अभिप्रेत यह शब्द काव्यशास्त्र में अनेक रूपो मे उपलब्ध होता है। यथा **नाट्यशास्त्र** मे **कैशिकी** आदि वृत्तियो के लिए, 'सघटना' या 'रीति' रूप मे **शब्दरूप** वाली 'वृत्ति' के लिए, अनुप्रासगत **अर्थवृत्तियों** के लिए, **समास** तथा **असमास** रूपा वृत्तियो के लिए तथा **शब्द व्यापार** या **शब्द शक्तियों** के लिए।

वृत्तियो के क्षेत्र की व्यापकता का निरूपण करते हुए **आचार्य भरतमुनि** ने वृत्तियो को काव्य जननी माना है।[1] **अभिनव गुप्त** ने तो पुरूषार्थ चतुष्टय के साधक व्यापार के रूप मे 'वृत्ति' की व्यापकता को प्रतिपादित किया।[2]

दृश्य काव्य या नाट्य में पात्रो के कायिक, वाचिक, मानसिक तथा आहार्य व्यापारो के लिए 'वृत्ति' शब्द का प्रयोग किया जाता है।[3] सामान्यत इन वृत्तियो की सड्ख्या चार है – भारती, सात्त्वती, कैशिकी तथा आरभटी। इन चारो के स्वरूप पर एक दृष्टिपात अप्रासगिक न होगा।

भारतीवृत्ति वाक्प्रधान होती है। यह पुरूषो द्वारा प्रयोज्य तथा सस्कृत वाक्यों से परिपूर्ण होती है, इसके प्ररोचना, आमुख, वीथी और प्रधान ये चार अड्ग होते हैं।[4]

सात्त्वतीवृत्ति सत्त्वगुण से युक्त होती है। इसमें सत्त्व, शौर्य, त्याग, हर्ष, दया, कोमलता, आत्मत्याग, साहस आदि भावो की स्थिति होती है। इसके भी उत्थापक, परिवर्तक, सलापक, सड्घात्य ये चार अड्ग होते हैं।[5]

सुन्दर नेपथ्य, नायकादि की वेशभूषा से विशेष चमत्कार युक्त, स्त्रियो से परिपूर्ण, पुरूषों द्वारा की प्रयोज्य नृत्य गीत, विलास कामक्रीडा, आदि से युक्त कैशिकी होती है। इसके भी नर्म, नर्मस्फिञ्ज, नर्मगर्भ,

---

१ *सर्वेषामेव काव्याना मातृका वृत्तय स्मृता।*
–भरतमुनि, ना०शा०, १८/४।

२ *सर्वोहि ससारो वृत्तिचतुष्कोण व्याप्तम्।।*
–ना०शा० १८/४ पर अभि० भा०।

३ *–ना० शा० २०/२–१४।*

४ *या वाक्प्रधाना पुरूष प्रयोज्या स्त्रीवर्जिता सस्कृत पाठ्ययुक्ता।*
स्वनामधेयैर्भरतै प्रयोज्या सा भारती नाम भवेत्तु वृति।।
–वही २०/२६।

५ *या सात्त्वनेह गुणेन युक्ता न्यायेन वृत्तेन समन्विता च।*
हर्षोत्कटा संहृतशोकभावा सा सात्त्वती नाम भवेत्तु वृत्ति।।
–वही, २०/४१।

नर्मस्फोट ये चार अग होते हैं।[1]

माया, इन्द्रजाल, सग्राम, कोध, उद्भ्रान्त चेष्टाये ;' बध तथा बन्धनादि से परिपूर्ण आरभटी वृत्ति होती है। इसके भी सक्षिप्तक, अवपात, वस्तूत्थापन और सम्फेट ये चार अग है।[2]

श्रव्य काव्य में 'वृत्ति' को सामान्यत अनुप्रास अलकार के अन्तर्गत वर्णित या उल्लिखित किया गया है। समास तथा असमास के रूप मे भी वृत्ति का निरूपण हुआ है। सर्वप्रथम उद्भट ने अनुप्रास अलकार के तीन प्रकारो मे वृत्यनुप्रास की गणना की है तथा सर्वप्रथम इसी भेद को निरूपित किया है।

उद्भट ने वृत्ति को तीन प्रकार का माना है – **परूषा**, **उपनागरिका** तथा **ग्राम्या**। इन्हीं के आधार पर वृत्यनुप्रास के भी तीन भेद हो जाते हैं – परूषानुप्रास, उपनागरिकानुप्रास तथा ग्राम्यानुप्रास।[3]

परूषावृत्ति श, ण, रेफ, सयोग, ट वर्ग आदि कर्कश तथा सयुक्त वर्णों से युक्त पदावली है।[4] परूषावृति का यह स्वरूप सम्भवत उद्भट की नवीन कल्पना है। **उपनागरिका वृत्ति** में कोमल, समान रूप वाले सयुक्त वर्ण (क्क, प्प, च्च) तथा प्रत्येक वर्ण के अनुनासिक वर्ण, अन्य स्पर्श वर्णों के साथ मिले रहते हैं। जैसे मकरन्द मे न्द'[5] भामह ने भी अनुप्रास अलकार में 'न्त' का उदाहरण प्रस्तुत किया है।[6] परूषा तथा उपनागरिका वृत्ति के निर्माण में जिन वर्णों का उपयोग स्थिर हो चुका है उनसे अवशिष्ट वर्ण अर्थात् लकार आदि कोमल वर्णों के योग से बनी वृत्ति ग्राम्या है। इसे **कोमला वृत्ति** भी कहते हैं।[7] **प्रतीहारेन्दुराज** ने वृत्तियों को रस बोध कराने वाली माना है।[8]

परवर्ती काल में **आचार्य उद्भट** द्वारा निरूपित वृत्तियो को प्राय उसी रूप में ग्रहण किया गया है। **आनन्दवर्धन** ने 'वृत्ति' को दो अर्थो में ग्रहण किया तथा वृत्ति का सामान्य अर्थ व्यवहार बताया। 'वृत्ति' के प्रथम प्रकार में **कैशिकी** आदि नाट्य वृत्तियॉ तथा द्वितीय प्रकार में **उपनागरिका** आदि वृत्तियॉ हैं। इन्होंने कैशिकी आदि वृत्तियों को इस के योग्य भावो या अर्थों का वर्णन तथा उपनागरिका आदि वृत्तियों को रस के अनुरूप शब्दो का प्रयोग माना है।

---

१ *या श्लक्ष्णनेपथ्य विशेषचित्रास्त्रीसयुता या [illegible]।*
कामोपभोगप्रभवोपचारा ता कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति।।
–भरत, ना० शा० २०/५३।

२ *[illegible]वपातप्लुतलंघितानि चान्यानि मायाकृतमिन्द्रजालम्।*
चित्राणि युक्तानि च यत्र नित्य ता, तादृशीमारभटी वदन्ति।।
–२०/६५

३. *सरूपव्यञ्जनन्यास तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।*
पृथक्पृथगनु[illegible] कवय सदा।।
–उद्भट का० अ० सा० स० पृ० २६०।

४. *शणाभ्यां रेफसंयोगैष्ट वर्गेण च योजिता।*
परूषा नाम वृत्ति स्यात् हलह्वह्याद्यैश्च सयुता।
– वही, पृ० २५७।

५ *सरूपसंयोगयुतां मूर्ध्निवर्गान्त्ययोगिभि।*
स्पर्शैर्युता च मन्यन्ते उपनागरिका बुधा।।
–वही, पृ० २५८।

६. *–भामह का० अ० २/५।*

७. *शेषैर्वर्णैर्यथायोगं कथिता कोमलाख्यया।*
ग्राम्या वृत्तिं प्रशसन्ति काव्येष्वादृत बुद्धय।।
– उद्भट, का० अ० सा० सं० पृ० २५६।

८. *–का० अ० सा० स० २५७ पर लघुवृत्ति टीका।*

इस प्रकार इन्होने कैशिकी आदि वृत्तियो को अर्थगत तथा उपनागरिका आदि वृत्तियो को शब्दगत रूप मे ग्रहण किया है।[1]

उल्लेखनीय है कि शब्दब्रह्म. ने उपनागरिका आदि शब्दवृत्ति तथा सङ्घटना व रीति को पर्याय रूप मे ग्रहण किया है। **अभिनव** ने भी रीति व वृत्ति मे अन्तर नहीं माना है। इन्होने परूषा, उपनागरिका तथा ग्राम्या के लिए क्रमश दीप्त, मसृण तथा मध्यम शब्दो का प्रयोग किया है।[2]

मम्मट ने अनुप्रास अलकार के प्रकरण में उपनागरिका आदि वृत्तियों का वर्णन किया है। इन्होंने 'रीति' व 'वृत्ति' मे साम्य प्रकट करते हुए वैदर्भी, गौडी तथा पाचाली रीतियो का क्रमश उपनागरिका, परूषा, कोमला से साम्य प्रदर्शित किया है।[3]

मम्मट ने 'वृत्ति' को परिभाषित करते हुए कहा है कि – **नियत वर्णगतरसविषयक व्यापार ही वृत्ति** है।[4] माधुर्य के व्यजक वर्ण या व्यजनो से युक्त उपनागरिका वृत्ति है। ओज के प्रकाशक वर्णो से युक्त परूषा वृत्ति तथा माधुर्य और ओज के प्रकाशक वर्णो के अतिरिक्त वर्णों वाली वृत्ति कोमला है।[5]

हेमचन्द्र ने वृत्ति के स्वरूपादि मे **मम्मट** का अनुकरण किया है परन्तु इनका वर्णन गुण के खण्ड मे किया है। तीनो वृत्तियो को वर्णसङ्घटना मात्र माना, अनुप्रास जाति नहीं।[6] **पण्डित राज** ने भी वृत्ति को रीति का दूसरा नाम ही माना है।[7]

भोज ने तीन गुणो के अनुरूप तीन ही वृत्तियो **सौकुमार्य**, **प्रौढि** और **मध्यमत्व** को मान्यता दी है जो क्रमश वैदर्भी, गौडी व पाचाली का ही प्रतिरूप है। उपनागरिका आदि के स्थान पर इन्होंने **कोमला, परूषा** तथा **ललिता** आदि नामों का उल्लेख किया है। भोज ने इन सभी को गुण व कैशिकी आदि वृत्तियों मे ही अन्तर्भुक्त कर लिया है।[8] 'शृगार प्रकाश' मे भोजराज ने वृत्ति के पॉच प्रकार मानते हुए 'चेष्टा विन्यास क्रम' को वृत्ति कहा है।[9]

---

१ क) *रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयो।*
औचित्यवान् यस्ता एता वृत्तयो द्विविधा।।
व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते। तत्र रसानुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयोश्चोपनागरिकाद्या वृत्तयो हि रसादि तात्पर्येण सन्निवेशिता कामपि नाट्यस्य काव्यस्य च छायामावहन्ति।
– आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३/३३।

ख) *–तदेव, ३/४७ कारिका तथा वृत्ति।*

२ *–ध्वन्या १/१ की लोचन टीका।*

३ *केषाञ्चिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयोमता।*
एतास्तिस्त्रो वृत्तय वामनादीना मते वैदर्भी,
गौडी पाञ्चाल्याख्या रीतयो मता।
–मम्मट का० प्र० ९/८१ का पूर्वार्द्ध तथा वृत्ति।

४ *वृत्तिनीयतवर्णगतोरसविषयोव्यापारः।*
–९/७९ के पूर्वार्द्ध की वृत्ति।

५ *माधुर्यव्यजकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते।*
ओज. प्रकाश कैस्तैस्तु परूषा। कोमलापरै
–मम्मट, का० प्र० – ९/८०

६ *–हेमचन्द्र, काव्यानुशासन पृ० २९२।*

७ *–जगन्नाथ – र० ग०, द्वितीय आनन, पृ०–२८४।*

८ *–भोज, स० क०, ८४–८७।*

९. *–भोज, शृ० प्र०, बारहवॉ प्रकाश, पृ०–४५० तथा ४६०–६५।*

'वृत्ति' को समास तथा असमासगत रूप मे भी निरूपित किया गया है। **रूद्रट** ने सर्वप्रथम इस रूप मे वृत्ति का निरूपण किया है। इन्होने असमासावृत्ति को वैदर्भी रीति माना है।

अर्थात् वैदर्भी रीति मे असमासा वृत्ति होती है। समासवती वृत्ति के तीन प्रकार – पाचाली, लाटीया तथा गौडीया है। जिसमे गौडीया मे अत्यधिक बडे समास होते हैं, पाचाली मे दो या तीन शब्दो के संयोग से होने वाले समास तथा पॉच या सात शब्दो के सयोजन से लाटीया रीति बनती है।[1] रूद्रट ने अनुप्रासगत वृत्तियो का भी उल्लेख किया है। इन वृत्तियो का पॉच प्रकार – **मधुरा, प्रौढ़ा, पुरूषा, ललिता** तथा भद्रा बताया है।[2]

इस प्रकार काव्य शास्त्रकारो के मत का परिशीलन करने पर ज्ञात होता है कि 'वृत्ति' की अवधारणा अनुप्रास अलकार से उत्पन्न हुई जो कालान्तर मे 'रीति' के रूप मे परिवर्तित हो गयी। यह भी उल्लेखनीय है कि 'वृत्ति' का स्वरूप निरूपित करते हुए उसे रस से सम्बद्ध किया गया है।

कैशिकी आदि नाट्यगतवृत्तियॉ तथा उपनागरिका आदि श्रव्यकाव्यगत वृत्तियो का सम्बन्ध रस से है। पात्र के कायिक, वाचिक, मानसिक तथा आहार्य व्यापारो का साक्षात् सम्बन्ध रसानुभूति से है उसी प्रकार रसानुकूल वर्णों का प्रयोग भी साक्षात् रूप से रसाभिव्यक्ति से सम्बन्धित है।

नाट्य मे प्रयुक्त वृत्तियो मे भारती समस्त रसो मे, सात्वती वीर, शान्त आदि रसों में कैशिकी श्रृगार हास्य आदि रसो मे तथा आरभटी रौद्र, वीर आदि रसो मे होती हैं।

श्रव्य–काव्य मे प्रयुक्त वृत्तियों में उपनागरिका वृत्ति शृगारादि मे, परूषा वृत्ति रौद्रादि रसो मे तथा लकारादि कोमल वर्णों से युक्त कोमला वृत्ति श्रृगार एव करूण आदि रसो मे होती है।

वृत्तियो का अनुचित प्रयोग रसोद्वेजक होता है। यथा नाट्य में शृंगारादि रसों के प्रसंग में तद् विपरीत कायिक वाचिक आदि व्यापारों का ग्रहण रस के पूर्ण परिपाक में बाधा उपस्थित करेगा। इसीप्रकार उपनागरिका आदि वृत्तियों का अनुकूल रसों में प्रयोग न होने पर रसाभिव्यंजना अर्थात् रसाभिव्यक्ति बाधित होगी। इसप्रकार वृत्तिगत रस-दोष स्पष्टत. साक्षात् रस-दोष हैं।

1. *नाम्ना वृत्तिर्द्वैधा भवति समासासमासभेदेन।*
   समासवत्यास्तत्रस्य रीतयस्तिस्त्र.।।
   पाञ्चाली लाटीया गौड़ीया चेति नामतोऽभिहिता:।
   लघुमध्यायविरचन समास भेदादिमास्तत्र।।
   द्वित्रिपदापाञ्चाली लाटीयापञ्चसप्त वा।
   शब्दा: समासवन्तो भवति यथाशक्ति गौडीया।।
   –रूद्रट, काव्या० २/३–५।
2. *–तदेव, २/१९।*
3. *–आनन्द वर्धन, ध्वन्या० ३/* [illegible] *की वृत्ति*

प्रवृत्ति और प्रवृत्तिगत रस-दोष

'प्रवृत्ति' तथा **'वृत्ति'** दोनो काव्य तत्त्व प्राय समान से प्रतीत होते है। इसलिए **'प्रवृत्ति'** तत्त्व का स्वरूप निरूपण तथा वृत्ति से इसकी भिन्नता का प्रतिपादन आवश्यक है।

प्रवृत्ति तत्त्व नाट्य प्रयोग को रसानुग्राहकरूप प्रदान करने मे महत्त्वपूर्ण होता है। 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'वृत' धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर 'प्रवृत्ति' शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार 'प्रवृत्ति' शब्द सभी प्रकार के व्यापार या व्यवहार को प्रकट करता है।

आचार्य भरत ने नानादेशो की वेशभूषा, आचार–विचार, आलाप–सलाप आदि को ख्यापित करने वाले व्यापार या वर्णन को 'प्रवृत्ति' कहा है।[1] **अभिनव गुप्त** ने देश–विशेष के वेष, भाषा, आचार एव वार्ता के वैचित्य की प्रसिद्धि को प्रवृत्ति कहा है।[2] तात्पर्य यह कि सभी स्थानो की वेश, भाषा जीविका आदि को प्रकट करने वाला तत्त्व ही प्रवृत्ति कहा जाता है। **आचार्य राजशेखर** ने वेष विन्यासक्रम को 'प्रवृत्ति' कहा है।[3] **धनजय** ने **भरत** का ही अनुकरण किया है।[4] **विश्वनाथ** ने भी पूर्वाचार्यों का ही अनुकरण करते हुए प्रवृत्ति के स्वरूप पर कोई विशेष बात नहीं कही है।[5] इस प्रकार काव्य मे व्यक्ति का उसकी जाति, वय, जीवनस्तर, भौगोलिक स्थिति, वेशभूषा आदि के अनुरूप वर्णन करना ही 'प्रवृत्ति' है।

'प्रवृत्ति' के चार भेद किये गये हैं। जो भारत को भौगोलिक आदि स्थितियों के अनुसार विभाजित करने पर आधृत हैं। भौगोलिक परिस्थितियो एवं वेशभूषा के साथ ही काव्य शास्त्रकारो ने 'प्रवृत्ति' का भेद निरूपित करते हुए चित्तवृत्ति की अवस्थाओं, स्वभाव तथा परिस्थितियों का भी ध्यान रखा है। ये चतुर्धा प्रवृत्तियाँ हैं–आवन्ती, दक्षिणात्या, पाचाली तथा उड्रमागधी।[6]

---

१ *–भरतमुनि, ना० शा० १३/३७ की गद्य व्याख्या।*

२. *प्रवृत्ति देशविशेषगता वेशभाषाचारवैचित्र्य प्रसिदि्धरूच्यते।*
–भरतमुनि, ना० शा०, १३/३७ पर अभि० भा०।

३. *वेष–विन्यासकमः प्रवृत्तिः।*
–राजशेखर, का० मी०, पृ० ६।

४ *देशभाषा किया वेषलक्षणा' स्यु. प्रवृत्तय।*
लोकादेवावगम्यैता यथौचित्य प्रयोजयेत्।
–धनञ्जय द० रू० २/६३।

५. *–विश्वनाथ सा०, द०, ६/१६२।*

६. *चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगत।*
आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चोड्रमागधी।।
–भरतमुनि, ना० शा० १३/३७।

आवन्तिका प्रवृत्ति अवन्ती, विदिशा, सौराष्ट्र, मालव, सिन्धु, सौवीर, दशार्ण, त्रिपुरा, सार्वुदेयक आनर्त, मार्तिकानत इन देशो के निवासियो के आचार–विचार, वेश–भूषा का वर्णन करने पर होती है।[1] इनमे **धर्म** व **शृगार** दोनो की प्रधानता होती है इसलिए इनके अनुरूप **कैशिकी** तथा **सात्वती** वृत्तियों का प्रयोग होता है।[2]

दाक्षिणात्या प्रवृत्ति महेन्द्र, मलय, सहय, मेकल तथा पालमजर इन पर्वतो के मध्य स्थित देशो – कोसल, तोसल, मौसल, यवन, रवसु, द्रविड, आन्ध्र, महाराष्ट्र वैष्ण (जो कृष्णा नदी के तट पर बस गये हैं) एव वानवासिक देश तथा विन्ध्य पर्वत और दक्षिणी समुद्र के मध्यवर्ती सारे प्रदेशो की वेशभूषा आदि का वर्णन होने पर होती है।[3]

दाक्षिणात्यो मे **शृगार की प्रधानता** होने से तथा बहुत प्रकार से नाचना, गाना तथा बजाना होने से उसमे **कैशिकी वृत्ति** होती है।[4] कुन्तक ने दाक्षिणात्यों की सगीत विषयक सुस्वरता तथा ध्वनि की स्वाभाविक रमणीयता का वर्णन किया है।[5]

पाचाली प्रवृत्ति के अन्तर्गत पाचाल, शौरसेन, कश्मीर, हस्तिनापुर, बाहिलक, शाकल्य, मद्र, कौशीनर, हिमालयवासी और गगा की उत्तर दिशा में स्थित जनपदो के निवासियों का वर्णन आता है।[6] इसमे **भारती** तथा **आरभटी वृत्ति** का ग्रहण होता है तथापि **कैशिकी का किचिंत् प्रयोग** दोषपूर्ण नहीं होता है।[7]

औड्रमागधी प्रवृत्ति का प्रयोग अग, बग, कलिग, उड्र, मगध, पौंड्र, नेपाल, अन्तर्गिरि निवासी, बहिर्गिरि निवासी, प्लवगम, मलद, मल्लवर्तक, ब्रह्मोत्तर प्रभृति, भार्गव, यार्गव, प्राग्ज्योतिष, लिप्तक, प्राग तथा प्रावृत्ति देशवासी करते हैं। पूर्व दिशा के और भी देशो में इसी प्रवृत्ति का प्रयोग देखा जाता है।[8] घटाटोप विशिष्ट वाक्याऽम्बर का प्राधान्य होने से इसमें **भारती** तथा **आरभटी वृत्ति** का समन्वय होता है।[9]

---

१. *–वही, १३/४१–४२।*

२. *–वही १३/४३।*

३. *–वही, १३/३८–४०।*

४. *तथाहि दाक्षिणात्येषु शृङ्गार प्रचुरता कैशिक्याः सम्भव।*
–भरतमुनि ना० शा० १३/३७ पर अभि० भा०।

५ *न च दाक्षिणात्यगीतविषयसुस्वरताध्वनिरामणीयकवत्तस्य स्वाभाविकत्वं वक्तुं पार्यते।*
– कुन्तक, व जी०, १/२४ की वृत्ति।

६ *–भरतमुनि, ना० शा० १३/४८, ५०।*

७ *उत्तरभूम्या यद्यपि प्राधान्याद् भारत्यारभटीयोगस्तथापि कैशिकीलेशा तु शृङ्गारमय प्रयोग–सहिष्णवो जना।*
–भरतमुनि, ना० शा० १३/३७ अभि० भा०।

८ *–तदेव १३/४४–४७*

९ *प्राच्येषु घटाटोपवाक्याडम्बर प्राधान्याद् भारत्यारभट्यो योगः।*
– १३/३७ अभि० भा०।

आचार्य भोज ने भी प्रवृत्तियो का विस्तृत विवेचन किया है। इन्होने पॉच प्रवृत्तियॉ मानी हैं।[1] एक नवीन प्रवृत्ति **पौरस्त्या** है। परन्तु भोज ने चार प्रवृत्तियो का ही लक्षण दिया है।[2] पाञ्चाली के स्थान पर पौरस्त्या को रखा है। विचारणीय है कि **पौरस्त्या** का अर्थ पूर्वी है तथा **भोज** ने पूर्वी देशो का सकेत कराने वाली **औड्रमागधी प्रवृत्ति** को ग्रहण किया है। पाचाली के स्थान पर भी पौरस्त्या को ग्रहण करना समीचीन नहीं है क्योकि पाचाली प्रवृत्ति मे उत्तरीव पश्चिमी देशो का ग्रहण होता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि पाचाली का वर्णन **भोज** ने नहीं किया है।

भोज ने चौबीस प्रवृत्ति हेतुओ का भी वर्णन किया है इन हेतुओं को ही अवस्था कहा गया है।[3] जिनका अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि **भरतमुनि** प्रतिपादित आहार्य अभिनय से ही इन्हें ग्रहण किया गया है।[4] इन्होने बुद्ध्यारम्भ अनुभवो मे भी वेष–विन्यास को प्रवृत्ति कहा है।[5]

भरत ने प्रवृत्तियो का विभाग मुख्यत वृत्तियो के आधार पर ही किया है, क्योकि वृत्ति पात्रो के शारीरिक तथा मानसिक अवस्थाओ से सम्बद्ध होती हैं तथा प्रवृत्ति पात्रो की वेशभूषा, व्यवहार, आचार–विचार आदि से सम्बद्ध होती है। इस प्रकार वृत्ति व्यक्ति की अन्तश्चेतना है तथा 'प्रवृत्ति' तद्नुकूल उसकी वाह्य अभिव्यक्ति है।

प्रवृत्तियो तथा रसो के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करने पर स्पष्ट होता है कि आवन्ती मे धर्म तथा शृगार की प्रधानता होने के कारण इसमें कैशिकी और सात्त्वती वृत्तियॉ होती हैं। तदनुसार आवन्ती मे शृगार, वीर, करूण तथा शान्त रस की स्थिति होगी। दक्षिणात्य प्रवृत्ति मे शृगार की प्रधानता है तथा इसमे कैशिकी वृत्ति है। अत यहॉ शृगार के साथ उसके सहयोगी या मित्र हास्यादि रसों की भी स्थिति दोषपरक नहीं होगी।

पॉचाली तथा औड्रमागधी मे रौद्र वीरादि रस प्रधानता से होते हैं। पाचाली प्रवृत्ति में शृगार का वर्णन भी हो सकता है।

---

१ *पञ्चसन्धय पञ्च वृत्तय पञ्च प्रवृत्तय ।*
–भोज, तदेव शृं० प्र० १२/ खण्ड दो, पृ० ४५०।

२. *वेषविन्यासकमः प्रवृत्ति। साऽपि चतुर्धा। पौरस्त्या, औडमागधी, दाक्षिणात्या आवन्त्याच*
–भोजराज, शृ० प्र० १२/खण्ड २, पृ–४५६।

३ क) *–भोजराज, शृ० प्र० द्वादश प्रकाश, खण्ड दो, पृ० २६०–६५।*

ख) *–वी० राघवन, भोजराज शृगार–प्रकाश, पृ० २०३।*

४ *–भरतमुनि ना० शा०, अध्याय २१।*

५ *–भोजराज, शृ० प्र०, द्वादश तथा सप्तदश प्रकाश।*

प्रवृत्तियो के उचित प्रयोग से रसाभिव्यक्ति सहज रूप से हो जाती है यदि इनका प्रयोग करते समय स्थान के अनुसार वेशभूषा, भाषा तथा व्यवहार का ध्यान नहीं रखा गया तो रसानुभूति मे बाधा उपस्थित होने लगेगी। प्रत्येक प्रवृत्ति का प्रयोग करते समय तत् सम्बद्ध रस का भी विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। यदि दाक्षिणात्य मे रौद्रादि रसों को ग्रहण कर लिया गया तो रचना दोषपूर्ण हो जायेगी क्योकि दाक्षिणात्य मे शृगार के प्रतिकूल रस का वर्णन शृगार की अभिव्यक्ति मे बाधक हो जायेगा। इसी प्रकार अन्य प्रवृत्तियों मे भी समझना चाहिए। प्रवृत्तियॉ रस की अनुग्राहक होती हैं। तात्पर्य यह है कि प्रवृत्तियों का समीचीन प्रयोग रस को अभिव्यक्त करने मे अथवा रस को प्रकट करने मे साक्षात् रूप से सहायक होता है। इसी आधार पर पात्र द्वारा किया गया अभिनय या पात्र से सम्बन्धित वर्णन सत्य प्रतीत होता है। इसलिए प्रवृत्तियों के अनुचित प्रयोग से रस की अभिव्यक्ति प्रभावित होती है।

प्रवृत्ति का सम्बन्ध रस से होने के कारण विचारणीय है कि प्रवृत्तिगत दोषो का रस–दोषो से क्या सम्बन्ध है? उल्लेखनीय है कि **आचार्य मम्मट** ने देश, काल, भाषा, व्यवहार आदि के अनुचित प्रयोग को साक्षात् रसापकर्षक मानते हुए इसे 'प्रकृति विपर्यय' नामक रस–दोष कहा है। यह कहकर आचार्य मम्मट ने प्रकारान्तर से प्रवृत्तिगत दोषो को 'प्रकृति विपर्यय' नामक रस–दोष में अन्तर्भुक्त कर लिया है। इस आधार पर प्रवृत्तिगत रस– दोषो को साक्षात् रस–दोष कहना समीचीन प्रतीत होता है।

अलङ्कार और अलङ्कारगत रस-दोष

"अलङ्कार" पद का प्रयोग प्राचीन काल से ही होता रहा है। वेदो मे 'अरङ्कृति' पद का प्रयोग हुआ है।[1] **शतपथ ब्राह्मण** तथा **छान्दोग्य उपनिषद्** मे 'अलङ्कार' शब्द का प्रयोग शोभावर्धक तत्त्व के रूप मे हुआ है।[2] **यास्क मुनि** ने 'अरङ्कृत' तथा 'अलङ्कृत' पद को पर्यायवाची माना है।[3] उल्लेखनीय है कि **यास्कमुनि** से पूर्व 'अलङ्कार' शब्द का प्रयोग शोभाधायक तत्त्व के रूप मे अवश्य हुआ है किन्तु काव्यशास्त्रीय दृष्टि से 'अलङ्कार' पद का प्रयोग **यास्क मुनि** के द्वारा ही किया गया है।

'अलकार' पद 'अलम्' पूर्वक√कृ धातु से करण अथवा भाव अर्थ मे 'घञ्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है। इस प्रकार सुशोभित करने वाला तत्त्व ही अलङ्कार है । काव्यशास्त्रो मे अलङ्कार पर विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। यहाँ प्रमुख काव्यशास्त्रकारो का विचार द्रष्टव्य है।

नाट्य-शास्त्र मे अलङ्कार सामान्य का रूप निरूपित नहीं है। **भरत मुनि** ने **उपमा, रूपक, दीपक** तथा यमक चार अलङ्कारो का विवेचन किया है।[4] उल्लेखनीय है कि **भरतमुनि** ने अलङ्कारो के निरूपण से पूर्व **छत्तीस लक्षणों** का निरूपण किया है तथा इन्हे काव्य शोभाकारी माना है।[5]

इन लक्षणो में कतिपय लक्षणो यथा-हेतु, सशय, दृष्टान्त आदि को उत्तरवर्ती आचार्यों ने अलङ्कार माना है। **आचार्य भामह** ने शब्द तथा अर्थ की वक्रता से युक्त कथन को अलङ्कार माना है।[6] इनके विचार से वक्रता ही अलङ्कार का मूल तत्त्व है। वक्रता के अभाव मे अलङ्कारो का कोई महत्त्व नहीं है।[7]

---

१. *का ते अस्त्यरङ् कृति सूक्तै।*
-ऋग्वेद- ७/२९/३

२ क) *अञ्जनाभ्यञ्जने प्रयच्छन्त्येव मानुषोऽलङ्कार।शतपथ ब्राह्मण*
-१३/८/४/७।

ख) *वसनेन अलङ्कारेणेति सस्कुर्वन्ति। छान्दोग्यउपनिषद्,*
-८/८/५।

३ *सोमा अरङ्कृता अलङ्कृता।निरुक्त,*
-१०/१/२।

४ *उपमा रूपक चैव दीपक यमक तथा।*
अलङ्कारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रया ।।
-भरतमुनि नाट्यशास्त्र १७/४३।

५ *एतानिकाव्यस्य च लक्षणानि षट्त्रिंशदुद्देशनिदर्शकानि।*
प्रबन्ध शोभाकरणानि तज्ज्ञै सम्यक् प्रयोज्यानि यथारसानि।
-भरतमुनि, ना०शा० १७/४२।

६ *वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृति ।*
-भामह, काव्यालङ्कार १/३६।

७ *सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।*
यत्नोऽस्या कविना कार्य कोऽलङ्कारोऽनया बिना।
-भामह, काव्या० २/८५।

अलङ्कारो का काव्य मे सर्वाधिक महत्त्व स्थापित करने का श्रेय **आचार्य भामह** को ही है। इनका विचार है कि जिसप्रकार आभूषण के अभाव मे स्त्री का सुन्दर मुख भी सुशोभित नहीं होता उसी प्रकार अलङ्कार के अभाव मे काव्य भी शोभायमान नहीं होता है।[1]

आचार्य वामन ने सौन्दर्य को अलङ्कार कहा है[2]। अलङ्कारो के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि अलङ्कारो के कारण ही काव्य की ग्राह्यता है।[3] **आचार्य दण्डी** ने शोभाकारी तत्त्वो को अलङ्कार माना है।[4] **आचार्य वामन** ने गुणो को शोभाकारी काव्य तत्त्व माना है।[5] गुणों से उत्पन्न काव्य–शोभा मे उत्कर्ष लाने वाले तत्त्व अलङ्कार हैं।[6] इस प्रकार इन्होने अलङ्कारो को गुणो से अधिक महत्त्व दिया है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य मे अलङ्कारों की प्रधानता का खण्डन किया है। इन्होंने अलङ्कारों को शब्द तथा अर्थ रूप अङ्गो की शोभा बढाने वाले कहा है।[7] जिस प्रकार कटक, कुण्डल आदि से वाह्य अङ्गो की शोभा बढती है। उसी प्रकार अलङ्कारो से काव्य के अङ्ग भूत शब्द तथा अर्थ की शोभा वृद्धि होती है। इनका नियोजन भी अङ्ग रूप मे होना चाहिए; अङ्गी रूप मे नहीं । [illegible] का विचार है कि रस की दृष्टि से ही अलङ्कारों का नियोजन करना चाहिए। पृथक् रूप से इसके लिए प्रयत्न नहीं करना चाहिए–

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्ध शक्यकियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य सोऽलङ्कारो ध्वनौ मत ।।
–ध्वन्या० २/१७।

---

१ *न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्।*
–भामह, काव्या० १/१३।

२ *सौन्दर्यमलङ्कारः।*
–वामन, काव्या० सूत्र १/१/२।

३. *काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्।*
–वामन, काव्या० सू० १/१/२।

४. *काव्य शोभाकरान् धर्मान्लङ्कारान् प्रचक्षते।*
–काव्यादर्श, २/१।

५. *काव्य शोभाया कर्तारो धर्मा गुणा ।*
–वामन, काव्या सू० ३/१/१।

६. *तदतिशय हेतवस्त्वलङ्कारा ।*
–वामन, काव्या० सू० ३/१/२।

७. *अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्।*
–आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक २/६।

इस प्रकार **ध्वन्यालोककार** ने शोभाकारी मानते हुए भी अलङ्कारो को काव्य के अङ्गी रूप मे स्वीकार नहीं किया। इन्होने अलङ्कार के विषय मे नवीन दृष्टिकोण की दिशा प्रदर्शित की है।

आचार्य मम्मट ने **आचार्य आनन्दवर्धन** का अनुकरण करते हुए काव्य मे अलङ्कारों को विशेष महत्त्व नहीं दिया है। **आचार्य भामह** आदि ने अलङ्कारो को सर्वाधिक महत्व दिया था। अलङ्कारो के कारण ही काव्य की ग्राह् यता को स्वीकार किया था। **आचार्य मम्मट** ने कहा है कि यदि स्फुट अलङ्कारकाव्य मे न हो तब भी काव्यत्व की हानि नहीं होती है।[1] काव्य मे रस को अङ्गी मानते हुए **आचार्य मम्मट** ने अलङ्कारो को उनके उपकारक के रूप के स्वीकार किया है। उल्लेखनीय है कि **आनन्दवर्धन** तथा **आचार्य मम्मट** ने अलङ्कारो को गुणो के समान भी महत्त्व नहीं दिया है। इन्होने गुणो को सदैव रस का उत्कर्ष करने वाला माना है।[3] जबकि अलङ्कारो को कभी–कभी रस का उपकार करने वाला माना है। अलङ्कार अङ्ग आश्रित होते हैं और परम्परया रस का उपकार करते हैं। नीरस काव्यों मे ये मात्र वैचित्य ही उत्पन्न करते है। रसयुक्त काव्य मे ये कभी–कभी रस का उपकार भी नहीं करते। **आचार्य मम्मट** ने यद्यपि **आचार्य आनन्द वर्धन** के आधार पर ही अलङ्कार-स्वरूप निरूपित किया है तथापि अलङ्कार की सुस्पष्ट तथा सम्यक् परिभाषा देने मे आचार्य मम्मट ही सफल रहे हैं।

इस प्रकार आचार्यों द्वारा प्रतिपादित अलङ्कार स्वरूप–निरूपण का अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि **भामह** से लेकर **आचार्य आनन्द** वर्धन के पूर्व तक अलङ्कारो को काव्य का प्रमुख तत्त्व या अङ्गी माना गया है। **आचार्य रुय्यक** ने भी 'अलङ्कार सर्वस्व' की प्रस्तावना में यह स्वीकार किया है।[4] प्राचीन अलङ्कारियों के अनुसार अलङ्कारों के बिना काव्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती, यह कहा जा सकता है।

सर्वप्रथम ध्वनिकार **आचार्य आनन्दवर्धन** ने इसका खण्डन करके काव्य मे अलङ्कारों की वास्तविक स्थिति का निरूपण किया। **आचार्य मम्मट** ने **आचार्य आनन्द वर्धन** की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से अलङ्कार का स्वरूप निरूपित किया है। **आचार्य मम्मट** ने उन तथ्यों को भी स्पष्टत ग्रहण किया है जो **आनन्द वर्धन के** निरूपण में सुव्यक्त तथा सुव्यवस्थित नहीं थे। इससे सुगमता पूर्वक अलङ्कार का स्वरूप तथा उसकी काव्यगत स्थिति का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। **मम्मट** के परवर्ती काव्यशास्त्रकारों में प्राय **मम्मट** का सिद्धान्त ही मान्य रहा है। यह कहा जा सकता है कि **आचार्य मम्मट** का अलङ्कार निरूपण उत्कृष्ट है।

---

१. *क्वचित्तु स्फुटालङ्कार विरहेऽपि न काव्यत्व हानि ।*
—मम्मट, का० प्र० १/४ की वृत्ति ।

२ *उपकुर्वन्ति त सन्तं ये अङ्गद्वारेण जातुचित्।*
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादय ।
—मम्मट, काव्य प्रकाश ८/६७।

३ *ये रसस्याङ्गिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मन ।*
उत्कर्ष हेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणः।।
—तदेव ८/६६।

४ *तदेवमलङ्कारा एव काव्ये प्रधानमितिप्राच्याना मतम्।*
—रुय्यक, अलङ्कार सर्वस्व, प्रकाशक—चौखम्भा स०,स०, द्वितीय संस्करण पृ० १६।

काव्यशास्त्रकारो के मध्य काव्य मे अलङ्कारो को विशिष्ट स्थान प्रदान करने की दीर्घ परम्परा रही है। काव्य मे अलङ्कारो की महत्ता प्रतिपादित करने वाले आचार्यों ने अलङ्कारो मे स्थित दोषों पर भी दृष्टिपात किया है। उल्लेखनीय है कि 'उपमा अलङ्कार' को अलङ्कारो मे विशेष महत्त्व देने के कारण **मम्मट** से पूर्ववर्ती सभी आचार्योंने प्राय उपमा पर आश्रित दोषों का ही विवेचन किया है। प्रसङ्ग के अनुरूप काव्य शास्त्र कारो का अलङ्कार–दोष–विवेचन अपरिहार्य है।

भामह ने सात उपमा–दोषो का उल्लेख किया है तथा इन दोषो को अपने पूर्ववर्ती मेधावी नामक आचार्य द्वारा निरूपित बताया है। ये दोष इस प्रकार हैं[1]– **हीनता**, **असम्भव**, **लिङ्ग–भेद**, **वचन भेद**, **विपर्यय**, **उपमानाधिकता** तथा **असदृशता**।

दण्डी ने चार उपमा दोष ही स्वीकार किये हैं[2]–**हीनता**, **उपमानाधिकता**, **लिङ्ग भेद** तथा **वचन भेद**। इन चारों दोषों को भी उद्वेजक होने पर ही **दण्डी** ने दोष माना है। यदि ये चारो दोष सहृदयो के उद्वेग का कारण न बनें तो ये दोष नहीं माने जायेंगे।

दण्डी ने सर्वप्रथम उपमा दोषो की उदोषता में अनुद्वेजकता का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार **दण्डी** ने उपमा दोषो को अनित्य दोषों के वर्ग मे परिगणित किया है यह कहा जा सकता है।

वामन ने **भामह** द्वारा उल्लिखित उपमा–दोषो में से छ दोषों को स्वीकार किया है। इन्होंने 'विपर्यय' नामक दोष को ग्रहण नहीं किया है।[3]

उपमान तथा उपमेय हीनता अथवा अधिकता की स्थिति मे 'विपर्यय' दोष होता है। **वामन** का विचार है कि 'विपर्यय' रूप उपमा दोष का अन्तर्भाव 'हीनता' तथा 'अधिकता' रूप उपमा–दोषों मे ही हो जाता है।[4] तात्पर्य यह है कि जहाँ उपमेय के विशेषणों की अधिकता होगी वहाँ उपमान के विशेषण हीन या अल्प होंगे तथा जहाँ उपमान के विशेषणों की अधिकता होगी वहा उपमेय के विशेषणों की हीनता होगी ही अत 'विपर्यय' नामक पृथक् दोष मानना उचित नहीं है।

---

१ *हीनता सम्भवो लिङ्गवचौ भेदो विपर्ययः।*
उपमानाधिकत्व तेनासदृशतापि च
त एत उपमा दोषाः सप्त मेधाविनोदिताः।
—भामह काव्या० २/३६–४०।

२ *न लिङ्ग वचने भिन्ने न हीनाऽधिकताऽपि वा।*
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्।
—दण्डी का० द० २/५१।

३. *—वामन का० सू० ४/२/८।*

४. *अनयोर्दोषयोर्विपर्ययाख्यस्यदोषस्यान्तर्भवान्न पृथगुपादानम्।*
अतएवास्माक मते षड्दोषा इति।
—वामन, का० सू० वृ० ४/२/११।

रूद्रट ने चार उपमा–दोषों को ही मान्यता प्रदान की है। इन्होंने **सामान्य शब्द भेद, वैषम्य, असम्भव** तथा **अप्रसिद्ध** नामक उपमा–दोष माने है।[1] **दण्डी** ने भी चार उपमा–दोषो को माना है। परन्तु उन्होने हीनता, अधिकता, लिङ्ग–भेद रूप दोषो का निरूपण किया है। **रूद्रट** का उपमा–दोष–विवेचन पूर्वाचार्यों का अनुकरण मात्र नहीं है।[2] **रूद्रट** के पूर्ववर्ती आचार्यो ने प्राय अपने पूर्वाचार्यों का अनुकरण ही किया है। **रूद्रट** ने **भामह** तथा **वामन** द्वारा प्रतिपादित 'असम्भव' नामक उपमा–दोष को ही ग्रहण किया है। **रूद्रट** के ग्रन्थ **काव्यालङ्कार** के टीकाकार **नमिसाधु** ने रूद्रट के उपमा–दोषो में पूर्वाचार्यों के उपमा–दोषों का अन्तर्भाव प्रदर्शित किया है।[3]

टीकाकार **नमिसाधु** ने लिङ् तथा वचन भेद रूप उपमा दोष को **रूद्रट** प्रतिपादित 'सामान्य शब्द भेद' नामक दोष मे अन्तर्भुक्त माना है तथा हीनता और अधिकता रूप दोष को 'वैषम्य' दोष में, 'विपर्यय' को 'अप्रसिद्धि' नामक दोष मे अन्तर्भुक्त माना है।[4]

भामह के 'असादृश्य' दोष को **नमिसाधु** ने दोष ही नहीं माना है।[5] उनका विचार है कि ऐसा कौन है जो उपमा लक्षण को जानता हुआ भी सादृश्याभाव में उपमा का उदाहरण प्रस्तुत करेगा।

रूद्रट द्वारा प्रतिपादित उपमा–दोषों का परिशीलन करने पर निस्सन्देह कहा जा सकता है कि **नमिसाधु** द्वारा किया गया अन्तर्भाव समीचीन है।[6]

रूद्रट ने उपमा–दोषों के प्रतिपादन मे अपनी तीक्ष्ण मति का परिचय दिया है। उन्होने बिना नामोल्लेख किये ही पूर्वाचार्यो के मत का अन्तर्भाव स्वनिरूपित दोषो में करने का प्रयास किया है। **नमिसाधु** ने इसे सुस्पष्ट रूप से निरूपित करने का कार्य किया है। उपमा–दोषों के नामकरण में भी **रूद्रट** ने मौलिकता प्रदर्शित की है।

---

१ *सामान्य शब्द भेदो वैषम्यमसम्भवोऽ प्रसिद्धिश्च।*
इत्येते चत्वारो दोषा नासम्यगुपमायाः।।
–रूद्रट काव्या ११/२४।

२. *–द्रष्टव्य, रूद्रट, काव्या०, ११/२४–३५।*

३ *–नमिसाधु, रूद्रट, काव्या०, ११/२४–३५ की टीका।*

४. *किञ्च लिङ्ग वचन भेदे दोषत्वेनाश्रीयमाणे कालकारक विभक्ति भेदा नाश्रिता।*
सामान्य शब्दभेदे तु तेऽपि सङ्ग्रहीताः। तथा हीनताधिक्ये –
चोपमानोपमेयसाम्याभावाद्दोषत्वेनाश्रिते परेण। तत्र च वैषम्यमेवोभय दोष–
सङ्ग्राहकमेकमुक्तमस्माभि। तथा योपि हीनताधिक्य विशिष्टो विपर्यय उक्त सोऽपि–
न तावन्मात्रेण दोषहेतु अतिप्रसङ्गात्। अपित्वप्रसिद्धित एव अन्यथा हि निन्दास्तुती–
यत्र चिकीर्षिते भवतस्तत्रापि यथाकमं निकृष्टस्योत्कृष्टस्य चोपमानस्य दुष्टत्व स्यात्।
–रूद्रट, काव्या०, ११/२४ पर नमिसाधुकी टीका।

५. *असादृश्यस्य तु दोषत्वेऽप्युपमान लक्षणेनैव निरस्तत्वादिहोपादानमर्थकम्। को हि–*
ज्ञातोपमालक्षण सादृश्याभावे उपमा कुर्वीत।
–तदेव, नमिसाधु की टीका

६. *–रूद्रट काव्या० ११/२५–३५।*

आनन्द वर्धन ने अलकार–दोषों का स्वतन्त्र रूप से निरूपण नहीं किया है। असंलक्ष्यकमव्यग्य ध्वनि के भेदो की सूचना देने के पश्चात् ध्वनिकार ने रस मे अलकारो के निबन्धन का किञ्चित् सकेत दिया है।[1] **ध्वनिकार** का विचार है कि शृगार रस मे अनुप्रास अलकार का, विशेषत विप्रलम्भ शृगार रस मे यमक अलकार का निबन्धन अनुचित होता है।[2]

आनन्दवर्धन ने इसी प्रसङ्ग में यह भी व्याख्यान दिया है कि रसो के अनुकूल अलकारों का सयोजन किस प्रकार करना चाहिए।[3] यहाँ **ध्वनिकार** ने अलकार–दोषों की अनित्यता का भी एक प्रकार से समर्थन किया है।[4] तात्पर्य यह है कि रस के अनुकूल रूपक आदि अलकारों का निबन्धन दोषाधायक नहीं होता, इसका निरूपण भी ध्वनिकार ने किया है जिससे ज्ञात होता है कि रस के अनुकूल या रसानुपकारक अलकारो का निबन्धन काव्य का अपकर्षक नहीं होता है।

'**ध्वन्यालोक**' मे यह भी प्रतिपादित किया गया है कि अलकारों का निबन्धन रस के अग रूप मे होना चाहिए उचित स्थान पर उसका ग्रहण तथा उचित स्थान पर अलकारो का त्याग करना चाहिए। काव्य मे बहुत दूर तक अलकारो का नियोजन नहीं करना चाहिए।

ध्वनिकार के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इन्होंने भी अलकार–दोषो की ओर दृष्टिपात किया था। शृगार रस में अनुप्रास तथा यमक अलकार का नियोजन अलकार–दोष ही कहा जायेगा।

अलङ्कारो के समुचित नियोजन या निबन्धन का जिसप्रकार निर्देश **आनन्द वर्धन** ने दिया है उससे विपरीत स्थिति मे अलङ्कारों का निबन्धन भी अलङ्कार–दोषों की उपस्थिति का कारण बनेगा, यह स्पष्ट है।

भोज ने **भामह** आदि आचार्यों द्वारा निरूपित छ उपमा–दोषो का निरूपण किया है।[5] इन्होने वाक्य तथा वाक्यार्थगत दोषों के अन्तर्गत इन दोषो का प्रतिपादन किया है।

भोज ने भिन्नलिङ्ग, भिन्नवचन, न्यून तथा अधिकोपमा को वाक्यगत वर्ग में परिगणित किया है। **भामह** के 'हीनता' रूप दोष को **भोज** ने 'न्यूनोपमा' दोष कहा है।

उपमा दोषों में से 'असदृशोपम' तथा 'अप्रसिद्धोपम' को **भोज** ने वाक्यार्थ दोष माना है। **भोज** का 'अप्रसिद्धोपम' दोष रूद्रट के 'अप्रतीतत्व' नामक अर्थ दोष के समान है।[6]

---

१ *शृङ्गारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धयन्।*
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रास प्रकाशक ।।
—आनन्दवर्धन ध्वन्या० २/१४।

२ *ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम्।*
शक्तावपि प्रमादित्व विप्रलम्भे विशेषत ।।
—वही २/१५।

३. *—वही २/१६–१७।*

४ *—वही २/१८–१९।*

५ *—भोज , स० क०, १/२५, २६, ५१, ५२।*

६ क) *अर्थोऽयमप्रतीतो य सन्नपि न प्रयुज्यते वृद्धै ।*
—रूद्रट काव्या०, ५।

ख) *शरदिव विभाति तन्वी विकसत्पुलकोत्करेयमिति।।*
—भोज, स०क०आ०, उदा० ६३३ तथा १/५२ कारिका।

भोज ने हीनोपमत्व तथा अधिकोपमत्व को वाक्य तथा वाक्यार्थ दोनो वर्गों में सङ्ग्रहित किया है। उल्लेखनीय है कि 'सरस्वती कण्ठाभरण' नामक अपने ग्रन्थ मे **भोज** ने पृथक् रूप से अलङ्कार–दोषो का निरूपण नहीं किया वरन् उन्हे वाक्य तथा वाक्यार्थ दोषो मे हीपरिगणित किया है। इनके पूर्ववर्ती **रूद्रट** ने पृथक् रूप से तथा सूक्ष्मता से इन दोषो पर विचार किया था परन्तु **भोज** ने इस क्षेत्र में **रूद्रट** का अनुकरण नहीं किया। मौलिकता का आधान किया है।

भोज ने **भामह** द्वारा स्वीकृत उपमा–दोषों मे से असम्भव तथा विपर्यय दोष को स्वीकार नहीं किया है। उल्लेख्य है कि **वामन** ने भी 'विपर्यय' दोष को मान्यता नहीं प्रदान की है।

रूद्रट द्वारा निरूपित 'अप्रसिद्धोपम' को **भोज** ने ग्रहण तो किया है' परन्तु इनका यह दोष निरूपण **रूद्रट** के 'अप्रतीतत्व' नामक अर्थ–दोष से प्रभावित है।

भोज ने उपमा–दोषो को उल्लिखित तो किया है परन्तु **भामह**, **दण्डी**, **वामन** तथा **रूद्रट** के समान विशेष रूप से इसका निरूपण नहीं किया है। **भोज** के इस कार्य से अलङ्कार गत दोषो का महत्त्व कुछ अल्प हो गया प्रतीत होता है।

मम्मट के पूर्व तक अलङ्कार–दोषों का निरूपण होता रहा है। अलङ्कारों में भी उपमा–गत दोषो का ही स्पष्ट निर्देश किया गया है। सम्भवत अलङ्कारों मे उपमा अलङ्कार का सर्वाधिक महत्त्व इसका कारण होगा।

मम्मट ने मात्र उपमा ही नहीं वरन् अनुप्रास, यमक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति तथा अप्रस्तुत प्रशसा आदि ---- अलङ्कारों से सम्बद्ध दोषों का अन्तर्भाव प्रदर्शित किया है। अनुप्रास के तीन दोषो –प्रसिद्ध भाव, वैकल्प तथा वृत्तिविरोध का अन्तर्भाव **मम्मट** ने क्रमश प्रसिद्धि विरूद्धता, अपुष्टार्थता तथा प्रतिकूल वर्णता मे किया है।[1] यमक का श्लोक के एक, दो या चार चरणो मे निबन्धन कवि सम्प्रदाय में सिद्ध है। तीन चरणों मे यमक का निबन्धन दोष–पूर्ण होता है।[2] इसे **मम्मट** ने अप्रयुक्त दोष माना है।

१.क) एषा दोषा यथायोग सम्भवन्ताऽपि केचन ।
उक्तेष्वन्तर्भवन्तीति न पृथक् प्रतिपादिता।।
–मम्मट, का० प्र० १०/१४२ ।

ख) –तदेव १०/१४२ की वृत्ति।

२. यमकस्य पादत्रयगतत्वेन यमकमप्रयुक्तत्व दोष।
–तदेव, १०/१४२ की वृत्ति।।

मम्मट ने उपमागत दोषों मे जाति तथा प्रमाण में न्यूनता व अधिकता होने पर उनका 'अनुचितार्थ' मे, साधारण धर्म न्यूनता अथवा अधिकता होने पर उनका कमशः 'हीनपदता' और 'अधिकपदता' में, लिङ्गवचन भेद तथा कालपुरूषविधि भेदो को 'प्रकमभङ्गता' मे, असादृश्य और असम्भव का 'अनुचितार्थ' मे अन्तर्भाव किया है।

उपमा–दोषो का अन्तर्भाव प्रदर्शित करते हुए **मम्मट** ने उपमान के 'न्यूनाधिकत्व' को 'अनुचितार्थ' नामक दोष मे अन्तर्भुक्त माना है। इस प्रसङ्ग मे **मम्मट ने वामन** के द्वारा प्रस्तुत किये गये उदाहरणो को उद्धृत किया है।[1] **वामन** के जातिगत न्यूनता व अधिकता तथा परिमाणगत न्यूनता व अधिकता रूप दोषो मे **वामन** द्वारा ग्रहण किये उदाहरणो को ही उद्धृत करके **मम्मट** ने उन्हे अनुचितार्थ नामक दोष मे अन्तर्भुक्त किया है।

वामन द्वारा 'उपमानगत धर्मन्यूनता' रूप दोष के उदाहरण को **मम्मट** ने साधारण धर्म की न्यूनता 'रूप दोष को स्पष्ट करने के लिए ग्रहण किया है।

उल्लेखनीय है कि **मम्मट** ने कहीं भी **वामन** का नामोल्लेख नहीं किया है परन्तु यहाँ **मम्मट** विशेषत **वामन** कृत अलङ्कार–दोष का खण्डन करते हुए प्रतीत होते हैं यह कहा जा सकता है।

उपमा–दोषों के अन्तर्भाव का निरूपण करने के पश्चात् **मम्मट** ने उत्प्रेक्षा–दोषों का प्रतिपादन किया है।

उत्प्रेक्षा अलङ्कार मे ध्रुव, इव, वा आदि पदो का प्रयोग उचित होता है।[2] इन उत्प्रेक्षा–वाचक शब्दों के स्थान मे 'यथा' आदि शब्दों का प्रयोग अनुचित है। 'यथा' शब्द के प्रयोग मे 'अवाचकत्व' दोष होगा क्योकि यह उत्प्रेक्षा के लक्षण भूत 'सम्भावना' का ज्ञान कराने मे असमर्थ है। अत यहाँ उत्प्रेक्षा–दोष न होकर 'अवाचकत्व' दोष ही होगा।

उत्प्रेक्षा अलङ्कार मे दोष उपस्थित होने की एक स्थिति और है जब उत्प्रेक्षा मे असम्भावित पदार्थ का समर्थन करने के लिए 'अर्थान्तरन्यास' नामक अलङ्कार का आश्रय लिया जाता है। यहाँ अर्थान्तरन्यास द्वारा जिसका समर्थन किया जा रहा है वह अर्थ ही आकाश मे बनाये गये चित्र के समान असत्य है। इसलिए यहाँ अनुचितार्थ दोष मानना ही मम्मट को अभिलषित है, उत्प्रेक्षा–दोष नहीं। **मम्मट** के अनुसार समासोक्ति तथा अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कारो मे कमश· उपमान और उपमेय शब्द द्वारा कथन दोषपूर्ण होता है, इन दोषों का अपुष्टार्थता अथवा पुनरूक्ति में अन्तर्भाव किया जा सकता हैं।

---

१ –द्रष्टव्य वामन का० सू० ४/ द्वितीय अध्याय तथा का० प्र० के उदाहरण– ५८४, ५८५, ५८७, ५८८।

२ मन्ये शङ्के ध्रुवप्रायो नूनमित्येववादय ।
उत्प्रेक्षावाचका शब्दा इव शब्दोऽपितादृश ।।

मम्मट ने उपर्युक्त प्रकरण में पूर्वाचार्यों द्वारा वर्णित अलङ्कार–दोषो का दोष–सामान्य मे अन्तर्भाव प्रदर्शित किया है। इससे स्पष्ट होता है कि **मम्मट** अलङ्कार–दोषो के पृथक् निरूपण को समीचीन नहीं मानते। इस प्रकार **मम्मट** ने प्राचीन आचार्यों द्वारा सुदीर्घ काल तक मान्य विचार का एक प्रकार से तर्कपूर्ण खण्डन किया है। **विश्वनाथ** ने भी अलङ्कार–दोषो का अन्तर्भाव दोष–सामान्य या पद, वाक्य आदिगत दोषों में माना है। इन्होने कहा है कि पद, वाक्य आदिगत दोषो के अतिरिक्त अलङ्कार–गत दोष सम्भव नहीं है। **विश्वनाथ** ने **मम्मट** के अनुसार ही अलङ्कार–दोषों का अन्तर्भाव निरूपित किया है।

विश्वनाथ ने यद्यपि **मम्मट** द्वारा निर्दिष्ट दोषो मे ही अलङ्कार–दोषों को अन्तर्भुक्त माना है तथापि इनका निरूपण कुछ भिन्न है। इन्होने अनुप्रास, यमक आदि अलङ्कार दोषों को पृथक्–पृथक् रूप से दोष–सामान्य मे अन्तर्भुक्त नहीं किया है। **विश्व[illegible]** ने दोष सामान्य का उल्लेख करके उसमें अन्तर्निहित होने वाले सभी अलङ्कार दोषो का एक साथ उल्लेख कर दिया है। यथा 'अनुचितार्थ' दोष में अन्तर्भुक्त होने वाले उपमा तथा अर्थान्तरन्यास अलङ्कार दोषो को एक स्थान पर निर्दिष्ट कर दिया है। तत्पश्चात् उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं।

साहित्यदर्पणकार **विश्वनाथ** ने इस प्रसङ्ग में नवीनता का आधान करने का प्रयत्न किया है परन्तु उनका निरूपण सुस्पष्ट नहीं है। इसके साथ ही दूरदर्शिता का भी अभाव है।

मम्मट ने एक कम से सर्वप्रथम शब्द पर आश्रित अनुप्रास तथा यमक अलङ्कार–गत दोषों का निरूपण किया है तत्पश्चात् अर्थालङ्कारो का निर्देश किया है। अर्थालङ्कारो में भी उपमा–दोषों का सर्व प्रथम उल्लेख किया है। उल्लेखनीय है कि **मम्मट** के पूर्व आचार्यों ने उपमा–दोषों का ही सुस्पष्टतया निरूपण किया है। **मम्मट** ने उपमा–दोषों का विधिवत् अन्तर्भाव प्रदर्शित करते हुए **वामन** स्वीकृत उदाहरणों को भी उद्धृत किया है।

विश्वनाथ के पश्चात् **जगन्नाथ** ने **रसगङ्गाधर** के द्वितीय आनन में उपमा–गत दोषों का उल्लेख किया है। उपमा अलङ्कार के चमत्कार या उत्कर्ष को हानि पहुँचाने वाले तत्त्व ही **पण्डितराज जगन्नाथ** की दृष्टि में उपमा–दोष हैं।

जगन्नाथ ने कवियों सिद्धान्तों में जो वस्तु जिस रूप में प्रसिद्ध नहीं है, उसका उस रूप में उल्लेख, उपमान तथा उपमेय का जाति-प्रमाण-लिङ्ग- सङ्ख्या द्वारा परस्पर अनुरूप न होना, बिम्ब–प्रतिबिम्ब भाव से युक्त धर्मों में उपमान तथा उपमेय के धर्मों का न्यूनाधिक होना और साधारण धर्म के अनुगामी होने पर काल, पुरूष अैर विधि आदि अर्थों का उपपन्न न होना अर्थात् ऐसी किया का अनुगामी धर्म होना जिसके काल–पुरूष आदि उपमान तथा उपमेय अश मे सङ्गत न हो सकें[2] इन सभी को दोष माना है।

---

1. *एभ्य पृथगलङ्कारदोषाणा नैव सम्भव ।।*

–विश्वनाथ, सा० द० ७/१६।

2. *अथास्या श्चमत्कार स्यापकर्षक यावत्तत्सर्वमपि दोषः। कवि समय प्रसिद्धिराहित्यम् उपमानोपमेययोर्जात्या प्रमाणेन लिङ्ग सङ्ख्या भ्याञ्चाननुरूप्यम्, बिम्ब प्रतिबिम्बभावे धर्माणामुपमानोपमेय गताना न्यूनाधिक[illegible]पुरूषविध्याद्यर्थकत्वम् एवमादि।*

उपर्युक्त विवेचन से यह सज्ञान होता है कि अलकार–दोषो का निरूपण **भामह** से प्रारम्भ हुआ। **आचार्य भोज** तक सामान्यत उसका विकास होता रहा है। आचार्य मम्मट ने अलकार–दोषों को सामान्य रूप से पदगत आदि दोषो में अन्तर्भुक्त मान लिया है। इनके पूर्ववर्ती **भोज** नेउपमा दोषो का अन्तर्भाव वाक्य या वाक्यार्थ दोष मे नहीं किया है। परन्तु स्वतंत्र रूप से उपमा–दोष का निरूपण न करके वाक्य तथा वाक्यार्थ गत दोषो के अन्तर्गत ही उनका निरूपण किया है। **आचार्य भोज** के इस प्रकार के निरूपण से आचार्य **मम्मट** को अन्तर्भाव की प्रेरणा प्राप्त हुई यह माना जा सकता है।

आनन्दवर्धन से पूर्व आचार्यों ने मात्र उपमा–दोषो पर ही दृष्टिपात किया है। **आचार्य आनन्द वर्धन** ने सामान्यत सभी अलकारो के अनुचित निवेशन का संकेत दिया हैं जो आचार्य के लिए पर्याप्त उपयोगी सिद्ध हुआ है।

विचारणीय है कि जब हम अलकारगत रस–दोषो का अन्वेषण करने के लिए प्रवृत्त होते हैं तो हमारी दृष्टि एक ओर उन अलकारो मे आये दोषो की ओर जाती है जो यत्किचित् रस से सम्बद्ध हैं तथा दूसरी ओर रसवदादि अलकारो की ओर भी जाती है, जिन्हें **आचार्य उद्भट** ने विशेष रूप से निरूपित करके रस से उनके सामीप्य का बोध कराया है और **आचार्य मम्मट** ने उन्हें अलकार न मानते हुए गुणीभूतव्यंग्य नामक काव्य–भेद मे अन्तर्मुक्त कर लिया है। यहॉ सर्वप्रथम रसवत् आदि अलकारो के स्वरूप का विवेचन करके उनके रस–सामीप्य का विचार करना है तदुपरान्त समासोक्ति आदि रस–सम्बद्ध अलंकारों के दोष पर विचार किया जायेगा।

आचार्य उद्भट ने रसवत्, प्रेयस्वत, उर्जस्वित् और समाहित नामक विशिष्ट अलकारो का निरूपण किया है। उल्लेखनीय है कि उद्भट ने इन चारो अलकारों में रस को स्पष्टत ग्रहण करते हुए इन्हे एक पृथक् वर्ग में निरूपित किया है। रसवत् आदि अलकारों में स्थित रस–दोष का निरीक्षण करने के लिए इनके स्वरूप पर भी सक्षेप में विचार करना अप्रासगिक न होगा।

रसवत् अलकार मे विभावादि का स्पष्ट ग्रहण होने के साथ ही रस का स्ववाचक शब्द से भी कथन होना चाहिए। **इस प्रकार शृगारादि रसों की स्पष्ट स्थिति होने पर रसवत् अलंकार होता है। अनुभावादि के द्वारा रति आदि भावों का ज्ञान होने पर प्रेयस्वत्** अलकार होता है/ध्यातव्य है कि यहॉ रति इत्यादि स्थायी भाव नहीं होते वरन् नृपादि विषयक भाव होते हैं। काम,क्रोध आदि के कारण [illegible] रूप से रस या भाव प्रवृत्त होने पर **उर्जस्वित्** तथा रस, भाव, रसाभास, भावाभास की वृत्ति का प्रशम वर्णित होने पर और अन्य रस, भाव आदि के अनुभाव आदि की पूर्णरूप से शून्यता होने पर **समाहित** अलंकार होता है।[1]

---

1 *रसवद् दर्शित स्पष्ट शृगारादि रसादयम्। स्वशब्द स्थायिसचारिविभावाभिनयास्पदम्।।*
रत्यादिकाना भावानामनुभावादिसूचने। यत्काव्य बध्यते सदि[illegible]हृतम्।।
अनौचित्य प्रवृत्ताना कामक्रोधादिकारणात्। भावाना च रसाना च बन्ध उर्जस्विदुच्यते।।
रसभावतदाभास वृत्ते प्रथम बन्धनम्। अन्यानुभाव निःशून्य रूप यत्तत्समाहितम्।।
–उद्भट, का० सा० स० ४/३,२,५,७।

रसवत् अलकार में रस की स्वशब्दवाच्यता होती है जो साक्षात् रस–दोष है। रस कभी वाच्य नहीं होता इस पर पहले ही विचार किया जा चुका है। अत रसवत् को साक्षात् रस–दोषो मे ग्रहण किया जा सकता है। प्रेयस्वत् तो 'भाव' ही है। उर्जस्वित् अलकार मे एक ओर तो रसाभास माना जा सकता है। दूसरी ओर काम या क्रोध वश शास्त्र–विरूद्ध रस का वर्णन होने पर अनवसर मे रस का प्रकाशन रूप रस–दोष भी माना जा सकता है क्योकि काम वशात् [illegible] युद्ध आदि स्थल पर सयोग शृगार का वर्णन होना दोष पूर्ण होता हैं समाहित अलकार मे भी यदि अनुचित अवसर पर रस या भावादि की वृत्ति का प्रशम वर्णित हो तो, वह दोष ही होगा। यद्यपि उर्जस्वित् व समाहित मे भी हम रस–दोषो की स्थिति का विचार कर सकते हैं तथापि रसवत् अलकार में स्पष्टत रस–दोष की स्थिति प्राप्त होती हैं इसलिए रसवत् को साक्षात् रस–दोष मानना समीचीन प्रतीत होता है।

रस से यत्किंचित् सम्बद्ध समासोक्ति, पर्यायोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा, अर्थान्तरन्यास आदि के अनुचित निबन्धन को रस-दोषों में परिगणित किया जा सकता हैं। अलंकार रस से परम्परया सम्बद्ध हैं। अत: अलकारगत रस-दोष परम्परया रस-दोष हैं, यह कहना समीचीन हैं।

गुणादिगत दोष का परिहार

गुणादिगत रस–दोषों के विवेचन के पश्चात् इनके परिहार की भी इतनी ही आवश्यकता है जितनी कवि तथा सहृदयगत रस–दोषो के परिहार की।

गुणादिगत दोषो के परिहार पर विचार करने से पूर्व यह विचारणीय है कि गुणादिगत दोषों में गुण रीति तथा वृत्तिगत दोष प्राय समान ही हैं प्रवृत्ति गत दोषो का स्वरूप किञ्चित् भिन्न है तथा अलकार गत दोष सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार गुणादि गत दोष–परिहार को तीन भागो मे विभक्त करना समीचीन है। इसी आधार पर इन दोषो का परिहार द्रष्टव्य है।

गुण, रीति तथा वृत्ति का पारस्परिक सम्बन्ध है। यह पहले भी कहा गया है। माधुर्यगुण, वैदर्भी रीति तथा उपनागरिका वृत्ति इन तीनों के व्यजक वर्ण समान होने के कारण शृगार, करूण, हास्य आदि रसों मे इनकी स्थिति होती है। तात्पर्य यह कि शृंगारादि रस मे माधुर्य गुण, वैदर्भी रीति तथा उपनागरिका वृत्ति होती है। रौद्र, वीर आदि रसो में ओज गुण, गौडी रीति तथा परूषा वृत्ति होती है। इसी प्रकार शृगार आदि रसों में कोमल वर्णों का प्रयोग होने पर प्रसाद गुण, पांञ्चाली रीति तथा, कोमला वृत्ति होगी ।

गुण, रीति तथा वृत्तिगत दोषों का परिहार करने लिए कवि को रसो से सम्बद्ध वर्णों का प्रयोग करना चाहिए। रसों के अनुकूल वर्णों का प्रयोग सम्बद्ध रस का उत्कर्षक होगा। शृगार रस में तदनुरूप पचम वर्ण, ट वर्ग के अतिरिक्त अन्य स्पर्श वर्ण तथा अपेक्षाकृत अल्प समास का प्रयोग करना चाहिए। इससे भिन्न द्वितीय तथा चतुर्थ वर्ण, ट वर्ग तथा दीर्घ समास से युक्त पदों का प्रयोग ओज गुण में होना चाहिए। इस प्रकार की पद सघटना से गुण, रीति तथा वृत्ति गत दोषो का निवारण हो सकता है। नाट्य–गत कैशिकी आदि वृत्तियों से सम्बद्ध दोषों पर प्रवृत्तिगत दोषों के साथ विचार करना समीचीन है।

प्रवृत्तिगत दोषों के परिहार से पूर्व उल्लेखनीय है कि नाट्य में वर्णित कैशिकी आदि वृत्तियॉ उपनागरिका आदि से भिन्न हैं। ये पात्रों के कायिक आदि आहार्य व्यापारों से सम्बद्ध हैं। इनका सम्बन्ध आवन्ती आदि प्रवृत्तियों के साथ है। आवन्ती, दाक्षिणात्य पाचाली तथा उड्रमागधी इन चार प्रवृत्तियों के साथ कैशिकी आदि वृत्तियों तथा रसों का सम्बन्ध यहॉ पुन उल्लेखनीय है क्योंकि इससे रसों के साथ इनका सम्बन्ध सुस्पष्ट हो जायेगा जिससे दोष–परिहार को समझने मे भी सौकार्य होगा।

शृगार रस प्रधान कैशिकी वृत्ति आवन्ती, दाक्षिणात्य तथा किचित् मात्रा मे पाचाली प्रवृत्ति में भी हो सकती है। उड्रमागधी मे इसका प्रयोग नहीं होता है। सात्वती वृत्ति धर्म प्रधान होती है। इसलिए इसमे करूण, धर्मवीर, शान्त आदि रस होते हैं। यह केवल आवन्ती प्रवृत्ति मे ही होती है। भारती व आरभटी वृत्तियॉ रौद्र, वीर आदि रस प्रधान होती हैं। ये पांचाली तथा उड्रमागधी प्रवृत्तियो में होती हैं।

वृत्ति, प्रवृत्ति तथा रस के परस्पर सम्बंध को जानने के पश्चात् प्रवृत्ति तथा वृत्तिगत रसदोष का परिहार स्पष्ट ही हो जाता है। परन्तु यहॉ प्रकृत दोष–परिहार का सुस्पष्ट विवेचन अपेक्षित है। अत उस पर विचार द्रष्टव्य है–

आवन्ती प्रवृत्ति मे अवन्ती आदि स्थानो के व्यक्तियो के अनुरूप वेश–भूषा व्यवहार आदि का वर्णन ही समीचीन होता है। इनका वर्णन करते समय शृगार, शान्त, करूण, धर्मवीर, हास्य आदि रसो को अभिव्यक्त करने वाले तत्त्वों को ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार पाचाली और उड्रमागधी प्रवृत्ति के निवासियो का वर्णन होने पर प्राय रौद्र, वीर, वीभत्स आदि रसो के अनुकूल तत्त्वो का ग्रहण करना चाहिए।

इसी प्रकार दाक्षिणात्य देशो का वर्णन करते समय उनके स्वभाव के अनुकूल शृगार, हास्य आदि रसों का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार के वर्णन से प्रवृत्तिगत दोषो का परिहार हो सकता है।

अलकारगत दोषों के परिहार मे सर्वप्रथम यह कहना है कि यहॉ रस से किचित् सम्बद्ध अलकार–दोषो का परिहार ही विवेचनीय है अन्य का नहीं। उद्भटादि द्वारा निरूपित रसवद्प्रेय, उर्जस्वित् तथा समाहित अलकार एव रस से किचित् सम्बद्ध समासोक्ति, पर्यायोक्ति, अप्रस्तुत प्रशसा, अर्थान्तरन्यास आदि अलकारो का निरूपण करते समय उनके शास्त्र वर्णित स्वरूप को ध्यान मे रखना चाहिए। समासोक्ति आदि अलकारो मे स्थित दोष का परिहार विवेचनीय है। समासोक्ति मे साधारण विशेषणों के द्वारा उपमान विशेष का ज्ञान होता है। इसलिए इसमें उपमान शब्दोपात्त नहीं होना चाहिए। उपमान के साधारण विशेषणों के द्वारा ग्रहण का वर्णन करके कवि इस दोष से बच सकता है‘अप्रस्तुत प्रशंसा में साधारण विशेषणों के द्वारा उपमेय या प्रस्तुत अर्थ उपस्थित करने पर अलकार–दोष उपस्थित नहीं होता । अर्थान्तर न्यास मे साधर्म्य या वैधर्म्य के द्वारा सामान्य का विशेष से तथा विशेष का सामान्य से समर्थन किया जाता है। यहॉ इसी रूप मे अर्थ को प्रस्तुत करना चाहिए इससे अलकार–दोष की स्थिति उपस्थित नहीं होती है।

रसवत् अलकार में स्पष्टतः स्वशब्द वाच्यता होती है। अतः स्वशब्दवाच्यता रूप रस–दोष परिहार के समान ही इसका भी परिहार हो सकता है। परन्तु उस स्थिति में यह अलकार न होकर रस हो जायेगा। विचारणीय है कि **आचार्य आनन्दवर्धन** तथा उनका अनुकरण करते हुए **आचार्य अभिनव गुप्त** ने सौन्दर्य सम्पादक होने कारण इन्हें अलकार तो माना है। परन्तु उस स्थिति में जहॉ ये स्वय किसी रस, भाव, तदाभास तथा तत्प्रशम रूप वाक्यार्थ के अंग हों।[1] परन्तु मेरा विचार है कि उद्भट निरूपित रसवत् अलकार को किसी भी रूप में अलकार मानना समीचीन नहीं है। यह स्पष्टत रस–दोष है। अत उसी रूप में इसका परिहार किया जाना चाहिए।

गुणादिगत रस–दोषों के परिहार पर विचार करने से यह तथ्य सामने आता है कि इन समस्त रस–दोषों का परिहार करने के लिए काव्य–शास्त्र के गहन अध्ययन की आवश्यकता है। गुण,रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति तथा अलंकारों का सूक्ष्म अध्ययन करने पर ही इन रस–दोषों का परिहार किया जा सकता है। इन काव्य–घटकों के पारस्परिक सम्बन्ध के साथ ही काव्य में इनकी स्थिति का ज्ञान भी इन रस–दोषो के परिहार के लिए आवश्यक है। यथा माधुर्यादि गुणों में प्रयुक्त होने वाले वर्ण, इनसे सम्बद्ध रस आदि का ज्ञान तथा इसी प्रकार रसवत् अलकार में रस आदि की स्वशब्द वाच्यता।

---

१. क) प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्ग रसादय । काव्ये तस्मिनलङ्कारौ रसादितिमेमति ।
–आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३/५।

ख) यस्मिन् काव्ये तु पूर्वोक्ता रसादयोऽङ्भूता वाक्यार्थी भूतश्चान्योऽर्थ. . . . तस्य काव्यस्य–सम्बन्धिनो ये रसादयोऽ ङ्भूतास्ते रसादेरलङ्कारस्य रसवदाद्यलङ्कारशब्दस्य विषया स–एवालङ्कारवाच्यो भवति योऽङ्भूतोत्वन्य इति यावत्।
–अभिनव गुप्त, ध्वन्या ३/५ पर लोचन टीका।

सप्तम अध्याय : उपसंहार

उपसंहार

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के माध्यम से रस–दोष के स्वरूप, त्याज्यता, स्रोत, विभाजन तथा परिहार पर यथा सम्भव सामग्री प्रस्तुत की गयी है। काव्यात्मा रस के साक्षात् अपकर्षक रस–दोषों के स्वरूप, भेद आदि पर विशेष रूप से गम्भीर, तर्क पूर्ण व तुलनात्मक विवेचन अद्यावधि प्राप्त नहीं होता। काव्य–शास्त्र–विचारक आचार्यों ने प्रासगिक रूप से ही रस–दोषो पर दृष्टिपात किया है। अत इस विषय पर गहन चिन्तन का अभाव रहा है। इन सब तथ्यो का निरीक्षण करते हुए प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध मे एक ओर जहा काव्य–शास्त्र में प्रतिपादित रस–दोषों पर विचार किया गया है। वहीं दूसरी ओर काव्य के अन्य घटकों गुण, रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति तथा अलकार के अनुचित सन्निवेश में जहा रस–दोषों की स्थिति किञ्चित् सम्भावित है उन स्थलो का अन्वेषण किया गया है। रस–दोषों की विवेचना के साथ ही उनके परिहार पर भी अपेक्षित विचार किया गया है।

रस दोष साक्षात् रूप से रस का अपकर्षक करते हैं जबकि पदगत आदि दोष परम्परया रस के विघातक होते हैं। कविगत रस–दोषों का स्पष्ट सकेत **आचार्य रूद्रट** के विरस दोष से ही प्राप्त होने लगता है। **ध्वनिकार** ने पाच रस विरोधी तत्त्वों तथा उनके परिहार पर गम्भीरता पूर्वक विस्तृत विचार किया है। **आचार्य मम्मट** ने सर्वप्रथम रस के साक्षात् विघातक तत्त्वो को **रस दोष** सज्ञा प्रदान की।

कविगत रस–दोषो पर विहगम दृष्टिपात के लिए **मम्मट** प्रतिपादित रस–दोषों को आधार बनाकर रस–दोषों पर यहाँ विचार अपेक्षित है।इससे एक ओर समस्त रस–दोषों का एकाग्रीकरण हो जाता है। दूसरी ओर पुर्नकथन का दोष भी नहीं रहता।

प्रथम रस–दोष 'स्वशब्द वाच्यता' है। यह दोष वहा होता है जहाँ व्यभिचारी, रस तथा स्थायी भाव का सामान्य या विशेष रूप से स्वशब्द से कथन होता है।

सर्वप्रथम **मम्मट** ने प्रस्तुत रस–दोष की उद्भावना की है। **ध्वन्यालोक** में प्रथम उद्योत में कहा गया है कि रस साक्षात् शब्द वाच्य नहीं होता है। प्रत्युत वह वाच्य से सर्वथा भिन्न होता है। यहा रस की शब्दवाच्यता को दोषपूर्ण कहा गया है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि **मम्मट** को प्रकृत दोष का स्रोत **ध्वन्यालोक** से ही प्राप्त हुआ।

प्रकृत रस–दोष के तीन उपभेद हैं– व्यभिचारी की स्वशब्दवाच्यता, रस की स्वशब्द वाच्यता तथा स्थायी भाव की स्वशब्दवाच्यता।

व्यभिचारी भाव की सामान्य या विशेष रूप से स्वशब्दवाच्यता का निरूपण **हेमचन्द्र, वाग्भट द्वितीय** तथा **केशव मिश्र** ने **मम्मट** के आधार पर ही किया है। **विश्वनाथ** ने **मम्मट** से भिन्न उदाहरण प्रस्तुत किया है परन्तु उनका उदाहरण दोष के स्वरूप को स्पष्ट करने में समर्थ नहीं है। [illegible] ने भी इस दोष को मान्यता दी है। परन्तु उन्होने [illegible] सामान्य या विशेष रूप से स्वशब्दवाच्यता का निर्देश नहीं दिया है। उन्होंने यह कहा है कि स्थायीभाव तथा व्यभिचारी भावो को भी अभिधाशक्ति के द्वारा वर्णित करना उनके नाम लेकर लिखना दोष है।

रस की स्वशब्दवाच्यता को दोष रूप मे प्रस्तुत करने वाले प्रथम काव्यशास्त्रकार **मम्मट** ही है। **[illegible]वधन** ने रस की स्वशब्दवाच्यता को रसापकर्ष माना है, परन्तु दोष रूप में उसकी उद्भावना नहीं की है।

मम्मट के परवर्ती समस्त आचार्यों ने रस की स्वशब्दवाच्यता को दोष माना है। **हेमचन्द्र** तथा **वाग्भट द्वितीय** ने रस शब्द के सामान्य कथन को दोषपूर्ण माना। परन्तु विशेषत. शृगार आदि पदो के स्वशब्द से कथन को दोष–पूर्ण नहीं माना। **विश्वनाथ** तथा **केशव मिश्र** ने **मम्मट** का ही अनुकरण किया है। **विद्यानाथ**

ने भी इस दोष का उल्लेख किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने इस दोष की विशेष व्याख्या की है। उन्होंने रस की सामान्य व विशेष दोनों प्रकार की स्वशब्दवाच्यता को रसानुभूति में बाधक माना है। उल्लेखनीय है कि **पण्डितराज** ने इसे 'वमन' दोष कहा है स्वशब्द वाच्यता नहीं। उन्होने व्यङ्ग्य को वाच्य बना देने से सभी व्यङ्ग्यों में 'वमन' दोष माना है। उनका विचार है कि रस को वाच्य रूप में प्रस्तुत करना उस बन्दर की चेष्टा के समान है जो अपने घाव ठीक करने के लिए खोदकर उसे और बिगाड डालता है। इस प्रकार रस वर्णन उत्तम होने के स्थान पर और भी विकृत व उद्वेगजनक हो जाता है। **जगन्नाथ** ने इस रस–दोष का विवेचन करते हुए इसे नवीन नाम भी प्रदान किया है। परन्तु इनका विवेचन **मम्मट** की ही व्याख्या प्रतीत होता है। परवर्ती काल मे **मम्मट** का नामकरण ही मान्य रहा है। **जगन्नाथ** ने मौलिक प्रयास किया है, यह कहा जा सकता है।

स्थायी भाव की स्वशब्दवाच्यता का निरूपण भी सर्वप्रथम **मम्मट** ने ही किया है। **हेमचन्द्र** तथा **केशव मिश्र** ने तो **मम्मट** का ही अनुकरण किया। परन्तु **विश्वनाथ** व **वाग्भट द्वितीय** ने 'रति' शब्द की स्वशब्द वाच्यता का ही उदाहरण प्रस्तुत किया। स्थायी भाव की सामान्य रूप से स्वशब्द वाच्यता को उद्धृत नहीं किया **पण्डितराज** ने सामान्य रूप से स्थायीभाव की स्वशब्दवाच्यता को दोष माना है। किन्तु विशेषत इसका विवेचन नहीं किया है। **हेमचन्द्र तथा वाग्भट द्वितीय** ने स्वशब्द वाच्यता की रसदोषों में गणना नहीं की है।

स्पष्ट होता है कि काव्यशास्त्रियों ने स्वशब्दवाच्यता को रसानुभूति में बाधक माना है। स्वशब्द वाच्यता सर्वाधिक उद्वेगजनक है। 'रस' स्वप्न में भी वाच्य नहीं हो सकता। आचार्यों नें अनेक स्थलो पर रस की वाच्यता को दोषपूर्ण माना है। वस्तुतः रस की वाच्यता से रसास्वाद पूर्णत. बाधित हो जाता है। व्यभिचारी तथा स्थायी भाव का भी स्वशब्द से कथन समीचीन नहीं है। जहॉं व्यभिचारी भाव को व्यक्त करने वाले निःसन्दिग्ध अनुभाव नहीं है, उस स्थल के अतिरिक्त कहीं भी व्यभिचारी का स्वशब्द से कथन कवि को नहीं करना चाहिए। इनकी स्वशब्दवाच्यता से रसानुभूति तो होती ही नहीं वरन् उद्वेग जनक होने के कारण ये रसास्वाद को बाधित कर देते हैं।

यह भी विचारणीय है कि जहाँ स्वशब्दवाच्यता होने पर भी रसानुभूति हो रही है। वहाँ स्वशब्दवाच्यता को दोष मानना उचित नहीं है। रसानुभूति ही सहृदय को अभिलषित होती है। उसमें बाधा उत्पन्न करने वाले तत्त्व ही दोष कहे जायेंगे।

द्वितीय दोष 'विभाव तथा अनुभाव की कष्ट कल्पना से अभिव्यक्ति' है। विभावादि से अभिव्यक्त स्थायी भाव ही रस रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार रसानुभूति में विभाव रूप कारणों तथा अनुभाव रूप कार्यों का मुख्य स्थान होता है। विभाव के द्वारा स्थायी भाव उद्बुद्ध होता है। आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव की उपस्थिति होने पर तत्सम्बद्ध स्थायी भाव जागृत हो जाता है। तत्पश्चात् आश्रय की कियाओं से रस प्रतीति योग्य हो जाता है। यदि विभाव तथा अनुभाव की झटिति प्रतीति न हो तो रसानुभूति में बाधा उपस्थित हो जाती है। विभाव, अनुभाव का अनुसंधान करने पर रस की प्रतिति बाधित हो जाती है।

आचार्य मम्मट ने ही इस रस दोष को सर्वप्रथम उद्भावना की है। **हेमचन्द्र, वाग्भट द्वितीय** तथा **केशव मिश्र** ने **मम्मट** का ही अनुकरण किया है। **विश्वनाथ** ने विभाव की क्लिष्ट कल्पना में **मम्मट** का उदाहरण ही दिया है। **पण्डितराज** ने भी रस दोष की मान्यता को स्वीकार किया है परन्तु उन्होने **मम्मट** के अनुसार उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया है।

मम्मट के अतिरिक्त प्रकृत रस–दोष पर किसी आचार्य ने विशेष विचार प्रस्तुत नहीं किया है। वस्तुत. **मम्मट** का विवेचन ही पर्याप्त था। विभाव,अनुभाव की स्फुटप्रतीति रसव्यञ्जना के लिए आवश्यक है। यदि विभाव, अनुभाव के प्रति सन्देह उपस्थित हो जाय अर्थात् यह विभाव किस रस का है, सुस्पष्ट न हो पाये तो रसानुभूति बाधित होगी ही। इसीलिए सभी आचार्यों ने इस रस दोष को स्वीकार किया है।

तृतीय रस–दोष 'प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण' है। काव्य में विरोधी रसो के विभाव, अनुभाव आदि का एक साथ ग्रहण होने पर प्रकृत दोष उपस्थित हो जाता है। जैसे शान्त व शृगार रस मे नैरन्तर्य विरोध ा है। यदि इनका एक साथ सन्निवेश कर दिया जाय तो रसानुभूति में बाधा उपस्थित हो जाती है।

विश्वनाथ ने विरोधी रसो का उल्लेख किया है जो मान्य भी है। **पण्डितराज** ने भी विरोधी रसो का निर्देश दिया है।

प्रकृत रस–दोष का स्रोत **रूद्रट** के 'विरस' दोष को माना जाता है। **आनन्द वर्धन** ने रस–विरोधी तत्त्वो मे इसका विस्तृत रूप से निरूपण किया है। उन्होने इसे 'विरोधी रस सम्बन्धी विभावादि ग्रहण' कहा है। जिसे **मम्मट** ने सङ्क्षिप्त करते हुए 'प्रतिकूल विभावादि ग्रह' नाम प्रदान किया है। **मम्मट** ने पूर्णत ध्वनिकार के विवेचन को ही आधार बनाया है। इसलिए कहा जा सकता है। वर्तमान समय में प्रकृत रस दोष का जो स्वरूप मान्य है ' **आनन्द वर्धन** की ही देन है। रस–दोष के रूप मे इसका सर्वप्रथम निरूपण **मम्मट** ने ही किया है।

आनन्द वर्धन ने प्रकृत रस–दोष का विस्तृत रूप से विवेचन किया तथा विशेषत· परिहार पर व्यापक रूप से विचार किया है। जिससे ज्ञात होता है कि प्रकृत रस–दोष के निराकरण के प्रतिसर्वथा सतर्क रहने का निर्देश ध्वनिकार ने दिया है। **मम्मट** ने सारगर्भित रूप से ध्वनिकार के विचारों को ग्रहण किया है। जो **मम्मट** सम्बद्ध विवेचन मे प्रतिपादित है।

केशव मिश्र ने प्रतिकूल विभावादि ग्रह रूप प्रकृत रस–दोष को अत्यधिक रसापकर्षक माना है। इन्होने **मम्मट** के अनुसार ही इसका निरूपण किया तथा उदाहरण दिया है। **विश्वनाथ** का उदाहरण भी **मम्मट** के अनुकूल ही है।

उल्लेखनीय है कि **मम्मट** ने व्यभिचारी भाव तथा विभाव की प्रतिकूल उपादेयता में 'प्रसादे वर्तस्व०' इस छन्द को प्रस्तुत किया है। प्रकृत छन्द **अभिनव गुप्त** की लोचन टीका से ग्रहण किया गया है। इस छन्द में विभाव तथा व्यभिचारी भाव की प्रतिकूल उपादेयता का विवेचन **मम्मट की बौद्धिक क्षमता का परिचायक** है।

प्रतिकूल अनुभाव के ग्रहण मे उद्धृत छन्द **मम्मट** ने सर्वप्रथम प्रस्तुत किया है। **आनन्दवर्धन** एव **अभिनव गुप्त** ने इस प्रसंग में कोई छन्द प्रस्तुत नहीं किया है।

'प्रतिकूल विभावादिग्रह' रूप रस–दोष का निरूपण **अभिनव** ने भी गम्भीरता से किया है। **मम्मट** ने सङ्क्षिप्त व सारगर्भित दृष्टि से उसका निरूपण किया है।

सामान्यत यह अनुभव सिद्ध है कि जिस प्रकार का प्रकरण चल रहा है। अर्थात् जिस रस का प्रधानत· वर्णन हो रहा है। उसके अनुकूल रसो की अंगो के रूप में स्थिति प्रकृत रस को परिपुष्ट करती है। यथा बीभत्स रस के प्रकरण मे भयानक रस का सन्निवेश बीभत्स रस को और भी पुष्ट करेगा। यह भी सामान्य सी बात है ' कि एक ही व्यक्ति मे एक साथ वीर व भयानक रस की उपस्थिति नहीं हो सकती।

यहाँ विचारणीय है कि कभी–कभी विरोधी भाव भी एक साथ उपस्थित हो सकते हैं।जैसे 'क्वाकार्य शशलक्ष्मण'० छन्द में है। परन्तु ऐसे स्थल मे एक रस के द्वारा दूसरे को उपमर्दित किया जा रहा है। इसलिए ऐसे स्थल में दोष नहीं। अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति में विरूद्ध रसों का वर्णन दोष पूर्ण नहीं माना जा सकता। प्रकृत रस–दोष के परिहार के प्रसङ्ग मे **आनन्द वर्धन** ने प्रतिकूल रसो के एक साथ सन्निवेश के विषय मे पर्याप्त विचार किया है। जिसे **मम्मट** ने भी व्यवस्थित रूप मे प्रस्तुत किया है।

चतुर्थ रस–दोष 'अंगीरस की बारम्बार दीप्ति' है। जो अङ्गभूत रस एक बार उपर्भुक्त हो चुका है उनका बार–बार कथन होने पर रसानुभूति मे बाधा उपस्थित होती है। जैसे आभूषण के लिए एक बार प्रयुक्त होने बाद पुन उसी पुष्प को दुबारा आभूषण के लिए उपर्भुक्त नहीं माना जाता क्योकि एक बार प्रयुक्त होने

के पश्चात् वह मलिन हो जाता है, मुरझा जाता है।

सर्वप्रथम **रूद्रट** ने विरस दोष के द्वितीय भेद में प्रकृत रस–दोष की कल्पना की है। **आनन्द वर्धन** ने इसे द्वितीय विरोधी तत्त्व के रूप मे परिगणित किया। **आनन्द वर्धन** के आधार पर **मम्मट** ने रस–दोषो में इसे स्थान दिया है। इस प्रकार प्रकृत रस का स्रोत **रूद्रट** का विरस दोष ही है।परन्तु वर्तमान में रस–दोषों में परिगणित होने का आधार **आनन्दवर्धन** का निरूपण ही है।

उल्लेखनीय है कि अङ्गीरस को अनुभाव,विभावादि के द्वारा बार–बार दीप्ति करने पर अर्थात् अङ्गी रस का बार–बार वर्णन होने पर दोष उपस्थित नहीं होता वरन् इस प्रकार का वर्णन प्रधान या अङ्गी रस को परिपुष्ट ही करता है। अङ्गभूत या अप्रधान रस को बार–बार दीपित करना रसापकर्ष है।

मम्मट ने 'कुमार सम्भव' के रति–विलाप को प्रकृत रस–दोष में उदाहृत किया है। **कुमार सम्भव** में एक बार रति विलाप का वर्णन होने के पश्चात् उसे पुनः दीपित या वर्णित किया गया है। जिससे रस–हानि होती है। **हेमचन्द्र विश्वनाथ, वाग्भट द्वितीय** आदि आचार्यों ने **मम्मट** के अनुसार ही प्रकृत रस दोष का निरूपण किया है' तथा उदाहरण दिया है।

'अनवसर मे रस का विस्तार' **पञ्चम रस–दोष** है।

आनन्द वर्धन ने सर्वप्रथम प्रस्तुत रस की कल्पना की है। **आनन्दवर्धन** ने उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया है। लोचनकार ने [illegible] की वृत्ति के आधार पर 'वेणीसहार' के द्वितीय अङ्क का उदाहरण दिया है। 'वेणीसहार' के द्वितीय अङ्क में अनेक वीरों की मृत्यु के समय दुर्योधन का भानुमती के साथ सयोग का वर्णन है। **मम्मट** ने यही उदाहरण प्रस्तुत किया है। , परवर्ती आचार्यों **हेमचन्द्र,विश्वनाथ** ने भी यही उदाहरण प्रस्तुत किया है। **वाग्भट,द्वितीय** ने **कर्पूर मजरी** से उदाहरण प्रस्तुत किया है।

यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत रस का सम्बन्ध प्रतिकूल [illegible] दोष से है। **आनन्द वर्धन** ने यहाँ विशेषत वीर रस के प्रसङ्ग में संयोग शृङ्गार के ग्रहण की चर्चा की है। वस्तुत. वीर व शृगार में आलम्बनैक्य विरोध है। इस प्रकार अनुचित स्थल पर प्रतिकूल रस का विस्तार या वर्णन ही प्रकृत रस दोष है।

वीर रस के प्रसङ्ग में रौद्र तथा भयानक रस का वर्णन वीर रस के परिपोषण में सहायक है। परन्तु ऐसे भयकर युद्ध के प्रसग में सयोग शृगार का वर्णन तो वस्तुत. उद्वेगकारक ही है।

आनन्दवर्धन ने कहा है कि वीर रस का ऐसा प्रसङ्ग जहाँ वियोग की स्थिति का कोई वर्णन नहीं है, ऐसे स्थल पर संयोग शृगार का वर्णन रसास्वाद का विघातक होता है। इससे यह व्यञ्जित होता है कि यदि नायक–नायिका के वियोग का प्रसङ्ग हो तो वीर रस के स्थल पर शृगार का निरूपण हो सकता है। यह दोषपूर्ण नहीं होगा। वस्तुत युद्ध स्थल पर जाने से पूर्व नायक–नायिका के सम्भावित वियोग की कल्पना का वर्णन करने के पश्चात् उनके सयोग शृंगार का वर्णन किया जाय तो यह वर्णन अनुचित नहीं होगा। परन्तु वीररस मे युद्ध वर्णन के साथ ही सयोग शृगार का वर्णन आह्लादापकर्षक ही होगा।

'अनवसर मे रस का विच्छेद' **षष्ठ रस–दोष** है। वर्णित किये जाते हुए रस का अचानक विच्छेद कर देने पर प्रकृत रस–दोष उपस्थित हो जाता है।

आनन्द वर्धन ही इस रस–दोष के प्रथम उद्भावक आचार्य हैं। **मम्मटादि** ने उन्हीं का अनुकरण किया है।

प्रकृत रस–दोष के उदाहरण के विषय में उल्लेखनीय है कि **अभिनव गुप्त** ने इस प्रसङ्ग मे **वत्सराज चरित** से उदाहरण प्रस्तुत किया है जहाँ वाभ्रव्य के आगमन से नायिका सागरिका सम्बद्ध रस का विच्छेद हो जाता हैं। **मम्मट** ने इस उदाहरण को प्रकृत रस–दोष के प्रकरण में उद्धृत नहीं किया। प्रकृत

रस–दोष मे **मम्मट** ने 'वीरचरित' नाटक के उस प्रसङ्ग को उद्धृत किया है। जहाँ राम व परशुराम का वीरतापूर्ण सवाद चल रहा है वहा अचानक राम यह कहकर चले जाते हैं कि 'ककण मोचनाय गच्छामि' इससे राम विषयक वीर रस का पूर्ण परिपाक नहीं हो पाता वरन् राम के पराकम के विषय मे सन्देह उपस्थित होता है।

परवर्ती काल में **मम्मट** का उदाहरण ही मान्य हुआ, **विश्वनाथ, वाग्भट द्वितीय** तथा **हेमचन्द्र** ने भी **मम्मट** का ही अनुकरण किया है। **हेमचन्द्र** ने [illegible] **नाटिका** के चौथे अङ्क का उदाहरण भी प्रस्तुत किया जिसे **मम्मट** ने 'प्रधान की उपेक्षा' रूप दोष में उद्धृत किया है। यह उदाहरण **अभिनव गुप्त** के उदाहरण से साम्य रखता है। इससे व्यक्त होता है कि **हेमचन्द्र** इस प्रसङ्ग में पूर्णत **मम्मट** के अनुयायी नहीं है। उन्हे **अभिनव गुप्त** का उदाहरण भी उचित प्रतीत हुआ है। यह भी कहा जा सकता है कि दोनो उदाहरणों मे निहित भेद या अन्तर को स्पष्ट करने में असमर्थ होकर ही **हेमचन्द्र** ने सन्देह की स्थिति में दोनों उदाहरण प्रस्तुत किया है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि यदि प्रकृत रस का विच्छेद ही कविया नाटककार को अभिलषित है अथवा प्रकरण के अनुसार अविछिन्न रस को खण्डित करना अनिवार्य है, तो रस–दोष उपस्थित नहीं होगा। यदि अविच्छिन्न रूप से वर्णित रस के खण्डित होने पर रस हानि होती है तभी प्रकृत दोष माना जायेगा।

सप्तम रस–दोष 'अङ्ग या अप्रधान की अत्यन्त विस्तृति' है। जहाँ [illegible] से सम्बद्ध विषय का विस्तार पूर्वक वर्णन होता है, वहाँ प्रकृत रस–दोष होता है। **आनन्द वर्धन** ने प्रकृत रस से किञ्चित् सम्बद्ध होने पर भी अन्य वस्तु के विस्तार पूर्वक वर्णन को रस–विरूद्ध माना है। उसी आधार पर **मम्मट** ने प्रकृत रस–दोष की उद्भावना की है।

आनन्द वर्धन ने मुख्य कथा या प्रसङ्ग से किञ्चित् भी सम्बद्ध वस्तु के विस्तार पूर्वक वर्णन को दोषपूर्ण मानते हुए कहा है कि अलकार आदि में रूचि रखने वाले कवि द्वारा पर्वतादि का आलकारिक रूप से विस्तार पूर्वक वर्णन प्रधान रस की प्रतीति में बाधा पहुँचाता है। **मम्मट** ने प्रस्तुत प्रसङ्ग में एक विशेष तथ्य संलग्न करते हुए कहा कि प्रतिनायक की जलक्रीड़ा आदि का वर्णन विस्तार पूर्वक नायक की अपेक्षा अधिक विस्तार से नहीं करना चाहिए इससे प्रतिनायक में नायकत्व का आभास होने लगता है। प्रतिनायक के उन्हीं विषयों का वर्णन करना चाहिए जिससे नायक के उत्कर्षका बोधहो । तात्पर्य यह कि [illegible] से सम्बद्ध वस्तुओं या उसके गुणों का भी वर्णन किया जा सकता है किन्तु, उससे नायक के उत्कर्ष की हानि नहीं होनी चाहिए।

उल्लेख्य है कि परवर्ती काव्यशास्त्रकारों ने **मम्मट** का अनुकरण करते हुए भी उदाहरण में **आनन्द वर्धन** का ही अनुकरण किया है। **हेमचन्द्र** ने **मम्मट** के उदाहरण के साथ ही **हरिविजय** नामक नाटक के उस प्रसङ्ग को उद्धृत किया जिसमें समुद्र का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। **विश्वनाथ** ने 'किरातार्जुनीय' के आठवें सर्ग में सु[illegible]ओं के विलास वर्णन के विस्तारपूर्वक वर्णन को दोष–पूर्ण माना है। **वाग्भट द्वितीय** ने 'कादम्बरी' में शबर सेनापति, आश्रम, अटवी आदि के विस्तृत वर्णन को उदाहृत किया है। इसके साथ ही इन्होंने '[illegible]' में वीररस के मध्य में शृङ्गार रस से सम्बद्ध ऋतु, व[illegible] विहार, पुष्पचयन, जलकेलि, मधुपान, चन्द्रोदय, प्रभात आदि के विस्तृत वर्णन को भी रसोद्वेजक माना है।

वाग्भट द्वितीय के दोनों उदाहरण मे किञ्चित् भिन्नता दिखाई पडती है। इनके प्रथम उदाहरण की साम्यता तो **आनन्द वर्धन** से है परन्तु द्वितीय उदाहरण में प्रतिकूल रस से सम्बद्ध वर्णन को उल्लिखित किया गया है। वीर रस के प्रसङ्ग में शृगार के उद्दीपन विभाव का वर्णन वीर रस की हानि कर देता है। ऐसा ही उदाहरण **मम्मट** ने "अनवसर में रस के विस्तार" रूप रस–दोष में प्रस्तुत किया है। वहाँ युद्ध के प्रसङ्ग में भानुमती के साथ दुर्योधन के सयोग शृगार का वर्णन है।

विवेचनीय है कि 'अनवसर में रस के विस्तार' नामक रस–दोष में प्रतिकूल रस का वर्णन पाया जाता है। परन्तु यहॉं **मम्मट** ने प्रतिनायक के जलकीडा आदि के विस्तारपूर्वक वर्णन को उद्धृत किया है। अन्य काव्य [illegible] ने विषय से सम्बद्ध वस्तु के भी अत्यधिक विस्तृत रूप से किये गये वर्णन को रसापकर्षक माना है। **हेमचन्द** ने **मम्मट** के उदाहरण को प्रस्तुत करने के साथ ही **आनन्द वर्धन** से भी अपनी सहमति व्यक्त की है। विशेषत· **वाग्भट द्वितीय** ने जो द्वितीय उदाहरण प्रस्तुत किया वह अनवसर में रस के विस्तार का भी उदाहरण हो सकता हैं।

अनवसर मे रस के विस्तार या प्रथन में प्रतिकूल या असम्बद्ध रस का वर्णन होता है।वहॉं प्रथन या विस्तार शब्द का 'प्रकाशन' अर्थ ग्रहण होता प्रतीत होता है. क्योंकि **मम्मटाचार्य** ने जो उदाहरण दिया है वहॉं विरूद्ध रस के प्रकाशन की ही विशेषत चर्चा की गयी है। विस्तार पूर्वक वर्णन की बात नहीं कही गयी है। प्रकृत रस–दोष 'अनङ्ग की अत्यन्त विस्तृति' में अप्रधान विषयो या प्रसग में अत्यधिक विस्तार पूर्वक वर्णन दोष पूर्ण माना गया है। उल्लेखनीय है कि अप्रधान विषय प्रकृत रस से सम्बद्ध भी हो सकते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि वे सर्वथा प्रतिकूल ही हो। **मम्मट** ने जो उदाहरण दिया है, वह विशेषतः प्रतिनायक सम्बद्ध विषयों के वर्णन को विस्तृत रूप से प्रस्तुत न करने के लिए है। वीर व शृगार में आलम्बनैक्य विरोध होता है।नायक के वीर व प्रतिनायक के शृगार रस का वर्णन रसोद्वेजक नहीं हो सकता है। इससे नायक के वीर रस का उत्कर्ष ही होगा। यदि प्रतिनायक भोग विलास में डूबा है और नायक युद्ध सम्बन्धी कार्यों में व्यस्त है तो यहा वीर रस का ही उत्कर्ष होगा परन्तु यदि नायक के वीरोचित कार्यों का वर्णन न करके प्रतिनायक के भोग–विलास के वर्णन पर ही कवि की दृष्टि रही तो प्रधान रस अवश्य बाधित होगा।

'अङ्गी की उपेक्षा' **अष्टम रस–दोष** है। यद्यपि **मम्मट** ने इसकी उद्भावना की है तथापि इसका स्रोत **आनन्द वर्धन** के द्वितीय रस–विरोधी तत्त्व 'अन्वित होने पर भी अन्य वस्तु का विस्तारपूर्वक वर्णन' से प्राप्त होता है। **मम्मट** ने **आनन्दवर्धन** के प्रस्तुत दोष से दो रस–दोषों की उद्भावना कर ली है– अप्रधान का विस्तृत वर्णन तथा अगी की उपेक्षा। अप्रधान का विस्तृत वर्णन होने पर प्रधान की उपेक्षा अवश्य होगी इसीलिए सम्भवत· **आनन्दवर्धन** ने इन दोनों स्थितियों को पृथक् न रखकर एक साथ ही रखा है।

मम्मट ने इस प्रसङ्ग में वही उदाहरण प्रस्तुत किया जो **आचार्य अभिनव गुप्त** ने 'अकाण्डेच्छेद' अर्थात् 'अनवसर में रस के विच्छेद' में प्रस्तुत किया था। **आचार्य अभिनव** ने 'वत्सराजचरित' से उदाहरण प्रस्तुत किया था तथा **मम्मट** ने 'रत्नावली' से वही प्रसग उद्धृत किया।

उल्लेखनीय है कि **हेमचन्द** ने यहॉं भी 'रत्नावली' का उदाहरण प्रस्तुत किया जबकि 'अनवसर में रस के विच्छेद' में भी यही उदाहरण दिया था।

अगी अर्थात् प्रधान रस की उपेक्षा होने से सहृदय को रसास्वादन नहीं हो पाता है। यह भी विचारणीय है कि प्रधान वस्तु का अपर्याप्त वर्णन होने पर काव्य के प्रधान रस के प्रति भी सन्देह की स्थिति उपस्थिति हो जाती है। इसके साथ ही यहॉं यह भी उल्लेखनीय कि अग या प्रधान विषयों का वर्णन होने पर भी अंगी रस के विषय में सन्देह उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार अप्रधान का विस्तृत वर्णन तथा प्रधान की उपेक्षा ये दोनों ही रस दोष एक दूसरे से सम्बन्ध दिखाई पडते हैं। अङ्ग का विस्तृत वर्णन ही अङ्गी की उपेक्षा का कारण हो जाता है।

'प्रकृति–विपर्यय' **नवम रस–दोष** है। इसकी सर्वप्रथम उद्भावना **मम्मट** ने की है। **आचार्य आनन्द वर्धन** का 'वृत्ति का अनौचित्य' नामक रस–विरोधी तत्त्व इसका आधार है। **मम्मट** ने रस–दोष की विस्तृत रूप से व्याख्या की है। इन्होने **आनन्द वर्धन** के कैशिकी आदि वृत्तिगत अनौचित्य को ग्रहण नहीं किया है। **आचार्य मम्मट** ने काव्य में पात्रों के व्यवहारगत अनौचित्य के साथ ही अप्रासङ्गिक देश, काल आदि के वर्णन

का भी उल्लेख किया है।

हेमचन्द्र, विश्‍वनाथ, ने **मम्मट** का ही अनुकरण किया है। **केशव मिश्र** ने 'व्यक्ति विपर्यय' नाम से प्रकृत रस दोष का उल्लेख किया है।

'उल्लेखनीय है कि **क्षेमेन्द्र** का 'रस कालुष्य' नामक दोष प्रकृति–विपर्यय में अन्तर्भुक्त हो सकता है। **क्षेमेन्द्र** ने प्रकृत दोष में 'वेणीसहार' का उदाहरण दिया हैं। जहाँ नेवले को देखकर **भानुमति** अर्जुन के भाई नकुल से संयोग की कल्पना करती है। यहा राजमहिषी के अनुरूप आचरण न होने से दोष है।

आचार्य विश्‍वनाथ ने **मम्मट** के 'ईदृशा' पद के द्वारा 'अर्थानौचित्य' नामक नवीन रस–दोष की उद्‌भावना की है। **केशव मिश्र** ने 'वृत्ति का अनौचित्य' कहकर इसी दोष को ग्रहण किया है।

आचार्य विश्‍वनाथ ने 'अर्थानौचित्य' नामक दोष में अर्थ तथा देश, काल का प्रसङ्‌गानुकूल व पात्रानुकूल वर्णन न होने मे दोष माना है। **आचार्य केशव मिश्र** ने इस प्रसङ्‌ग में भवानी शङ्‌कर या माता–पिता के केलि वर्णन को दोषपूर्ण माना है तथा आकाश आदि से स्तनादि की तुलना का निरूपण करने को दोष कारक माना है।

विश्‍वनाथ तथा **केशव मिश्र** के विवेचन का अनुशीलन करने पर कहा जा सकता है कि यहदोष प्रकृति–विपर्यय का ही एक रूप है। इन्हें प्रकृति–विपर्यय नामक रस–दोष में अन्तर्भुक्त मानना ही समीचीन है। अनौचित्य पूर्ण निबन्धन के अन्तर्गत तो समस्त रस–दोषों को समाहित किया जा सकता है। इसलिए विशेषतः अनौचित्य को कोई दोष मानना समीचीन नहीं है। अर्थ का अनौचित्यपूर्ण निबन्धन होने से इसे अर्थ दोष के वर्ग में भी परिगणित किया जा सकता है।

'अनङ्‌ग या अप्रासङ्‌गिक का कथन' **दशम रस–दोष** है। यह **मम्मटाचार्य** की मौलिक उद्‌भावना है। 'अनङ्‌ग' का तात्पर्य 'अनुपकारक' है। जिस प्रकार के वर्णन से प्रधान रस का अपकर्ष हो जाये उस अनुपकारक या अपकर्षक वर्णन की उपस्थिति होने पर प्रकृत रस–दोष होता है। रस के अनुपकारक से तात्पर्य यह है कि प्रधान रस का या प्रधान वर्णन की उपेक्षा करके अप्रधान अंश की प्रशसा का महत्वपूर्ण रूप में वर्णन करना ही 'अनङ्‌ग का कथन' नामक रस–दोष है।

मम्मट ने यहाँ 'कर्पूरमञ्जरी' नामक ग्रन्थ से उदाहरण दिया है। जहाँ राजा चन्द्रपाल ने स्वयं के तथा नायिका विभ्रमलेखा के बसन्त वर्णन की प्रशंसा न करके बन्दी के बसन्त वर्णन की प्रशंसा की है।

हेमचन्द्र,विश्‍वनाथ, वाग्भट द्वितीय ने **मम्मट** का अनुकरणकिया तथा वही उदाहरण भी प्रस्तुत किया है।

वस्तुत विवक्षित रस का असम्बद्‌ध वर्णन या विवक्षित रस का अपकर्षक वर्णन रसानुभूति में बाधक होता है। **मम्मट** द्वारा उद्‌धृत उदाहरणमें बन्दी के वसन्त वर्णन की प्रशंसा यूँ भी उचित नहीं है और यदि नायिका या नायक के द्वारा वर्णित वर्णन की उपेक्षा करके उसकी प्रशंसा की जाय तो वह और भी अनास्वादक या रस का अपघातक होगा। इसलिए कवि को ऐसे प्रसङ्‌गों से बचना चाहिए।

विचारणीय है कि 'अकाण्डे प्रथन' में भी अप्रासङ्‌गिक वर्णन उपस्थित हो जाता है।अकाण्डे प्रथन' नामक रस–दोष में भी अप्रासगिक वर्णन उपस्थित हो जाता है। **मम्मट** ने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है। उसमे वीर रस के प्रसङ्‌ग में शृंगार रस की उपस्थिति हो गयी है। परन्तु अनङ्' के कथन में नायिका की उपेक्षा की गयी है उसका एक प्रकार से तिरस्कार किया गया है। जो नायिका के लिए अपमान जनक होने के कारण रस की हानि करता है। सहृदय यहा रसानुभूति का पूर्ण आनन्द प्राप्त नहीं करता। इसलिए 'अनवसर में रस के विस्तार' नामक रस दोष मे इसको अन्तर्भुक्त करना समीचीन प्रतीत नहीं होता।

इस प्रकार दस रस–दोषो का प्रतिपादन किया गया है। **मम्मट** ने रस–दोषों की सङ्‌ख्या दस ही है। इस प्रकार सकेत नहीं दिया वरन् 'ईदृशा' कहकर यह व्यक्त किया है कि इनके अतिरिक्त भी रस–दोष

हो सकते हैं। यहाँ उन्होने एक उदाहरण भी प्रस्तुत किया है।उन्होंने कहा कि नायिका के पाद –प्रहार आदि से नायक के कोप आदि का वर्णन होने के समान ही अन्य स्थलो पर भी रस–दोष हो सकते हैं। तात्पर्य यह कि रस की अनुभूति मे जो तत्त्व या जिस प्रकार का वर्णन साक्षात् रूप से विघ्न डाले उन सभी स्थलो पर रस–दोष होगा।

उपर्युक्त रस–दोषों का अनुशीलन करने के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि इनमे से प्रत्येक रस–दोष का स्वरूप भिन्न–भिन्न है।इसलिए किसी रस दोष को अन्य में अन्तर्भुक्त करना समीचीन नहीं है।

रस–दोषो मे कतिपय दोषो का स्वरूप मुक्तक काव्यों में ही स्पष्ट हो सकता है तथा कतिपय का स्वरूप प्रबन्ध काव्य मे ही समझा जा सकता है। यथा स्वशब्द वाच्यता, विभावानुभाव की कष्ट कल्पना तथा प्रतिकूल विभावादि ग्रह नामक रस–दोषो की स्थिति मुक्तक काव्यों मे होती है। इनके अतिरिक्त अन्य रस–दोषों को प्रबन्धगत मानना समीचीन है। उल्लेखनीय है कि **मम्मट** ने इस प्रकार का कोई सङ्केत नहीं दिया है।परन्तु उन्होंने रस–दोषों की गणना मे उपर्युक्त तीन दोषों को पहले रखा उसके पश्चात् अन्य की गणना की है। **मम्मट** ने प्रथम व द्वितीय दोष की उद्भावना स्वय की है तथा तृतीय दोष **आनन्द** से ही ग्रहण किया है।

आचार्यों ने कविगत रस–दोषो के विरोध को दूर करने पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया है। रस–दोषो में **विरोधी रस सम्बन्धी विभावादि ग्रहण** तथा **व्यभिचारी की स्वशब्दवाच्यता** रूप दोषों के अपवाद को प्रस्तुत किया है। इसमें प्रतिकूल रसों के विभावादिग्रहण रूप रस–दोष की अदुष्टता का निरूपण करते हुए **आनन्दवर्धन** ने व्यापक तथा विचारपूर्ण व्याख्यान दिया है। यद्यपि यह विवेचन अव्यवस्थित है तथापि रस–विरोध को दूर करने के प्रत्येक तथ्य पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया गया है। **ध्वनिकार** के इस निरूपण का महत्त्व इसी से समझा जा सकता है कि परवर्ती **मम्मट** ने प्राय इसी आधार पर अपना विचार प्रस्तुत किया है।

आनन्दवर्धन ने सर्वप्रथम रस–विरोध–परिहार पर उल्लेखनीय दृष्टिपात किया है तत्पश्चात् इनका अनुकरण करते हुए **मम्मटाचार्य** ने और **मम्मट** का अनुकरण करते हुए ही **विश्वनाथ** आदि परवर्ती आचार्यों ने रस–विरोध–परिहार का निरूपण किया है।

उल्लेखनीय है कि व्यभिचारी की स्वशब्द वाच्यता रूप रस–दोष का निरूपण सर्वप्रथम **मम्मट** ने किया था **आनन्दवर्धन** ने इस रस–दोष का उल्लेख नहीं किया है। **मम्मट** ने इस प्रकृत रस–दोष की अदोषता का प्रतिपादन किया है। यह भी **मम्मट** की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है कि इन्होंने मात्र व्यभिचारी की स्वशब्दवाच्यता का अपवाद प्रस्तुत किया है, रस तथा स्थायी भाव की नहीं।

आनन्दवर्धन ने जिसे विरोधी रस सम्बन्धी विभावादि ग्रह रूप दोष कहा उसे **मम्मट** ने प्रतिकूल विभावादि ग्रह कहा है। वस्तुत इसी रस–दोष की अदोषता पर व्यापक विचार किया गया है। यह भी विचारणीय है कि इस रस–दोष का जितना उद्वेजक रूप में वर्णन किया गया है उतना ही इसके परिहार पर भी विचार किया गया है।

प्रकृत रस के विरोधी रसों के परिहार पर विचार करते हुए **ध्वनिकार** ने अविरोधी रसो के परिपोष–परिहार पर भी दृष्टिपात किया है।

मम्मट ने ध्वनिकार का अनुकरण करते हुए भी अपनी सारगर्भित शैली का परिचय दिया है।उन्होने ध्वनिकार के मत का अन्धानुकरण भी नहीं किया है। जहां उन्हे **ध्वनिकार** का विचार समीचीन प्रतीत नहीं हुआ है वहा उसका खण्डन भी किया है।'सत्यं मनोरमा तथा पाण्डुक्षाम' छन्द के विषय मे **मम्मट** का व्याख्यान इसका उदाहरण है।

मम्मट के परवर्ती आचार्यों मे **विश्वनाथ** आदि ने उनके अनुसार ही प्राय प्रकृत विषय का निरूपण किया है। **जगन्नाथ** ने विशेष शैली का आश्रय लेकर भी किसी नवीनता का आधान नहीं किया है। इन्होंने

कतिपय उदाहरण आदि उद्घृत किये हैं, जो नवीन है परन्तु उसी भाव को प्रकट करते हैं।

जगन्नाथ ने उदाहरण या प्रस्तुतीकरण मे नवीनता या मौलिकता लाने का प्रयास किया है जो उनकी अपनी विशेषता है परन्तु विचारपूर्वक उनके मत का परिशीलन करने पर ज्ञात होता है कि उनका विवेचन भी प्राय **मम्मट** पर ही आधृत है।

सहृदयगत रस–दोषो का निरूपण **आचार्य अभिनव गुप्त** ने **अभिनव भारती** मे प्रासगिक रूप से किया है। 'काव्य' पद के व्यापक अर्थ मे 'नाट्य' का समावेश भी काव्य मे ही हो जाता है। इसलिए सहृदयगत रस–दोषो पर भी यहाँ विचार किया गया है। सहृदयगत रस–दोषो में स्वगत तथा परगत रूप से देश, काल आदि का आवेश तथा स्वसुखादि से विवशता इन दो रस–दोषों का सम्बन्ध प्रत्यक्षत सामाजिक की व्यक्तिगत बाधाओं से है। इसके अतिरिक्त अन्य दोषो का सम्बन्ध प्रस्तुति आदि से है।

यहाँ विचारणीय है कि सहृदयगत रस–दोषो को कविगत दोषो मे अन्तर्भुक्त कर लेना कदापि उचित नहीं है, क्योकि कविगत रस–दोष न होने पर भी सहृदयगत दोषों की सम्भावना हो सकती है। उत्तम काव्य का भी मचन आदि यदि उचित ढग से नहीं हुआ या इस समय श्रोता या दर्शक की व्यक्तिगत बाधाए उपस्थित हो गयी तो सहृदयगत दोष उपस्थित हो जायेगा। यदि कविगत रस–दोष में इनका अन्तर्भाव सम्भव होता तो विवेकशील, गभीर तथा सूक्ष्म चितक **आचार्य अभिनव गुप्त** ने इसका सकेत अवश्य किया होता।

आचार्य अभिनव गुप्त ने इन सहृदयगत रस–दोषों के परिहार पर भी विचार किया है। यहाँ 'सशययोग' नामक रस–दोष का स्पष्ट निराकरण इन्होंने नहीं किया है परन्तु 'रस की अप्रधानता' रूप दोष के निराकरण पर विस्तृत रूप से विचार करते हुए रसो की प्रधानता, स्थायी व विभाव इत्यादि की विशिष्टता, तथा पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार किया है। यहीं इन्होंने रस की अलौकिकता तथा लोक व रसानुभव आदि पर भी विचार किया है। इस विवेचन से रसानुभूति के साधक तत्त्वो का ज्ञान अनायास हो जाता है। जिससे 'सशय योग' रूप रस–दोष का निराकरण स्वत हो सकता है। इस विवेचन से प्रकारान्तर से **अभिनव गुप्त** ने 'सशय योग' नामक दोष का निराकरण किया है यह कहा जा सकता है। 'सशय योग' के अतिरिक्त अन्य सभी का इन्होने स्फुट रूप से परिहार किया है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि **आचार्य अभिनव गुप्त** ने **इन दोषों को सहृदयगत रस–दोष नहीं कहा है। इनके विवेचन के आधार पर रस–दोष की सज्ञा प्रदान की गयी है।**

रस–दोषो पर विचार करते हुए कवि तथा सहृदयगत रस–दोषो के साथ ही गुण, रीति आदि काव्य घटकों में सम्भावित रस–दोषों पर भी दृष्टि जाती है। इसमें अलकारगत रस–दोष के अतिरिक्त गुण, रीति, वृत्ति, प्रवृत्तिगत रस–दोष साक्षात् रस–दोष हैं, अलंकार गत रस–दोष, परम्परया रस–दोष हैं यह भी निर्धारित है।

गुणादिगत रस–दोष कविगत तथा सहृदयगत रस–दोषों से भिन्न हैं। इसलिए इनका विवेचन पृथक् रूप से किया गया है। उल्लेखनीय है कि गुण आदि की विपरीत या रसोद्वेजक स्थिति का निरूपण काव्य शास्त्र में होता है। प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध मे रस–दोष के रूप मे उनपर विचार किया गया है क्योंकि गुणादि के अनुचित सन्निवेश में रस–दोषो का सकेत प्राप्त होता है। गुणादिगत रस–दोषो का परिहार भी कविगत तथा सहृदयगत रस–दोषो के समान ही होता है। तात्पर्य यह कि गुण आदि का रसानुकूल वर्णन करके इन दोषो का निराकरण किया जा सकता है।

गुणादिगत रस–दोषों से गुणादि की प्रतिकूल स्थिति की रसापकर्षकता के प्रकाशन के साथ ही साक्षात् तथा परम्परया रस–दोषो के एक नवीन विभाजन की दिशा का भी सकेत प्राप्त होता है।

रस–दोष–परिहार पर काव्य–शास्त्रकारों का सूक्ष्म विवेचन देखकर स्पष्ट होता है कि काव्य–शास्त्र के आचार्यों ने काव्य को रस–दोषों से पूर्णत रहित होने का निर्देश दिया है। यह तथ्य विचारणीय है कि रस–दोषो का साक्षात् निरूपण न करने वाले आचार्यों ने भी दोषो को सर्वथा हेय माना है। उनका यह विचार स्वप्रतिपादित पदगत आदि दोषो के प्रति है, जबकि रसगत दोष परम हेय हैं। पदगत दोष तो क्षम्य है परन्तु रसगत दोष पूर्णत अक्षम्य हैं। इसलिए कवि को रस–दोषो का सूक्ष्मतापूर्वक अध्ययन करके ही काव्य–रचना

के प्रति प्रवृत्त होना चाहिए। इन दोषों का निवारण करके ही वह अपनी काव्य–कृति को रसास्वादन रूप परम प्रयोजन की सिद्धि मे प्रस्तुत कर सकता है।

सहायक ग्रन्थ-सूची

सहायक ग्रन्थ सूची

संस्कृत-ग्रन्थ

अग्निपुराण — स० श्रीयुत् पञ्चानन तर्करत्न, परिशोधक वीरसिह शास्त्री तथा श्री धीरानन्द काव्यनिधि मुद्रक व प्रकाशक श्री अरूणोदय राय, कलकत्ता, सम्वत् १८१२।

अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग — सम्पादक श्री रामलाल वर्मा, नेशनल पब्लिशिग हाउस, दिल्ली, द्वि० स०, १६६६।

अथर्ववेद — सम्पादक शकरपाण्डुरग पण्डित, गायकवाड ओरियण्टल सस्कृत सीरीज, बम्बई, १८६८ ई०।

अमरूकशतक — अमरूक, अर्जुनवर्मदेवकृत रसिकसंजीविनी व्याख्योपेत व्याख्याकार श्री प्रद्युम्न पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी १, १६६६ ई०।

अलकार कौस्तुभ — कविकर्णपूर, लोकनाथ चक्रवर्ती मौक्तिकावली नाम्नी संस्कृत टीकासहित, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी १६८२ ई०।

अष्टाध्यायी — पाणिनि, खेमराज श्रीकृष्णदास, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई सम्वत् १६५४।

ऋग्वेद सहिता — सम्पादक लक्ष्मण स्वरूप, मोतीलाल बनारसी दास १६४० ई०

एकावली — विद्याधर, बम्बई सस्कृत सीरीज, पूना, १६७३ ई०

औचित्यविचारचर्चा — क्षेमेन्द्र, व्याख्याकार- आचार्य ब्रजमोहन झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्र०सं० १६६४।

काव्यादर्श — दण्डी, आचार्यकृत प्रभा टीका सहित भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इस्टीट्यूट, पूना १६३८ ई०।

काव्यानुशासन — हेमचन्द्र, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १६३४ ई०।

काव्य-प्रकाश — मम्मट, भट्ट वामनाचार्य झलकीकार कृत बालबोधिनी टीकोपेत, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १६६५ ई०।

काव्य-प्रकाश — मम्मट, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि कृत प्रदीपिका हिन्दी टीका सहित, सम्पादक डॉ० नगेन्द्र, ज्ञानमण्डली लिमिटेड, वाराणसी १६६० ई०।

काव्यमीमासा — राजशेखर, व्याख्याकार डॉ० गगासागर राय, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, तृ० स० १६८२ ई०।

काव्यालकार — भामह, हिन्दी भाष्यकार देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् पटना, १६६२ ई०

काव्यालकार — रूद्रट, व्याख्याकार, श्रीरामदेव शुक्ल, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, प्र० स० १६६६ ई०।

काव्यालकार – रूद्रट, नमिसाधुकृत टिप्पणीसहित, स० पाण्डुरग जावजी, निर्णयसागर प्रेस बम्बई १६२८ ई०।

काव्यालकार सारसग्रह – उद्भट, प्रतीहारेन्दुराजकृत लघुवृत्ति टीकोपेत सम्पादक, नारायणदास बनहट्टि, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, प्र० स० १६२५ ई०।

काव्यालकार सूत्र – वामन, गोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालविरचित कामधेनु टीका सहित सम्पादक डॉ० बेचन झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्र० स० १६७१ ई०।

तैत्तिरीयोपरिषद् – मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६६६ ई०।

दशरूपक – धनञ्जय, धनिककृत, अवलोक टीकोपेत सम्पादक डाॅ श्री निवास शास्त्री, साहित्य भण्डारी, सुभाष बाजार, मेरठ, तृ० स० १६७६ ई०।

ध्वन्यालोक – आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त कृत लोचन टीका सहित, व्याख्याकार आचार्य जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १६६५ ई०।

ध्वन्यालोक – आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त कृत लोचन टीकोपेत चौखम्बा सीरीज ऑफिस, बनारस, १६४०।

ध्वन्यालोक – आनन्दवर्धन, आचार्य चण्डिकाप्रसाद शुक्ल [illegible] कृत दीपशिखा टीकोपेत, [illegible] प्रकाशन, चौक, वाराणसी प्र० स० १६८३।

ध्वन्यालोक – आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त लोचन टीकोपेत काव्यमाला सीरीज ।

ध्वन्यालोक – आनन्दवर्धन, आचार्य विश्वेश्वर कृत व्याख्या

नाट्य शास्त्र – भरत, सम्पादक पण्डित केदारनाथ साहित्यभूषण, भारतीय विद्याप्रकाशन, दिल्ली वाराणसी, १६८३ ई०।

नाट्यशास्त्र – भरत, अभिनवगुप्त भारती टीकोपेत, परिमल पब्लिकेशन दिल्ली–अहमदाबाद, सम्पादक–रविशकर नागर प्रथम भाग प्र० स० १६८१ तृतीय भाग प्र० स० ,१६८३।

निरूक्त – यास्क, भगवदाचार्यकृत, ऋज्वर्थ व्याख्या सहित, व्याख्याकार महामहोपाध्याय पण्डित शिवदत्त शर्मा, श्वेमराज श्री कृष्णदास, बम्बई, सम्वत् १६८२ ई०।

प्रतापरूद्रयशोभूषण – विद्यानाथ, कुमारस्वामिविरचित रत्नार्पण टीका सहित सम्पादक डाॅ वी० राघवन, बालमनोरमा प्रेस, मद्रास, १६७० ई०।

भाव प्रकाशन – शारदातनय, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, बडौदा, १६३० ई० ।

महाभारत – वेदव्यास, सम्पादक दामोदरसातवलेकर, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १६७२ ई०।

महाभाष्य – पतजलि, व्याख्याकार–युधिष्ठिर मीमासक, श्रीप्यारेलाल द्राक्षादेवी न्यास, दिल्ली, प्र० स० सम्वत् २०३१।

मुण्डकोपनिषद् — मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६६ ई०।

रसगगाधर — जगन्नाथ, नागेशभट्टकृत मर्मप्रकाश टीकोपेत, व्याख्याकार—मधुसूदन शास्त्री, काशी हिन्दू [illegible] वाराणसी, वि० स० २०२०।

रसगगाधर — जगन्नाथ, सम्पादक—दुर्गाप्रसाद वासुदेव शर्मा, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, चतुर्थ सस्करण, १९३०।

रसगगाधर — जगन्नाथ, बद्रीनाथ कृत चन्द्रिका नाम्नी सस्कृत टीका सहित, व्याख्याकार प० मदन मोहन झा, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी— १, १९७०।

रस मञ्जरी — भानुदत्त, [illegible] परिमल तथा त्रिविकम मिश्र कृत रसामोद टीका सहित, विवेक पब्लिकेशन, अलीगढ प्र० स० १९८१ सम्पादक रामसुरेश त्रिपाठी।

वाक्यपदीय — भर्तृहरि, हेलाराजकृत टीका—युक्त, व्याख्याकार के ० राघवन पिल्लै, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७१ ई०।

रामायण (दोनों भाग) — वाल्मीकि, हिन्दी अनुवाद, गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् २०३७।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण — वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, १९१२ ई०

व्यक्ति—विवेक — महिमभट्ट, रूय्यक कृत टीका युक्त, व्याख्याकार डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी चौखम्बा सस्कृत—सस्थान वाराणसी, तृ० स० १९८२ ई०।

शृगार प्रकाश — भोजदेव, गोमठ रामानुजज्योतिषिक, कोरोनेशन प्रेस, मैसूर—४, १९६६ ई०।

श्रीमद्भागवत् (दोनों भाग) — श्री कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास, हिन्दी—अनुवाद सहित, गीता—प्रेस, गोरखपुर, सम्वत् २०३७।

सरस्वती कण्ठाभरण — भोजदेव, व्याख्याकार डॉ० कामेश्वरनाथ मिश्र चौखम्बा ओरि[illegible], पो० आ० वाराणसी, १९७६ ई०।

साहित्य—दर्पण — विश्वनाथ, सम्पादक डॉ० निरूपण विद्यालकार, साहित्यभण्डार, सुभाष—बाजार, मेरठ—२ प्र० स० १९७४ ई०।

वेणी सहार — नारायण भट्ट, अप्पाशास्त्री राशिवाडेकर कृतबालबोधिनी टीका, वेंकटेश्वर तथा जैनेन्द्र प्रेस कोल्हापुर एव आर्यभूषण जगद्धितेच्छु प्रेस पूना से सयुक्त रूप से प्रकाशित, १९०९—१९१० ई०।

साहित्य—दर्पण — विश्वनाथ रामचरण तर्क वागीश भट्टाचार्य कृत विवृत्ति टीका सहित, दुर्गा प्रसाद द्विवेदी कृत छाया नाम्नी विवृत्ति टीका की पूर्ति से परिष्कृत, सम्पादक—दुर्गाप्रसाद द्विवेदी, मेहरचन्द्र लक्षमनदास नई दिल्ली, १९८२।

साहित्य दर्पण — अनंतदास कृत लोचन तथा महेश्वर तर्कालकार कृत विज्ञप्रिया टीकोपेत, भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली, १९८८।

हिन्दी-ग्रन्थ

अभिनव-रससिद्धान्त – डॉ० दशरथ द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी प्र० स० १६७३ ई०।

आनन्दवर्धन – डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल, प्र० स० १६७२ ई०।

काव्य-शास्त्र की रूपरेखा – डॉ० रामदत्त भारद्वाज, सूर्यप्रकाशन, नई सडक, दिल्ली, द्वि० स० १६६७ ई०।

ध्वनि-सिद्धान्त
विरोधी सम्प्रदाय उनकी मान्यताये – डॉ० सुरेश चन्द्र पाण्डेय, वसुमती प्रकाशन,दारागज, इलाहाबाद, प्र० स० १६७२ ई०।

भारतीय काव्य-शास्त्र – डॉ० उदयभानु सिह, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, १६६८ ई०।

भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा – डॉ० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिग हाउस, दिल्ली १६५६ ई०।

भारतीय काव्य-शास्त्र नई व्याख्या– डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, साहित्य भवन, प्रा० लि० इलाहाबाद, प्रा० लि० इलाहाबाद, प्र० स० १६७४ ई०।

भारतीय साहित्य-शास्त्र – डॉ० गणेश त्र्यम्बक देशपाण्डेय, पापुलर बुक डिपो, बम्बई, प्र० स० १६६० ई०।

भारतीय साहित्य-शास्त्र (दोनों भाग) – आचार्य बलदेव उपाध्याय, प्रसाद– परिषद्, काशी सम्वत् २००७।

भारतीय साहित्य-शास्त्र और काव्यालकार (भाग-१) – डॉ० भोलाशकर व्यास, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी प्र० स० १६६५ ई०।

भारतीय साहित्य-शास्त्र के प्रतिनिधि-सिद्धान्त – डॉ० राजवंश सहाय हीरा, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी प्र० स० १६६७ ई०।

भारतीय साहित्य-शास्त्र कोश – डा० राजवंश सहाय हीरा, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना-३ १६७३ ई०।

रस-सिद्धान्त – डॉ० नगेन्द्र, नेशलन पब्लिशिग हाउस प्र० स० १६६४ ई०।

सस्कृत काव्य-शास्त्र का इतिहास – डॉ० पी० वी० काणे, डॉ० इन्द्रचन्द्रशास्त्री कृत हिन्दी-अनुवाद, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, १६६६ ई०।

सस्कृत काव्य-शास्त्र का इतिहास (दोनो भाग) – डॉ० एस० के० डे०, मायाराम शर्मा कृत हिन्दी अनुवाद, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, प्र० स० १६७३ ई०।

सस्कृत साहित्य का इतिहास – कीथ, हिन्दी अनुवाद मगलदेव शास्त्री

सस्कृत साहित्य का इतिहास – वाचस्पतिगैरोला, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी पचम संस्करण,१९६७।

सस्कृत काव्य–शास्त्र के कीर्तिमान– डॉ० वेंकट शर्मा, पल्लव प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सस्करण, १९८८।

अंग्रेजी ग्रंथ

De, S K	-	History of Sanskrit Poetics, Firm, K L Mukhopadhyay, Calcutta, 1962
Gha, Bhechan	-	Some concept of Poetics blemishes in Sanskrit Poetics, The Chowkhamba Sanskrit Series office, Varanasi-1 First Edition,1965
Kane, P V	-	History of Sanstrit Poetics, Motilal Banarasidas, 1961
Raghavan, V.	-	Bhoja's Sringara Prakas'a, Punarvasu-7 Shree Krishapuram Street, Madras 1978 Some Concept of the Alankar Shashtra, 1942